

प्रकाशक :

अखिल भारतीय सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ

जोधपुर



शाखा कार्यालय

नेहरू गेट बाहर, ब्यावर (राजस्थान)

☎ : (01462) 251216, 257699, 250328

उत्तराध्ययन सूत्र भाग २

(शुद्ध मूल पाठ, कठिन शब्दार्थ, भावार्थ एवं विवेचन सहित)

आवरण सौजन्य

विद्या बाल मंडली सोसायटी, मेरठ

श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ साहित्य रत्न माला का १२६ वां रत्न

उत्तराध्ययन सूत्र

भाग-२

(अध्ययन २१ से ३६)

(शुद्ध मूल पाठ, कठिन शब्दार्थ, भावार्थ एवं विवेचन सहित)

सम्पादक

नेमीचन्द बांठिया
पारसमल चण्डालिया

प्रकाशक

श्री अखिल भारतीय सुधर्म
जैन संस्कृति रक्षक संघ, जोधपुर
शास्त्रा-नेहरू गेट बाहर, ब्यावर-३०५६०१
☎ (०१४६२) २५१२१६, २५७६६६ फेक्स नं. २५०३२८

द्रव्य सहायक
उदारमना श्रीमान् गुप्त साधर्मी बन्धु
प्राप्ति स्थान

१. श्री अ. भा. सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ, सिटी पुलिस, जोधपुर 2626145
२. शाखा-अ. भा. सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ, नेहरू गेट बाहर, ब्यावर 251216
३. महाराष्ट्र शाखा-माणके कंपाउंड, दूसरी मंजिल आंबेडकर पुतले के बाजू में, मनमाड
४. श्री जशवन्तभाई शाह एदुन बिल्डिंग पहली धोबी तलावलेन पो० बा० नं० 2217, बम्बई-2
५. श्रीमान् हस्तीमल जी किशनलालजी जैन प्रीतम हाऊ० कॉ० सोसा० ब्लॉक नं० १०
स्टेट बैंक के सामने, मालेगांव (नासिक) 252097
६. श्री एच. आर. डोशी जी-३६ बस्ती नारनौल अजमेरी गेट, दिल्ली-६ 23233521
७. श्री अशोकजी एस. छाजेड़, १२१ महावीर क्लॉथ मार्केट, अहमदाबाद 5461234
८. श्री सुधर्म सेवा समिति भगवान् महावीर मार्ग, बुलडाणा
९. श्री श्रुतज्ञान स्वाध्याय समिति सांगानेरी गेट, भीलवाड़ा 236108
१०. श्री सुधर्म जैन आराधना भवन २४ ग्रीन पार्क कॉलोनी साउथ तुकोगंज, इन्दौर
११. श्री विद्या प्रकाशन मन्दिर, ट्रांसपोर्ट नगर, मेरठ (उ. प्र.)
१२. श्री अमरचन्दजी छाजेड़, १०३ वाल टेक्स रोड, चैन्नई 25357775
१३. श्री संतोषकुमार बोथरा वर्द्धमान स्वर्ण अलंकार ३६४, शापिंग सेन्टर, कोटा 2360950

मूल्य : ४०-००

द्वितीय आवृत्ति

१०००

वीर संवत् २५३२

विक्रम संवत् २०६३

नवम्बर २००६

मुद्रक - स्वास्तिक प्रिन्टर्स प्रेस भवन हाथी भाटा, अजमेर 2423295

प्रस्तावना

जैन दर्शन एवं इसकी संस्कृति का मूल आधार सर्वज्ञ-सर्वदर्शी वीतराग प्रभु द्वारा प्ररूपित वाणी रूप आगम है। प्रभु अपने छद्मस्थ काल में प्रायः मौन रहते हैं। अपने तप संयम की उत्कृष्ट साधना के द्वारा जब वे अपने घाती कर्मों को क्षय कर केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त कर लेते हैं तब वे, वाणी की वांगरणा करते हैं। यानी पूर्णता प्राप्त होने के पश्चात् ही प्रभु उपदेश फरमाते हैं और उन की प्रथम देशना में ही चतुर्विध संघ की स्थापना हो जाती है। चूंकि तीर्थंकर प्रभु पूर्णता प्राप्त करने के पश्चात् ही वाणी की वांगरणा करते हैं। अतएव उनके द्वारा फरमाई गई वाणी न तो पूर्वापर विरोधी होती है, न ही युक्ति बाधक। उसी उत्तम एवं श्रेष्ठ वाणी को जैन दर्शन में आप्तवाणी - आगम-शास्त्र-सूत्र कहा गया है। तीर्थंकर प्रभु अर्थ रूप में उपदेश फरमाते हैं जिसे महान् प्रज्ञा के धनी गणधर भगवन्त सूत्र रूप में गूथित करते हैं। इसीलिए आगमों के लिए यह कहा गया है कि “अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं”। आगम साहित्य की प्रामाणिकता केवल गणधर कृत होने से ही नहीं, किन्तु इसके अर्थ के मूल प्ररूपक तीर्थंकर प्रभु की वीतरागता एवं सर्वज्ञता है। यही जैन दर्शन के आगम साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता है। अन्य दर्शनों के साहित्य छद्मस्थ कथित होने से उनमें अनेक स्थानों पर पूर्वापर विरोध एवं अपूर्णता रही हुई है। साथ ही जिस सूक्ष्मता से जीवों के भेद-प्रभेद, जीव में पाये जाने वाले ज्ञान, अज्ञान, संज्ञा, लेश्या, योग, उपयोग आदि की व्याख्या एवं अजीव द्रव्यों के भेद-प्रभेद आदि का कथन इसमें मिलता है वैसा अन्यत्र नहीं मिल सकता। मिले भी कैसे? क्योंकि अन्य दर्शनों के प्रवर्तकों का ज्ञान तो सीमित होता है। जब कि जैन दर्शन के उपदेष्टा सर्वज्ञ सर्वदर्शी वीतराग प्रभु का ज्ञान अनन्त है। इस प्रकार जैनागम हर दृष्टि से भूतकाल में श्रेष्ठ था, वर्तमान में श्रेष्ठ है और भविष्य काल में भी श्रेष्ठ रहेगा। तीर्थंकर प्रभु जैसा अपने केवलज्ञान से जानते हैं और केवलदर्शन से देखते हैं, वैसा ही निरूपण करते हैं।

वर्तमान स्थानकवासी परम्परा बत्तीस आगमों को मान्य करती है। जिनमें द्वादशांगी की रचना, जिन्हें अंग सूत्र कहा जाता है, गणधर भगवन्त करते हैं। शेष आगमों की रचना स्थविर भगवन्तों द्वारा की जाती है। जो स्थविर भगवन्त सूत्र की रचना करते हैं, वे दस पूर्वी

अथवा उससे अधिक के ज्ञाता होते हैं। इसलिए वे सूत्र और अर्थ की दृष्टि से अंग साहित्य के पारंगत होते हैं। अतएव वे जो भी रचना करते हैं, उसमें किंचित् मात्र भी विरोध नहीं होता। जो बात तीर्थंकर भगवन्त फरमाते हैं, उसको श्रुत केवली (स्थविर भगवन्त) भी उसी रूप में कह सकते हैं। दोनों में अन्तर इतना ही है कि केवली सम्पूर्ण तत्त्व को प्रत्यक्ष रूप से जानते हैं, जबकि श्रुत केवली अपने विशिष्ट क्षयोपशम एवं श्रुतज्ञान के द्वारा परोक्ष रूप से जानते हैं। उनके द्वारा रचित आगम साहित्य इसलिए भी प्रामाणिक होते हैं, क्योंकि वे नियमतः सम्यग्दृष्टि होते हैं। अतएव उनके द्वारा रचित आगम-ग्रन्थ को उतना ही प्रामाणिक माना जाता है, जितने गणधर कृत अंग सूत्र।

जो बत्तीस आगम हमारी स्थानकवासी परम्परा में मान्यता प्राप्त है। उनका वर्गीकरण समय-समय पर विभिन्न रूप में किया गया है। सर्वप्रथम इन्हें अंग प्रविष्ट और अंग बाह्य के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया है। अंग प्रविष्ट श्रुत में उन आगमों को लिया गया है जिनका निर्यूहण गणधरों द्वारा सूत्र रूप में हुआ है अथवा गणधर भगवन्तों द्वारा जिज्ञासा प्रस्तुत करने पर जो तीर्थंकर प्रभु द्वारा समाधान फरमाया गया हो। अंग बाह्य श्रुत वह है जो स्थविर कृत हो अथवा गणधरों के जिज्ञासा प्रस्तुत किये बिना तीर्थंकर द्वारा प्रतिपादित हो। समवायांग और अनुयोगद्वार सूत्र में आगम साहित्य का केवल द्वादशांगी के रूप में निरूपण हुआ है। तीसरा वर्गीकरण विषय के हिसाब से चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग एवं धर्मकथानुयोग के रूप में हुआ है। इसके पश्चात्तर्वी साहित्य में सबसे अर्वाचीन है उनमें ग्यारह अंग, बारह उपांग, चार मूल, चार छेद और बत्तीसवां आवश्यक सूत्र के रूप में वर्तमान में बत्तीस आगमों का वर्गीकरण किया गया है।

११ अंग - आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञाताधर्मकथांग, उपासकदशांग, अन्तकृतदशा, अनुत्तरौपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरण एवं विपाक सूत्र।

१२ उपांग - औपपातिक, राजप्रश्नीय, जीवाजीवाभिगम, प्रज्ञापना, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, चन्द्र प्रज्ञप्ति, सूर्य प्रज्ञप्ति, निरियावलिका, कल्पावतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका, वृष्णिदशा सूत्र।

४ छेद - दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प, व्यवहार और निशीथ सूत्र।

४ मूल - उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, नंदी और अनुयोगद्वार सूत्र।

१ आवश्यक सूत्र

कुल ३२

प्रस्तुत उत्तराध्ययन सूत्र बत्तीस आगमों में एक मूल आगम है। इसे मूल सूत्र के रूप में स्थापित करने के पीछे क्या लक्ष्य रहा? इसके लिए आचार्य भगवंतों ने समाधान फरमाया है कि आत्मोत्थान के लिए प्रभु ने उत्तराध्ययन सूत्र के मोक्षमार्ग गति नामक अट्ठाईसवें अध्ययन की इस गाथा के द्वारा सम्यग् ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप को मोक्ष का मार्ग बतलाया है।

णाणं च दंशणं चैव, चरित्तं च तवो तथा।

एयं मग्ग-मणुपत्ता, जीवा गच्छति सुग्गइं॥

अर्थात् - सम्यग् ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप यह मोक्षमार्ग है। इस मार्ग का आचरण करके ही जीव सुगति - मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र सम्यग्-दर्शन, चारित्र और तप का प्रतीक है, जबकि दशवैकालिक चारित्र और तप का। अनुयोगद्वार सूत्र दर्शन और ज्ञान का प्रतिनिधित्व करता है और नंदी सूत्र में पांच ज्ञान का निरूपण किया गया है। इस कारण उत्तराध्ययन सूत्र की गणना मूल सूत्रों में की गई है। सम्यग्-दर्शन के अभाव में ज्ञान, चारित्र और तप तीनों क्रमशः मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र और बाल तप माने गये हैं। जहाँ सम्यग्दर्शन होगा वहीं नियम ज्ञान, चारित्र और तप भी सम्यक् होगा और इन्हीं की उत्कृष्ट आराधना को प्रभु ने मोक्ष मार्ग बतलाया है। इन्हीं हेतुओं के कारण इस सूत्र की गणना मूल सूत्र में की गई है।

श्रुत केवली भद्रबाहु स्वामी ने कल्पसूत्र में लिखा है कि श्रमण भगवान् महावीर कल्याण फल विपाक वाले पचपन अध्ययनों और पाप फल वाले पचपन अध्ययनों एवं छत्तीस अपृष्ट-व्याकरणों की प्ररूपणा करते-करते सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये। इसी आधार से यह माना जाता है कि छत्तीस अपृष्ट-व्याकरण उत्तराध्ययन के ही छत्तीस अध्ययन हैं। इस बात की पुष्टि उत्तराध्ययन सूत्र के छत्तीसवें अध्ययन की अन्तिम गाथा से भी होती है।

इइ पाउकरे बुद्धे, नायए परिनिव्वुए।

छत्तीसं उत्तरज्झाए, भवसिद्धीयसंमए॥

भावार्थ - इस प्रकार भवसिद्धिक संमत्त - भव्य जीवों के सम्मत्त (मान्य है) ऐसे उत्तराध्ययन सूत्र के छत्तीस अध्ययनों को प्रकट कर के बुद्ध - तत्त्वज्ञ केवलज्ञानी ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान् महावीर स्वामी परिनिर्वृत - निर्वाण को प्राप्त हो गये।

उत्तराध्ययन सूत्र प्रभु महावीर की अन्तिम देशना होने से इसका महत्त्व वैसे भी अत्यधिक हो जाता है क्योंकि परिवार में भी प्रायः देखा जाता है कि पुत्र अपने पिताश्री द्वारा दी गई अन्तिम शिक्षा का पालन करने का विशेष ध्यान रखते हैं। इसी प्रकार परमपिता भगवान्

महावीर द्वारा यह अन्तिम उपदेश हम संसारी जीवों के लिए अमृत तुल्य है। इस सूत्र में धर्मकथानुयोग का ही नहीं, अपितु चारों ही अनुयोगों का सुन्दर - मधुर संगम है। यह भगवान् की वाणी का प्रतिनिधित्व करने वाला आगम है। इस आगम के सूक्त वचन इतने संक्षिप्त सारपूर्ण और गहन हैं कि वे निःसंदेह साधक जीवन को निर्वाणोन्मुख करने में गागर में सागर का काम करने वाले हैं। इसे यदि साधक जीवन की डायरी कह दिया जाय तो भी अतिशयोक्ति नहीं है।

उत्तराध्ययन सूत्र के प्रथम भाग में बीस अध्ययनों का निरूपण किया गया था। शेष सोलह अध्ययन का निरूपण इस दूसरे भाग में किया गया है। जिनका संक्षिप्त सार इस प्रकार है -

इवकीसवां अध्ययन - समुद्रपालीय - इस अध्ययन में मुख्य रूप से तीन बातों का निरूपण किया गया। श्रावक भी आगम के गहन ज्ञाता हो सकते हैं। दूसरा जीव शुभाशुभ कर्मों के अनुसार फल प्राप्त को प्राप्त करता है तथा उत्कृष्ट रत्नत्रय की आराधना का फल सिद्धि है।

चम्पानगरी में सिद्धान्तों का निष्णात ज्ञाता (कोविद) पालित नाम का श्रावक रहता था। जिसका व्यापार जलमार्ग से दूर देशों में था। एकदा वह व्यापार के निमित्त से पिहुण्ड नगर गया। वहाँ उसके गुणों से आकृष्ट होकर एक सेठ ने अपनी कन्या की शादी पालित श्रावक से कर दी। लम्बे काल वहाँ रहने के बाद पालित श्रावक अपनी गर्भवती पत्नी को लेकर समुद्रमार्ग से अपने देश लौट रहा था कि जहाज में ही उनकी पत्नी ने पुत्र को जन्म दे दिया। तदनुसार उसका नाम समुद्रपाल रखा। यौवन वय प्राप्त होने पर समुद्रपाल का विवाह कर दिया गया। एक समय समुद्रपाल झरोखे में बैठे हुए थे, सहसा उनकी दृष्टि एक चोर पर पड़ी जिसे वध भूमि की ओर ले जाया जा रहा था। उसे देखकर कर्मों के शुभाशुभ फल पर आपका चिंतन चला और संवेग भाव को प्राप्त हुए। अन्तोगत्वा दीक्षा अंगीकार कर उत्कृष्ट संयम का पालन करके सिद्धिगति को प्राप्त किया।

बाईसवां अध्ययन - रथनेमिय - इस अध्ययन में भगवान् अरिष्टनेमि के जन्म-बाल्यकाल-सगाई-विवाह की तैयारी के साथ-साथ जीवों के प्रति दया-करुणा आदि का सजीव चित्रण किया गया है। बारातियों के भोज के निमित्त से बाड़े में बंद मूक पशुओं को मुक्त करा कर अविवाहित ही वापिस लौटना, दीक्षा अंगीकार करना एवं राजमती द्वारा अपने पति के मार्ग पर चलना आदि अनेक आदर्श तथ्यों का इस अध्ययन में निरूपण किया गया है। साथ ही रथनेमि के विकार चुक्त मन को राजमती सती के सचोट सुभाषित वचन किस प्रकार

संयम में स्थिर कर देते हैं। इसका सुन्दर स्वरूप भी इसमें बतलाया गया है। सती राजमती के सुभाषित वचन पथभ्रष्ट साधकों के लिए युगों-युगों तक प्रेरणास्त्रद रहेंगे।

तेइसवां अध्ययन - केशि-गौतमीय - इस अध्ययन में केशीकुमार श्रमण का गणधर गौतम के साथ साधना सम्बन्धी संवाद प्रस्तुत किया गया है। केशीकुमार श्रमण भगवान् पार्श्वनाथ की संतानीय परम्परा के संत थे। एकदा वे अपने शिष्य समुदाय के साथ श्रावस्ती नगरी के तिन्दुक उद्यान में पधारे। उधर भगवान् महावीर की परम्परा को गणधर गौतम स्वामी अपने शिष्य समुदाय के साथ श्रावस्ती नगरी के कोष्ठक उद्यान में पधारे। भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान् महावीर की परम्पराओं में कुछ आचार भेद था। जब दोनों परम्परा के संत परस्पर मिले तो आचार भेद देखकर अपने-अपने गुरुओं के समक्ष शंकाएं प्रस्तुत की। इसका समाधान करने के लिए गौतम स्वामी अपने शिष्यों के साथ तिन्दुक उद्यान में पधारे। केशीकुमार श्रमण द्वारा प्रश्न पूछे जाने पर गौतम स्वामी ने उनका यथोचित समाधान किया। सभी प्रश्नोत्तर आध्यात्मिक दृष्टि से हृदयंगम करने योग्य है।

चौबीसवां अध्ययन - प्रवचन माता - इस अध्ययन में साधु के पांच समिति तीन गुप्ति के पालन के विधि-विधान का निरूपण किया गया। जिस प्रकार माता अपनी संतान का पालन-पोषण संरक्षण, संवर्द्धन करती, उसी प्रकार संयमी साधकों के जीवन रक्षण के लिए पांच समिति तीन गुप्ति का पालन माता के सदृश्य है। इनका पालन संयमी जीवन को सुरक्षित ही नहीं रखता प्रत्युत उसका संवर्द्धन और संरक्षण भी करता है। इनका यथाविध पालन करने वाला साधक चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण से सर्वथा मुक्त होकर पंचम मोक्ष गति को प्राप्त कर लेता है।

पच्चीसवां अध्ययन - यज्ञीय - इस अध्ययन में द्रव्य यज्ञ और भावयज्ञ का स्वरूप बतलाया गया है। वाणारसी नगरी में जयघोष और विजयघोष नाम के दो भाई रहते थे। एक समय जयघोष गंगा नदी में स्नान करने गया। वहाँ उसने एक प्रसंग को देखा जिससे उसे संवेग भाव उत्पन्न हुआ और उन्होंने जैन प्रव्रज्या अंगीकार कर ली। किसी समय विचरण करते हुए आप वाणारसी नगरी में पधारे। मासखमण के पारणे के लिए घुमते हुए आप अपने भाई विजयघोष की यज्ञ शाला में पहुँचे। आपके कृश शरीर के कारण विजयघोष आपको पहिचान नहीं पाया और भिक्षा के लिए इन्कार कर दिया। तदुपरान्त मुनि से शान्त भाव से द्रव्य यज्ञ और भाव यज्ञ का स्वरूप समझाया। द्रव्य यज्ञ को महान् हिंसा का कारण समझ कर विजयघोष ने भी दीक्षा अंगीकार कर ली। दोनों भाई शुद्ध संयम का पालन करके मोक्ष गति को प्राप्त किया।

छब्बीसवां अध्ययन - समाचारी - इस अध्ययन में संयमी साधक की आचार संहिता का वर्णन किया गया है। यानी दिन और रात के २४ घण्टे में संयमी साधक को कौन-कौनसी क्रिया कब करनी चाहिए। जिससे उसकी साधना पुष्ट हो। इस अध्ययन में वर्णित समाचारी की सम्यक् आराधना करने वाला साधक आराधक होकर शीघ्र ही संसार समुद्र को पार कर लेता है।

सत्ताईसवां अध्ययन - खलुंकीय - इस अध्ययन में विनय और अनुशासन को संयमी जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग बतलाया है। जो शिष्य अविनीत और अनुशासन हीन होते हैं, वे आगे चलकर स्वच्छन्द-उच्छृंखल बनकर संयम से भ्रष्ट तक हो जाते हैं। गर्गाचार्य एक महान् आचार्य होने के साथ-साथ शास्त्र-विशारद और संयम के सभी गुणों से सम्पन्न थे। किन्तु उनके सभी शिष्य अविनीत, उद्वण्ड एवं आलसी थे। आचार्यश्री के बार-बार समझाने पर भी नहीं माने तो उन्होंने अपनी आराधना के लिए शिष्यों को छोड़कर अकेले ही विचरण करने लगे। वास्तव में जब आत्मार्थी साधक को अपनी संयम समाधि भंग होती हुई नजर आती हो तो उसे अपने शिष्यों का मोह त्याग कर एकान्त साधना में लीन हो जाना चाहिए। यह प्रेरणा इस अध्ययन से मिलती है।

अट्ठाईसवां अध्ययन - मोक्ष मार्ग गति - संयमी साधक का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति होता है। उस साध्य की प्राप्ति के लिए किन-किन साधनों का आलम्बन उसे लेना आवश्यक होता है, इसका निरूपण इस अध्ययन में किया गया है। इस अध्ययन में मोक्ष प्राप्ति के चार मुख्य साधन बतलाये गये हैं - सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप। इन साधनों की युगपद् साधना-आराधना से साधक अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

उनतीसवां अध्ययन - सम्यवत्त्व पराक्रम - पराक्रम का अर्थ है शक्ति सामर्थ्य या क्षमता। जीव ने अपनी शक्ति-सामर्थ्य का उपयोग तो चारों गतियों में अनन्त बार किया। किन्तु वह सब अज्ञान दशा में उलटा पुरुषार्थ ही किया। जिससे वह अपने लक्ष्य (मोक्ष) को प्राप्त नहीं कर सका। इस अध्ययन में ७३ बोलों के माध्यम से सम्यक् पुरुषार्थ का स्वरूप बतलाया गया है। एक-एक सूत्र आत्मार्थी साधक के लिए अतीव प्रेरक है। इन तलस्पर्शी सूत्रों की यथार्थ साधना साधक को अपने अन्तिम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करा सकती है।

तीसवां अध्ययन - तपोमार्ग - सम्यक्तप की आराधना से साधक करोड़ भवों के संचित कर्मों को क्षय कर सकता है। लेकिन तप कैसा हो? इसके लिए आगम में बतलाया

गया है कि जो तप समझ पूर्वक हो, उसका स्वरूप समझ कर मन और इन्द्रियों को अनुशासित कर एकान्त कर्मों की निर्जरा के लिए किया जाय वही तप ही सम्यक् तप की कोटि में आता है। नाम, कामना, प्रसिद्धि किसी भौतिक लालसा आदि के निदान रूप किया गया तप मिथ्या तप है। ऐसा तप मोक्ष मार्ग में सहायक नहीं होता है। इस अध्ययन में सम्यक्तप का स्वरूप तथा तप के बाह्य और आभ्यन्तर भेदों का सुन्दर निरूपण किया गया है।

द्वितीयां अध्येयन - चरण विधि - संयमी साधक के लिए संयम यानी चारित्र का पालन सब कुछ होता है। इसमें जरा-सी खलना उसके आध्यात्मिक जीवन को नष्ट-भ्रष्ट करने वाली सिद्ध हो सकती है। चारित्र के अनेक अंग हैं - पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति, दसविध श्रमण धर्म, कषाय विजय, परीषह विजय आदि। इनका भगवान् की आज्ञानुसार यथाविध पालन करना ही संयम है। इस अध्ययन में तेतीस बोलों के माध्यम से हेय, ज्ञेय और उपादेय को समझ कर चारित्र पोषक गुणों में प्रवृत्ति करने की विधि बतलाई गई है।

बत्तीसवाँ अध्येयन - प्रमाद स्थान - सामान्य रूप से प्रमाद का अर्थ असावधानी, आत्मजागृति का अभाव लिया जाता है। किन्तु इस अध्ययन में साधक को संयम पालन में सहायकभूत शरीर, इन्द्रिय, मन, वस्त्र उपकरण आदि का सम्यक् प्रकार से उपयोग नहीं करने को प्रमाद स्थान में लिया गया है। प्राप्त साधनों का उपयोग करने में किन-किन बातों की सावधानी रखनी चाहिए। इसका निरूपण इस अध्ययन में किया गया है। जो साधक अज्ञान, मोह, राग-द्वेष आदि के वश होकर प्राप्त साधनों का दुरुपयोग करता है यानी पाप कर्म के बन्ध की परवाह नहीं करता, उन्हें प्रमाद स्थान में कहा गया है। साधक को प्रमाद स्थानों से सतत बचने का इस अध्ययन में निर्देश दिया है।

तेतीसवाँ अध्येयन - कर्म प्रकृति - अन्य दर्शन ईश्वर को जगत् का कर्ता मानते हैं। जबकि जैन दर्शन जीव को स्वयं कर्म का कर्ता और भोक्ता मानता है। यह जैन दर्शन की अन्य दर्शनों से मौलिक भिन्नता है। जीव स्वयं अनन्त शक्ति का पुंज है, वह यदि सम्यक् पुरुषार्थ करे तो समस्त कर्मों को क्षय करके शुद्धतम (मोक्ष) अवस्था को प्राप्त कर सकता है। इस अध्ययन में कर्मों की मूल एवं उत्तर प्रकृतियों का स्वरूप बतला कर, उनके बन्ध के कारण तथा फल का गहराई से विश्लेषण किया गया है।

चौतीसवाँ अध्येयन - लेश्या - इस अध्ययन में मन, वचन, काया के शुभाशुभ परिणामों या प्रवृत्तियों से अनुरजित होने वाले विचारों को लेश्या कहा गया है। जीव के मन, वचन, काया की प्रवृत्ति के अनुसार आत्म-परिणति बनती है और जैसी आत्मा की शुभाशुभ

परिणति होती है तदनुरूप मन, वचन, काया की प्रवृत्ति होती है। इन दोनों में कार्य-कारण सम्बन्ध है। इस परिणति को आगमिक भाषा में लेश्या (द्रव्य-भाव) कहा गया है। लेश्या के अनुसार ही जीव के कर्मों का बन्ध होता है। इस अध्ययन में विभिन्न लेश्याओं का ग्यारह द्वार के माध्यम से व्यवस्थित निरूपण किया गया है।

पैंतीसवाँ अध्ययन - अनगार मार्ग गति - जिस साधक ने गृहस्थ धर्म का त्याग कर सर्वविरति अनगार धर्म स्वीकार किया है, उसे अपने अनगार धर्म का पूर्ण निष्ठा से पालन करना चाहिए। यदि अनगार धर्म अंगीकार करके भी जो अगार (गृहस्थ) धर्म सम्बन्धी सभी बातों का त्याग नहीं करता है, तो वह सच्चा संयमी साधक नहीं कहा जा सकता। इस अध्ययन में अनगार धर्म का यथाविध पालन करने का स्वरूप बतला कर उसके फल का निरूपण किया गया है।

छत्तीसवाँ अध्ययन - जीवाजीव विभक्ति - संसार में मुख्य दो ही तत्त्व हैं - जीव और अजीव। इनके संयोग और वियोग से ही शेष सात तत्त्वों का प्रादुर्भाव और अभाव होता है। अतएव साधक को इन दो तत्त्वों की गहन जानकारी होना परम आवश्यक है। दशवैकालिक सूत्र में बतलाया गया है कि जो साधक जीव-अजीव के स्वरूप को भली भाँति नहीं जानता है, वह संयम का शुद्ध पालन नहीं कर सकता है। जीव के साथ अजीव (कर्मों) का संयोग अनादि अनन्त काल से है। यह संयोग ही संसार का मूल है। जिस दिन जीव के साथ अजीव का सम्बन्ध सर्वथा छूट जावेगा। उस दिन जीव का संसार परिभ्रमण समाप्त हो जावेगा। इस अध्ययन में जीव और अजीव के स्वरूप का विस्तृत रूप से निरूपण किया गया है।

हमारे संघ द्वारा उत्तराध्ययन सूत्र तीन भागों में मूल अन्वयार्थ, संक्षिप्त विवेचन युक्त पूर्व में प्रकाशित हो रखा है। जिसका अनुवाद समाज के जाने माने विद्वान पं. र. श्री घेवरचन्दजी बांठिया न्याय व्याकरण तीर्थ, सिद्धान्त शास्त्री ने अपने गृहस्थ जीवन में किया था। जिसे स्वाध्याय प्रेमी श्रावक-श्राविका वर्ग ने काफी पसन्द किया। फलस्वरूप उक्त प्रकाशन की आठ आवृत्तियाँ संघ द्वारा प्रकाशित हो चुकी है। अब संघ की आगम बत्तीसी प्रकाशन योजना के अर्न्तगत इसका प्रकाशन किया जा रहा है। इसके अनुवाद का कार्य मेरे सहयोगी श्रीमान् पारसमलजी सा. चण्डालिया ने प्राचीन टीकाओं के आधार पर किया है। आपके अनुवाद को धर्मप्रेमी सुश्रावक श्रीमान् श्रीकांतजी गोलछा दल्लीराजहरा ने वर्तमान ज्ञानगच्छाधिपति श्रुतधर भगवंत की आज्ञा से आगमज्ञ पूज्य लक्ष्मीचन्दजी म. सा. को सुनाने की कृपा की। पूज्यश्री ने जहाँ कहीं भी आगमिक धारणा सम्बन्धी न्यूनाधिकता महसूस की वहाँ संशोधन करने का संकेत

किया। अतः हमारा संघ पूज्य गुरु भगवन्तों का एवं धर्मप्रेमी, सुश्रावक श्रीमान् श्रीकांतजी गोलछा का हृदय से आभार व्यक्त करता है। तत्पश्चात् मैंने इसका अवलोकन किया।

इसके अनुवाद में भी संघ द्वारा प्रकाशित भगवती सूत्र के अनुवाद (मूल पाठ, कठिन शब्दार्थ, भावार्थ एवं विवेचन) की शैली का अनुसरण किया गया है। यद्यपि इस आगम के अनुवाद में पूर्ण सतर्कता एवं सावधानी रखने के बावजूद विद्वान् पाठक बन्धुओं से निवेदन है कि जहाँ कहीं भी कोई त्रुटि, अशुद्धि आदि ध्यान में आवे वह हमें सूचित करने की कृपा करावें। हम उनका आभार मानेंगे और अगली प्रकाशित होने वाली प्रति में उन्हें संशोधित करने का ध्यान रखेंगे।

इसके प्रकाशन के अर्थ सहयोगी **एक गुप्त साधर्मी बन्धु** हैं। आप स्वयं का नाम देना तो दूर अपने गांव का नाम देना भी पसन्द नहीं करते। आप संघ द्वारा प्रकाशित होने वाले अन्य प्रकाशन जैसे तेतली-पुत्र, बड़ी साधु वंदना, स्वाध्याय माला, अंतगडदसा सूत्र में भी सहयोग दे चुके हैं। इसके अलावा कितनी ही बार सम्यग्दर्शन अर्द्ध मूल्य योजना में सहकार देकर अनेक साधर्मी बन्धुओं को सम्यग्दर्शन मासिक पत्र का अर्द्ध मूल्य में ग्राहक बनने में सहयोगी बने हैं। दो साल पूर्व संघ द्वारा लोंकाशाह मत समर्थन, जिनागम विरुद्ध मूर्ति पूजा, मुखवस्त्रिका सिद्धि एवं विद्युत बादर तेउकाय है प्रकाशित हुई तो आपने इन चार पुस्तकों के सेट को अपनी ओर से लगभग पांच सौ संघों को फ्री भिजवाये। वर्तमान में आपके ही अर्थ सहयोग से संघ द्वारा प्रकाशित २२ आगमों का सेट अर्द्ध मूल्य में लगभग २५० (दो सौ पचास) श्री संघों को भिजवाये जा चुके हैं। इस प्रकार आप एकदम मूक अर्थसहयोगी हैं। आप संघ के प्रत्येक प्रकाशन में मुक्त हस्त से सहयोग देने के लिये तत्पर रहते हैं। ऐसे उदारमना गुप्त अर्थ सहयोगी पर संघ को गौरव है। संघ आपका हृदय से आभार मानता है। आप चिरायु रहें। आपकी यह शुभ भावना उत्तरोत्तर वृद्धिगत रहे। इसी मंगल कामना के साथ।

जैसा कि पाठक बन्धुओं को मालूम ही है कि वर्तमान में कागज एवं मुद्रण सामग्री के मूल्य में काफी वृद्धि हो चुकी है। फिर भी गुप्त साधर्मी बन्धु के आर्थिक सहयोग से इसका मूल्य मात्र **रु. ४०) चालीस रुपया** ही रखा गया है जो कि वर्तमान परिपेक्ष्य में ज्यादा नहीं है। पाठक बन्धु इसका अधिक से अधिक उपयोग करेंगे। इसी शुभ भावना के साथ!

ब्यावर (राज.)

दिनांक: २५-६-२००५

संघ सेवक

नेमीचन्द बांठिया

अ. भा. सु. जैन सं. रक्षक संघ, जोधपुर

अस्वाध्याय

निम्नलिखित बत्तीस कारण टालकर स्वाध्याय करना चाहिये।

आकाश सम्बन्धी १० अस्वाध्याय

१. बड़ा तारा टूटे तो-
२. दिशा-दाह *
३. अकाल में मेघ गर्जना हो तो-
४. अकाल में बिजली चमके तो-
५. बिजली कड़के तो-
६. शुक्ल पक्ष की १, २, ३ की रात-
७. आकाश में यक्ष का चिह्न हो-
- ८-९. काली और सफेद धूँअर-
१०. आकाश मंडल धूलि से आच्छादित हो-

काल मर्यादा

- एक प्रहर
- जब तक रहे
- दो प्रहर
- एक प्रहर
- आठ प्रहर
- प्रहर रात्रि तक
- जब तक दिखाई दे
- जब तक रहे
- जब तक रहे

औवारिक सम्बन्धी १० अस्वाध्याय

- ११-१३. हड्डी, रक्त और मांस,
१४. अशुचि की दुर्गंध आवे या दिखाई दे-
१५. श्मशान भूमि-

- ये तिर्यच के ६० हाथ के भीतर हो। मनुष्य के हो, तो १०० हाथ के भीतर हो। मनुष्य की हड्डी यदि जली या धुली न हो, तो १२ वर्ष तक।
- तब तक
- सौ हाथ से कम दूर हो, तो।

* आकाश में किसी दिशा में नगर जलने या अग्नि की लपटें उठने जैसा दिखाई दे और प्रकाश हो तथा नीचे अंधकार हो, वह दिशा-दाह है।

१६. चन्द्र ग्रहण-

खंड ग्रहण में ८ प्रहर, पूर्ण हो
तो १२ प्रहर

(चन्द्र ग्रहण जिस रात्रि में लगा हो उस रात्रि के प्रारम्भ से ही अस्वाध्याय गिनना चाहिये।)

१७. सूर्य ग्रहण-

खंड ग्रहण में १२ प्रहर, पूर्ण हो
तो १६ प्रहर

(सूर्य ग्रहण जिस दिन में कभी भी लगे उस दिन के प्रारंभ से ही उसका अस्वाध्याय गिनना चाहिये।)

१८. राजा का अवसान होने पर,

जब तक नया राजा घोषित न
हो

१९. युद्ध स्थान के निकट

जब तक युद्ध चले

२०. उपाश्रय में पंचेन्द्रिय का शव पड़ा हो,

जब तक पड़ा रहे

(सीमा तिर्यच पंचेन्द्रिय के लिए ६० हाथ, मनुष्य के लिए १०० हाथ। उपाश्रय बड़ा होने पर इतनी सीमा के बाद उपाश्रय में भी अस्वाध्याय नहीं होता। उपाश्रय की सीमा के बाहर हो तो यदि दुर्गन्ध न आवे या दिखाई न देवे तो अस्वाध्याय नहीं होता।)

२१-२४. आषाढ़, आश्विन,

कार्तिक और चैत्र की पूर्णिमा

दिन रात

२५-२८. इन पूर्णिमाओं के बाद की प्रतिपदा-

दिन रात

२९-३२. प्रातः, मध्याह्न, संध्या और अर्द्ध रात्रि-

इन चार सन्धिकालों में-

१-१ मुहूर्त

उपरोक्त अस्वाध्याय को टालकर स्वाध्याय करना चाहिए। खुले मुंह नहीं बोलना तथा सामायिक, पौषध में दीपक के उजाले में नहीं वांचना चाहिए।

नोट - नक्षत्र २८ होते हैं उनमें से आर्द्रा नक्षत्र से स्वाति नक्षत्र तक नौ नक्षत्र वर्षा के गिने गये हैं। इनमें होने वाली मेघ की गर्जना और बिजली का चमकना स्वाभाविक है। अतः इसका अस्वाध्याय नहीं गिना गया है।



उत्तराध्ययन सूत्र भाग-२

विषयानुक्रमणिका

क्रं.	विषय	पृष्ठ	क्रं.	विषय	पृष्ठ
समुद्रपालीय नामक इक्कीसवाँ			१५.	आभूषण त्याग	२२
अध्ययन १-१२			१६.	अभिनिष्क्रमण और दीक्षा-महोत्सव	२२
१.	पालित श्रावक का परिचय	२	१७.	केश लोच	२४
२.	पालित का विवाह	२	१८.	वासुदेव आदि का आशीर्वाद	२४
३.	समुद्रपाल का जन्म	३	१९.	शोकाकुल और प्रतिबुद्ध राजीमती	२५
४.	चम्पा में संवर्द्धन	३	२०.	राजीमती द्वारा केशलोच	२६
५.	शिक्षण	४	२१.	राजीमती को आशीर्वाद	२६
६.	पाणिग्रहण और सुखी जीवन	४	२२.	बहुश्रुता राजीमती	२६
७.	विरक्ति और दीक्षा	५	२३.	रैवतक पर्वत की गुफा में	२७
८.	मुनिधर्म शिक्षा	६	२४.	कामविह्वल रथनेमि	२८
रथनेमीय नामक बाईसवाँ			२५.	रथनेमि द्वारा भोगयाचना	२८
अध्ययन १३-३५			२६.	राजीमती का उद्बोधन	२९
९.	बलदेव कृष्ण का परिचय	१३	२७.	रथनेमि पुनः संयम में दृढ़	३२
१०.	भगवान् अरिष्टनेमि तथा- राजीमती का परिवार	१४	२८.	उपसंहार	३४
११.	अरिष्टनेमि का परिचय	१४	केशि-गौतमीय नामक तेईसवाँ		
१२.	अरिष्टनेमि की बारात	१८	अध्ययन ३६-७०		
१३.	सारथी से प्रश्नोत्तर	१९	२९.	तीर्थंकर पार्श्वनाथ	३६
१४.	अरिष्टनेमि का चिंतन	२१	३०.	केशी कुमार श्रमण	३७
			३१.	केशीश्रमण का श्रावस्ती पदार्पण	३७
			३२.	गौतमस्वामी का श्रावस्ती पदार्पण	३८

क्रं.	विषय	पृष्ठ
३३.	दोनों तीर्थों के अंतर पर चिंतन	४०
३४.	केशी-गौतम मिलन	४२
३५.	केशी स्वामी की प्रथम जिज्ञासा	४५
३६.	गौतमस्वामी का समाधान	४६
३७.	कृतज्ञता प्रकाशन	४८
३८.	केशीश्रमण की द्वितीय जिज्ञासा	४९
३९.	गौतमस्वामी का समाधान	५०
४०.	केशी द्वारा गौतम से तृतीय पृच्छा	५१
४१.	गौतमस्वामी का समाधान	५२
४२.	केशीश्रमण की चतुर्थ जिज्ञासा	५३
४३.	गौतमस्वामी का समाधान	५३
४४.	केशी स्वामी की शंका	५४
४५.	शंका का निवारण	५४
४६.	केशीश्रमण की पांचवीं जिज्ञासा	५४
४७.	केशीश्रमण की छठी जिज्ञासा	५६
४८.	गौतम स्वामी का समाधान	५६
४९.	केशीश्रमण की सातवीं जिज्ञासा	५७
५०.	गौतमस्वामी का समाधान	५८
५१.	केशीश्रमण की आठवीं जिज्ञासा	५९
५२.	गौतमस्वामी का समाधान	६०
५३.	केशी स्वामी की नौवीं जिज्ञासा	६०
५४.	गौतम द्वारा समाधान	६१
५५.	केशी श्रमण की दसवीं जिज्ञासा	६२
५६.	गौतम का समाधान	६२
५७.	केशीश्रमण की ग्यारहवीं जिज्ञासा	६४

क्रं.	विषय	पृष्ठ
५८.	गौतम स्वामी का समाधान	६४
५९.	केशीश्रमण की बारहवीं जिज्ञासा	६५
६०.	गौतम स्वामी का समाधान	६६
६१.	केशी श्रमण की गौतमस्वामी के- प्रति कृतज्ञता	६८
६२.	केशीश्रमण का वीरशासन प्रवेश	६८
६३.	धर्मचर्चा की फलश्रुति	६९
६४.	उपसंहार	७०

प्रवचन-माता नामक चौबीसवां

अध्ययन ७१-४३

६५.	अष्ट प्रवचन माताओं के नाम	७१
६६.	ईर्या समिति का स्वरूप	७३
६७.	चार प्रकार की यतना	७३
६८.	भाषा समिति का स्वरूप	७५
६९.	एषणा समिति	७६
७०.	आदान निक्षेप समिति	७८
७१.	उच्चार-प्रसवण-खेल-सिंघाण- जल्ल-परिष्ठापनिका समिति	७९
७२.	चार प्रकार की स्थंडिल भूमि	७९
७३.	स्थण्डिल के दस विशेषण	७९
७४.	तीन गुप्तियों का वर्णन	८०
७५.	मनोगुप्ति का स्वरूप	८१
७६.	वचन गुप्ति का स्वरूप	८१
७७.	कायगुप्ति का स्वरूप	८२
७८.	उपसंहार	८३

क्रं. विषय पृष्ठ
यज्ञीय नामक पच्चीसवां
अध्ययन ८४-१०७

७६.	जयघोष-एक परिचय	८५
८०.	जयघोष मुनि का पदार्पण	८६
८१.	वेदवेत्ता विजयघोष	८७
८२.	भिक्षा देने का निषेध	८८
८३.	समभावी जयघोष मुनि	८९
८४.	विजयघोष की जिज्ञासा	९१
८५.	जयघोष मुनि का समाधान	९१
८६.	ब्राह्मण का लक्षण	९४
८७.	वेद और यज्ञ आत्मरक्षक नहीं	९६
८८.	श्रमण ब्राह्मण आदि किन- गुणों से होते हैं?	१००
८९.	विजयघोष द्वारा कृतज्ञता प्रकाशन- और गुणगान	१०२
९०.	जयघोषमुनि का वैराग्यपूर्ण उपदेश	१०४
९१.	विरक्ति, दीक्षा और सिद्धि	१०६
९२.	उपसंहार	१०७

सामाचारी नामक छब्बीसवां
अध्ययन १०८-१३३

९३.	सामाचारी का स्वरूप	१०८
९४.	सामाचारी के दस भेद	१०९
९५.	सामाचारी का प्रयोजन	१०९
९६.	साधु की दिनचर्या	१११

क्रं. विषय पृष्ठ	क्रं. विषय पृष्ठ	
९७.	पौरिसी का कालमान	११४
९८.	चौदह दिनों का पक्ष किस-किस- माह में?	११७
९९.	पौन पोरसी काल जानने का उपाय	११७
१००.	साधु की रात्रि चर्या	११८
१०१.	दैनिक कर्तव्य	११९
१०२.	प्रतिलेखना करने की विधि	१२०
१०३.	अप्रमाद प्रतिलेखना के भेद	१२१
१०४.	अप्रशस्त प्रतिलेखना	१२२
१०५.	प्रमाद प्रतिलेखना के भेद	१२२
१०६.	प्रतिलेखना की प्रशस्तता और- अप्रशस्तता	१२३
१०७.	प्रतिलेखना से विराधक और- आराधक	१२४
१०८.	तृतीय पौरिसी की दिनचर्या	१२५
१०९.	आहार पानी की गवेषणा के - छह कारण	१२५
११०.	आहार पानी त्याग के छह कारण	१२६
१११.	चौथी पौरिसी की दिनचर्या	१२७
११२.	रात्रि चर्या	१३०
११३.	उपसंहार	१३३

खलुंकीय नामक सत्ताईसवां

अध्ययन १३४-१४१

११४.	गर्गाचार्य का परिचय	१३४
११५.	विनीत शिष्य से संसार पार	१३५

क्रं.	विषय	पृष्ठ
११६.	अविनीत शिष्य और दुष्ट बैल	१३५
११७.	कुशिष्य और गर्गाचार्य	१३७
११८.	कुशिष्यों का त्याग	१४०
११९.	गर्गाचार्य का एकाकी विचरण	१४१

मोक्षमार्ग गति नामक अट्ठाईसवां

अध्ययन १४२-१६४

१२०.	मोक्षमार्ग का स्वरूप	१४२
१२१.	मोक्षमार्ग का फल	१४३
१२२.	सम्यग्ज्ञान के भेद	१४४
१२३.	द्रव्य, गुण और पर्याय	१४५
१२४.	षट् द्रव्य	१४६
१२५.	नव तत्त्वों के नाम	१४९
१२६.	सम्यग्दर्शन का स्वरूप	१४९
१२७.	सम्यक्त्व की रुचियाँ	१५०
	१. निसर्ग रुचि	१५१
	२. उपदेश रुचि	१५२
	३. आज्ञा रुचि	१५२
	४. सूत्र रुचि	१५२
	५. बीज रुचि	१५३
	६. अभिगम रुचि	१५३
	७. विस्तार रुचि	१५३
	८. क्रिया रुचि	१५४
	९. संक्षेप रुचि	१५४
	१०. धर्मरुचि	१५४
१२८.	सम्यक्त्व की श्रद्धा	१५५
१२९.	सम्यक्त्व की महिमा	१५६

क्रं.	विषय	पृष्ठ
१३०.	दर्शनाचार के भेद	१५७
१३१.	सम्यक्चारित्र का स्वरूप	१५९
१३२.	सम्यक् तप का स्वरूप	१६३
१३३.	ज्ञानादि की उपयोगिता	१६४
१३४.	उपसंहार	१६४

सम्यक्त्व पराक्रम नामक उनतीसवां

अध्ययन १६५-२२९

१३५.	सम्यक्त्व पराक्रम का फल	१६५
१३६.	सम्यक्त्व पराक्रम के ७३ मूल सूत्र	१६७
	१. संवेग	१६८
	२. निर्वेक	१७१
	३. धर्म श्रद्धा	१७२
	४. गुरु-साधर्मिक शुश्रूषा	१७२
	५. आलोचना	१७४
	६. निन्दना	१७५
	७. गर्हणा	१७६
	८. सामायिक	१७६
	९. चतुर्विंशतिस्तव	१७७
	१०. वन्दना	१७७
	११. प्रतिक्रमण	१७८
	१२. कायोत्सर्ग	१७८
	१३. प्रत्याख्यान	१७८
	१४. स्तव स्तुति मंगल	१८०
	१५. काल प्रतिलेखना	१८१
	१६. प्रायश्चित्तकरण	१८१
	१७. क्षमापना	१८२
	१८. स्वार्थ्याय	१८३
	१९. वाचना	१८३

क्रं.	विषय	पृष्ठ	क्रं.	विषय	पृष्ठ
२०.	प्रतिपृच्छना	१८४	५२.	योग-सत्य	२०८
२१.	परिवर्तना	१८५	५३.	मनःगुप्तता	२०९
२२.	अनुप्रेक्षा	१८५	५४.	वचनगुप्तता	२०९
२३.	धर्मकथा	१८७	५५.	कायगुप्तता	२१०
२४.	श्रुत की आराधना	१८८	५६.	मन समाधारणता	२१०
२५.	एकाग्रमन सन्निवेश	१८९	५७.	वचन समाधारणता	२११
२६.	संयम	१९०	५८.	काय समाधारणता	२११
२७.	तप	१९०	५९.	ज्ञान सम्पन्नता	२१२
२८.	व्ययवान	१९०	६०.	दर्शन सम्पन्नता	२१३
२९.	सुखशाता	१९१	६१.	चारित्र सम्पन्नता	२१४
३०.	अप्रतिबद्धता	१९२	६२.	श्रोत्रेन्द्रिय निग्रह	२१५
३१.	विविक्त शयनासन	१९२	६३.	चक्षुरिन्द्रिय निग्रह	२१६
३२.	विनिवर्तना	१९३	६४.	घ्राणेन्द्रिय-निग्रह	२१६
३३.	संभोग प्रत्याख्यान	१९४	६५.	जिह्वेन्द्रिय निग्रह	२१६
३४.	उपधि प्रत्याख्यान	१९६	६६.	स्पर्शनेन्द्रिय निग्रह	२१७
३५.	आहार-प्रत्याख्यान	१९७	६७.	क्रोध-विजय	२१९
३६.	कषाय प्रत्याख्यान	१९८	६८.	मान-विजय	२१९
३७.	योग-प्रत्याख्यान	१९८	६९.	माया-विजय	२२०
३८.	शरीर-प्रत्याख्यान	१९९	७०.	लोभ-विजय	२२०
३९.	सहाय प्रत्याख्यान	१९९	७१.	प्रेम-द्वेष मिथ्यादर्शन विजय	२२१
४०.	भक्त प्रत्याख्यान	२००	७२.	द्वेष निरोध	२२३
४१.	सर्वभाव प्रत्याख्यान	२०१	७३.	अकर्मता	२२५
४२.	प्रतिरूपता	२०२	१३७.	उपसंहार	२२६
४३.	वैद्यापृत्य	२०३			
४४.	सर्व गुण सम्पन्नता	२०३			
४५.	धीतराज्यता	२०४			
४६.	क्षांति	२०५			
४७.	मुक्ति	२०५			
४८.	आर्जयता	२०६			
४९.	मृदुता	२०७			
५०.	भावसत्य	२०७			
५१.	करण सत्य	२०८			

तपोमार्ग नामक तीसवाँ

अध्ययन २३०-२४८

१३८.	तप का प्रयोजन	२३०
१३९.	कर्मों को क्षय करने की विधि	२३१
१४०.	तप के भेद	२३३
१४१.	बाह्य तप के भेद	२३४

क्रं.	विषय	पृष्ठ
१४२.	अनशन तप के भेद-प्रभेद	२३४
१४३.	ऊनोदरी तप	२३६
१४४.	भिक्षाचर्या तप	२४१
१४५.	रसपरित्याग	२४३
१४६.	कायक्लेश	२४३
१४७.	प्रतिसंलीनता	२४५
१४८.	आभ्यंतर तप के भेद	२४५
१४९.	प्रायश्चित्त के भेद	२४६
१५०.	विनय का स्वरूप	२४६
१५१.	वैयानृत्य	२४६
१५२.	स्वाध्याय	२४७
१५३.	ध्यान	२४७
१५४.	व्युत्सर्ग	२४७
१५५.	तपाचरण का फल	२४८

चरणविधि नामक इकत्तीसवाँ

अध्ययन २४९-२६०

१५६.	चारित्र विधि का महत्त्व	२४९
	पहला बोल	२५०
	दूसरा बोल	२५०
	तीसरा बोल	२५०
	चौथा बोल	२५१
	पांचवाँ बोल	२५२
	छठा बोल	२५३
	सातवाँ बोल	२५३
	आठवाँ-नौवाँ-दसवाँ बोल	२५४

क्रं.	विषय	पृष्ठ
	ग्यारहवाँ-बारहवाँ बोल	२५५
	तेरहवाँ-चौदहवाँ-पन्द्रहवाँ बोल	२५५
	सोलहवाँ-सतरहवाँ बोल	२५६
	अठारहवाँ-उन्नीसवाँ-बीसवाँ बोल	२५६
	इक्कीसवाँ-बाईसवाँ बोल	२५७
	तेईसवाँ-चौबीसवाँ बोल	२५७
	पच्चीसवाँ-छब्बीसवाँ बोल	२५८
	सत्ताईसवाँ-अड़्काईसवाँ बोल	२५८
	उनतीसवाँ-तीसवाँ बोल	२५९
	इकत्तीस-बत्तीस-तैतीसवाँ बोल	२५९
१५७.	उपसंहार	२६०

प्रमादस्थान नामक बत्तीसवाँ

अध्ययन २६१-२६८

१५८.	दुःख मुक्ति व सुख प्राप्ति का उपाय	२६२
१५९.	दुःख का मूल	२६५
१६०.	मोह-उन्मूलन के उपाय	२६७
१६१.	कामभोगों की भयंकरता	२७१
१६२.	इन्द्रिय विषयों के प्रति वीतरागता	२७१
१६३.	शब्द के प्रति रागद्वेष से मुक्त- होने का उपाय	२७१
१६४.	गंध के प्रति राग-द्वेष से मुक्त- होने का उपाय	२८०
१६५.	रस के प्रति राग-द्वेष से मुक्त- होने का उपाय	२८४
१६६.	स्पर्श के प्रति राग-द्वेष से मुक्त- होने का उपाय	२८७

क्रं.	विषय	पृष्ठ
१६७.	मनोभावों के प्रति राग-द्वेष से- मुक्त होने का उपाय	२६०
१६८.	रागी के लिए दुःख के हेतु	२६४
१६९.	वीतरागता में बाधक प्रयत्न- से सावधान	२६५
१७०.	विरक्तात्मा का पुरुषार्थ - और संकल्प	२६६
१७१.	वीतरागता का फल	२६६
१७२.	उपसंहार	२६८

कर्मप्रकृति नामक तेतीसवां

अध्ययन २६९-३१०

१७३.	आठ कर्म	२६९
१७४.	ज्ञानावरणीय की उत्तर प्रकृतियां	३००
१७५.	दर्शनावरणीय की उत्तर प्रकृतियां	३००
१७६.	वेदनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियां	३०१
१७७.	मोहनीय की उत्तर प्रकृतियां	३०१
१७८.	आयुर्कर्म की उत्तर प्रकृतियां	३०३
१७९.	नामकर्म की उत्तर प्रकृतियां	३०४
१८०.	गोत्रकर्म की उत्तर प्रकृतियां	३०४
१८१.	अंतराय कर्म की उत्तर प्रकृतियां	३०५
१८२.	कर्मों के प्रदेशाग्र	३०५
१८३.	कर्मों की स्थितियाँ	३०७
१८४.	कर्मों के अनुभाग	३१०
१८५.	उपसंहार	३११

क्रं.	विषय	पृष्ठ
-------	------	-------

लेश्या नामक चौतीसवां

अध्ययन ३१२-३३१

१८६.	लेश्या-स्वरूप	३१२
१८७.	विषयानुक्रम	३१३
१.	नाम द्वार - लेश्याओं के नाम	३१३
२.	वर्ण द्वार - लेश्याओं के वर्ण	३१४
३.	रस द्वार	३१६
४.	गंधद्वार	३१७
५.	स्पर्शद्वार	३१८
६.	परिणाम-द्वार	३१९
७.	लक्षणद्वार	३२०
८.	स्थानद्वार	३२३
९.	स्थितिद्वार	३२३
१८८.	चारों गतियों में लेश्याओं की स्थिति	३२५
१०.	गतिद्वार	३२९
११.	आयुष्यद्वार	३३०
१८९.	उपसंहार	३३१

अनगार मार्गगति नामक पैंतीसवां

अध्ययन ३३२-३४२

१९०.	अनगार मार्ग के आचरण का फल	३३२
१९१.	सर्व संग परित्याग	३३३
१९२.	पापास्रवों का त्याग	३३४
१९३.	निवास-स्थान विवेक	३३४
१९४.	गृहकर्म समारंभ-निषेध	३३६
१९५.	आहार पचन-पाचन निषेध	३३७
१९६.	क्रय विक्रय वृत्ति का निषेध	३३८

क्रं.	विषय	पृष्ठ	क्रं.	विषय	पृष्ठ
१९७.	भिक्षावृत्ति का विधान	३३६	२२०.	पंचेन्द्रिय त्रस जीवों का स्वरूप	३८६
१९८.	स्वादवृत्ति-निषेध	३४०	२२१.	नैरयिकों का वर्णन	३८६
१९९.	मान-सम्मान निषेध	३४०	२२२.	तिर्य्यच पंचेन्द्रिय जीवों का स्वरूप	३९०
२००.	अनगार के लिए मुख्य चार मार्ग	३४१	२२३.	जलचर वर्णन	३९०
२०१.	अनगारमार्ग आचरण - का फल - उपसंहार	३४१	२२४.	स्थलचर - वर्णन	३९२
जीवाजीव विभक्ति नामक छत्तीसवां अध्ययन ३४३-४२४			२२५.	नभचर जीवों का स्वरूप	३९४
२०२.	विषय निर्देश और प्रयोजन	३४३	२२६.	मनुष्यों का स्वरूप	३९६
२०३.	लोकालोक का स्वरूप	३४३	२२७.	देवों का वर्णन	३९६
२०४.	अजीव का स्वरूप	३४४	१. भवन्नयति देव		४००
२०५.	अरूपी अजीव निरूपण	३४५	२. वाणव्यंतर देव		४०१
२०६.	रूपी अजीव का निरूपण	३४७	३. ज्योतिषी देव		४०२
२०७.	जीव का स्वरूप	३५६	४. वैमानिक देव		४०३
२०८.	सिद्ध जीवों का स्वरूप	३५६	२२८.	कल्पोपपन्न के भेद	४०५
२०९.	संसारी जीवों का स्वरूप	३६४	२२९.	कल्पातीत के भेद	४०५
२१०.	पृथ्वीकाय का निरूपण	३६६	२३०.	उपसंहार	४१४
२११.	अपूकाय का स्वरूप	३७०	२३१.	श्रमण वर्ग का कर्त्तव्य	४१४
२१२.	वनस्पतिकाय का स्वरूप	३७१	२३२.	अंतिम साधना - संलेखना	४१४
२१३.	तीन प्रकार के त्रस	३७५	२३३.	समाधिमरण में बाधक तत्त्व	४१७
२१४.	तेजस्काय का स्वरूप	३७६	२३४.	बोधि दुर्लभता-सुलभता	४१८
२१५.	वायुकाय का स्वरूप	३७८	२३५.	परित्त-संसारी	४१९
२१६.	उदार त्रसकाय का स्वरूप	३८०	२३६.	आलोचना श्रवण के योग्य	४२०
२१७.	बेइन्द्रिय त्रस का स्वरूप	३८०	२३७.	कान्दर्पी भावना	४२०
२१८.	तेइन्द्रिय-त्रस का स्वरूप	३८२	२३८.	आभियोगी भावना	४२१
२१९.	चतुरिन्द्रिय त्रस - स्वरूप	३८४	२३९.	किल्बिषी भावना	४२२
			२४०.	आसुरी भावना	४२२
			२४१.	बाल मरण और उसका फल	४२३
			२४२.	उपसंहार	४२४

श्री अ० भा० सुधर्म जैन सं० रक्षक संघ, जोधपुर आगम बत्तीसी प्रकाशन योजना के अन्तर्गत प्रकाशित आगम
अंग सूत्र

क्रं.	नाम आगम	मूल्य
१.	आचारांग सूत्र भाग-१-२	५५-००
२.	सूयगडांग सूत्र भाग-१,२	६०-००
३.	स्थानांग सूत्र भाग-१, २	६०-००
४.	समवायांग सूत्र	२५-००
५.	भगवती सूत्र भाग १-७	३००-००
६.	ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र भाग-१, २	६०-००
७.	उपासकदशांग सूत्र	२०-००
८.	अन्तकृतदशा सूत्र	२५-००
९.	अनुत्तरोपपातिक दशा सूत्र	१५-००
१०.	प्रश्नव्याकरण सूत्र	३५-००
११.	विपाक सूत्र	३०-००

उपांग सूत्र

१.	उबवाइय सुत्त	२५-००
२.	राजप्रश्नीय सूत्र	२५-००
३.	जीवाजीवाभिगम सूत्र भाग-१,२	६०-००
४.	प्रज्ञापना सूत्र भाग-१,२,३,४	१६०-००
५.	जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति	५०-००
६-७.	चन्द्रप्रज्ञप्ति-सूर्यप्रज्ञप्ति	२०-००
८-१२.	निरयावलिका (कल्पिका, कल्पवतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका, वृष्णिदशा)	२०-००

मूल सूत्र

१.	दशवैकालिक सूत्र	३०-००
२.	उत्तराध्ययन सूत्र भाग-१, २	६०-००
३.	नंदा सूत्र	२५-००
४.	अनुयोगद्वार सूत्र	५०-००

छेद सूत्र

१-३.	त्रीणिछेदसुत्ताणि सूत्र (दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प, व्यवहार)	५०-००
४.	निशीथ सूत्र	५०-००
	आवश्यक सूत्र	३०-००

संघ के अन्य प्रकाशन

क्रं.	नाम	मूल्य	क्रं.	नाम	मूल्य
१.	अंगपविद्धसुत्ताणि भाग १	१४-००	२४.	जैन सिद्धांत थोक संग्रह भाग ३	१०-००
२.	अंगपविद्धसुत्ताणि भाग २	४०-००	२५.	जैन सिद्धांत थोक संग्रह भाग ४	१०-००
३.	अंगपविद्धसुत्ताणि भाग ३	३०-००	२६.	जैन सिद्धांत थोक संग्रह संयुक्त	१५-००
४.	अंगपविद्धसुत्ताणि संयुक्त	८०-००	२७.	पन्नवणा सूत्र के थोकड़े भाग १	८-००
५.	अनंगपविद्धसुत्ताणि भाग १	३५-००	२८.	पन्नवणा सूत्र के थोकड़े भाग २	१०-००
६.	अनंगपविद्धसुत्ताणि भाग २	४०-००	२९.	पन्नवणा सूत्र के थोकड़े भाग ३	१०-००
७.	अनंगपविद्धसुत्ताणि संयुक्त	८०-००	३०-३२.	तीर्थकर चरित्र भाग १, २, ३	१४०-००
८.	अनुत्तरोववाइय सूत्र	३-५०	३३.	मोक्ष मार्ग ग्रन्थ भाग १	३५-००
९.	आयारो	८-००	३४.	मोक्ष मार्ग ग्रन्थ भाग २	३०-००
१०.	सूयगडो	६-००	३५-३७.	समर्थ समाधान भाग १, २, ३	५७-००
११.	उत्तरज्झयणाणि(गुटका)	१०-००	३८.	सम्यक्त्व विमर्श	१५-००
१२.	दसवेयालिय सुत्तं (गुटका)	५-००	३९.	आत्म साधना संग्रह	२०-००
१३.	णंदी सुत्तं (गुटका)	अप्राप्य	४०.	आत्म शुद्धि का मूल तत्त्वत्रयी	२०-००
१४.	चउछेयसुत्ताइ	१५-००	४१.	नवतत्त्वों का स्वरूप	१३-००
१५.	आचारांग सूत्र भाग १	२५-००	४२.	अगार-धर्म	१०-००
१६.	अंतगडदसा सूत्र	१०-००	४३.	Saarth Saamaayik Sootra	१०-००
१७-१९.	उत्तराध्ययनसूत्र भाग १, २, ३	४५-००	४४.	तत्त्व-पृच्छा	१०-००
२०.	आवश्यक सूत्र (सार्थ)	१०-००	४५.	तेतली-पुत्र	४५-००
२१.	दशवैकालिक सूत्र	१०-००	४६.	शिविर व्याख्यान	१२-००
२२.	जैन सिद्धांत थोक संग्रह भाग १	१०-००	४७.	जैन स्वाध्याय माला	१८-००
२३.	जैन सिद्धांत थोक संग्रह भाग २	१०-००	४८.	सुधर्म स्तवन संग्रह भाग १	२२-००

क्रं.	नाम	मूल्य	क्रं.	नाम	मूल्य
४९.	सुधर्म स्तवन संग्रह भाग २	१५-००	७२.	जैन सिद्धांत कोविद	३-००
५०.	सुधर्म चरित्र संग्रह	१०-००	७३.	जैन सिद्धांत प्रवीण	४-००
५१.	लौकाशाह मत समर्थन	१०-००	७४.	तीर्थकरों का लेखा	१-००
५२.	जिनागम विरुद्ध मूर्ति पूजा	१५-००	७५.	जीव-धड़ा	२-००
५३.	बड़ी साधु वंदना	१०-००	७६.	१०२ बोल का बासठिया	०-५०
५४.	तीर्थकर पद प्राप्ति के उपाय	५-००	७७.	लघुदण्डक	३-००
५५.	स्वाध्याय सुधा	७-००	७८.	महादण्डक	१-००
५६.	आनुपूर्वी	१-००	७९.	तेतीस बोल	२-००
५७.	सुखविपाक सूत्र	२-००	८०.	गुणस्थान स्वरूप	३-००
५८.	भक्तामर स्तोत्र	२-००	८१.	गति-आगति	१-००
५९.	जैन स्तुति	६-००	८२.	कर्म-प्रकृति	१-००
६०.	सिद्ध स्तुति	३-००	८३.	समिति-गुप्ति	२-००
६१.	संसार तरणिका	७-००	८४.	समकित के ६७ बोल	२-००
६२.	आलोचना पंचक	२-००	८५.	पच्चीस बोल	३-००
६३.	विनयचन्द चौबीसी	१-००	८६.	नव-तत्त्व	६-००
६४.	भवनाशिनी भावना	२-००	८७.	सामायिक संस्कार बोध	४-००
६५.	स्तवन तरंगिणी	५-००	८८.	मुखवस्त्रिका सिद्धि	३-००
६६.	सामायिक सूत्र	१-००	८९.	विद्युत् सचित्त तेऊकाय है	३-००
६७.	सार्थ सामायिक सूत्र	३-००	९०.	धर्म का प्राण यतना	२-००
६८.	प्रतिक्रमण सूत्र	३-००	९१.	सामण्ण सङ्घम्मो	अप्राप्य
६९.	जैन सिद्धांत परिचय	३-००	९२.	मंगल प्रभातिका	१.२५
७०.	जैन सिद्धांत प्रवेशिका	४-००	९३.	कुगुरु गुर्वाभास स्वरूप	४-००
७१.	जैन सिद्धांत प्रथमा	४-००			

❁ णमोऽत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स ❁

श्री उत्तराध्ययन सूत्र

भाग-२

(मूल पाठ, कठिन शब्दार्थ, भावार्थ एवं विवेचन सहित)

समुद्रपालीयं णामं एगवीसइमं अज्झयणं

समुद्रपालीय नामक इक्कीसवां अध्ययन

उत्थानिका - इस अध्ययन में समुद्रपाल के जन्म से लेकर मोक्ष प्राप्ति तक की घटनाओं से संबंधित वर्णन होने के कारण इसका नाम 'समुद्रपालीय' रखा गया है।

कभी-कभी छोटी से छोटी घटना भी किस प्रकार प्रेरणा-प्रदीप बन जाती है, यह समुद्रपाल के जीवन वृत्तान्त से स्पष्ट होता है। वध्यभूमि की ओर ले जाते हुए एक अपराधी को देख कर समुद्रपाल के अंतःकरण में वैराग्य-दीप जल उठा। उन्होंने चिंतन किया कि - 'जो जैसे भी अच्छे या बुरे कर्म करता है, उसका फल उसे देर-सबेर भोगना ही पड़ता है।' इस प्रकार कर्म और कर्मफल पर गहराई से चिंतन करते-करते उनका मन कर्मबंधनों को तोड़ने के लिए तिलमिला उठा। उन्होंने माता-पिता की अनुमति ले कर दीक्षा ग्रहण कर ली। समुद्रपाल मुनि बन कर विशुद्ध संयम का पालन करके और सर्व कर्म क्षय करके सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो गये।

कर्म विपाक का चिंतन और संयम में जागरूकता, यही इस अध्ययन का मुख्य संदेश है। प्रस्तुत है इसकी पहली गाथा -

पालित श्रावक का परिचय

चंपाए पालिए णामं, सावए आसी वाणिए।

महावीरस्स भगवओ, सीसे सो उ महप्पणो ॥१॥

कठिन शब्दार्थ - चंपाए - चम्पा नगरी में, पालिए णामं - पालित नामक, सावए - श्रावक, वाणिए - वणिक, सीसो - शिष्य, महप्पणो - महात्मा।

भावार्थ - चम्पा नगरी में पालित नामक एक वणिक व्यापार करने वाला श्रावक रहता था। वह महात्मा भगवान् महावीर का शिष्य था।

णिंगंथे पावयणे, सावए से विकोविए।

पोएण ववहरंते, पिहुंडं णगरमागए ॥२॥

कठिन शब्दार्थ - णिंगंथे पावयणे - निर्ग्रंथ प्रवचन में, विकोविए - विकोविद-विशिष्ट विद्वान्, पोएण - पोत - पानी के जहाज से, ववहरंते - व्यापार करता हुआ, पिहुंडं-पिहुण्ड नामक, णगरं - नगर में, आगए - पहुँचा।

भावार्थ - वह श्रावक निर्ग्रंथ प्रवचन में विशेष पंडित था अर्थात् वह जीव अजीव आदि तत्त्वों का विशेष ज्ञाता था। उसका व्यापार जहाजों से चलता था, इसलिए पोत (जलयान-जहाज) से व्यापार करता हुआ वह पिहुण्ड नामक नगर में पहुँचा।

विवेचन - प्रस्तुत गाथाओं में चंपानगरी में बसे हुए पालित श्रावक का परिचय दिया गया है। वह केवल विशिष्ट वणिक (व्यापारी) ही नहीं था अपितु वह भगवान् महावीर स्वामी का गृहस्थ शिष्य-श्रावक था। वह निर्ग्रंथ प्रवचनों - वीतराग प्ररूपित सिद्धांतों का विशिष्ट विद्वान् एवं जीवादि नवतत्त्वों का मर्मज्ञ था।

पालित श्रावक व्यापारार्थ जलमार्ग से पिहुण्ड नगर पहुँचा।

पालित का विवाह

पिहुंडे ववहरंतस्स, वाणिओ देइ धूरं।

तं ससत्तं पड़गिज्ज, सदेसमह पत्थिओ ॥३॥

कठिन शब्दार्थ - ववहरंतस्स - व्यापार करते समय, वाणिओ - व्यापारी, देइ - दी,

धूरं - कन्या को, ससत्तं - गर्भवती को, पङ्गिज्झ - लेकर, सदेशं - स्वदेश को, अह - अब, पत्थिओ - प्रस्थान किया।

भावार्थ - पिहुंङ्ग नगर में व्यापार करते हुए उस पालित श्रावक को किसी व्यापारी ने अपनी कन्या दे दी अर्थात् पालित श्रावक के गुणों से आकृष्ट हो कर अपनी कन्या का विवाह उसके साथ कर दिया। कुछ समय पश्चात् वह गर्भवती हुई। इधर पालित श्रावक के व्यापार का कार्य पूरा हो गया तब वह अपनी उस गर्भवती स्त्री को साथ लेकर अपने देश के लिए खाना हुआ।

समुद्रपाल का जन्म

अह पालियस्स घरणी, समुद्धम्मि पसवइ।

अह दारए तर्हिं जाए, समुद्धपालित्ति णामए॥४॥

कठिन शब्दार्थ - पालियस्स - पालित श्रावक की, घरणी - गृहिणी, समुद्धम्मि - समुद्र में, पसवइ - जन्म दिया, दारए - बालक, तर्हिं - वहां, जाए - जन्म हुआ, समुद्धपाल इत्ति - समुद्रपाल, णामए - नाम।

भावार्थ - समुद्र में यात्रा करते हुए उस पालित श्रावक की गृहिणी - स्त्री के समुद्र में प्रसव हुआ। समुद्र में बालक का जन्म हुआ इसलिए उसका नाम 'समुद्रपाल' रखा गया।

विवेचन - पालित की पत्नी ने समुद्र में ही पुत्र को जन्म दिया अतः बालक का गुणनिष्पन्न नाम 'समुद्रपाल' रखा गया।

चम्पा में संवर्द्धन

खेमेण आगए चंपं, सावए वाणिए घरं।

संवहइ धरे तस्स, दारए से सुहोइए॥५॥

कठिन शब्दार्थ - खेमेण - क्षेमकुशल पूर्वक, आगए - आ गया, घरं - घर को, संवहइ - बढ़ने लगा, सुहोइए - सुखोचित।

भावार्थ - वह वणिक श्रावक क्षेम कुशल पूर्वक चम्पा नगरी में अपने घर आ गया और सुखोचित - सुख के साथ वह बालक उस पालित श्रावक के घर में बढ़ने लगा।

शिक्षण

बावत्तरी-कलाओ य, सिक्खिए णीइकोविए।

जोव्वणेण य अप्फुण्णे, सुरूवे पियदंसणे ॥६॥

कठिन शब्दार्थ - बावत्तरी कलाओ - बहत्तर कलाएं, सिक्खिए - सीखीं, णीइकोविए- नीति कोविद, जोव्वणेण - यौवन से, अप्फुण्णे (संपण्णे) - सम्पन्न, सुरूवे - सुरूप, पियदंसणे - प्रियदर्शन।

भावार्थ - शिक्षा ग्रहण के योग्य होने पर समुद्रपाल को विद्या गुरु के पास भेजा गया। वहाँ अत्यन्त सुरूप और सभी को प्रिय लगने वाले उस समुद्रपाल ने पुरुष की बहत्तर कलाएँ सीखीं और वह नीतिकोविद-नीति में पंडित बन गया। क्रमशः वह यौवन अवस्था को प्राप्त हुआ।

पाणिग्रहण और सुखी जीवन

तस्स रूववइं भज्जं, पिया आणेइ रूविणिं।

पासाए कीलए रम्मे, देवो दोगुंदगो जहा ॥७॥

कठिन शब्दार्थ - रूववइं भज्जं - रूपवती भार्या, पिया - पिता, आणेइ - लाये, रूविणिं - रूपिणी नाम की, पासाए - प्रासाद में, कीलए - क्रीड़ा करने लगा, रम्मे - रम्य-रमणीक, देवो दोगुंदओ जहा - दोगुंदक देव की भांति।

भावार्थ - समुद्रपाल की विवाह योग्य अवस्था देख कर उसका पिता उसके लिए रूपिणी (रुक्मिणी) नाम की रूपवती भार्या लाया अर्थात् रूपिणी नाम की एक सुन्दर कन्या के साथ उसका विवाह कर दिया। वह उसके साथ रमणीय प्रासाद में दोगुन्दक जाति के देवों के समान निर्विघ्नरूप से क्रीड़ा करने लगा।

विवेचन - युवावस्था प्राप्त होने पर समुद्रपाल सुरूप एवं सभी को प्रिय लगने वाले थे। पिता ने एक सुंदर सुशील कन्या के साथ उसका पाणिग्रहण कर दिया। वह महलों में दोगुंदक देव की तरह क्रीड़ा करने लगा।

त्रायस्त्रिंशक देवों को 'दोगुंदक' कहते हैं। ये देव निर्विघ्नता एवं निर्भिकता से स्वर्गीय सुखों का उपभोग करते हैं इसलिये समुद्रपाल के सुखोपभोग के लिए भी 'देवो दोगुंदगो जहा' यह विशेषण प्रयुक्त किया गया है।

विरक्ति और दीक्षा

अह अण्णया कयाइ, पासायालोयणे ठिओ।

वज्झ-मंडण-सोभागं, वज्झं पासइ वज्झगं॥८॥

कठिन शब्दार्थ - अण्णया कयाइ - किसी एक दिन, पासायालोयणे - प्रासाद के गवाक्ष में, ठिओ - बैठा था, वज्झ-मंडण-सोभागं - वध्यजनोचित मण्डनों (चिह्नों) से शोभित, वज्झं - वध्य - अपराधी को, पासइ - देखता है, वज्झगं - वध स्थान की ओर ले जाते हुए।

भावार्थ - इसके बाद किसी एक समय प्रासाद (भवन) के गवाक्ष (खिड़की) में बैठे हुए समुद्रपाल ने मृत्यु दण्ड पाये हुए पुरुष के योग्य रक्त चन्दन, कनेर की माला आदि मृत्यु-चिह्नों से युक्त वध्य - एक अपराधी पुरुष को मारने के लिए फांसी के स्थान पर ले जाते हुए देखा।

विवेचन - 'वज्झं मंडण सोभागं' - शब्द से प्राचीनकाल की दण्ड प्रक्रिया का संकेत मिलता है। सूत्रकृतांग चूर्णि तथा उत्तराध्ययन बृहदवृत्ति पत्र ४८३ के अनुसार जिस अपराधी को वध-मृत्युदण्ड की सजा दी जाती थी उसे गले में लाल कनेर की माला पहनाई जाती, शरीर पर लाल चंदन का लेप करके लाल वस्त्र पहना कर नगर में घुमाते हुए उसको मृत्युदण्ड दिये जाने की घोषणा करते हुए वध्यस्थान - श्मशान की ओर ले जाया जाता था।

तं पासिऊण संविग्गो, समुद्दपालो इणमब्बवी।

अहोऽसुहाण कम्माणं, णिज्जाणं पावगं इमं॥९॥

कठिन शब्दार्थ - पासिऊण - देख कर, संविग्गो - संविग्ग - संवेग - मुक्ति की अभिलाषा को प्राप्त, इणमब्बवी - इस प्रकार कहने लगा, असुहाण - अशुभ, कम्माणं - कर्मों का, णिज्जाणं - निर्याण - परिणाम, पावगं - पापरूप।

भावार्थ - उस अपराधी को देख कर समुद्रपाल संवेग को प्राप्त हो कर इस प्रकार कहने लगा कि - अहो! अशुभ कर्मों का निर्याण - अन्तिम फल पाप रूप ही होता है जैसा कि यह प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है।

संबुद्धो सो तहिं भगवं, परमसंवेगमागओ।

आपुच्छऽम्मापियरो, पव्वए अणगारियं॥१०॥

कठिन शब्दार्थ - संबुद्धो - सम्बुद्ध - बोध को प्राप्त हुआ, भगवं - माहात्म्यवान्-
ऐश्वर्य सम्पन्न, परमसंवेगं - परम संवेग को, आगओ - प्राप्त हुआ, आपुच्छ - पूछ कर,
अम्मापियरो - माता पिता से, पव्वए - अंगीकार कर ली, अणगारियं - अनगारिता (मुनि
दीक्षा) को।

भावार्थ - वहाँ प्रासाद के गवाक्ष में बैठा हुआ ऐश्वर्य सम्पन्न वह समुद्रपाल बोध को
प्राप्त हुआ और परम संवेग को प्राप्त हुआ। इसके बाद अपने माता-पिता को पूछ कर उसने
अनगार वृत्ति अंगीकार कर ली।

विवेचन - प्रस्तुत तीन गाथाओं (क्रं. ८ से १० तक) में स्वर्गीय सुखों का अनुभव करते
समुद्रपाल को सहसा संवेग, वैराग्य, प्रतिबोध एवं दीक्षा के भाव कैसे उत्पन्न हुए? इसका वर्णन
किया गया है।

शंका - समुद्रपाल के लिए 'भगवं' शब्द का प्रयोग क्यों किया गया है?

समाधान - 'भग' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। यहां भगवान् शब्द तीर्थंकर, ज्ञानी पुरुष
या केवली के अर्थ में प्रयुक्त नहीं होकर माहात्म्यवान्, ऐश्वर्यशाली, धर्मिष्ठ, यशस्वी अर्थ में
प्रयुक्त हुआ है।

मुनिधर्म शिक्षा

जहित्तु सगंथमहाकिलेसं, महंतमोहं कसिणं भयावहं।

परियायधम्मं चाभिरोयएज्जा, वयाणि सीलाणि परीसहे य॥११॥

कठिन शब्दार्थ - जहित्तु - छोड़कर, सगंथं (संगं च) - परिग्रह एवं आसक्ति को,
महाकिलेसं - महाक्लेशकारी, महंतमोहं - महा मोहजनक, कसिणं - सम्पूर्ण अथवा कृष्ण
लेश्या रूप, भयावहं - भयावह, परियायधम्मं - पर्याय धर्म - प्रव्रज्या रूप मुनि धर्म में,
अभिरोयएज्जा - अभिरुचि रखे, वयाणि - व्रतों में, सीलाणि - शीलों में, परीसहे -
परीषहों में।

भावार्थ - महा क्लेशकारी, महा मोहोत्पादक, अनेक भयों को उत्पन्न करने वाले सम्पूर्ण
परिग्रह एवं स्वजनादि के प्रतिबन्ध को छोड़ कर वे प्रव्रज्या धर्म में लीन रहने लगे, पाँच
महाव्रतों और पिण्ड-विशुद्ध्यादि उत्तर-गुणों का पालन करने लगे तथा परीषहों को सहन करने
लगे।

अहिंस सच्चं च अतेणगं च, तत्तो य बंभं अपरिगहं च।

पडिवज्जिया पंच महव्वयाणि, चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विदू॥१२॥

कठिन शब्दार्थ - अहिंस - अहिंसा, सच्चं - सत्य, अतेणगं - अस्तेय, तत्तो - तत्परचात्, बंभं - ब्रह्मचर्य, अपरिगहं - अपरिग्रह को, पडिवज्जिया - अंगीकार कर के, पंचमहव्वयाणि - पांच महाव्रतों को, चरिज्ज - आचरण करे, जिणदेसियं धम्मं - जिणोपदिष्ट धर्म का, विदू - विद्वान्।

भावार्थ - अहिंसा, सत्य, अस्तेय (अदत्त का त्याग), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पाँच महाव्रतों को अंगीकार कर के वे विद्वान् मुनि जिनेन्द्र देव द्वारा उपदिष्ट धर्म का पालन (सेवन) करने लगे।

सव्वेहिं भूएहिं दयाणुकंपी, खंतिक्खमे संजय-बंधयारी।

सावज्ज जोगं परिवज्जयंतो, चरिज्ज भिक्खू सुसमाहि इंदिए॥१३॥

कठिन शब्दार्थ - सव्वेहिं भूएहिं - सभी प्राणियों के प्रति, दयाणुकंपी - दयालु-अनुकम्पाशील, खंतिक्खमे - क्षमा से दुर्वचनादि को सहन करने वाला, सावज्ज जोगं - सावद्य योगों को, परिवज्जयंतो - परित्याग करता हुआ, सुसमाहि इंदिए - इन्द्रियों को सुसमाहित - नियंत्रित रखने वाला।

भावार्थ - सभी जीवों पर दयापूर्वक अनुकम्पा करने वाला, कठोर वचनों को क्षमा एवं शांतिपूर्वक सहन करने वाला, संयत एवं ब्रह्मचारी, सुसमाधि युक्त तथा इन्द्रियों को वश में रखने वाला साधु सभी प्रकार के सावद्य व्यापारों को छोड़ कर विचरे। समुद्रपाल मुनि इसी प्रकार विचरने लगे।

कालेण कालं विहरेज्ज रट्टे, बलाबलं जाणिय अप्पणो य।

सीहो व सहेण ण संतसेज्जा, वयजोग सुच्चा ण असब्भमाहु॥१४॥

कठिन शब्दार्थ - कालेण कालं - समय के अनुसार, विहरेज्ज - विचरे, रट्टे - राष्ट्रों में, बलाबलं - बलाबल को, जाणिय - जानकर, अप्पणो - अपने, सीहो व - सिंह की तरह, सहेण - शब्दों से, ण संतसेज्जा - संन्रस्त न हो, वयजोग - अमनोज्ञ वचन व्यापार, सुच्चा - सुनकर, असब्भं - असभ्य वचन, ण आहु - न कहे।

भावार्थ - मुनि कालोकाल (यथा समय प्रतिलेखनादि क्रियाएं करता हुआ) अपनी आत्मा

के बलाबल अर्थात् सहिष्णुता और असहिष्णुता रूप शक्ति को जान कर देश में विचरे और जिस प्रकार सिंह किसी भयानक शब्द को सुन कर भयभीत नहीं होता उसी प्रकार साधु भी भयानक शब्दों को सुन कर डरे नहीं और दुःखोत्पादक शब्दों को सुन कर असभ्य एवं कठोर वचन न कहे। समुद्रपाल मुनि भी उपरोक्त प्रकार से आचरण करते थे।

उवेहमाणो उ परिव्वएज्जा, पियमप्पियं सव्व तित्तिक्खएज्जा।

ण सव्व सव्वत्थऽभिरोयएज्जा, ण यावि पूयं गरहं च संजए॥१५॥

कठिन शब्दार्थ - उवेहमाणो - उपेक्षा करता हुआ, परिव्वएज्जा - विचरे, पियमप्पियं-प्रिय और अप्रिय, तित्तिक्खएज्जा - सहन करे, सव्वत्थ - सर्वत्र, ण अभिरोयएज्जा - अभिलाषा न करे, पूयं - पूजा, गरहं - गर्हा-निंदा।

भावार्थ - संयत-इन्द्रियों को वश में रखने वाला मुनि उपरोक्त बातों का विचार करता हुआ विचरे तथा प्रिय और अप्रिय सभी को समभाव से सहन करे (इष्ट-वियोग अनिष्ट-संयोग में सहनशील हो कर मध्यस्थ भाव रखे) सर्वत्र सभी पदार्थों की अभिलाषा न करे (जिन-जिन सुन्दर वस्तुओं को देखे, उन सभी की इच्छा नहीं करे) तथा पूजा-सत्कार और गर्हा (निन्दा) को भी न चाहे। समुद्रपाल मुनि प्रशंसा और निन्दा में समभाव रखते थे।

अणेगछंदा मिह माणवेहिं, जे भावओ संपगरेइ भिक्खू।

भयभेरवा तत्थ उइंति भीमा, दिव्वा मणुस्सा अदुवा तिरिच्छा॥१६॥

कठिन शब्दार्थ - अणेगछंदा - अनेक प्रकार के अभिप्राय, माणवेहिं - मनुष्यों के द्वारा, भावओ - भाव से, संपगरेइ - सम्यक् रूप से ग्रहण करे, भयभेरवा - भयोत्पादक भयंकर, उइंति - उदय (उत्पन्न) होते हैं, भीमा - भीम-अति रौद्र, दिव्वा - देव सम्बन्धी, मणुस्सा - मनुष्य संबंधी, तिरिच्छा - तिर्यच संबंधी।

भावार्थ - इसलोक में मनुष्यों के अनेक प्रकार के अभिप्राय हो सकते हैं। औदयिक आदि भावों के कारण वैसे अभिप्राय साधु के मन में भी उत्पन्न हो सकते हैं, किन्तु साधु अपने संयम में दृढ़ रहे। साधु अवस्था में अत्यन्त भयोत्पादक, भयंकर देव सम्बन्धी, मनुष्य सम्बन्धी और तिर्यच सम्बन्धी उपसर्ग प्राप्त होते हैं, उन्हें समभावपूर्वक सहन करे।

परीसहा दुव्विसहा अणेगे, सीयंति जत्थ बहु कायरा णरा।

से तत्थ पत्ते ण वहिज्ज भिक्खू, संगाम-सीसे इव णागराया॥१७॥

कठिन शब्दार्थ - दुःखिसहा - दुःसह, सीयंति - खिन्न हो जाते हैं, बहुकायरा णरा - बहुत से कायर मनुष्य, पत्ते - प्राप्त होने पर, ण वहिज्ज - व्यथित न हो, संगामसीसे - संग्राम में आंगे रहने वाले, णागराया - नागराज (हाथी)।

भावार्थ - साधु अवस्था में अनेक प्रकार के दुःसह्य परीषह उपस्थित होते हैं जिससे बहुत-से कायर मनुष्य संयम में शिथिल हो जाते हैं किन्तु संग्राम के अग्रभाग में रहे हुए शूवीर हाथी के समान संयम में दृढ़ साधु उन परीषह (उपसर्गों) के प्राप्त होने पर घबरावे नहीं अर्थात् संयममार्ग से चलित न होवे। इसी प्रकार वे समुद्रपाल मुनि भी परीषह-उपसर्गों से चलित नहीं होते थे।

सीओसिणा दंसमसगा य फासा, आयंका विविहा फुसंति देहं।

अकुक्कुओ तत्थऽहियासएज्जा, रयाइं खेवेज्ज पुरेकडाइं॥१८॥

कठिन शब्दार्थ - सीओसिणा - शीत और उष्ण, दंसमसगा - दंश-मशक - डांस और मच्छर, फासा - स्पर्श, आयंका - आतंक (रोग), विविहा - विविध प्रकार के, फुसंति - स्पर्श करते हैं, देहं - शरीर को, अकुक्कुओ - कुत्सित शब्दोच्चारण, अहियासएज्जा-समभाव से सहन करे, रयाइं - कर्म रज को, खेवेज्ज - दूर कर दे, पुरेकडाइं - पूर्वकृत।

भावार्थ - साधु अवस्था में शीत और उष्ण, डांस और मच्छर, तृणस्पर्शादि परीषह और अनेक प्रकार के आतंक ('सद्योघाती आतंकः' - ऐसा रोग जिससे प्राणी की तुरन्त मृत्यु हो जाय, जैसे कि हैजा, प्लेग आदि) शरीर को स्पर्श करते हैं उस समय आक्रन्दन नहीं करता हुआ उन्हें समभाव पूर्वक सहन करे और पूर्वकृत कर्म रूपी रज को क्षय करे। समुद्रपाल मुनि भी इसी प्रकार आचरण करते थे।

पहाय रागं च तहेव दोसं, मोहं च भिक्खू सययं वियक्खणो।

मेरुव्व वाएण अकंपमाणो, परीसहे आयगुत्ते सहेज्जा॥१९॥

कठिन शब्दार्थ - पहाय - छोड़ कर, रागं - राग को, तहेव - इसी प्रकार, दोसं - द्वेष को, मोहं - मोह को, सययं - सतत, वियक्खणो - विचक्षण, मेरुव्व - मेरु पर्वत के समान, वाएण - वायु से, अकंपमाणो - कम्पित न होने वाले, परीसहे - परीषहों को, आयगुत्ते - आत्मगुप्त हो कर, सहेज्जा - सहन करे।

भावार्थ - विचक्षण भिक्षु-साधु राग और द्वेष को तथा इसी प्रकार मोह को सतत-निरन्तर छोड़ कर वायु से कम्पित न होने वाले मेरु पर्वत के समान अड़ोल हो कर आत्मा को वश कर के परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करे। समुद्रपाल मुनि ऐसा ही आचरण करते थे।

अणुण्णए णावणए महेसी, ण यावि पूयं गरहं च संजए।

से उज्जुभावं पडिवज्ज संजए, णिव्वाणमगं विरए उवेइ॥२०॥

कठिन शब्दार्थ - अणुण्णए - उन्नत न हो, णावणए - अवनत न हो, पूयं - पूजा को, गरहं - गर्हा में, उज्जुभावं - सरल भाव को, पडिवज्ज - स्वीकार करके, णिव्वाणमगं-निर्वाण मार्ग को, विरए - विरत हो कर, उवेइ - प्राप्त होता है।

भावार्थ - महर्षि पूजा को प्राप्त कर के उन्नत न हो और निन्दा के प्रति अवनत भाव को प्राप्त न हो अर्थात् जो साधु अपनी पूजा से गर्वित नहीं होता और निन्दा से जिसके मन में द्वेष या दीनभाव उत्पन्न नहीं होता, किन्तु समभाव रखता है वह संयत अर्थात् पांच इन्द्रियों को वश में रखने वाले संयमी साधु कामभोगों से सर्वथा विरत हो कर तथा सरल भाव को प्राप्त हो कर निर्वाण मार्ग (मोक्षमार्ग) को प्राप्त होता है। समुद्रपाल मुनि भी इसी प्रकार शुद्ध आचरण करते हुए मोक्षमार्ग की आराधना करते थे।

अरइरइसहे पहीणसंथवे, विरए आयहिए पहाणवं।

परमट्टपएहिं चिड्डइ, छिण्णसोए अममे अकिंचणे॥२१॥

कठिन शब्दार्थ - अरइरइसहे - अरति और रति को सहन करने वाला, पहीणसंथवे - संस्तव-सांसारिक जनों के अति परिचय को छोड़ देने वाला, आयहिए - आत्म हित साधक, पहाणवं - प्रधानवान् संयम में रत, परमट्टपएहिं - परमार्थ पदों में, चिड्डइ - स्थित रहते थे, छिण्णसोए - छिन्न स्रोत - शोक रहित, अममे - ममता-मूर्च्छा रहित, अकिंचणे - अकिञ्चन-निष्परिग्रही।

भावार्थ - संयम में अरति और असंयम में रति रूप परीषह को सहन करने वाला, गृहस्थों के परिचय को छोड़ देने वाला, विरत - काम-भोगों का सर्वथा त्याग करने वाला, आत्म-हित साधन में तत्पर, प्रधान संयम में रत, आस्रवादि स्रोतों का निरोध करने वाला एवं शोक-रहित, ममत्व रहित, अकिंचन अर्थात् द्रव्य-भाव परिग्रह-रहित, वे समुद्रपाल मुनि परमार्थ पद में अर्थात् मोक्षमार्ग में स्थित थे।

विविक्त लयणाइं भएज ताई, णिरोबलेवाइं असंथडाइं।

इसीहिं चिण्णाइं महायसेहिं, काएण फासेज परीसहाइं ॥२२॥

कठिन शब्दार्थ - विविक्त लयणाइं - विविक्त - स्त्री-पशु-पण्डक के संसर्ग से रहित एकान्त लयनों - आवास स्थानों का, भएज - सेवन करे, ताई - त्रायी - छहकाय जीवों का त्राता-रक्षक, णिरोबलेवाइं - उपलेप से रहित, असंथडाइं - असंसृत - बीजादि से रहित, इसीहिं - ऋषियों द्वारा, चिण्णाइं - सेवित, महायसेहिं - महायशस्वी, काएण - काया से, फासेज - सहन करे, परीसहाइं - परीषहों को।

भावार्थ - त्रायी - छह काय जीवों के रक्षक साधु, उपलेप रहित अर्थात् आसक्ति के कारणों से रहित अथवा साधु के लिए नहीं लीपे हुए असंसृत-बीजादि से रहित और महायशस्वी ऋषियों द्वारा सेवित स्त्री-पशु-नपुंसक से रहित स्थानों का सेवन करे। ऐसे उपाश्रय में रहते हुए यदि परीषह उपस्थित हों तो साधु उन्हें समभाव पूर्वक काया से सहन करे। समुद्रपाल मुनि ऐसा ही करते थे।

सण्णाण-णाणोवगए महेसी, अणुत्तरं चरिउं धम्मसंचयं।

अणुत्तरे णाणधरे जसंसी, ओभासइं सूरिए वंउतलिकखे ॥२३॥

कठिन शब्दार्थ - सण्णाणणाणोवगए - अनेक प्रकार के श्रेष्ठ ज्ञान को प्राप्त करके, अणुत्तरं - प्रधान, चरिउं - सेवन करके, धम्मसंचयं - धर्म संचय का, अणुत्तरे णाणधरे - सर्वश्रेष्ठ ज्ञान (केवलज्ञान) को धारण करने वाला, जसंसी - यशस्वी, ओभासइं - प्रकाशित होता है, सूरिए वं - सूर्य के समान, अंतलिकखे - आकाश में।

भावार्थ - अनेक प्रकार के श्रेष्ठ ज्ञान को प्राप्त करके प्रधान क्षमा आदि यतिधर्मों के समुदाय का सेवन करके सर्वश्रेष्ठ केवलज्ञान को धारण करने वाला यशस्वी मुनि, आकाश में सूर्य के समान प्रकाशित होता है।

दुविहं खवेऊण य पुण्णपावं, णिरंजणेः सव्वओ विप्पमुक्के।

तरित्ता समुहं च महाभवोधं, समुहपाले अपुणागमं गए ॥२४॥ त्ति बेमि ॥

कठिन शब्दार्थ - दुविहं - दोनों प्रकार के, खवेऊण - क्षय करके, पुण्णपावं - पुण्य

* पाठान्तर - णिरंजणे

और पाप का, गिरंजणे (गिरंगणे) - निरञ्जन-कर्ममल से रहित, संयम में निश्चल, विष्णुमुक्के-विमुक्त होकर, तरित्ता - तैर कर, समुदं - समुद्र को, महाभवोर्धं - विशाल संसार प्रवाह को, अपुणागमं - पुनरागमन रहित-जहां से पुनः संसार में आगमन नहीं होता ऐसे मोक्ष को, गए - प्राप्त हुए।

भावार्थ - दोनों प्रकार के कर्मों का अर्थात् धाती और अघाती कर्मों का तथा पुण्य और पाप का सर्वथा क्षय करके निरञ्जन (कर्ममल से रहित अथवा संयम में निश्चल अर्थात् शैलेशी अवस्था को प्राप्त हुआ) बाह्य और आभ्यन्तर सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त होकर तथा महाभव रूपी समुद्र को तिर कर समुद्रपाल मुनि पुनरागमन रहित (जहाँ जाकर लौटना नहीं पड़े ऐसे स्थान) मोक्ष को प्राप्त हुए। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - उपर्युक्त गाथा क्रं. ११ से २२ तक में समुद्रपाल द्वारा दीक्षित होने के बाद किये गए आदर्श साधु जीवन के आचरण का वर्णन किया गया है। समुद्रपाल मुनि ने अपनी संयत चर्या से यह बतला दिया कि आदर्श साधुओं का जीवन कैसा होता है?

गाथा क्रमांक २३-२४ में स्पष्ट किया गया है कि महर्षि समुद्रपाल मोक्ष पद के योग्य कैसे बने? कर्मों का आत्यन्तिक क्षय, मोक्ष है। संसार हेतुभूत कर्म रूप बीज जिसके समूल नष्ट हो जाते हैं वह पुनः संसार में जन्म-मरण नहीं करता है। कहा भी है -

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः।

कर्म बीजे तथा दग्धे न प्ररोहति भवांकुरः॥

- जैसे बीज के जल जाने पर उससे अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार कर्म बीज के दग्ध (नष्ट) हो जाने पर फिर जन्म मरण संसार रूपी अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती है।

समुद्रपाल मुनि ने भी तप संयम की निर्मल आराधना कर आठ कर्मों को क्षय किया और सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो गये।

॥ समुद्रपालीय नामक इक्कीसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

रहणेमिज्जं णामं बावीसइमं अज्झयणं रथनेमीय नामक बाईसवाँ अध्ययन

उत्थानिका - रथनेमी का प्रसंग ही मुख्य होने के कारण प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'रथनेमीय' प्रसिद्ध हुआ है। अध्ययन के प्रारंभ में अरिष्टनेमि के विवाह का रोचक प्रसंग है और फिर करुणाजनित संवेग से प्रेरित करुणावतार अरिष्टनेमि मूक जीवों की हिंसा में स्वयं को निमित्त न बनने देने का दृढ़ संकल्प लेकर विवाह मण्डप से अविवाहित ही लौट जाते हैं और दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। 'जीवदया' के प्रसंग में यह घटना इतिहास का प्रकाश स्तंभ है। जीवरक्षा के लिए मानव को अपनी सुखसुविधाओं का बलिदान कर देना चाहिये-यह महान् प्रेरणा इस अध्ययन से स्फुरित होती है।

इसके पश्चात् राजीमती द्वारा तीव्र वैराग्यभाव पूर्वक दीक्षा ग्रहण करना, रथनेमि द्वारा राजीमती से भोगयाचना, राजीमती द्वारा रथनेमि को प्रेरणात्मक बोध, रथनेमि का पुनः संयम में दृढ़ होना और अंत में दोनों के मोक्ष गमन का वर्णन किया गया है।

भगवान् अरिष्टनेमि की करुणाशीलता, राजीमती का सच्चा अनुराग और प्रतिबोध कुशलता तथा रथनेमि का पुनः जागृत होने का विवेक इस अध्ययन की विशेषताएँ हैं। इसकी प्रथम गाथा इस प्रकार है -

बलदेव कृष्ण का परिचय

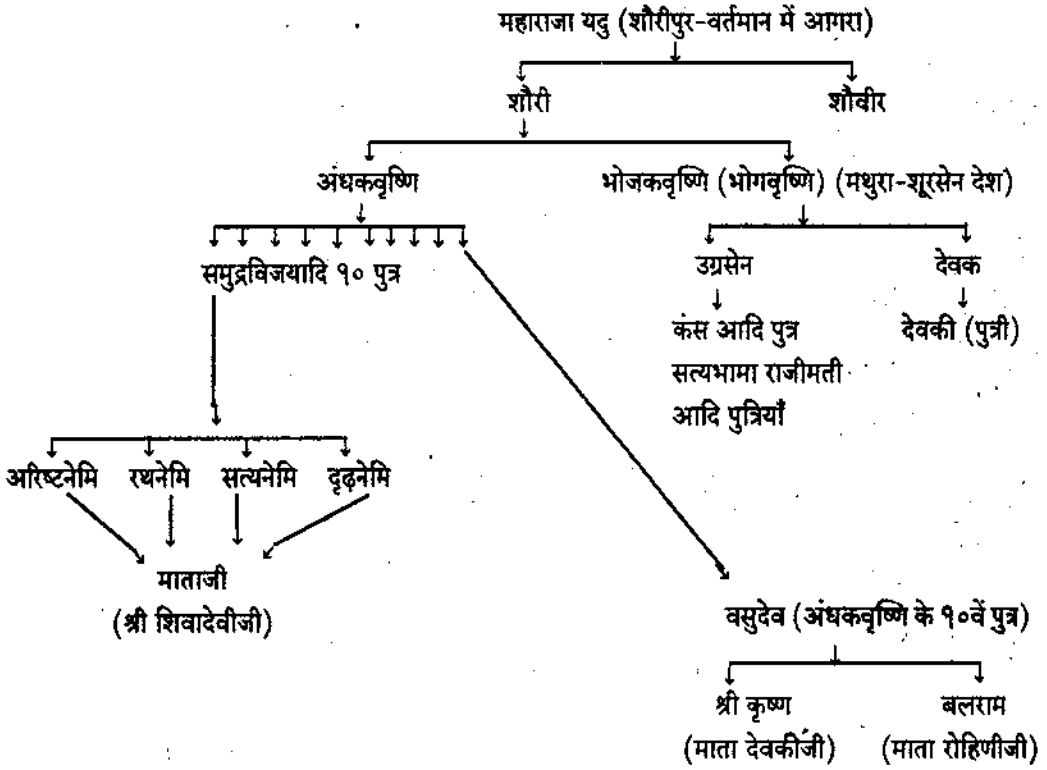
सोरियपुरम्मि णयरे, आसी राया महिद्धिए।

वसुदेवत्ति णामेणं, रायलक्खण-संजुए॥१॥

कठिन शब्दार्थ - सोरियपुरम्मि णयरे - शौर्यपुर नगर में, महिद्धिए - महर्द्धिक, रायलक्खणसंजुए - राज लक्षणों से युक्त।

भावार्थ - शौर्यपुर नामक नगर में चक्र, स्वस्तिक, अंकुश आदि लक्षणों से तथा सत्य, शूरवीरता आदि राजा के गुणों से युक्त तथा महाक्रुद्धि वाले वसुदेव नाम के राजा थे।

विवेचन - भगवान् अरिष्टनेमि व राजीमती यदुवंश में उत्पन्न हुए थे। प्राचीन ग्रंथों (दशवैकालिक निर्युक्ति अ० २ गाथा ८ आदि) में यदुवंश का विस्तार इस प्रकार बताया है -



भगवान् अरिष्टनेमि तथा राजीमती का परिवार-

तस्स भज्जा दुवे आसी, रोहिणी देवई तहा।

तासिं दोण्हं दुवे पुत्ता, इट्ठा रामकेसवा ॥२॥

कठिन शब्दार्थ - भज्जा - भार्या, दुवे - दो, पुत्ता - पुत्र, रामकेसवा - राम और केशव।

भावार्थ - उस वसुदेव के रोहिणी और देवकी नाम की दो भार्या-स्त्रियाँ थी। उन दोनों के इष्ट (सभी को प्रिय लगने वाले) राम और केशव (रोहिणी के राम बलदेव और देवकी के कृष्ण-वासुदेव) दो पुत्र थे।

अरिष्टनेमि का परिचय

सोरियपुराम्मि णयरे, आसी राया महिद्धिए।

समुद्रविजए णामं, रायलक्खण-संजुए ॥३॥

कठिन शब्दार्थ - महिष्टिए - महाऋद्धि वाले, रायलक्खण-संजुए - राजलक्षणों से युक्त।
भावार्थ - शौर्यपुर नगर में महाऋद्धि वाले राजा के लक्षणों और गुणों से युक्त समुद्रविजय नामक राजा थे।

तस्स भज्जा सिवा णाम, तीसे पुत्तो महायसो।

भयवं अरिद्धणेमिच्चि, लोगणाहे दमीसरे ॥४॥

कठिन शब्दार्थ - महायसो - महायशस्वी, लोगणाहे - लोकनाथ, दमीसरे - दमीश्वर-जितेन्द्रियों में श्रेष्ठ।

भावार्थ - समुद्रविजय के शिवा नाम की भार्या थी। उसके पुत्र महायशस्वी, परम जितेन्द्रिय तीनों लोक के नाथ, भगवान् अरिष्टनेमि थे।

सोऽरिद्धणेमि-णामो य, लक्खणस्सरसंजुओ।

अट्टसहस्स-लक्खणधरो, गोयमो कालगच्छवी ॥५॥

कठिन शब्दार्थ - लक्खणस्सरसंजुओ - शौर्य, गाम्भीर्य आदि लक्षणों (गुणों) और सुस्वर से युक्त, अट्टसहस्स लक्खणधरो - एक हजार आठ लक्षणों के धारक, कालगच्छवी-कालकच्छवि - कृष्ण कांति वाले।

भावार्थ - वे अरिष्टनेमि नामक कुमार लक्षण और स्वरों से संयुक्त, एक हजार आठ शुभ लक्षणों को धारण करने वाले गौतम गोत्रीय और कृष्ण कांतिवाले थे।

विवेचन - उपरोक्त दोनों गाथाओं में भगवान् अरिष्टनेमि के मुख्य आठ विशेषण इस प्रकार दिये हैं - १. महायशस्वी २. भगवान् ३. लोकनाथ ४. दमीश्वर ५. स्वर लक्षणों से युक्त ६. एक हजार आठ लक्षणों से सुशोभित ७. गौतम गोत्रीय और ८. तेजस्वी श्याम कांतिमय शरीर वाले।

वर्तमान में तीर्थंकर न होते हुए भी भावी नैगमनय की अपेक्षा से अरिष्टनेमि को महायशस्वी भगवान्, लोकनाथ एवं दमीश्वर कहा गया है। वस्तुतः जो तीर्थंकर होते हैं वे जन्म से ही विशिष्ट शक्तियों तथा ऐश्वर्य से सम्पन्न एवं मनोविजयी होते हैं। ये चारों विशेषण तीर्थंकर के अंतरंग परिचायक हैं। तीर्थंकर की बाह्य पहचान के चार विशेषण हैं -

१. स्वर लक्षणों से युक्त - वे उत्तम लक्षणों से युक्त स्वर से सम्पन्न थे।

२. एक हजार आठ लक्षण धारक - तीर्थंकर के शरीर में स्वस्तिक, वृषभ, श्रीवत्स,

शंख, चक्र, गज, अश्व, छत्र, समुद्र, विमान आदि १००८ शुभलक्षण होते हैं। ये लक्षण हाथ, पैर आदि शरीर के अवयवों में होते हैं।

३. गौतम गोत्रीय - अरिष्टनेमि को यहां गौतम नामक प्रशस्त उच्च गोत्रीय कहा गया है।

४. श्याम कांतिमय शरीर - अरिष्टनेमि का शरीर श्याम वर्ण का तेजस्वी और कांतिमय था।

हेमचन्द्राचार्य कृत त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र में ६३ महापुरुषों का जीवन चरित्र दिया गया है यथा - २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ६ बलदेव, ६ वासुदेव, ६ प्रतिवासुदेव। इनको शलाका पुरुष या श्लाघ्य पुरुष भी कहते हैं। इनमें से सभी यादव कुल में तीन महापुरुष मौजूद थे। यथा - तीर्थंकर (अरिष्टनेमि), बलदेव (बलभद्र) और वासुदेव (श्रीकृष्ण)। इन महापुरुषों के कारण अभी यादव वंश उन्नति के शिखर पर था।

वज्जरिसह-संघयणो, समचउरंसो झसोयरो।

तस्स राईमई कण्णं, भज्जं जायइ केसवो ॥६॥

कठिन शब्दार्थ - वज्जरिसह संघयणो - वज्ररूपभनाराच संहनन वाले, समचउरंसो - समचतुरस्र संस्थान वाले, झसोयरो - उदर मत्स्य (झष) के समान कोमल, राईमई कण्णं - कन्या राजीमती, भज्जं - भार्या, जायइ - याचना की, केसवो - केशव (श्रीकृष्ण) ने।

भावार्थ - वे अरिष्टनेमि कुमार वज्ररूपभनाराच संहनन वाले, समचतुरस्र संस्थान वाले और झस उदर - झस अर्थात् मछली के उदर के समान सुन्दर उदर वाले थे। केशव-वासुदेव श्री कृष्ण ने उस अरिष्टनेमि कुमार की भार्या बनाने के लिए उग्रसेन राजा से उनकी कन्या राजीमती की याचना की।

अह सा रायवरकण्णा, सुसीला चारुपेहिणी।

सव्वलक्खण-संपण्णा, विज्जुसोयामणिप्पभा ॥७॥

कठिन शब्दार्थ - रायवरकण्णा - नृप श्रेष्ठ उग्रसेन की कन्या, सुसीला - सुशीला, चारुपेहिणी - सुंदर दर्शन वाली, सव्वलक्खणसंपण्णा - सभी शुभ लक्षणों से सम्पन्न, विज्जुसोयामणिप्पभा - शरीर की प्रभा चमकती हुई विद्युत्प्रभा के समान।

भावार्थ - अथ वह उग्रसेन राजा की श्रेष्ठ कन्या राजीमती, सुशीला-उत्तम आचार वाली, सुन्दर दृष्टि वाली, स्त्री के सभी शुभ लक्षणों से संपन्न, विद्युत् (विशेष चमकने वाली) और सौदामिनी (बिजली की लता) के समान प्रभा वाली थी।

अहाह जणओ तीसे, वासुदेवं महिद्धियं।

इहागच्छउ कुमारो, जा से कण्णं ददामिऽहं॥८॥

कठिन शब्दार्थ - जणओ - जनक, महिद्धियं - महा क्रुद्धि वाले, इह - यहां, आगच्छउ - पधारे, कण्णं - कन्या को, ददामि - दे सकता हूं।

भावार्थ - इसके बाद उस राजीमती के जनक-पिता राजा उग्रसेन ने महाक्रुद्धि वाले कृष्ण-वासुदेव से कहा कि यदि अरिष्टनेमि कुमार यहां पधारे तो मैं उन्हें अपनी कन्या दूँ अर्थात् यदि आप अरिष्टनेमि कुमार को दुल्हा बनाकर और बारात सजा कर यहाँ पधारे तो मैं अपनी कन्या राजीमती का उनके साथ विधिपूर्वक विवाह कर सकता हूँ।

विवेचन - प्राचीन काल में राजा लोगों की यह परिपाटी रही हुई थी कि वे बारात बना कर और दुल्हे को सजा कर लड़की के घर नहीं जाते थे। किन्तु लड़की वाले अपनी-अपनी लड़कियों को लेकर वर राजा के घर पहुँच जाते थे और सब लड़कियों का पाणिग्रहण (विवाह) एक ही दिन कर दिया जाता था। परन्तु अपने छोटे भाई अरिष्टनेमि का राजीमती के साथ सम्बन्ध करने के लिए वासुदेव श्री कृष्ण स्वयं श्री उग्रसेन जी के यहाँ पहुँचे थे और राजीमती की मांगणी की थी। तब उग्रसेनजी ने यह शर्त रखी कि - आप अरिष्टनेमि को दुल्हा बना कर और बारात सजा कर मेरे यहाँ पधारे तो मैं राजीमती को दे सकता हूँ। तब वासुदेव श्री कृष्ण ने उनकी शर्त को स्वीकार किया है।

उस समय श्री कृष्ण तीन खण्ड के स्वामी वासुदेव बन चुके थे। राजा उग्रसेन उनका मातहत (अधीनस्थ) राजा था। यदि वे चाहते तो उग्रसेनजी को आज्ञा दे सकते थे कि - तुम्हारी लड़की राजीमती को यहाँ लाकर मेरे छोटे भाई अरिष्टनेमि के साथ उसका विवाह कर दो। किन्तु श्री कृष्ण ने आज्ञा नहीं दी। बल्कि स्वयं चलकर राजा उग्रसेन के यहाँ पहुँचे और उनकी शर्त स्वीकार की। यह उनकी महानता थी। महापुरुषों के लिये शास्त्र में विशेषण आते हैं 'सीमंकरे सीमंधरे खेमंकरे खेमंधरे' अर्थात् वे प्रजा के हित के लिए मर्यादा बांधते हैं और उस मर्यादा का पालन स्वयं भी करते हैं। प्रजा में क्षेमकुशलता बरताते हैं और आप स्वयं भी किसी प्रकार का उपद्रव नहीं करते हुए कुशलता बरताते हैं।

सव्वोसहीहिं ण्हविओ, कयकोउयमंगलो।

दिव्वजुयल-परिहिओ, आभरणेहिं विभूसिओ॥९॥

कठिन शब्दार्थ - सव्वोसहीहिं - सभी औषधियों के जल से, ण्हविओ - स्नान कराया गया, कयकोउयमंगलो - कृत कौतुक मंगल-कौतुक और मंगल किया गया, दिव्वजुयल परिहिओ- दिव्य वस्त्र युगल पहनाया, आभरणेहिं - आभूषणों से, विभूसिओ - सुशोभित किया।

भावार्थ - उग्रसेन राजा के वचन को स्वीकार करने पर विवाह निश्चित हो गया। अरिष्टनेमि कुमार को जया, विजया आदि सभी औषधियों से मिश्रित जल द्वारा स्नान कराया गया, कौतुक-मंगल किये गये, दिव्य वस्त्र-युगल पहनाया गया और आभूषणों से विभूषित किया गया।

अरिष्टनेमि की बारात

मत्तं च गंधहत्थिं च, वासुदेवस्स जेड्डगं।

आरूढो सोहए अहियं, सिरे चूडामणी जहा॥१०॥

कठिन शब्दार्थ - मत्तं - मदोन्मत्त, गंधहत्थिं - गन्ध हस्ती पर, वासुदेवस्स - वासुदेव (श्रीकृष्ण) के, जेड्डगं - ज्येष्ठ, आरूढो - आरूढ हुए, सोहए - सुशोभित, अहियं - अत्यधिक, सिरे - शिर पर, चूडामणी - चूडामणि (मुकुट)।

भावार्थ - जिस प्रकार शिर पर चूडामणि शोभित होती है, उसी प्रकार कृष्ण वासुदेव के मदोन्मत्त ज्येष्ठ सब से प्रधान एवं बड़े गन्ध-हस्ती पर चढ़े हुए अरिष्टनेमि कुमार अत्यधिक शोभित होने लगे।

अह ऊसिएण छत्तेण, चामराहि य सोहिओ।

दसारचक्केण य सो, सव्वओ परिवारिए॥११॥

कठिन शब्दार्थ - ऊसिएण - ऊंचे, छत्तेण - छत्र से, चामराहि - चंवर, सोहिओ - शोभित, दसारचक्केण - दशार्ह चक्र से, सव्वओ - चारों ओर से, परिवारिए - घिरे हुए।

भावार्थ - इसके पश्चात् शिर पर किये जाने वाले छत्र और दोनों ओर ढुलाये जाने वाले चंवर और दशार्हचक्र से (समुद्रविजय आदि दस यादवों के परिवार से) चारों ओर से घिरे हुए वे नेमिकुमार अत्यधिक शोभित होने लगे।

चउरंगिणीए सेणाए, रइयाए जहक्कमं।

तुरियाण-सण्णिणाएण, दिव्वेण गगणं फुसे॥१२॥

कठिन शब्दार्थ - चउरंगिणीए - चतुरंगिणी, सेणाए - सेना से, रइयाए - रचित-

सुसज्जित से, जहक्कमं - यथाक्रम से, तुरियाण - वाद्यों के, सण्णिणाएण - निनाद से, दिव्वेण - दिव्य, गगणं फुसे - गगन को स्पर्श किया।

भावार्थ - यथाक्रम से सज्जित की हुई हाथी, घोड़े, रथ और पैदल रूप चतुरंगिणी सेना से तथा मृदंग, ढोल आदि वादित्रों के शब्द से आकाश को गुञ्जित करने लगे।

एयारिसाए इह्ठीए. जुईए उत्तमाइ य।

णियगाओ भवणाओ, णिज्जाओ वण्हिपुंगवो ॥१३॥

कठिन शब्दार्थ - एयारिसाए - इस प्रकार की, इह्ठीए - ऋद्धि, जुईए - द्युति से, उत्तमाइ - उत्तम, णियगाओ - अपने, भवणाओ - भवन से, णिज्जाओ - निकले, वण्हिपुंगवो - वृष्णि पुंगव - यादवों में प्रधान, श्रेष्ठ।

भावार्थ - इस प्रकार की उत्तम, ऋद्धि और द्युति (कान्ति) से सम्पन्न, वृष्णिपुङ्गव - यादवों में प्रधान वे अरिष्टनेमि कुमार अपने भवन से निकले।

सारथी से प्रश्नोत्तर

अह सो तत्थ णिज्जंतो, दिस्स पाणे भयहुए।

वाडेहिं पंजरेहिं च, सण्णिरुद्धे सुदुक्खिए ॥१४॥

कठिन शब्दार्थ - णिज्जंतो - निकलते हुए, दिस्स - देखकर, पाणे - प्राणियों को, भयहुए - भय से त्रस्त, वाडेहिं - बाड़ों में, पंजरेहिं - पिंजरों में पक्षियों को, सण्णिरुद्धे - रोक कर रखे हुए, सुदुक्खिए - अत्यंत दुःखित।

भावार्थ - इसके बाद भवन से निकलते हुए और क्रमशः आगे बढ़ते हुए विवाह-मंडप के निकट पहुँचने पर वह अरिष्टनेमि कुमार मृत्यु के भय से भयभीत बने हुए बाड़ों में रोके हुए अतएव दुःखित पशुओं को और पिंजरों में पक्षियों को देख कर विचार करने लगे।

जीवियंतं तु संपत्ते, मंसट्टा भक्खियव्वए।

पासित्ता से महापण्णे, सारहिं इणमब्बवी ॥१५॥

कठिन शब्दार्थ - जीवियंतं - जीवन की अंतिम स्थिति को, संपत्ते - प्राप्त, मंसट्टा - मांस के लिए, भक्खियव्वए - खाये जाने वाले, महापण्णे - महाप्राज्ञ, सारहिं - सारथी को, इणं - इस प्रकार, अब्बवी - पूछने लगे।

भावार्थ - जीवन के अन्त को प्राप्त मांस के लिए खाये जाने वाले अर्थात् मांसभोजी बारातियों के लिए मारे जाने वाले प्राणियों को देख कर अतिशय प्रज्ञावान् वह अरिष्टनेमि कुमार सारथी (महावत) से इस प्रकार पूछने लगे।

विवेचन - यद्यपि 'सारथी' शब्द का अर्थ रथवान् - रथ को चलाने वाला होता है तथापि यहाँ सारथी शब्द का अर्थ महावत (हाथी को चलाने वाला) करना ही प्रकरण-संगत है क्योंकि भगवान् अरिष्टनेमि कुमार हाथी पर आरूढ़ हुए थे। इस बात का उल्लेख दसवीं गाथा में किया गया है। अथवा ऐसा भी संभव है कि कुछ दूर जाने पर भगवान् हाथी से उतर कर रथ में बैठ गये हों। उस दृष्टि से सारथी शब्द का अर्थ 'रथवान्' ठीक है।

टीकाकार ने तो सारथी शब्द के दो अर्थ किये हैं - १. रथ को चलाने वाला रथवान्। २. हाथी को चलाने वाला 'हस्तिपक' अर्थात् महावत को सारथी कहा है।

कस्स अट्ठा इमे पाणा, एए सव्वे सुहेसिणो।

वाडेहिं पंजरेहिं च, सण्णिरुद्धा य अच्छहिं॥१६॥

कठिन शब्दार्थ - कस्स अट्ठा - किसलिये, सुहेसिणो - सुख के अभिलाषी, सण्णिरुद्धा - रोके हुए, अच्छहिं - रखे हैं।

भावार्थ - ये सब सुख को चाहने वाले प्राणी किसलिए ये बाड़ों में और पिंजरों में रोके हुए हैं।

विवेचन - शंका - तीर्थंकर जन्म से ही तीन ज्ञान साथ में ले कर आते हैं अतः अरिष्टनेमि अवधिज्ञान से बाड़ों और पिंजरों में पशु पक्षियों को बंद करने का कारण तो जानते ही थे फिर भी उन्होंने सारथी से इसका कारण क्यों पूछा?

समाधान - भगवान् अरिष्टनेमि स्वयं जानते थे किंतु जीवदया का महत्त्व उपस्थित लोगों को समझाने के लिए ही उन्होंने सारथी से इसका कारण पूछा था।

नेमिनाथ की बारात में सैनिक आदि मांसभक्षी मनुष्यों की संख्या अधिक थी। अतः मांसभक्षी बारातियों को मांस से तृप्त करने के लिए चौपाये पशुओं को बाड़ों में और उड़ने वाले पक्षियों को पिंजरों में बंद कर के रखा था, जो भय से संत्रस्त थे।

अह सारही तओ भणइ, एए भद्दा उ पाणिणो।

तुज्जं विवाहकज्जमि, भोयावेउं बहं जणं॥१७॥

कठिन शब्दार्थ - भण्ड - बोला, भद्रा - भद्र, विवाहकज्जमि - विवाह कार्य में, भोयावेउं - भोजन कराने के लिए।

भावार्थ - इसके बाद भगवान् के प्रश्न को सुन कर सारथी कहने लगा कि हे भगवन्! इन सभी भद्र एवं निर्दोष प्राणियों को आपके विवाह में आये हुए बहुत-से मांसभोजी मनुष्यों को भोजन कराने के लिए यहाँ बन्द कर रखा है।

अरिष्टनेमि का चिंतन

सोऊण तस्स वयणं, बहुपाणिविणासणं।

चित्तेइ से महापण्णे, साणुक्कोसे जिएहि उ॥१८॥

कठिन शब्दार्थ - बहुपाणिविणासणं - बहुत से प्राणियों के विनाश के लिए, चित्तेइ - चिंतन करते हैं, महापण्णे - महाप्रज्ञ, साणुक्कोसे - जीवों के प्रति सदय होकर, जिएहि - जीवों के विषय में।

भावार्थ - बहुत से प्राणियों का विनाश रूप अर्थ को बतलाने वाले उस सारथी के वचन को सुनकर जीवों के विषय में करुणाभाव सहित (प्राणियों पर दया युक्त) होकर वे महा प्रज्ञावान् भगवान् नेमिनाथ विचार करने लगे।

जइ मज्झ कारणा एए, हम्मंति सुबहू जिया।

ण मे एयं तु णिस्सेसं, परलोगे भविस्सइ॥१९॥

कठिन शब्दार्थ - हम्मंति - मारे जाते हैं, सुबहू - बहुत से, परलोगे - परलोक में, णिस्सेसं - कल्याणकारी।

भावार्थ - यदि मेरे कारण ये बहुत-से जीव मारे जाएंगे तो यह कार्य मेरे लिए परलोक में कल्याणकारी नहीं होगा।

विवेचन - भगवान् अरिष्टनेमि तीर्थंकर हैं इसलिए इसी भव में मोक्ष जाने वाले हैं। फिर जो यह कथन किया गया कि यह हिंसा परलोक में मेरे लिए कल्याणकारी नहीं होगी। ऐसा कथन पूर्व भवों के अभ्यास के कारण कर दिया गया है। अथवा हिंसा कल्याणकारी नहीं होती है, संसारी प्राणियों को यह बोध देने के लिए ऐसा कथन किया गया है।

आभूषण त्याग

सो कुंडलाण जुयलं, सुत्तगं च महायसो ।

आभरणाणि य सव्वाणि, सारहिस्स पणामए* ॥२०॥

कठिन शब्दार्थ - कुंडलाण जुयलं - कुण्डलों की जोड़ी, सुत्तगं - सूत्रक - कन्दोरा करधनी, महायसो - महायशस्वी, आभरणाणि - आभूषण, सारहिस्स - सारथी को, पणामए- दे दिये।

भावार्थ - महायशस्वी उस भगवान् अरिष्टनेमि ने कुण्डलों की जोड़ी और कन्दोरा तथा सभी आभूषण सारथी को प्रदान कर दिये।

विवेचन - भगवान् अरिष्टनेमि ने उन जीवों को बंधन मुक्त करवा कर अभयदान दिया। यह अभयदान और अनुकम्पा (जीव दया-रक्षा) का उत्कृष्ट उदाहरण है। प्रश्न व्याकरण सूत्र के प्रथम संवर द्वार में कहा है। "सव्व जग जीव रक्खण दयद्वयाए पावयणं भगवया सुकहियं" अर्थात् जगत् के सब जीवों की रक्षा रूप दया के लिए तीर्थंकर भगवान् ने प्रवचन फरमाया है। दया और दान तो जैन धर्म का मूल सिद्धान्त है।

अभिनिष्क्रमण और दीक्षा-महोत्सव

मणपरिणामे य कए, देवा य जहोइयं समोइण्णा ।

सव्विह्ठीइ सपरिसा, णिक्खमणं तस्स काउं जे ॥२१॥

कठिन शब्दार्थ - मणपरिणामे - मन में परिणाम, कए - किया, जहोइयं - यथोचित, समोइण्णा - अवतीर्ण हुए, सव्विह्ठीइ - समस्त ऋद्धि, सपरिसा - परिषद् के साथ, णिक्खमणं - अभिनिष्क्रमण, काउं - करने के लिए।

भावार्थ - मरते हुए प्राणियों पर अनुकम्पा कर के उन्हें बन्धन से मुक्त करवा कर तथा सारथी को पुरस्कृत कर भगवान् नेमिनाथ द्वारिका में लौट आये। तत्पश्चात् उन्होंने दीक्षा अंगीकार करने के लिए मन में विचार किया तब उनका निष्क्रमण (दीक्षा-महोत्सव) करने के

* टीका - 'एवं च विदितभगवदाकूतेन सारथिना मोक्षितेषु सत्त्वेषु परितोषितोऽसौ पत्कृतवास्तवाह- अर्थात् भगवान् नेमिनाथ के अभिप्राय को समझ कर सारथी ने जब उन प्राणियों को बंधन से मुक्त कर दिया तब प्रसन्न होकर कुमार अरिष्टनेमि ने अपने आभूषण प्रदान कर दिये।

लिए यथोचित समय पर सभी प्रकार की ऋद्धि से युक्त और परिषद् सहित लोकांतिक आदि देव मनुष्य लोक में आये।

विवेचन - दीक्षा लेने से पहले सभी तीर्थंकर वर्षीदान देते हैं। प्रतिदिन एक करोड़ आठ लाख सोना मोहर दान में देते हैं। इस प्रकार बारह महीने में तीन अरब अठयासी करोड़ अस्सी लाख सोना मोहर (स्वर्ण मुद्राएं) दान में देते हैं। दीक्षा लेने की भावना बारह महीने पहले हो जाती है। वर्षीदान पूर्ण हो जाने पर लोकांतिक देव अपना जीताचार पालन करने के लिए सेवा में उपस्थित होकर निवेदन करते हैं कि - “हे भगवन्! अब आप धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति कीजिए।” इस नियम के अनुसार अरिष्टनेमिकुमार सारथी को दान देकर द्वारिका पधारे। वहाँ आकर एक वर्ष तक वर्षीदान दिया। फिर लोकांतिक देव आये और कृष्ण वासुदेव ने बड़े हर्षोल्लास और ठाठ बाठ के साथ अरिष्टनेमिकुमार का महाभिनिष्क्रमण दीक्षा महोत्सव किया और अरिष्टनेमिकुमार ने दीक्षा अंगीकार की।

देवमणुस्स-परिवुडो, सिवियारयणं तओ समारूढो।

णिकखमिय बारगाओ, रेवययम्मि ठिओ भयवं ॥२२॥

कठिन शब्दार्थ - देवमणुस्स परिवुडो - देवों और मनुष्यों से परिवृत्त, सिवियारयणं - शिविका रत्न (श्रेष्ठ पालकी) पर, णिकखमिय - निकल कर, बारगाओ - द्वारिका नगरी से, रेवययम्मि - रैवतक पर्वत पर, ठिओ - स्थित हुए।

भावार्थ - इसके बाद देव और मनुष्यों से घिरे हुए भगवान् शिविकारत्न - देवनिर्मित उत्तम पालकी पर आरूढ़ हो कर द्वारिकापुरी से निकल कर रैवतक पर्वत पर पधारे।

उज्जाणं संपत्तो, ओइण्णो उत्तमाओ सीयाओ।

साहस्सीए परिवुडो, अह णिकखमइ उ चित्ताहिं ॥२३॥

कठिन शब्दार्थ - उज्जाणं - उद्यान में, संपत्तो - पहुंच कर, ओइण्णो - उतरे, उत्तमाओ सीयाओ - उत्तम शिविका से, साहस्सीए - एक हजार व्यक्तियों से, परिवुडो-परिवृत्त होकर, णिकखमइ - श्रमण वृत्ति ग्रहण की।

भावार्थ - इसके पश्चात् वे सहस्राब्ज वन नामक उद्यान में पधारे और उस उत्तम शिविका से नीचे उतरे तत्पश्चात् चित्रा नक्षत्र का चन्द्रमा के साथ योग मिलने पर एक हजार पुरुषों से परिवृत्त हो कर दीक्षा अंगीकार की। भगवान् के साथ ही एक हजार पुरुषों ने भी दीक्षा ली।

केश लोच

अह सो सुगंधगंधिए, तुरियं भउकुंचिए।

सयमेव लुंचइ केसे, पंच-मुट्टीहिं समाहिओ ॥२४॥

कठिन शब्दार्थ - सुगंधगंधिए - सुगंध से सुरभित, तुरियं - तुरन्त, मउकुंचिए - कोमल और घुंघराले, सयमेव - स्वयमेव, लुंचइ केसे - केशों का लोच किया, पंचमुट्टीहिं-पंचमुष्टि, समाहिओ - समाहित - समाधि सम्पन्न।

भावार्थ - इसके पश्चात् समाधिवान् उन भगवान् अरिष्टनेमि ने सुगंध से सुवासित कोमल और आकुञ्चित-टेडे मुडे हुए केशों का स्वयमेव शीघ्र ही पंचमुष्टि लोच कर डाला।

विवेचन - पंचमुष्टि लोच का अर्थ पांच मुष्टियों में सब केशों का लोच कर देना यह अर्थ नहीं है किन्तु पांच तरफ से केशों का लोच करना अर्थात् दाहिनी तरफ के केशों को दाहिनी तरफ से खींचकर लोच करना, इसी प्रकार बायीं तरफ, आगे की तरफ, पीछे की तरफ और ऊपर की तरफ खींच कर, केशों का लोच करना। इस प्रकार पंचमुष्टि का अर्थ समझना चाहिये। गर्दन से ऊपर दाढ़ी, मूँछ और मस्तक का लोच किया जाता है।

वासुदेव आदि का आशीर्वाद

वासुदेवो य णं भणइ, लुत्तकेसं जिइंदियं।

इच्छिय-मणोरहं तुरियं, पावसु तं दमीसरा ॥२५॥

कठिन शब्दार्थ - वासुदेवो - वासुदेव, भणइ - कहा, लुत्तकेसं - केशलोच किये हुए, जिइंदियं - जितेन्द्रिय, इच्छिय मणोरहं - इच्छित मनोरथ को, पावसु - प्राप्त करो, दमीसरो - हे दमीश्वर!

भावार्थ - वासुदेव और बलराम, समुद्रविजय आदि केशों का लोच किये हुए जितेन्द्रिय अरिष्टनेमि को कहने लगे कि हे दमीश्वर! शीघ्र ही मुक्ति प्राप्ति रूप इच्छित मनोरथ को प्राप्त करो।

विवेचन - सत्पुरुष श्रेष्ठ कार्य में प्रवृत्त होने वाले व्यक्ति को प्रोत्साहन देने के साथ साथ आशीर्वाद देना अपना कर्तव्य समझते हैं ताकि वह उत्साह पूर्वक मार्ग में लग कर अपने उद्देश्य में शीघ्र सफल हो सके। इसी कारण नवदीक्षित भगवान् अरिष्टनेमिनाथ को श्रीकृष्ण-वासुदेव और बलदेव, समुद्रविजय आदि ने सम्मिलित होकर आशीर्वाद के रूप में

कहा - 'हे दमीश्वर! तुम अपने अभीष्ट मनोरथ को प्राप्त करने में शीघ्र सफल होओ अर्थात् रत्नत्रयी में उत्तरोत्तर वृद्धि करते हुए मोक्ष को शीघ्र प्राप्त करो।'

णाणेणं दंसणेणं च, चरित्तेणं तवेण य।

खंतीए मुत्तीए चेव, वट्टमाणो भवाहि य॥२६॥

कठिन शब्दार्थ - णाणेणं - ज्ञान से, दंसणेणं - दर्शन से, चरित्तेणं - चारित्र से, खंतीए - क्षमा से, मुत्तीए - निर्लोभता से, वट्टमाणो भवाहि य - बढ़ते रहो।

भावार्थ - वासुदेव आदि फिर कहने लगे कि ज्ञान से और दर्शन से, चारित्र से और तप से तथा क्षमा से और निर्लोभता से वृद्धिवंत हो अर्थात् आप ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, क्षमा, निर्लोभता आदि गुणों की वृद्धि करें।

एवं ते रामकेसवा, दसारा य बहू जणा।

अरिद्वणेमिं वंदित्ता, अइगया बारगापुरिं॥२७॥

कठिन शब्दार्थ - रामकेसवा - राम और केशव, दसारा - दशार्ह - यदु श्रेष्ठ, बहुजणा - बहुत से जन, अइगया - लौट गये, बारगापुरिं - द्वारिका नगरी में।

भावार्थ - इस प्रकार वे बलराम और श्रीकृष्ण दशार्ह प्रमुख यादव और बहुत से मनुष्य अरिष्टनेमि को वन्दना करके द्वारिका नगरी में लौट आये और भगवान् भी अन्यत्र विहार कर गये।

शोकाकुल और प्रतिबुद्ध राजीमती

सोऊण रायकण्णा, पव्वज्जं सा जिणस्स उ।

णीहासा य गिराणंदा, सोगेण उ समुत्थिया॥२८॥

कठिन शब्दार्थ - णीहासा - हास्य रहित, गिराणंदा - आनंद से रहित, सोगेण - शोक से, समुत्थिया - व्याप्त हो गई।

भावार्थ - वह राजकन्या राजीमती जिनेन्द्र भगवान् अरिष्टनेमि की दीक्षा होना सुन कर हास्यरहित और आनन्द से रहित होकर शोक से व्याप्त हो गई।

राईमई विचिंतेइ, धिरत्थु मम जीवियं।

जाइहं तेणं परिच्चत्ता, सेयं पव्वइं णम॥२९॥

कठिन शब्दार्थ - राईमई - राजीमता, विचिंतेइ - सोचा, धिरत्थु - धिक्कार है,

जीवियं - जीवन को, परिच्छत्ता - परित्यक्ता, सेयं - श्रेयस्कर, पव्वइउं - दीक्षा लेना ही, मम - मेरे लिए।

भावार्थ - राजीमती विचार करने लगी कि मेरे जीवन को धिक्कार है जो मैं उन भगवान् नेमिनाथ द्वारा त्याग दी गई हूँ। अब तो मेरे लिए दीक्षा लेना ही श्रेष्ठ है।

राजीमती द्वारा केशलोच

अह सा भमरसण्णिभे, कुच्चफणगप्पसाहिए।

सयमेव लुंचइ केसे, धिइमंता ववस्सिया ॥३०॥

कठिन शब्दार्थ - भमरसण्णिभे - भौर के समान काले, कुच्चफणगप्पसाहिए - कूर्च (बुश) और कंघी से प्रसाधित, लुंचइ - लुंचन किया, केसे - केशों को, धिइमंता - धैर्यशाली, ववस्सिया - कृत निश्चयी।

भावार्थ - इसके बाद धैर्य वाली संयम के लिए उद्यत हुई उस राजीमती ने भ्रमर सरीखे काले कूर्च (बाँस से निर्मित कूची) और कंघी से संवारे हुए केशों का स्वयमेव लोच कर डाला।

राजीमती को आशीर्वाद

वासुदेवो य णं भणइ, लुत्तकेसं जिइंदियं।

संसारसायरं घोरं, तर कण्णे लहं लहं ॥३१॥

कठिन शब्दार्थ - लुत्तकेसं - केशलोच की हुई, संसारसायरं - संसार समुद्र को, घोरं - घोर, तर - पार कर, कण्णे - हे कन्ये! लहं-लहं - शीघ्रातिशीघ्र।

भावार्थ - श्रीकृष्ण वासुदेव और बलदेव तथा समुद्रविजय आदि केशों का लोच की हुई जितेन्द्रिय उस राजीमती से कहने लगे कि हे कन्ये! तू बहुत शीघ्र इस घोर संसारसागर को पार कर (मोक्ष प्राप्त कर)।

बहुश्रुता राजीमती

सा पव्वइया संती, पव्वावेसी तहिं बहुं।

सयणं परियणं चेव, सीलवंता बहुस्सुया ॥३२॥

कठिन शब्दार्थ - पव्वइया संती - प्रव्रजित होकर, पव्वावेसी - प्रव्रजित कराया, सयणं - स्वजनों को, परियणं - परिजनों को, सीलवंता - शीलवती, बहुस्सुया - बहुश्रुता।
भावार्थ - शीलवती बहुश्रुता उस राजीमती ने दीक्षित होकर द्वारिका पुरी में बहुत से स्वजन और परिजन की स्त्रियों को दीक्षा दी।

विवेचन - राजीमती के लिए 'बहुस्सुया' विशेषण देने का अभिप्राय यह है कि गृहवास में भी उसने बहुत श्रुत का अभ्यास किया था। इस पाठ से यह स्पष्ट होता है कि - गृहस्थ भी श्रुतशास्त्रों का पठन-पाठन एवं अभ्यास कर सकते हैं।

रैवतक पर्वत की गुफा में

गिरिं रेवतयं जंती, वासेणुल्ला उ अंतरा।

वासंते अंधयारम्मि, अंतो लयणस्स सा ठिया ॥३३॥

कठिन शब्दार्थ - गिरिं रेवतयं - रैवतक पर्वत पर, जंती - जाती हुई, वासेणुल्ला - वर्षा से भीग गई, वासंते - वर्षा के अंत में, अंधयारम्मि - अंधकार छा जाने पर, अंतो - अंदर, लयणस्स - गुफा के।

भावार्थ - जिन्हें राजीमती ने दीक्षा दी थी उन सभी साध्वियों को साथ ले कर रैवतकगिरि पर विराजमान भगवान् नेमिनाथ को वन्दना करने चली रैवतक पर्वत पर जाती हुई वह बीच रास्ते में ही वर्षा से भीग गई और उस घनघोर वर्षा के कारण साथ वाली दूसरी साध्वियाँ इधर-उधर बिखर गई तब वह राजीमती वर्षा के होते हुए अन्धकार युक्त एक पर्वत की गुफा में जाकर ठहर गई।

चीवराणि विसारंती, जहाजायत्ति पासिया।

रहणेमी भग्गचित्तो, पच्छा दिट्ठो य तीइ वि ॥३४॥

कठिन शब्दार्थ - चीवराणि - कपड़ों को, विसारंती - फैलाती हुई, जहाजायत्ति - यथाजात-नग्न रूप में, पासिया - देख कर, भग्गचित्तो - भग्नचित्त (विचलित मन वाला), पच्छा - पीछे, तीइ वि - राजीमती ने।

भावार्थ - भीगे हुए कपड़ों को सूखाती हुई वह राजीमती यथाजाता (जन्म के समय बालक जैसा निर्वस्त्र होता है वैसी ही निर्वस्त्र) हो गई। उसे निर्वस्त्र देख कर उस गुफा में पहले

से ध्यानस्थ बैठे हुए रथनेमि मुनि का चित्त संयम से विचलित हो गया। गुफा में प्रवेश करते समय अन्धकार के कारण राजीमती को रथनेमि दिखाई नहीं दिया, क्योंकि बाहर से भीतर आने वाले को भीतर अन्धकार में बैठा हुआ व्यक्ति दिखाई नहीं देता है, किन्तु पीछे राजीमती ने भी उसे देखा।

कामविह्वल रथनेमि

भीया य सा तर्हि ददुं, एगंते संजयं तयं।

बाहाहिं काउं संगोप्फं, वेवमाणी णिसीयइ ॥३५॥

कठिन शब्दार्थ - भीया - भयभीत, ददुं - देख कर, एगंते - एकान्त में, तयं - उस, संजयं - संयत को, बाहाहिं - भुजाओं से, काउं संगोप्फं - अंगों को गोपन कर, वेवमाणी-कांपती हुई, णिसीयइ - बैठ गई।

भावार्थ - वहाँ एकान्त स्थान में उस संयत रथनेमि को देख कर वह राजीमती अत्यन्त भयभीत हुई कि कहीं ऐसा न हो कि बलात्कार करके यह मेरा शील भंग कर दे। इसलिए दोनों भुजाओं से अपने अंगों को ढक कर अर्थात् दोनों हाथों से स्तनादि को वेष्टित करके मर्कटबन्ध से अपने अंगों को छिपाती हुई कांपती हुई बैठ गई।

रथनेमि द्वारा भोगयाचना

अह सोऽवि रायपुत्तो, समुद्रविजयंगओ।

भीयं पवेवियं ददुं, इमं वक्कमुदाहरे ॥३६॥

कठिन शब्दार्थ - समुद्रविजयंगओ - समुद्र विजय के अंगज, रायपुत्तो - राजपुत्र, पवेवियं - कांपती हुई, वक्कं - वचन, उदाहरे - कहे।

भावार्थ - इसके बाद समुद्रविजय का अंगजात पुत्र वह राजपुत्र रथनेमि राजीमती को डरी हुई और कांपती हुई देख कर इस प्रकार वचन कहने लगा।

रहणेमी अहं भदे! सुरूवे चारुभासिणि!

ममं भयाहि सुयणु, ण ते पीला भविस्सइ ॥३७॥

कठिन शब्दार्थ - भदे - हे भद्रे! सुरूवे - हे सुरूपे! चारुभासिणि - हे मधुरभाषिणी, भयाहि - स्वीकार कर लो, सुयणु - हे सुन्दरांगी, पीला - पीड़ा।

भावार्थ - हे भद्रे! हे कल्याणकारिणि! हे सुन्दर रूप वाली! हे मनोहर बोलने वाली! हे सुतनु! हे श्रेष्ठ शरीर वाली! मैं रथनेमि हूँ। तू मुझे सेवन कर। तुझे किसी प्रकार की पीड़ा नहीं होगी, अर्थात् हे सुन्दरि! तू निर्भय होकर मेरे समागम में आ। तुझे किसी प्रकार का कष्ट नहीं होगा।

एहि ता भुंजिमो भोए, माणुस्सं खु सुदुल्लहं।

भुत्तभोगी तओ पच्छा, जिणमग्गं चरिस्सामो ॥३८॥

कठिन शब्दार्थ - एहि - आओ, ता - पहले, भुंजिमो - भोगे, भोए - भोगों को, माणुस्सं - मनुष्य जन्म, खु - निश्चय, सुदुल्लहं - अत्यंत दुर्लभ, भुत्तभोगी - भोगों को भोगने के, जिणमग्गं - जिनेश्वर के मार्ग का, चरिस्सामो - आचरण करेंगे।

भावार्थ - निश्चय ही मनुष्य-जन्म का मिलना अत्यन्त दुर्लभ है इसलिए हे भद्रे! इधर आओ पहले हम दोनों भोगों का उपभोग करें फिर भुक्तभोगी होकर बाद में अपन दोनों जिनेन्द्र भगवान् के मार्ग का अनुसरण करेंगे।

विवेचन - प्रस्तुत तीन गाथाओं में कामासक्त एवं विषय सेवन-परवश बने हुए रथनेमि द्वारा राजीमती से भोग याचना का निरूपण किया गया है।

राजीमती का उद्बोधन

दट्टूण रहणेमिं तं, भग्गुज्जोय-पराइयं।

राईमई असंभंता, अप्पाणं संवरे तहिं ॥३९॥

कठिन शब्दार्थ - भग्गुज्जोय - भग्नोद्योग-उत्साह हीन, पराइयं - पराजित, असंभंता-संभ्रांत न हुई, अप्पाणं - अपने शरीर को, संवरे - आवृत्त कर लिया।

भावार्थ - संयम में हतोत्साह बने हुए और स्त्रीपरीषह से पराजित उस रथनेमि को देख कर भयरहित बनी हुई राजीमती ने उसी समय गुफा में अपने शरीर को वस्त्र से ढक लिया।

अह सा रायवरकण्णा, सुट्टिया णियमव्वए।

जाइं कुलं च सीलं च, रक्खमाणी तयं वए ॥४०॥

कठिन शब्दार्थ - रायवरकण्णा - श्रेष्ठ राजकन्या, सुट्टिया - सुस्थित, णियमव्वए -

नियमों और व्रतों में, जाइं - जाति, कुलं - कुल, सीलं - शील, रक्खमाणी - रक्षा करती हुई, वए - कहा।

भावार्थ - इसके बाद नियम और व्रतों में भलीभांति स्थित वह राजकन्या राजीमती जाति और कुल तथा शील की रक्षा करती हुई उस रथनेमि को इस प्रकार कहने लगी।

जइंसि रूवेण वेसमणो, लल्लिएण णलकूबरो।

तहा वि ते ण इच्छामि, जइंसि सक्खं पुरंदरो ॥४१॥

कठिन शब्दार्थ - रूवेण - रूप में, वेसमणो - वैश्रमण, लल्लिएण - ललितकलाओं में, णलकूबरो - नलकूबर, सक्खं - साक्षात्, पुरंदरो - पुरन्दर-इन्द्र।

भावार्थ - यदि तू रूप में वैश्रमण देव के समान हो और लीला-विलास में नलकूबर देव के समान हो। अधिक तो क्या यदि साक्षात् पुरंदर (इन्द्र) भी हो तो भी मैं तेरी इच्छा नहीं करती हूँ।

विवेचन - इन्द्र का आज्ञाकारी वैश्रमण देव है। वह धन का स्वामी है। अर्थात् इन्द्र का भंडारी (खजांची) है। उसका आज्ञाकारी कूबर देव है। वह लीला विलास करने में अत्यन्त निपुण होता है। कूबर की संतान को नलकूबर कहते हैं। किन्तु प्रश्न होता है कि - देवताओं के तो संतान होती नहीं है तो फिर कूबर की संतान ऐसा कैसे कहा गया है? तो इसका समाधान यह दिया गया है कि - कूबर जो वैक्रिय रूप से बालक बालिका का रूप बनाता है वे अधिक सुन्दर व लीला विलास युक्त होते हैं। इसलिए उन वैक्रिय रूपों को कूबर की संतान कह दिया गया है।

पक्खंदे जलियं जोइं, धूमकेउं दुरासयं।

णेच्छंति वंतयं भोत्तुं, कुले जाया अगंधणे ॥४२॥

कठिन शब्दार्थ - पक्खंदे - गिर जाते हैं, जलियं - जलती हुई, जोइं - ज्योति, धूमकेउं - धूमकेतु-धुआँ निकलती हुई, दुरासयं - दुष्प्रवेश, वंतयं - वमन किये हुए को, भोत्तुं - पुनः पीना, कुले - कुल में, जाया - उत्पन्न हुए, अगंधणे - अगंधन नामक।

भावार्थ - अगन्धन नामक कुल में उत्पन्न हुए सर्प जलती हुई धूमकेतु-धुआँ निकलती हुई कठिनाई से सहने योग्य ज्योति-अग्नि में गिर जाते हैं अर्थात् अग्नि में गिर कर मर जाना तो पसंद करते हैं किन्तु वमन किये हुए विष को पुनः पीने की इच्छा नहीं करते।

धिरत्थु तेऽजसोकामी, जो तं जीविय-कारणा।

वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे ॥४३॥

कठिन शब्दार्थ - धिरत्थु - धिक्कार हो, अजसोकामी - हे अपयश के कामी, जीवियकारणा - असंयमी जीवन के लिए, वंतं - वमन किये हुए, आवेउं - भोगने की, सेयं - श्रेयस्कर, मरणं - मर जाना।

भावार्थ - हे अपयश के इच्छुक! तुझे धिक्कार हो, जो तू असंयम रूपी जीवन के लिए वमन किये हुए को पुनः पीना चाहता है। इस की अपेक्षा तो तेरे लिए मर जाना श्रेष्ठ है, क्योंकि संयम धारण कर के असंयम में जाना निन्दनीय है। ऐसे असंयमपूर्ण और पतित जीवन की अपेक्षा तो संयमावस्था में मृत्यु हो जाना अच्छा है।

अहं च भोगरायस्स, तं चऽसि अंधगवण्हिणो।

मा कुले गंधणा होमो, संजमं णिहुओ चर ॥४४॥

कठिन शब्दार्थ - भोगरायस्स - भोजराज की, अंधगवण्हिणो - अन्धकवृष्णि का, मा होमो - मत हो, गंधणा - गन्धन नामक, संजमं - संयम का, णिहुओ - निभृत (स्थिर), चर - आचरण कर।

भावार्थ - मैं राजीमती भोजराज (उग्रसेन की पुत्री हूँ) और तू अन्धकवृष्णि (समुद्रविजय का पुत्र) है। अतः गन्धन-कुल में उत्पन्न हुए सर्प के समान मत हो और निभृत - मन को स्थिर रख कर संयम का भली प्रकार पालन कर।

जइ तं काहिसि भावं, जा जा दिच्छसि णारीओ।

वाया-विद्धुव्व हडो, अट्टिअप्पा भविस्ससि ॥४५॥

कठिन शब्दार्थ - जइ - यदि, काहिसि - करेगा, भावं - भाव को, जा जा - जिन जिन, दिच्छसि - देखोगे, णारीओ - स्त्रियों को, वायाविद्धुव्व हडो - वायु से कम्पित हड नामक वनस्पति की तरह, अट्टिअप्पा - अस्थिर आत्मा वाले, भविस्ससि - हो जाओगे।

भावार्थ - हे रथनेमि! तुम जिन-जिन स्त्रियों को देखोगे यदि उन-उन पर बुरे भाव करोगे तो वायु से प्रेरित हड नामक वनस्पति की भाँति अस्थिर आत्मा वाले हो जाओगे अर्थात् हे रथनेमि! जिस किसी भी स्त्री को देख कर यदि तुम इस प्रकार काम-मोहित हो जाओगे तो जैसे नदी के किनारे खड़ा हुआ हड नाम का वृक्ष जड़ मजबूत न होने के कारण हवा के झोंके से

नदी में गिर कर समुद्र में पहुँच जाता है, वैसे ही संयम में अस्थिर तुम्हारी आत्मा भी उच्च पद से नीचे गिर जायगी और फिर संसार-समुद्र में परिभ्रमण करती रहेगी।

गोवालो भंडवालो वा जहा तद्व्वऽणिस्सरो ।

एवं अणीसरो तं पि, सामण्णस्स भविस्ससि ॥४६॥

कठिन शब्दार्थ - गोवालो - गोपालक, भंडवालो - भाण्डपाल, तद्व्वऽणिस्सरो - उस द्रव्य के अनीश्वर (स्वामी नहीं) होते, अणीसरो - स्वामी नहीं, सामण्णस्स - श्रामण्यभाव का।

भावार्थ - जिस प्रकार गोपालक - ग्वाला या भाण्डपाल-भण्डारी उस द्रव्य का स्वामी नहीं होता है इसी प्रकार तू भी श्रमणपन का अनीश्वर (अस्वामी) हो जायगा।

विवेचन - राजीमती रथनेमि को दृष्टांत देकर समझाती है कि हे मुने! जैसे गौओं को चराने वाला ग्वाला उन गौओं का स्वामी नहीं होता और न उसे उनके दूध आदि को ग्रहण करने का अधिकार होता है और जैसे कोषाध्यक्ष उस धन का स्वामी नहीं होता और न उस धन को खर्च करने का अधिकारी होता है, उसी प्रकार तू भी संयम का वास्तविक स्वामी नहीं होगा क्योंकि द्रव्य-संयम से आत्मा का कल्याण कभी नहीं हो सकता।

रथनेमि पुनः संयम में दृढ़

तीसे सो वयणं सोच्चा, संजयाइ सुभासियं ।

अंकुसेण जहा णागो, धम्मे संपडिवाइओ ॥४७॥

कठिन शब्दार्थ - संजयाइ - संयमवती, सुभासियं - सुभाषित, वयणं - वचनों को, अंकुसेण - अंकुश से, जहा - जैसे, णागो - हाथी, धम्मे - धर्म में, संपडिवाइओ - स्थिर हो गया।

भावार्थ - वह रथनेमि उस संयमवती साध्वी के सुभाषित वचनों को सुन कर धर्म में स्थिर हो गया जैसे अंकुश से हाथी वश में हो जाता है।

विवेचन - प्रस्तुत गाथा (क्रं. ४७) और आगे की गाथा (क्रं. ४८) क्रम में अन्तर है। कहीं कहीं ४७ वां को ४८ वाँ और ४८वाँ को ४७ वाँ स्थान प्राप्त है। किन्तु लुधियाना की प्रति में प्रस्तुत क्रमानुसार ही है और हैदराबाद वाली प्रति में बीकानेर वाली आवृत्ति के समान है। पूज्य श्री घासीलाल जी म. सा. वाली प्रति में तो यह गाथा है ही नहीं। इसी प्रकार श्री संतबाल सम्पादित पुस्तक में भी नहीं है और आचार्य श्री नेमीचन्द की वृत्ति (संवत् ११२६) में

भी यह गाथा नहीं है, इतना ही नहीं गाथा ४२ भी नहीं है और कुल ४६ गाथाएं ही हैं। हमारे विचार से इसमें जो क्रम और अर्थ दिया वही उपयुक्त लगता है।

कोहं माणं णिगिण्हित्ता, माया लोभं च सव्वसो।

इंदियाइं वसे काउं, अप्पाणं उवसंहरे ॥४८॥

कठिन शब्दार्थ - कोहं - क्रोध को, माणं - मान को, णिगिण्हित्ता - निग्रह करके, माया लोभं च - माया और लोभ को, सव्वसो - पूर्णतया, इंदियाइं - इन्द्रियों को, वसे काउं - वश में करके, अप्पाणं - अपनी आत्मा को, उवसंहरे - उपसंहार किया, स्थिर किया।

भावार्थ - क्रोध, मान, माया और लोभ इन सब को सर्वथा प्रकार से निग्रह कर (जीत कर) और पाँचों इन्द्रियों को वश में कर के अपनी आत्मा को वश में कर लिया।

मणगुत्तो वयगुत्तो, कायगुत्तो जिइंदिओ।

सामण्णं णिच्चलं फासे, जावज्जीवं दढव्वओ ॥४९॥

कठिन शब्दार्थ - मणगुत्तो - मन गुप्त, वयगुत्तो - वचन गुप्त, कायगुत्तो - कायगुप्त, जिइंदिओ - जितेन्द्रिय, सामण्णं - साधु धर्म का, णिच्चलं - निश्चल हो कर, फासे - स्पर्श किया, जावज्जीवं - जीवन पर्यन्त, दढव्वओ - ब्रतों में दृढ़।

भावार्थ - मन-गुप्त, वचन-गुप्त, काय-गुप्त, जितेन्द्रिय, ब्रतों में दृढ़ एवं निश्चल होकर उस रथनेमि ने जीवनपर्यन्त साधु-धर्म का पालन किया।

विवेचन - उपरोक्त गाथाओं (क्रं. ३९-४९) में राजीमती द्वारा रथनेमि को दिये हृदयगाही उद्बोधन का वर्णन किया गया है। राजीमती के वचनों को सुन कर रथनेमि पुनः संयम में स्थिर हो गये।

राजीमती ने रथनेमि के निर्बल मन को सबल बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दे कर नारी जीवन के गौरव का मानदण्ड कायम किया और बताया कि नारी की निर्बलता का कारण उसकी आकांक्षा और स्नेह का बन्धन है। जब नारी उन आकांक्षाओं को ठुकरा कर ज्ञान वैराग्य में रम जाती है तो वह बड़ी से बड़ी शक्ति को परास्त कर स्वयं तो संसार से पार हो जाती है किंतु अन्य आत्माओं को भी ज्ञानामृत का पान करा कर सबल बना देती है और संसार से पार पहुंचाने में सहायक बन जाती है। नारी जीवन का यह आदर्श आज भी महिला जगत के लिये प्रेरणास्पद है।

उपसंहार

उगं तवं चरित्ता णं, जाया दोण्णि वि केवली।

सव्वं कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं पत्ता अणुत्तरं ॥५०॥

कठिन शब्दार्थ - उगं - उग्र, तवं - तप का, चरित्ताणं - आचरण कर, जाया - हुए, दोण्णि - दोनों, केवली - केवलज्ञानी, खवित्ताणं - क्षय करके, सिद्धिं - सिद्धि गति को, पत्ता - प्राप्त हुए, अणुत्तरं - अनुत्तर।

भावार्थ - उग्र तप का सेवन करके राजीमती और रथनेमि दोनों ही केवलज्ञानी हो गये। तत्पश्चात् सभी कर्मों का क्षय करके अनुत्तर-सब से प्रधान सिद्धि गति को प्राप्त हुए।

एवं करंति संबुद्धा, पंडिया पवियक्खणा।

विणियट्ठंति भोगेसु, जहा से पुरिसुत्तमो ॥५१॥ त्ति बेमि ॥

कठिन शब्दार्थ - करंति - करते हैं, संबुद्धा - सम्बुद्ध, पंडिया - पण्डितजन, पवियक्खणा - प्रविचक्षण, विणियट्ठंति - निवृत्त हो जाते हैं, भोगेसु - भोगों से, जहा - जैरे, से - वह, पुरिसुत्तमो - पुरुषों में उत्तम (पुरुषोत्तम)।

भावार्थ - तत्त्वज्ञ, पाप से डरने वाले और पाप नहीं करने वाले पण्डित विचक्षण पुरुष ऐसा ही करते हैं अर्थात् भोगों से निवृत्त हो जाते हैं। जैसे वह पुरुषों में उत्तम रथनेमि भोगों से निवृत्त हो गया अर्थात् जो विवेकी होते हैं वे विषय भोगों के दोषों को जान कर रथनेमि के समान भोगों का परित्याग कर देते हैं। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - इस गाथा में रथनेमि को पुरुषोत्तम कहा है यह कैसे ? क्योंकि वे तो साध्वी राजीमती को देखकर चलित हो गये थे? इसका समाधान यह दिया गया है कि - जातिवन्त लाखीणा घोड़ा भी कभी ठोकर खा जाता है किन्तु गिर पड़ता नहीं है तब तक वह जातिवन्त लाखीणा घोड़ा ही कहलाता है। इसी प्रकार रथनेमि मन से और वचन से चलित हो गये थे किन्तु काया से चलित नहीं हुए थे। इसलिए संयम से सर्वथा पतित नहीं बने थे तथा वे जिनेन्द्र भगवान् के मार्ग को और संयम को श्रेष्ठ समझते थे। इसीलिए गाथा ३८ में रथनेमि ने कहा है कि -

“भुत्तभोगी तओ पच्छा जिणमग्गं चरिस्सामो ॥३८॥”

इस कारण से और राजीमती के वचनों से वे संयम में स्थिर हो गये थे। इसलिए शास्त्रकार ने उनको 'पुरुषोत्तम' कहा है सो उचित ही है।

प्रस्तुत दोनों गाथाओं में आगमकार ने निरतिचार संयम पालन का फल बतलाते हुए दोनों (राजीमती और रथनेमि) को केवलज्ञान प्राप्त कर सभी कर्मों का क्षय करके मोक्ष होने का उल्लेख किया गया है।

उत्तराध्ययन निर्युक्ति की गाथा ४४६-४४७ में बताया है कि -

“रहणेमिस्स भगवओ, गिहत्थए चउरहुंति वास सया।

संवच्छरं छउमत्थो, पंचसए केवली हुंति॥४४६॥

णववाससए वासाहिए उ, सब्वाउगस्स णायब्बं।

एसो उ चेव कालो, रायमईए उ णायब्बा॥४४७॥

अर्थ - रथनेमि एवं राजीमती की गृह पर्याय ४०० वर्ष, छद्मस्थ पर्याय १ वर्ष, केवली पर्याय ५०० वर्ष। सर्वायु ६०१ वर्ष की थी। भगवान् अरिष्टनेमि की गृहपर्याय ३०० वर्ष, छद्मस्थ पर्याय ५४ दिन, केवली पर्याय ५४ दिन कम ७०० वर्ष। सर्वायु १००० वर्ष की थी।

आचार्य हेमचन्द्र ने - ‘त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र’ में रथनेमि व राजीमती का भगवान् अरिष्टनेमि से ५४ दिन पूर्व निर्वाण होना (मोक्ष जाना) बताया है।

ग्रन्थों में आये हुए उपर्युक्त वर्णनों के आधार से निम्नलिखित तथ्य (सिद्धान्त) फलित (सूचित-ध्वनित) हो सकते हैं -

विषय	भगवान् अरिष्टनेमि आयु	रथनेमि-राजीमती आयु
१. प्रारंभ में	६६ वर्ष में ५४ दिन कम	जन्म हुआ
२. विवाह समय	२६६ वर्ष	१६६ वर्ष ५४ दिन कम
३. भगवान् की दीक्षा समय	३०० वर्ष	२०० वर्ष ५४ दिन कम
४. राजीमती की दीक्षा समय	४६६ वर्ष ५४ दिन कम	४०० वर्ष
५. राजीमती निर्वाण समय	१००० वर्ष ५४ दिन कम	६०१ वर्ष
६. भगवान् निर्वाण समय	१००० वर्ष	मोक्ष में गए ५४ दिन हुए।

॥ रथनेमीय नामक बाईसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

केशि गोयमिज्जं णामं तेवीसइमं अज्झयणं

केशि-गौतमीय नामक तेईसवाँ अध्ययन

केशि-गौतमीय नामक इस अध्ययन में भगवान् पार्श्वनाथ के संतानीय श्रमण केशीकुमार एवं भगवान् महावीर स्वामी के प्रथम गणधर गौतमस्वामी के मध्य हुई आचार संबंधी चर्चा का सुंदर वर्णन है। चातुर्याम धर्म और पंच महाव्रतात्मक धर्म की चर्चा करते हुए केशीकुमार श्रमण के अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का गौतमस्वामी द्वारा दिये गये सटीक उत्तरों का बहुत ही रोचक और ज्ञानवर्द्धक वर्णन किया गया है। इस अध्ययन की प्रथम गाथा इस प्रकार है -

तीर्थकर पार्श्वनाथ

जिणे पासित्ति णामेणं, अरहा लोगपूइओ।

संबुद्धप्पा य सव्वण्णू, धम्म-तित्थयरे जिणे ॥१॥

कठिन शब्दार्थ - जिणे - जिन-रागद्वेष के विजेता, पासित्ति णामेणं - पार्श्व नाम के, अरहा - अर्हन्, लोगपूइओ - लोक पूजित, संबुद्धप्पा - सम्बुद्धात्मा, सव्वण्णू - सर्वज्ञ, धम्मतित्थयरे - धर्म तीर्थ के प्रवर्तक।

भावार्थ - राग-द्वेष को जीतने वाले, नरेन्द्र देवेन्द्रों से पूजित एवं वन्दित, लोक में पूजित, तत्त्वज्ञान से युक्त आत्मा वाले, सर्वज्ञ, धर्म - तीर्थ की स्थापना करने वाले समस्त कर्मों को जीतने वाले पार्श्वनाथ नाम के भगवान् थे।

विवेचन - प्रस्तुत गाथा में भगवान् पार्श्वनाथ के निम्न सात विशेषण दिये गये हैं -

१. जिणे - जिन - परीषह उपसर्गों के विजेता अथवा रागद्वेष के विजेता।

२. अरहा - अर्हन् - देव-दानव-मानवों के द्वारा पूजनीय।

३. लोगपूइओ - लोक पूजित - तीन लोक द्वारा अर्चित।

४. संबुद्धप्पा - संबुद्धात्मा - स्वयं बुद्ध तत्त्वज्ञान से युक्त आत्मा।

५. सव्वण्णू - सर्वज्ञ - त्रिकाल त्रिलोक की बातों को सम्पूर्ण जानने वाले।

६. धम्मतित्थयरे - धर्म तीर्थकर - धर्मतीर्थ रूप है, उस धर्म तीर्थ के संस्थापक या

प्रवर्तक।

७. जिणे - जिन - समस्त कर्मों को जीतने वाले।

इस गाथा में 'जिणे' शब्द का प्रयोग दो बार हुआ है। दूसरी बार 'जिन' विशेषण समस्त कर्मों का सर्वथा क्षय कर सिद्धि गति को प्राप्त होने का संसूचक है। इसका आशय यह है कि भगवान् महावीर तीर्थंकर रूप में उस समय प्रत्यक्ष विचरण कर रहे थे और भगवान् पार्श्वनाथ तीर्थंकर मुक्ति प्राप्त कर चुके थे।

केशी कुमार श्रमण

तस्स लोगपईवस्स, आसी सीसे महायसे।

केसी कुमार समणे, विज्जाचरण-पारगे ॥२॥

कठिन शब्दार्थ - लोगपईवस्स - लोक प्रदीप के, विज्जाचरण पारगे - विद्या और चरण (चारित्र) के पारगामी, सीसे - शिष्य, महायसे - महायशस्वी, केसीकुमार समणे - केशीकुमार श्रमण।

भावार्थ - लोक में दीपक के समान अर्थात् संसार के सम्पूर्ण पदार्थों को अपने ज्ञान द्वारा प्रकाशित करने वाले उन पार्श्वनाथ भगवान् के विद्या (ज्ञान) और चारित्र के पारगामी, महायशस्वी कुमार श्रमण केशी स्वामी शिष्य थे।

विवेचन - भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्यानुशिष्य केशी स्वामी थे। उन्होंने बचपन में यानी छोटी उम्र में दीक्षा ली थी इसलिए शास्त्रकार ने उनको 'कुमार श्रमण' कहा है।

केशीश्रमण का श्रावस्ती पदार्पण

ओहिणाणसुए बुद्धे, सीससंघसमाउले।

गामाणुगामं रीयंते, सावत्थिं पुरिंमागए ॥३॥

कठिन शब्दार्थ - ओहिणाणसुए - मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान से युक्त, बुद्धे - प्रबुद्ध, सीससंघसमाउले - शिष्य समूह से परिवृत हो कर, गामाणुगामं - ग्रामानुग्राम, रीयंते - विहार करते हुए, सावत्थिं पुरिं (णयरिं) - श्रावस्ती नगरी में, आगए - पधारे।

भावार्थ - मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान से युक्त तत्त्वों को जानने वाले शिष्यों के परिवार सहित ग्रामानुग्राम विचरते हुए वे कुमार श्रमण केशी स्वामी श्रावस्तीपुरी नामक नगरी में पधारे।

विवेचन - यद्यपि मूलपाठ में केवल, अवधि और श्रुतज्ञान का ही उल्लेख किया है, मतिज्ञान का उसमें निर्देश नहीं किया, परन्तु नन्दी सिद्धान्त का कथन है कि जहाँ पर श्रुतज्ञान होता है, वहाँ पर मतिज्ञान अवश्यमेव होता है और जहाँ पर मतिज्ञान है, वहाँ पर श्रुतज्ञान भी है। इसलिए एक का निर्देश किया है। जैसे पुत्र का नाम निर्देश करने से पिता का ज्ञान भी साथ ही हो जाता है, इसी प्रकार एक के ग्रहण से दोनों का ग्रहण कर लेना शास्त्रकार को सम्मत है।

तिंदुयं णाम उज्जाणं, तम्मि णगरमंडले।

फासुए सिज्ज-संधारे, तत्थ वासमुवागए॥४॥

कठिन शब्दार्थ - तिंदुयं णाम - तिन्दुक नाम का, उज्जाणं - उद्यान, णगरमंडले - नगरी के बहिस्थ (पार्श्व) भाग में, फासुए - प्रासुक, सिज्जसंधारे - शय्या संस्तारक, वास-निवास के लिये, उवागए - आये।

भावार्थ - उस श्रावस्ती नगरी के समीप तिन्दुक नाम का एक उद्यान था। वहाँ प्रासुक (जीव-रहित) संस्तारक युक्त स्थान में वे केशीकुमार श्रमण ठहरे।

विवेचन - प्रस्तुत गाथा में 'तम्मि णगरमंडले' इस वाक्य में 'नयरी' के स्थान में जो लिंग का व्यत्यय है वह आर्ष वाक्य होने से किया गया है। अन्यथा स्त्रीलिंग का निर्देश होना चाहिए था तथा 'मंडल' शब्द यहाँ पर सीमा का वाचक है। जिसका तात्पर्य यह निकलता है कि वह उद्यान श्रावस्ती के अति दूर व अति निकट नहीं, किन्तु नगरी के समीपवर्ती था।

गौतमस्वामी का श्रावस्ती पदार्पण

अह तेणैव कालेणं, धम्मतिथयरे जिणे।

भगवं वद्धमाणित्ति, सब्वलोगम्मि विस्सुए॥५॥

कठिन शब्दार्थ - भगवं - भगवान्, वद्धमाणित्ति - वर्द्धमान स्वामी, सब्वलोगम्मि - समस्त लोक में, विस्सुए - विश्रुत - विख्यात।

भावार्थ - अथ उसी समय धर्म-तीर्थ की स्थापना करने वाले, राग-द्वेष को जीतने वाले भगवान् वर्द्धमान स्वामी समस्त लोक (संसार) में विश्रुत-सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकर रूप से प्रसिद्ध थे।

तस्स लोगपईवस्स, आसी सीसे महायसे।

भगवं गोयमे णाम, विज्जाचरण-पारगे॥६॥

भावार्थ - लोक में दीपक के समान अर्थात् संसार के सम्पूर्ण पदार्थों को अपने ज्ञान द्वारा प्रकाशित करने वाले उन भगवान् वर्द्धमान स्वामी के विद्या, ज्ञान और चारित्र के पारगामी महायशस्वी भगवान् गौतम शिष्य थे।

बारसंगविऊ बुद्धे, सीस-संघसमाउले।

गामाणुगामं रीयंते, सेऽवि सावत्थिमागए॥७॥

कठिन शब्दार्थ - बारसंगविऊ - द्वादश अंगशास्त्रों के वेत्ता।

भावार्थ - आचाराङ्ग से लेकर दृष्टिवाद तक के बारह अंगों के ज्ञाता तत्त्वज्ञानी शिष्यों के परिवार सहित ग्रामानुग्राम विचरते हुए वे गौतम स्वामी भी श्रावस्ती नगरी में पधारे।

विवेचन - प्रस्तुत गाथा में गौतमस्वामी के लिए 'बारसंगविऊ' तथा 'बुद्धे' ये दो विशेषण दिये गए हैं। प्रथम विशेषण का आशय द्वादशांगी के ज्ञाता एवं रचयिता-अर्थात् गौतम स्वामी को चार ज्ञानों से युक्त होने पर भी चतुर्ज्ञानी नहीं कहकर द्वादशांगी वेत्ता कहा है, क्योंकि अवधिज्ञान से भी द्वादशांगी वेत्ता के पर्याय अनंत गुणे होते हैं, अतः इस विशेषण के द्वारा उनकी विशिष्ट ज्ञान क्षमता बताई गई है। 'बुद्धे' शब्द का आशय यह है कि हेय, ज्ञेय और उपादेय को जानने वाले और उत्पाद, व्यय, प्रौव्य इस त्रिपदी के द्वारा पदार्थों के स्वरूप को यथावत् समझने और समझाने वाले।

कोट्टुगं णाम उज्जाणं, तम्मि णगरमंडले।

फासुए सिज्जसंथारे, तत्थ वासमुवागए॥८॥

भावार्थ - उस श्रावस्ती नगरी के समीप कोष्ठक नाम का एक उद्यान था वहाँ प्रासुक (जीव-रहित) संस्तारक युक्त स्थान में ठहर गये।

विवेचन - तेणेव कालेण - उस समय जब भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्य केशीकुमार श्रमण श्रावस्ती नगरी में पधारे उसी समय चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी जो धर्म तीर्थंकर एवं जिन के रूप में समस्त लोक में विख्यात हो चुके थे, विद्यमान थे। अर्थात् वह समय चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी के धर्मशासन का था।

उनके पट्टशिष्य गौतमस्वामी भी अपने शिष्यों के साथ विभिन्न ग्राम नगरों में विचरण करते हुए श्रावस्ती नगरी में पधारे और कोष्ठक उद्यान में विराजे।

केसीकुमार समणे, गोयमे य महायसे।

उभओऽवि तत्थ विहरिसुं, अल्लीणा सुसमाहिया ॥६॥

कठिन शब्दार्थ - उभओ वि - दोनों ही, विहरिसुं - विचरते थे, अल्लीणा - आत्मा (साधना) में लीन, सुसमाहिया - सम्यक् समाधि से युक्त।

भावार्थ - मन-वचन-काया से गुप्त, ज्ञान दर्शन-चारित्र की समाधिवंत, महायशस्वी कुमार श्रमण केशी स्वामी और गौतमस्वामी दोनों ही वहाँ सुख-शांतिपूर्वक विचरते थे।

दोनों तीर्थों के अंतर पर चिंतन

उभओ सीस-संघाणं, संजयाणं तवस्सिणं।

तत्थ चिंता समुप्पण्णा, गुणवंताण ताइणं ॥१०॥

कठिन शब्दार्थ - संजयाणं - संयत, तवस्सिणं - तपस्वी, चिंता - चिन्ता (शंका), समुप्पण्णा - उत्पन्न हुई, गुणवंताण - गुण संपन्न, ताइणं - छह काय जीवों के रक्षक।

भावार्थ - कुमारश्रमण केशीस्वामी और गौतमस्वामी दोनों के संयत, तपस्वी, ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि गुण सम्पन्न छह काय जीवों के रक्षक शिष्य-समुदाय के मन में वहाँ चिन्ता, शंका उत्पन्न हुई अर्थात् गोचरी के लिए निकले हुए उन दोनों के शिष्य-समुदाय को, एक ही धर्म के उपासक होने पर भी, एक-दूसरे के वेष आदि में अन्तर दिखाई देने के कारण एक-दूसरे के प्रति शंका उत्पन्न हुई।

विवेचन - दोनों के शिष्यों के चार विशेषण दिये हैं - १. संयत २. तपस्वी ३. गुणवान् और ४. त्रायी।

केरिसो वा इमो धम्मो? इमो धम्मो व केरिसो?।

आयार-धम्मप्पणिही, इमा वा सा व केरिसी? ॥११॥

कठिन शब्दार्थ - केरिसो - कैसा है? इमो - यह, धम्मो - धर्म, आयारधम्मप्पणिही-आचार रूप धर्म की प्रणिधि अर्थात् व्यवस्था-मर्यादा विधि।

भावार्थ - वे शिष्य इस प्रकार शंका करने लगे कि यह हमारा धर्म कैसा है और यह इनका धर्म कैसा है? तथा यह हमारी आचार धर्म की व्यवस्था अर्थात् बाह्य वेष धारणादि क्रिया कैसी है और उनकी आचार-धर्म की व्यवस्था कैसी है?

चाउज्जामो य जो धम्मो, जो इमो पंच-सिक्खिओ।

देसिओ वद्धमाणेणं, पासेण य महामुणी॥१२॥

कठिन शब्दार्थ - चाउज्जामो - चतुर्याम, पंचसिक्खिओ - पंच शिक्षित - पांच महाव्रतों के द्वारा शिक्षित अर्थात् प्रकाशित अथवा पंच शैक्षिक-पांच शिक्षाओं से निष्पन्न अर्थात् पंच महाव्रत रूप धर्म, देसिओ - दिया है, वद्धमाणेणं - वर्द्धमान स्वामी ने, पासेण - पार्श्वनाथ भगवान् ने, महामुणी - महामुनि।

भावार्थ - महामुनि पार्श्वनाथ भगवान् ने जो चतुर्याम अर्थात् चार महाव्रत वाला धर्म कहा है और वर्द्धमान स्वामी ने जो यह पाँच महाव्रत वाला धर्म कहा है तो इस भेद का क्या कारण है?

अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो संतरुत्तरो।

एगकज्जपवण्णाणं, विसेसे किं णु कारणं॥१३॥

कठिन शब्दार्थ - अचेलगो - अचेलक, संतरुत्तरो - सान्तरोत्तर-वर्णादि से विशिष्ट तथा उत्तर-मूल्यवान् वस्त्र वाला, एगकज्जपवण्णाणं - एक ही कार्य-लक्ष्य में प्रवृत्त, विसेसे-विशेषता, किं णु कारणं - क्या कारण है।

भावार्थ - भगवान् वर्द्धमान स्वामी ने जो अचेलक-परिमाणोपेत श्वेत एवं अल्पमूल्य वाले वस्त्र रखने का धर्म कहा है और भगवान् पार्श्वनाथ ने जो यह विशिष्ट एवं बहुमूल्य वस्त्र रखने रूप धर्म कहा है तो मोक्ष प्राप्ति रूप एक कार्य के लिए प्रवृत्ति करने वालों के बाह्य-आचार में इतना अन्तर होने का क्या कारण है?

विवेचन - उपरोक्त चार गाथाओं में दोनों महामुनियों के शिष्यों में एक दूसरे को देखने से जो जिज्ञासा मूलक चिन्तन हुआ, उसके कारण इस प्रकार है -

१. हमारा धर्म कैसा है और गौतम के शिष्यों का धर्म कैसा है?

२. दोनों धर्मों की वेष आदि आचार व्यवस्था में भेद क्यों?

३. भगवान् पार्श्वनाथ का चतुर्याम धर्म अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय और बहिर्द्धादान विरमण (अपरिग्रह) रूप धर्म और भगवान् महावीर स्वामी का पंच शिक्षा (अहिंसा, सत्य, चौर्यत्याग, ब्रह्मचर्य एवं परिग्रह त्याग रूप) धर्म है। इन दोनों की व्रत संख्या में अन्तर क्यों?

४. भगवान् पार्श्वनाथ का सचेलक धर्म और भगवान् महावीर स्वामी का अचेलक धर्म, एक ही लक्ष की प्राप्ति के लिए प्रवृत्त इन दोनों में अन्तर क्यों?

यहाँ पर 'अचेलक' शब्द का नञ् अल्पार्थ का वाचक है उसका अर्थ है - मानोपेत श्वेत वस्त्र, अथवा कुत्सित - जीर्ण श्वेत वस्त्र तथा जिनकल्प की अपेक्षा अचेलक का अर्थ है - वस्त्र का अभाव अर्थात् वस्त्र रहित होना।

भगवान् पार्श्वनाथ द्वारा यह सान्त्रोत्तर धर्म प्रतिपादित है। इसमें 'सांतर' और 'उत्तर' ये दो शब्द हैं। जिनके अनेक अर्थ विभिन्न आगम वृत्तियों में मिलते हैं। बृहद्वृत्तिकार के अनुसार-सान्तर का अर्थ - विशिष्ट अंतर यानी प्रधान सहित है और उत्तर का अर्थ है - नाना वर्ण के बहुमूल्य और प्रलम्ब वस्त्र से सहित।

केशी-गौतम मिलन

अह ते तत्थ सीसाणं, विण्णाय पवितक्कियं।

समागमे कयमई, उभओ केसीगोयमा ॥१४॥

कठिन शब्दार्थ - सीसाणं - शिष्यों की, विण्णाय - जान कर, पवितक्कियं - प्रवितर्कित - शंका युक्त विचार विमर्श को, समागमे कयमई - परस्पर समागम की इच्छा की।

भावार्थ - इसके बाद वहाँ पर अपने-अपने शिष्यों की प्रवितर्कित - तर्क रूप शंका को जान कर उसकी निवृत्ति के लिए उन कुमार श्रमण केशी स्वामी और गौतमस्वामी दोनों महापुरुषों ने एक स्थान पर मिलने का विचार किया।

गोयमो पडिरूवण्णू, सीससंघसमाउले।

जेट्ठं कुलमवेक्खंतो, तिट्ठुयं वणमागओ ॥१५॥

कठिन शब्दार्थ - पडिरूवण्णू - प्रतिरूपज्ञ - यथोचित विनय व्यवहार के ज्ञाता, जेट्ठं-ज्येष्ठ, कुलं - कुल को, अवेक्खंतो - जान कर, तिट्ठुयं वणं - तिन्दुक वन में, आगओ - आए।

भावार्थ - केशी कुमार श्रमण तेवीसवें तीर्थकर भगवान् पार्श्वनाथ के संतानिये (शिष्यानुशिष्य) थे, इसलिये उनके कुल को ज्येष्ठ (बड़ा) मान कर प्रतिरूपज्ञ - विनय-धर्म के ज्ञाता गौतमस्वामी अपने शिष्य-समुदाय सहित तिन्दुक उद्यान में जहाँ केशीकुमार श्रमण ठहरे हुए थे, वहाँ आये।

विवेचन - गौतमस्वामी यद्यपि केशी श्रमण से वय और ज्ञान में ज्येष्ठ-श्रेष्ठ, चार ज्ञान के धनी एवं सर्वाक्षर-सन्निपाती थे तथापि गौतमस्वामी प्रतिरूपज्ञ थे अर्थात् यथोचित विनय व्यवहार के ज्ञाता थे। वे विनीत और विचारशील थे अतः उन्होंने सोचा - केशीकुमार श्रमण तेइसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ की शिष्य परम्परा के हैं अतः भगवान् पार्श्वनाथ का कुल ज्येष्ठ वृद्ध (बड़ा) है और केशीकुमार उनकी शिष्य परम्परा में होने से हमारे ज्येष्ठ हैं अतः मुझे ही उनके पास जाना चाहिये। यह विचार करके गौतमस्वामी एकाकी नहीं किंतु अपने शिष्य समुदाय को साथ लेकर श्रमण केशीकुमार से मिलने की इच्छा से त्रिदुक उद्यान में पहुंचे।

केशीकुमार-समणे, गोयमं दिस्समागयं।

पडिरूवं पडिवत्तिं, सम्मं संपडिवज्जइ॥१६॥

कठिन शब्दार्थ - पडिरूवं -/प्रतिरूप, पडिवत्तिं - प्रतिपत्ति, सम्मं - सम्यक्, संपडिवज्जइ - ग्रहण करते हैं।

भावार्थ - केशी कुमार श्रमण गौतमस्वामी को आते हुए देख कर बहुमान भक्ति के साथ प्रतिरूप-उनके योग्य प्रतिपत्ति - सत्कार-सम्मान सम्यक् प्रकार से करने लगे।

पलालं फासुयं तत्थ, पंचमं कुसतणाणि य।

गोयमस्स णिसेज्जाए, खिप्पं संपणामए॥१७॥

कठिन शब्दार्थ - पलालं - पलाल, फासुयं - प्रासुक, पंचमं - पांचवां, कुसतणाणि- डाभ के तृण, णिसेज्जाए - बैठने के लिये, खिप्पं - शीघ्र, संपणामए - दिये।

भावार्थ - केशी कुमार श्रमण ने वहाँ गौतमस्वामी के बैठने के लिए प्रासुक पलाल अर्थात् शाली, ब्रीहि, कोद्रव, राल यह चार और पाँचवां डाभ के तृण, ये पाँच प्रकार का पलाल दिये।

विवेचन - केशीकुमार श्रमण ने जब देखा कि भगवान् महावीर स्वामी के पट्टधर शिष्य गणधर गौतमस्वामी अपने शिष्य परिवार सहित इधर ही आ रहे हैं तब उन्होंने अभ्युत्थान आदि पूर्वक बड़े प्रेम से उनका स्वागत किया अर्थात् योग्य पुरुषों का योग्य पुरुष जिस प्रकार सम्मान करते हैं उसी प्रकार उन्होंने गौतमस्वामी का सम्मान किया और उन्हें बैठने के लिए श्रमणोचित आसन हेतु पांच प्रकार का पराल (घास) प्रदान किया।

प्रवचन सारोद्धार एवं उत्तराध्ययन टीका के अनुसार पांच प्रकार के तृण इस प्रकार कहे हैं-

तृण पणगं पण्णत्तं, जिणेहिं कम्महगंठिमहणेहिं।

साली १ वीही २ कोहव ३ रत्तग ४ रण्णेतणा ५ पंच॥

- अष्ट विध कर्मों की ग्रन्थि का भेदन करने वाले जिनेश्वरों ने पांच प्रकार के निर्बीज तृण साधुओं के आसन के योग्य बताए हैं - १. शाली - कमलशाली आदि विशिष्ट चावलों का पराल २. ब्रीहिक - साठी चावल आदि का पलाल ३. कोहव - कोदों धान्य का पलाल ४. रत्तक - कंगु (कागणी) का पलाल - ये चार प्रकार के पलाल और पांचवां अरण्यतृण अर्थात् श्यामाक - सामा चावल आदि का पलाल। उपरोक्त गाथा में पांचवां दर्भ आदि निर्बीज तृण बताया गया है।

केसीकुमार-समणे, गोयमे य महायसे।

उभओ गिसण्णा सोहंति, चंदसूरसमप्यभा॥१८॥

कठिन शब्दार्थ - महायसे - महायशस्वी, गिसण्णा - बैठे हुए, सोहंति - शोभित होते हैं, चंदसूरसमप्यभा - चन्द्र और सूर्य के समान कांति वाले।

भावार्थ - चन्द्र और सूर्य के समान कांति वाले महायशस्वी केशी कुमार श्रमण और गौतमस्वामी दोनों आसन पर बैठे हुए चन्द्रमा और सूर्य के समान शोभित हो रहे थे।

विवेचन - जैसे चन्द्र और सूर्य अपनी कांति से संसार को शीतलता और तेजस्विता प्रदान करते हैं उसी प्रकार ये दोनों मुनीश्वर अपने शांति और तेजस्विता आदि सद्गुणों से भव्य जीवों को आह्लादित और उपकृत कर रहे थे।

समागया बहू तत्थ, पासंडा कोउगा मिया।

गिहत्थाण अणेगाओ, साहस्सीओ समागया॥१९॥

कठिन शब्दार्थ - समागया - आए, पासंडा - पाषण्ड - परिव्राजक आदि अन्य दर्शनी, कोउगा - कुतूहली, मिया - मृग के समान, गिहत्थाण - गृहस्थों के, अणेगाओ - अनेक, साहस्सीओ - सहस्र - हजारों।

भावार्थ - उन दोनों मुनियों की चर्चा-वार्ता को सुनने के लिए गृहस्थों के अनेक सहस्र-हजारों अर्थात् हजारों गृहस्थ वहाँ तिन्दुक वन में आये और बहुत-से मृग के समान अज्ञानी पाखंडी लोग और कुतूहली लोग भी वहाँ आकर इकट्ठे हुए।

विवेचन - पासंडा - 'पाषण्ड' शब्द का अर्थ यहाँ घृणावाचक पाखण्डी (ढोंगी, धर्मध्वजी)

नहीं किन्तु अन्यमतीय परिव्राजक या श्रमण अथवा व्रतधारी (स्वसंप्रदाय प्रचलित आचार-विचारधारी) होता है। बृहद्वृत्तिकार के अनुसार 'पाषण्ड' का अर्थ अन्य दर्शनी परिव्राजकादि है।

देव-दाणव-गंधर्वा, जक्ख-रक्खस्स-किण्णरा।

अदिस्साणं च भूयाणं, आसी तत्थ समागमो ॥२०॥

कठिन शब्दार्थ - देवदाणवगंधर्वा - देव, दानव, गंधर्व, जक्खरक्खस्स किण्णरा - यक्ष, राक्षस, किन्नर, अदिस्साणं - अदृश्य, भूयाणं - भूतों का।

भावार्थ - ज्योतिषी और वैमानिक देव, दानव (भवनपति, गन्धर्व) यक्ष, राक्षस और किन्नर आदि वाणव्यंतर देव भी वहाँ आये और दिखाई न देने वाले वाणव्यंतर जाति के भूतों का भी वहाँ समागम था अर्थात् अदृश्य भूत भी वहाँ आये थे।

केशी स्वामी की प्रथम जिज्ञासा

पुच्छामि ते महाभाग! केसी गोयममब्बवी।

तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥२१॥

कठिन शब्दार्थ - पुच्छामि - पूछना चाहता हूँ, महाभाग - हे भाग्यशाली! अब्बवी - कहा, केसिं बुवंतं - केशी के यह कहने पर।

भावार्थ - केशी कुमार श्रमण ने गौतमस्वामी से कहा कि हे महाभाग! मैं आपसे कुछ पूछना चाहता हूँ तब इस प्रकार बोलते हुए केशी कुमार श्रमण को गौतमस्वामी इस प्रकार कहने लगे।

पुच्छ भंते! जहिच्चं ते, केसिं गोयम-मब्बवी।

तओ केसी अणुण्णाए, गोयमं इणमब्बवी ॥२२॥

कठिन शब्दार्थ - पुच्छ - पूछिए, जहिच्चं - जैसी इच्छा हो, अणुण्णाए - अनुज्ञा पाकर, इणं - इस प्रकार, अब्बवी - पूछा।

भावार्थ - गौतमस्वामी ने केशीकुमार श्रमण को कहा कि हे भगवन्! आपकी जैसी इच्छा हो वैसा प्रश्न करो। इसके बाद गौतमस्वामी की अनुमति प्राप्त होने पर केशीकुमार श्रमण गौतमस्वामी से इस प्रकार पूछने लगे।

चाउज्जामो य जो धम्मो, जो इमो पंचसिक्खिओ।

देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महामुणी ॥२३॥

कठिन शब्दार्थ - चाउज्जामो - चतुर्यामि, पंचसिक्खिओ - पंच शिक्षात्मक (पांच महाव्रत रूप) धर्म, देसिओ - बताया है, वद्धमाणेण - वर्द्धमान ने, महामुणी पासेण - महामुनि पार्श्वनाथ ने।

भावार्थ - पहला प्रश्न - महामुनि पार्श्वनाथ भगवान् ने जो यह चार याम (महाव्रत) वाला धर्म कहा है और भगवान् वर्द्धमान स्वामी ने जो यह पाँच महाव्रत वाला धर्म कहा है।

एगकज्ज पवण्णाणं, विसेसे किं णु कारणं।।

धम्मो दुविहे मेहावि! कहां विप्पच्चओ ण ते? ॥२४॥

कठिन शब्दार्थ - एगकज्जपवण्णाणं - एक कार्य (मोक्ष साधन रूप एक ही कार्य) में प्रवृत्त, विसेसे - विशेषता, किं णु कारणं - क्या कारण है, दुविहे धम्मो - दो प्रकार के धर्मों में से, मेहावि - हे मेधाविन्! विप्पच्चओ - विप्रत्यय-सन्देह।

भावार्थ - एक ही कार्य (मोक्ष प्राप्ति रूप कार्य) के लिए प्रवृत्ति करने वालों में परस्पर विशेषता का क्या कारण है अर्थात् इस दो प्रकार के धर्म के विषय में हे मेधाविन्! क्या आपको संशय नहीं होता? अर्थात् भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान् वर्द्धमान स्वामी दोनों सर्वज्ञ हैं तो फिर मतभेद का क्या कारण है?

गौतमस्वामी का समाधान

तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी।

पण्णा समिक्खए धम्मं, तत्तं तत्तविणिच्छियं ॥२५॥

कठिन शब्दार्थ - पण्णा - प्रज्ञा (बुद्धि), समिक्खए - समीक्षा करती है, धम्मं तत्तं - धर्म तत्त्व की, तत्तविणिच्छियं - तत्त्व के विनिश्चय वाले।

भावार्थ - इसके बाद इस प्रकार कहते हुए केशीकुमार श्रमण से गौतमस्वामी इस प्रकार कहने लगे कि जीवादि तत्त्वों का जिसमें निश्चय किया जाता है ऐसे धर्म तत्त्व को बुद्धि ही ठीक समझ सकती है अर्थात् बुद्धि के द्वारा ही तत्त्वों का निर्णय होता है।

पुरिमा उज्जुजडा उ, वंक्कजडा य पच्छिमा।

मज्झिमा उज्जुपण्णा उ, तेण धम्मो दुहा कए ॥२६॥

कठिन शब्दार्थ - पुरिमा - पहले के, उज्जुजडा - ऋजु (सरल) और जड़ (दुर्बोध्य), वंक्कजडा - वक्र और जड़, पच्छिमा - पश्चिम-अंतिम तीर्थकर के, मज्झिमा - मध्य के, उज्जुपण्णा - ऋजु और प्राज्ञ, दुहा - दो प्रकार का, कए - कहा गया है।

भावार्थ - पहले तीर्थकर के साधु ऋजुजड़ होते हैं और अन्तिम तीर्थकर के साधु वक्रजड़ होते हैं और मध्य के बाईस तीर्थकरों के साधु ऋजुप्राज्ञ होते हैं इसलिए धर्म दो प्रकार का कहा गया है।

विवेचन - प्रथम तीर्थकर के साधु ऋजुजड़ होते हैं। वे प्रकृति के सरल होते हैं। किन्तु क्षयोपशम की मंदता के कारण मंद बुद्धि वाले होते हैं इसलिए वे तत्त्वों के अभिप्राय को शीघ्र नहीं समझ पाते हैं। अन्तिम तीर्थकर के साधु वक्रजड़ होते हैं, उन्हें हितशिक्षा दी जाने पर भी वे अनेक प्रकार के कुतर्कों द्वारा परमार्थ की अवहेलना करने में उद्यत रहते हैं तथा वक्रता के कारण छल पूर्वक व्यवहार करते हुए अपनी मूर्खता को चतुरता के रूप में प्रदर्शित करने की चेष्टा करते हैं। मध्य के बाईस तीर्थकरों के साधु ऋजुप्राज्ञ अर्थात् सरल और बुद्धिमान होते हैं। वे सरलता पूर्वक समझाये जा सकते हैं और ऐसे बुद्धिमान होते हैं कि संकेतमात्र कर देने से ही वे उस तत्त्व के मर्म तक पहुँच जाते हैं। इसलिए धर्म के नियमों में भेद किया गया है अर्थात् प्रथम और अन्तिम तीर्थकर के साधुओं के लिए पांच महाव्रतों का विधान किया गया है और मध्य के बाईस तीर्थकरों के साधुओं के लिए चार याम (महाव्रतों) का कथन किया गया है।

पुरिमाणं दुब्बिसोज्झो उ, चरिमाणं दुरणुपालओ।

कप्पो मज्झिमगाणं तु, सुविसोज्झो सुपालओ ॥२७॥

कठिन शब्दार्थ - दुब्बिसोज्झो - दुर्विशोध्य - दुःख से विशुद्ध ग्रहण करने योग्य, चरिमाणं- अंतिम, दुरणुपालओ - दुरनुपालक - आचार पालन दुष्कर, कप्पो - कल्प, मज्झिमगाणं - मध्यवर्ती तीर्थकरों के, सुविसोज्झो - सुविशोध्य - विशुद्ध रूप से अंगीकार किये जाते, सुपालओ- सुपालक-विशुद्ध रूप से पालन किये जाते।

भावार्थ - पहले तीर्थकर के साधुओं का कल्प-आचार दुर्विशोध्य है और अन्तिम तीर्थकर के साधुओं का आचार दुरनुपालक है। मध्य के बाईस तीर्थकरों के साधुओं का आचार सुविशोध्य और सुपालक है अर्थात् प्रथम तीर्थकर के साधु अपने कल्प (आचार) को शीघ्रता से नहीं समझ पाते हैं। उनकी प्रकृति सरल होती है तथा बुद्धि मंद होती है। इसलिए उनकी बुद्धि

शीघ्रता से पदार्थों के अवधारण करने में समर्थ नहीं होती। अन्तिम तीर्थंकर के साधु वक्रजड़ होते हैं, वे किसी बात को सरलतापूर्वक समझते नहीं और समझ जाने पर भी उसका सरलता से पालन नहीं करते, क्योंकि इस काल के जीव कुतर्क उत्पन्न करने में बड़े कुशल होते हैं। मध्य के बाईस तीर्थंकरों के मुनियों को शिक्षित करना या साधु-कल्प का बोध देना और उनके द्वारा उसका पालन किया जाना ये दोनों बातें सुलभ होती हैं, इसलिए इनके लिए चार महाव्रतों का विधान किया गया है और प्रथम तीर्थंकर तथा अन्तिम तीर्थंकर के मुनियों के लिए पाँच महाव्रतों का विधान किया गया है।

विवेचन - प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के समय पाँच महाव्रत इस प्रकार होते हैं - सर्वथा प्रकार से हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह का तीन करण तीन योग से त्याग करना। बीच के बाईस तीर्थंकर तथा महाविदेह के सभी तीर्थंकरों के साधुओं के चार याम धर्म इस प्रकार होते हैं - सर्वथा प्रकार से हिंसा, झूठ, चोरी और बहिद्धादान का तीन करण तीन योग से त्याग होता है। 'बहिद्धादान' का अर्थ है - बहिद्धा - अर्थात् बाहर की वस्तु को, आदान-अर्थात् लेना। विषय भोग की सामग्री (स्त्री आदि) तथा धन-धान्य सोना-चांदी आदि सब बाहर की वस्तु हैं। इसलिए 'बहिद्धादान' शब्द में दोनों बाहरी वस्तु का ग्रहण कर लिया गया है। इसलिए पाँच महाव्रत रूप धर्म और चतुर्थांश धर्म का अर्थ एक ही है। केवल शब्दों का फर्क है। जैसे कि - कोई ६० कहे और कोई अनपढ़ व्यक्ति तीन बीसी कहे तो समझदार व्यक्ति के लिए दोनों का अर्थ एक ही है ६०। २०+२०+२०=६०। इस तरह व्रतों के विषय में भी समझना चाहिये।

कृतज्ञता प्रकाशन

साहु गोयम! पण्णा ते, छिण्णो मे संसओ इमो।

अण्णो वि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा!॥२८॥

कठिन शब्दार्थ - साहु - साधु (श्रेष्ठ), पण्णा - प्रज्ञा-बुद्धि, छिण्णो - छिन्न हो गया है, मे - मेरा, संसओ - संशय, अण्णो वि - अन्य भी, कहसु - कहें।

भावार्थ - हे गौतम! आपकी प्रज्ञा-बुद्धि साधु-श्रेष्ठ है। आपने मेरा यह संशय दूर कर दिया है। मेरा और भी संशय है इसलिए हे गौतम! उसके विषय में भी मुझे कहिये अर्थात् मेरा जो दूसरा संशय है उसे भी दूर कीजिए।

विवेचन - केशीकुमार श्रमण ने जब अपने प्रथम प्रश्न का युक्तियुक्त समाधान प्राप्त कर लिया, तब उन्होंने गौतमस्वामी के प्रति अपने कृतज्ञतासूचक उद्गार प्रकट किये।

यहाँ पर इतना ध्यान रहे कि केशी कुमार के द्वारा उद्भावन किये गये संशय का गौतम स्वामी के द्वारा निराकरण करना तथा अन्य संशय के निराकरणार्थ प्रस्ताव करना इत्यादि प्रश्नोत्तर रूप जितना भी संदर्भ है वह सब नाम मात्र इन दोनों महापुरुषों के शिष्य परिवार के हृदय में उत्पन्न हुए संदेहों की निवृत्ति के लिए ही है। अन्यथा केशीकुमार के हृदय में तो इस प्रकार की न कोई शंका थी और न उसकी निवृत्ति के लिए गौतम स्वामी का प्रयास था। कारण कि मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञान वालों में इस प्रकार के संशय का अभाव होता है। अतः यह प्रश्नोत्तर रूप समग्र संदर्भ स्व शिष्यों तथा सभा में उपस्थित हुए अन्य भाविक सद्गृहस्थों के संशयों को दूर करने के लिए प्रस्तावित किया गया है तथा इस गाथा में अभिमान से रहित होकर सत्य के ग्रहण करने का जो उपदेश ध्वनित किया गया है उसका अनुसरण प्रत्येक जिज्ञासु को करना चाहिए।

केशीश्रमण की द्वितीय जिज्ञासा

अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो संतरुत्तरो।

देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महाजसा॥२९॥

एगकज्जपवण्णाणं, विसेसे किं णु कारणं।

लिंगे दुविहे मेहावि! कहं विप्पच्चओ ण ते॥३०॥

कठिन शब्दार्थ - लिंगे - लिंग-बाह्यवेश के।

भावार्थ - दूसरा प्रश्न - महायशस्वी महामुनीश्वर भगवान् वद्धमान स्वामी ने जो यह अचेलक (परिमाणोपेत श्वेत तथा अल्प मूल्य वाले वस्त्र रखने) रूप धर्म कहा है और भगवान् पार्श्वनाथ स्वामी ने जो यह मानोपेत-रहित, विशिष्ट एवं बहुमूल्य वस्त्र रख सकने रूप धर्म कहा है तो एक ही कार्य के लिए अर्थात् मोक्ष प्राप्ति रूप कार्य के लिए प्रवृत्ति करने वालों में परस्पर विशेषता होने में क्या कारण है? हे मेधाविन्! बाह्य वेश के दो भेद हो जाने पर क्या आपके मन में विप्रत्यय-संदेह उत्पन्न नहीं होता है? जब दोनों बातें सर्वज्ञ-कथित हैं तो फिर मतभेद का क्या कारण है?

गौतमस्वामी का समाधान

केसिमेवं बुवाणं तु, गोयमो इणमब्बवी।

विण्णाणेण समागम्म, धम्म-साहण-मिच्छियं ॥३१॥

कठिन शब्दार्थ - केसिमेवं बुवाणं तु - केशीकुमार श्रमण के ऐसा कहने पर, विण्णाणेण - विज्ञान - विशिष्ट ज्ञान से, समागम्म - सम्यक् प्रकार से जान कर, धम्मसाहणं-धर्म के साधनों (उपकरणों) को, इच्छियं - अनुमति दी है।

भावार्थ - इस प्रकार कहते हुए केशीकुमार श्रमण को गौतमस्वामी इस प्रकार कहने लगे- भगवान् पार्श्वनाथ स्वामी ने और भगवान् वर्द्धमान स्वामी ने विज्ञान द्वारा अर्थात् केवलज्ञान द्वारा जान कर यथायोग्य धर्म साधन धर्म-उपकरणों की आज्ञा दी है।

पच्चयत्थं च लोगस्स, णाणाविह-विगप्पणं।

जत्तत्थं गहणत्थं च, लोगे लिंगपओयणं ॥३२॥

कठिन शब्दार्थ - पच्चयत्थं - प्रतीति के लिए, लोगस्स - लोग की, णाणाविह-विगप्पणं - नानाविधविकल्पन - नाना प्रकार के वेष उपकरण आदि की परिकल्पना, जत्तत्थं-संयम यात्रा के निर्वाह के लिए, गहणत्थं - ज्ञानादि ग्रहण के लिये, लोगे- लोक में, लिंगपओयणं- लिंग (वेष) का प्रयोजन।

भावार्थ - नानाविधविकल्पन अर्थात् अनेक प्रकार के उपकरणों की कल्पना, लोगों की प्रतीति एवं विश्वास के लिए है और संयम-यात्रा का निर्वाह करने के लिए तथा ज्ञानादि ग्रहण के लिए लोक में लिंग (वेष) का प्रयोजन है।

विवेचन - 'यह साधु है' लोक में ऐसी प्रतीति हो, इसके लिए लिंग (वेष) का प्रयोजन है। अन्यथा प्रत्येक व्यक्ति अपनी पूजा के लिए अपनी इच्छानुसार वेष धारण कर के साधु कहलाने का ढोंग कर सकता है। संयम यात्रा के निर्वाह के लिए तथा ज्ञानादि के ग्रहण के लिए भी वेष की आवश्यकता है। कदाचित् कर्मोदय से संयम के प्रति अरुचि अथवा मन में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न हो जाय तो यह विचार करना चाहिए कि मेरा साधु-वेष है। मुझे इसके अनुसार ही प्रवृत्ति करनी चाहिए। अन्यथा मेरे कारण यह जिनशासन का वेष और जिनशासन लज्जित होगा, ऐसी प्रवृत्ति मुझे नहीं करनी चाहिए।

अह भवे पइण्णा उ, मोक्ख-सब्भूयसाहणा।

णाणं च दंसणं चेव, चरित्तं चेव णिच्छए॥३३॥

कठिन शब्दार्थ - पइण्णा - प्रतिज्ञा, णिच्छए - निश्चय में, मोक्ख सब्भूय साहणा-
मोक्ष के सद्भूत साधन।

भावार्थ - अथ-भगवान् पार्श्वनाथ की और भगवान् वर्द्धमान स्वामी की दोनों तीर्थकरों की प्रतिज्ञा तो यही है कि निश्चय में मोक्ष के वास्तविक साधन ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही हैं, इसलिए निश्चय में दोनों महापुरुषों की एक ही प्रतिज्ञा है, इसमें कोई मतभेद नहीं है। व्यावहारिक दृष्टि से बाह्य वेष में उपरोक्त कारणों से भेद हैं।

विवेचन - बाह्यवेष मोक्ष साधना में सर्वथा मुख्य साधन नहीं है, निश्चय में तो दोनों महापुरुषों की समान प्रतिज्ञा (सम्मति) है कि रत्नत्रयी ही मोक्ष का मुख्य साधन है। वेष व्यवहारोपयोगी है, असंयम मार्ग का निवर्तक होने से यह कथंचित परम्परा से गौण साधन हो सकता है। अतः दोनों महर्षियों की वेष विषयक सम्मति व्यावहारिक दृष्टि से समयानुसार है इसलिए उनकी सर्वज्ञता में अविश्वास या संशय को कोई स्थान नहीं है।

केशी द्वारा गौतम से तृतीय पृच्छा

साहु गोयम! पण्णा ते, छिण्णो मे संसओ इमो।

अण्णोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा॥३४॥

भावार्थ - हे गौतम! तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। तुमने मेरा यह संशय भी दूर कर दिया है। अब मेरा एक अन्य भी संशय-प्रश्न है। हे गौतम! मुझे उसके विषय में भी कुछ कहें। अर्थात् मेरा जो संशय है उसे भी दूर कीजिए।

अणेगाणं सहस्साणं, मज्झे चिट्ठसि गोयमा।

ते य ते अहिगच्छंति, कहं ते णिज्जिया तुमे?॥३५॥

कठिन शब्दार्थ - अणेगाणं सहस्साणं - अनेक सहस्र शत्रुओं के, मज्झे - मध्य में, चिट्ठसि - खड़े हो, अहिगच्छंति - सम्मुख आ रहे हैं, णिज्जिया - जीत लिया है।

भावार्थ - तीसरा प्रश्न - हे गौतम! आप अनेक हजारों शत्रुओं के बीच में खड़े हो और वे शत्रु आप पर आक्रमण कर रहे हैं आपने उन सब शत्रुओं को कैसे जीत लिया है?

गौतमस्वामी का समाधान

एगो जिए जिया पंच, पंच जिए जिया दस।

दसहा उ जिणित्ताणं, सब्ब-सत्तू जिणामहं ॥३६॥

कठिन शब्दार्थ - एगो - एक के, जिए - जीतने पर, पंच - पांच, जिया - जीत लिये गये, जिणित्ताणं - जीत कर, सब्बसत्तू - सब शत्रुओं को, जिणामहं - मैंने जीत लिया है।

भावार्थ - एक के जीतने पर पाँच जीते गये और पाँचों को जीतने पर दस जीते गये और दसों शत्रुओं को जीत कर मैंने सभी शत्रुओं को जीत लिया है।

सत्तू य इइ के वुत्ते? केसी गोयममब्बवी।

तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥३७॥

कठिन शब्दार्थ - सत्तू - शत्रु, वुत्ते - कहे गये हैं।

भावार्थ - उपरोक्त विषय को स्पष्ट करने के लिये केशीकुमार श्रमण गौतमस्वामी से इस प्रकार पूछने लगे कि वे शत्रु कौन-से कहे गये हैं? इसके पश्चात् उक्त प्रकार से प्रश्न करते हुए केशीकुमार श्रमण को गौतमस्वामी इस प्रकार कहने लगे।

एगप्पा अजिए सत्तू, कसाया इंदियाणि य।

ते जिणित्तु जहाणायं, विहरामि अहं मुणी! ॥३८॥

कठिन शब्दार्थ - एगप्पा - एक आत्मा, अजिए - नहीं जीता हुआ, कसाया - कषाय, इंदियाणि - इन्द्रियाँ, जहाणायं - यथा न्याय - न्याय (नीति) के अनुसार।

भावार्थ - गौतमस्वामी कहते हैं कि हे मुने! वश में न किया हुआ एक आत्मा ही शत्रु है और कषाय तथा इन्द्रियाँ भी शत्रु हैं उनको न्यायपूर्वक जीत कर मैं विचरता हूँ।

विवेचन - इस गाथा में दिये गये उत्तर से ऊपर की गाथा का स्पष्टीकरण हो जाता है अर्थात् वश में न किया हुआ आत्मा ही शत्रु है। उस एक शत्रु को जीत लेने पर पांच (चार कषाय और एक आत्मा) शत्रु जीत लिये जाते हैं और पांच को जीत लेने पर दस (पांच इन्द्रियाँ, चार कषाय और एक आत्मा) शत्रु जीत लिए जाते हैं। इन को जीत लेने पर नोकषाय आदि समस्त शत्रु जीत लिए जाते हैं।

केशीश्रमण की चतुर्थ जिज्ञासा

साहु गोयम! पण्णा ते, छिण्णो भे संसओ इमो।

अण्णोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ॥३६॥

भावार्थ - हे गौतम! तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। तुमने मेरा यह संशय भी दूर कर दिया है। अब मेरा एक अन्य भी संशय-प्रश्न है। हे गौतम! मुझे उसके विषय में भी कुछ कहें अर्थात् मेरा जो संशय है उसे भी दूर कीजिए।

दीसंति बहवे लोए, पासबद्धा सरीरिणो।

मुक्क-पासो लहुब्भूओ, कहं तं विहरसि मुणी! ॥४०॥

कठिन शब्दार्थ - दीसंति - दिखते हैं, बहवे - बहुत से, लोए - लोक में, पासबद्धा-पाश से बद्ध, सरीरिणो - शरीरधारी, मुक्कपासो - पाश (बंधन) से मुक्त, लहुब्भूओ - लघुभूत - प्रतिबन्ध रहित हल्के, कहं - कैसे, विहरसि - विचरते हैं।

भावार्थ - चौथा प्रश्न - केशीकुमार श्रमण पूछते हैं कि लोक में बहुत से प्राणी पाश में बन्धे हुए दिखाई देते हैं किन्तु हे मुने! आप बन्धन से मुक्त हो कर तथा वायु के समान लघुभूत (हलके) हो कर कैसे विचरते हैं?

गौतमस्वामी का समाधान

ते पासे सव्वसो छित्ता, णिहंतूण उवायओ।

मुक्कपासो लहुब्भूओ, विहरामि अहं मुणी! ॥४१॥

कठिन शब्दार्थ - ते - उन, पासे - पाशों (बंधनों) को, सव्वसो - सब प्रकार से, छित्ता - छेदन कर, णिहंतूण - नष्ट करके, उवायओ - उपाय द्वारा।

भावार्थ - गौतमस्वामी कहते हैं कि हे मुने! उपाय द्वारा उन पाशों (बंधनों) को सर्वथा प्रकार से छेदन (काट) कर एवं उनका सर्वथा नाश कर के मैं मुक्त पाश - बन्धन-रहित हो कर तथा अप्रतिबद्धविहारी होने से वायु के समान लघुभूत हो कर विचरता हूँ।

केशी स्वामी की शंका

पासा य इइ के वुत्ता? केसी गोयममब्बवी।

केसिमेवं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥४२॥

भावार्थ - उपरोक्त विषय को स्पष्ट करने के लिए केशीकुमार श्रमण गौतमस्वामी से इस प्रकार पूछने लगे कि वे पाश कौन से कहे गये हैं? इस प्रकार प्रश्न करते हुए केशीकुमार श्रमण को गौतमस्वामी इस प्रकार कहने लगे।

शंका का निवारण

रागदोसादओ तिब्वा, णेहपासा भयंकरा।

ते छिंदित्तु जहाणायं, विहरामि जहक्कमं ॥४३॥

कठिन शब्दार्थ - रागदोसादओ - रागद्वेष आदि, तिब्वा - तीव्र, णेहपासा - स्नेह पाश, भयंकरा - भयंकर, छिंदित्तु - छेदन करके, जहाणायं - यथा न्याय, विहरामि - विचरण करता हूँ, जहक्कमं - यथाक्रम से।

भावार्थ - गौतमस्वामी कहते हैं कि राग-द्वेष आदि तथा मोह और तीव्र धन-धान्य-पुत्र-कलत्र आदि के स्नेह रूपी पाश बड़े भयंकर हैं उनका यथान्याय छेदन करके मैं यथाक्रम अर्थात् शान्तिपूर्वक विचरता हूँ।

विवेचन - केशीस्वामी ने पूछा कि हे गौतम! संसारी जीव भव पाश में बंधे हुए दुःख पा रहे हैं जबकि आप उस पाश से मुक्त होकर, वायु की तरह लघुभूत बन कर विचरण कर रहे हैं इसका क्या रहस्य है?

गौतमस्वामी ने केशीस्वामी की शंका का समाधान करते हुए फरमाया कि - रागद्वेष मोह आदि जो भयंकर बंधन हैं उनको मैंने यथान्याय - वीतरागोक्त उपदेश से तप त्याग के द्वारा समूल काट दिया है अतः मैं लघुभूत होकर सुखपूर्वक संसार में विचरण करता हूँ।

केशीश्रमण की पांचवीं जिज्ञासा

साहु गोयम! पण्णा ते, छिण्णो मे संसओ इमो।

अण्णोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा! ॥४४॥

भावार्थ - हे गौतम! तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। तुमने मेरा यह संशय भी दूर कर दिया है। अब मेरा एक अन्य भी संशय-प्रश्न है। हे गौतम! मुझे उसके विषय में भी कुछ कहें अर्थात् मेरा जो संशय है उसे भी दूर कीजिए।

अंतो-हिययसंभूया, लया चिड्डइ गोयमा!।

फलेइ विस भक्खीणि, सा उ उद्धरिया कहं॥४५॥

कठिन शब्दार्थ - अंतोहियय संभूया - हृदय के भीतर उत्पन्न, लया - लता, फलेइ-फल देती है, विसभक्खीणि - विष के तुल्य भक्ष्य, उद्धरिया - उखाड़ी है।

भावार्थ - पाँचवाँ प्रश्न - हे गौतम! हृदय के अन्दर उत्पन्न हुई एक लता है। वह लता विष (जहर) के समान जहरीले फल देती है, उस लता को आपने किस प्रकार उखाड़ कर समूल नष्ट कर दिया है?

तं लयं सव्वसो छित्ता, उद्धरित्ता समूलियं।

विहरामि जहाणायं, मुक्को मि विसभक्खणं॥४६॥

कठिन शब्दार्थ - तं लयं - उस लता को, सव्वसो - सब तरह से, छित्ता - काट कर, उद्धरित्ता - उखाड़ कर, समूलियं - जड़ सहित, मुक्को मि - मुक्त हूँ, विसभक्खणं-विषफल खाने से।

भावार्थ - गौतमस्वामी कहने लगे कि मैंने उस लता को सर्वथा छेदन (काट) कर मूल सहित उखाड़ कर के फेंक दिया है, इसी कारण उसके विष समान फल खाने से मैं मुक्त हूँ। अतएव मैं जिनेश्वर देव के न्याय-युक्त मार्ग में शांतिपूर्वक विचरता हूँ।

लया य इइ का वुत्ता? केसी गोयममव्ववी।

केसिमेवं बुवंतं तु, गोयमो इणमव्ववी॥४७॥

भावार्थ - केशीकुमार श्रमण गौतमस्वामी से इस प्रकार पूछने लगे कि वह लता कौन-सी कही गई है? उपरोक्त प्रकार से प्रश्न करते हुए केशीकुमार श्रमण को गौतमस्वामी इस प्रकार कहने लगे।

भवतण्हा लया वुत्ता, भीमा भीमफलोदया।

तमुद्धित्तु जहाणायं, विहरामि महामुणी॥४८॥

कठिन शब्दार्थ - भवतण्हा - भव तृष्णा, भीमा - भयंकर, भीमफलोदया - भयंकर फल देने वाली, तं - उसको, उद्धितु - उखाड़ कर।

भावार्थ - हे महामुने! संसार में तृष्णा रूपी लता कही गई है। वह अत्यन्त भयंकर है तथा भयंकर फल देने वाली है उसको यथान्याय (जिनशासन की रीति के अनुसार) उच्छेदन कर के सुखपूर्वक विचरता हूँ।

विवेचन - भवतृष्णा रूपी लता के फल विषाक्त एवं दुःखदायक है। गौतमस्वामी ने इस तृष्णा लता को जड़-मूल से उखाड़ कर फैंक दिया है अतः वे सुखपूर्वक विचरण कर रहे हैं।

केशीश्रमण की छठी जिज्ञासा

साहु गोयम! पण्णा ते, छिण्णो मे संसओ इमो।

अण्णोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ॥४६॥

भावार्थ - हे गौतम! तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। तुमने मेरा यह संशय भी दूर कर दिया है। अब मेरा एक अन्य भी संशय-प्रश्न है। हे गौतम! मुझे उसके विषय में भी कुछ कहें अर्थात् उस संशय का भी निवारण करें।

संपज्जलिया घोरा, अग्गी चिट्ठइ गोयमा!।

जे इहंति सरीरत्था, कहं विज्झाविया तुमे? ॥५०॥

कठिन शब्दार्थ - संपज्जलिया - प्रज्वलित, घोरा - घोर, अग्गी - अग्नि, इहंति - जलाती है, सरीरत्था - शरीर में स्थित होकर, विज्झाविया - बुझाया।

भावार्थ - छठा प्रश्न - हे गौतम! भयंकर जलती हुई एक अग्नि है जो शरीर में रह कर आत्मगुणों को जलाती है। आपने किस प्रकार उसे बुझाया है?

गौतम स्वामी का समाधान

महामेहप्पसूयाओ, गिज्झ वारि जलुत्तमं।

सिंचामि सययं ते उ, सित्ता णो व इहंति मे ॥५१॥

कठिन शब्दार्थ - महामेहप्पसूयाओ - महामेघ से प्रसूत, गिज्झ - लेकर, वारि - जल, जलुत्तमं - उत्तम जलों में, सिंचामि - सिंचित करता हूँ, सययं - सतत, सित्ता - सिंचित की हुई।

भावार्थ - गौतमस्वामी कहते हैं कि महामेघ से उत्पन्न हुए जलों में उत्तम जल को ग्रहण करके मैं शरीर में रही हुई उस अग्नि को सतत-निरंतर बुझाता रहता हूँ। इस प्रकार बुझाई हुई वह अग्नि मुझे अर्थात् मेरे आत्म-गुणों को नहीं जलाती है।

अग्नी य इड के वुत्ता? केशी गोयममब्बवी।

केशिमिवं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥५२॥

भावार्थ - केशीकुमार श्रमण गौतमस्वामी से इस प्रकार पूछने लगे कि वह अग्नि कौन-सी कही गई है और महामेघ तथा जल कौन-सा कहा गया है? उपरोक्त प्रकार से प्रश्न करते हुए केशीकुमार श्रमण से गौतमस्वामी इस प्रकार कहने लगे।

कसाया अग्णिणो वुत्ता, सुय-शील-तवो जलं।

सुयधाराभिहया संता, भिण्णा हु ण डहंति मे ॥५३॥

कठिन शब्दार्थ - सुयशील तवो जलं - श्रुत-शील-तप रूप जल, सुयधाराभिहया - श्रुत रूप जल धारा से अभिहत, संता - शान्त, भिण्णा - भिन्न - नष्ट हुई।

भावार्थ - क्रोध-मान-माया-लोभ ये चार कषाय रूप अग्नि कही गई है और श्रुत-शील-तप रूप जल कहा गया है। उस श्रुत रूप जल से सिंचित की जाने पर भिन्न-नष्ट हुई वह अग्नि मुझे नहीं जलाती है।

विवेचन - श्री तीर्थंकर देव, महामेघ के समान हैं। जिस प्रकार मेघ से जल उत्पन्न होता है, उसी प्रकार तीर्थंकर भगवान् के मुखारविन्द से श्रुत-आगम उत्पन्न होता है। उसमें वर्णित श्रुतज्ञान, शील और तप रूप जल है। उस श्रुत-शील और तप रूप जल के छिड़कने से कषाय रूपी अग्नि शान्त हो जाती है, फिर वह आत्मगुणों को नहीं जला सकती है।

केशीश्रमण की सातवीं जिज्ञासा

साहु गोयम! पण्णा ते, छिण्णो मे संसओ इमो।

अण्णोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा! ॥५४॥

भावार्थ - हे गौतम! तुम्हारी प्रश्ना श्रेष्ठ है। तुमने मेरा यह संशय भी दूर कर दिया है। अब मेरा एक अन्य भी संशय-प्रश्न है। हे गौतम! मुझे उसके विषय में भी कुछ कहें अर्थात् मेरे उस प्रश्न का भी समाधान कीजिये।

अयं साहस्सिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावइ।

जंसि गोयम! आरूढो, कंहं तेण ण हीरसि? ॥५५॥

कठिन शब्दार्थ - अयं - यह, साहस्सिओ - साहसिक, दुट्ठस्सो - दुष्ट अश्व, परिधावइ - दौड़ रहा है, आरूढो - चढ़े हुए हो, कंहं ण हीरसि - उन्मार्ग में क्यों न ले जाता?

भावार्थ - सातवाँ प्रश्न - हे गौतम! यह साहसिक और भयानक दुष्ट अश्व (घोड़ा) चारों ओर भागता फिरता है उस पर चढ़े हुए आप उस घोड़े द्वारा उन्मार्ग में क्यों नहीं ले जाये जाते हो अर्थात् वह दुष्ट घोड़ा आपको उन्मार्ग में क्यों नहीं ले जाता?

पहावंतं णिगिण्हामि, सुयरस्सीसमाहियं।

ण मे गच्छइ उम्मगं, मगं च पडिवज्जइ ॥५६॥

कठिन शब्दार्थ - पहावंतं - तेजी से भागते हुए, णिगिण्हामि - वश में करता हूँ, सुयरस्सी समाहियं - श्रुतज्ञान रूपी लगाम से बांध कर, उम्मगं - उन्मार्ग को, पडिवज्जइ - ग्रहण करता है।

भावार्थ - गौतमस्वामी कहते हैं कि हे मुने! उन्मार्ग की ओर जाते हुए उस दुष्ट घोड़े को श्रुतज्ञान रूपी लगाम से बांध कर मैं वश में कर लेता हूँ। इससे वह मुझे उन्मार्ग में नहीं ले जाता है किन्तु सन्मार्ग में ही प्रवृत्ति कराता है।

गौतमस्वामी का समाधान

आसे य इइ के वुत्ते? केसी गोयममब्बवी।

केसिमेवं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥५७॥

कठिन शब्दार्थ - आसे - अश्व।

भावार्थ - केशीकुमार श्रमण गौतमस्वामी से इस प्रकार पूछने लगे कि अश्व - वह घोड़ा कौन-सा कहा गया है? इस प्रकार प्रश्न करते हुए केशीकुमार श्रमण से गौतमस्वामी इस प्रकार कहने लगे।

मणो साहस्सिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावइ।

तं सम्मं तु णिगिण्हामि, धम्मसिक्खाइ कंथगं ॥५८॥

कठिन शब्दार्थ - मणो - मन, साहस्सिओ - साहसिक, भीमो - भीम, दुट्टस्सो - दुष्ट अश्व, परिधावइ - चारों ओर भागता है, सम्मं - सम्यक् प्रकार से, धम्मसिक्खाइ - धर्म की शिक्षा द्वारा।

भावार्थ - मन रूपी साहसिक और भयानक दुष्ट अश्व - दुष्ट घोड़ा चारों ओर भागता रहता है। जिस प्रकार जातिवान घोड़ा शिक्षा द्वारा सुधर जाता है, उसी प्रकार इस मन रूपी घोड़े को सम्यक् प्रकार से धर्म की शिक्षा द्वारा मैं वश में रखता हूँ।

विवेचन - प्रस्तुत गाथा में मनोनिग्रह का सर्वोत्तम उपाय बताते हुए गौतमस्वामी ने कहा कि - मन अत्यंत साहसी और दुष्ट अश्व है अगर इस पर नियंत्रण और सावधानी न रखी जाए तो यह सवार को उन्मार्ग में ले जाता है। अतः जिस प्रकार विशिष्ट जाति के अश्व को अश्ववाहक सुधार लेता है उसी प्रकार मैंने भी मन रूपी अश्व को धर्मशिक्षा द्वारा वश में कर लिया है। इस कारण यह मुझे उत्पथ में नहीं ले जाता है।

केशीश्रमण की आठवीं जिज्ञासा

साहु गोयम! पण्णा ते, छिण्णो मे संसओ इमो।

अण्णोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा! ॥५६॥

भावार्थ - हे गौतम! तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। तुमने मेरा यह संशय भी दूर कर दिया है। अब मेरा एक अन्य भी संशय-प्रश्न है। हे गौतम! मुझे उसके विषय में भी कुछ कहें अर्थात् उस संशय का भी आप समाधान कीजिए।

कुप्पहा बहवो लोए, जेहिं णासंति जंतवो।

अद्धाणे कहं वट्टंतो, तं ण णाससि गोयमा? ॥६०॥

कठिन शब्दार्थ - कुप्पहा - कुपथ, णासंति - भटक जाते हैं, जंतवो (जंतुणो) - प्राणी, अद्धाणे - मार्ग पर, वट्टंतो - चलते हुए।

भावार्थ - आठवाँ प्रश्न - लोक में बहुत-से कुपथ - कुमार्ग हैं जिनसे प्राणी भटक जाते हैं। हे गौतम! सुमार्ग में रहे हुए आप कैसे भटकते नहीं हो - नष्ट भ्रष्ट नहीं होते हो?

जे य मग्गेण गच्छंति, जे य उम्मग्ग-पट्टिया।

ते सव्वे वेइया मज्झं, तो ण णस्सामहं मुणी ॥६१॥

कठिन शब्दार्थ - मग्गेण - मार्ग से, उम्मग्गपट्टिया - उन्मार्ग की ओर प्रयाण करने वाले, वेइया - जान लिया है।

भावार्थ - गौतमस्वामी कहते हैं कि जो सुमार्ग से जाते हैं और जो उन्मार्ग में प्रवृत्ति करते हैं उन सब को मैंने जान लिया है इसलिए हे मुने! मैं सुमार्ग से नष्ट-भ्रष्ट नहीं होता हूँ।

मग्गे य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी।

केसिमेवं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥६२॥

भावार्थ - केशीकुमार श्रमण गौतमस्वामी से इस प्रकार पूछने लगे कि वह सुमार्ग और कुमार्ग कौन-सा कहा गया है? इस प्रकार प्रश्न करते हुए केशीकुमार श्रमण से गौतमस्वामी इस प्रकार कहने लगे।

गौतमस्वामी का समाधान

कुप्पवयण-पासंडी, सव्वे उम्मग्ग-पट्टिया।

सम्मग्गं तु जिणक्खायं, एस मग्गे हि उत्तमे ॥६३॥

कठिन शब्दार्थ - कुप्पवयणपासंडी - कुप्रवचन को मानने वाले पाषण्डी, सम्मग्गं - सन्मार्ग, जिणक्खायं - जिनेन्द्र कथित, मग्गे - मार्ग, उत्तमे - उत्तम।

भावार्थ - जो कुप्रवचन को मानने वाले पाषण्डी (व्रतधारी लोग) लोग हैं वे सभी उन्मार्ग में प्रवृत्ति करने वाले हैं। जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित मार्ग ही सन्मार्ग है। इसलिए यह मार्ग ही उत्तम है।

विवेचन - जितने भी कुप्रवचन मतवादी अर्थात् जिनेन्द्र प्रवचन पर श्रद्धा न रखने वाले एकान्तवादी व्रती लोग हैं, वे सब उन्मार्ग गामी हैं, उनका एकान्तवादी कथन उन्मार्ग है। सन्मार्ग तो रागद्वेष आदि दोषों से रहित यथार्थ वक्ता आप्त पुरुष - जिनेन्द्र देव द्वारा कथित है।

केशी स्वामी की नौवीं जिज्ञासा

साहु गोयम! पण्णा ते, छिण्णो मे संसओ इमो।

अण्णोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा! ॥६४॥

भावार्थ - हे गौतम! तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। तुमने मेरा यह संशय भी दूर कर दिया है।

अब मेरा एक अन्य भी संशय-प्रश्न है। हे गौतम! मुझे उसके विषय में भी कुछ कहें अर्थात् उस संशय का भी निवारण कीजिए।

महा-उदगवेगेण, वुज्झमाणाण पाणिणं।

सरणं गई पइट्ठा य, दीवं कं मण्णसि मुणी? ॥६५॥

कठिन शब्दार्थ - महाउदगवेगेण - महान् जल प्रवाह के वेग से, वुज्झमाणाण - बहते-डूबते, पाणिणं - प्राणियों के लिए, सरणं - शरण रूप, गई - गति रूप, पइट्ठा - प्रतिष्ठा रूप, दीवं - द्वीप, कं मण्णसि - किसे मानते हो?

भावार्थ - नौवां प्रश्न - केशीकुमार श्रमण पूछते हैं कि हे मुने! पानी के महान् प्रवाह द्वारा वाह्यमान - बहाये जाते हुए प्राणियों के लिए शरण रूप तथा गति रूप और प्रतिष्ठा रूप अर्थात् दुःख से पीड़ित प्राणी जिसका आश्रय ले कर सुख पूर्वक रह सकें, ऐसा द्वीप आप किसे मानते हैं?

अत्थि एगो महादीवो, वारिमज्झे महालओ।

महाउदगवेगस्स, गई तत्थ ण विज्जइ ॥६६॥

कठिन शब्दार्थ - महादीवो - महाद्वीप, वारिमज्झे - जल के मध्य, महालओ - विशाल, महाउदगवेगस्स - महान् उदक के वेग की, ण विज्जइ - नहीं होती।

भावार्थ - पानी (समुद्र) के मध्य में बहुत ऊँचा एवं विस्तृत एक महाद्वीप है उस पर पानी के महान् प्रवाह की गति नहीं है अर्थात् उस महाद्वीप में जल का प्रवेश नहीं हो सकता।

गौतम द्वारा समाधान

दीवे य इइ के वुत्ते? केसी गोयममब्बवी।

केसिमेवं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥६७॥

भावार्थ - केशीकुमार श्रमण गौतमस्वामी से इस प्रकार पूछने लगे कि वह द्वीप कौन-सा कहा गया है? उपरोक्त प्रकार से प्रश्न करते हुए केशीकुमार श्रमण से गौतमस्वामी इस प्रकार कहने लगे।

जरामरणवेगेणं, वुज्झमाणाण पाणिणं।

धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं ॥६८॥

कठिन शब्दार्थ - धम्मो दीवो - धर्म रूपी द्वीप।

भावार्थ - जरा (बुढ़ापा) और मरण के वेग से प्रवाहित होते हुए प्राणियों के लिए धर्म रूपी द्वीप है वह गति रूप है और उत्तम शरण रूप है तथा प्रतिष्ठा रूप है अर्थात् धर्म ही एक ऐसा द्वीप है जिसका आश्रय ले कर प्राणी संसार रूपी समुद्र से पार हो सकते हैं।

विवेचन - इसका तात्पर्य यह है कि जैसे महाद्वीप में जल के वेग का प्रवेश नहीं होता, तद्वत् श्रुत और चारित्र रूप महाद्वीप में जन्म, जरा और मृत्यु आदि भी प्रविष्ट नहीं हो सकते। कारण मोक्ष में इनका सर्वथा अभाव है। इसलिए संसार रूप समुद्र के जरा-मरणादि रूप जल प्रवाह में बहते हुए प्राणियों को इसी धर्म रूप महाद्वीप का सहारा है और इसी की शरण में जाना परमोत्तम है।

साहु गोयम! पण्णा ते, छिण्णो मे संसओ इमो।

अण्णोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा! ॥६६॥

भावार्थ - हे गौतम! तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। तुमने मेरा यह संशय भी दूर कर दिया है। अब मेरा एक अन्य भी संशय-प्रश्न है। हे गौतम! मुझे उसके विषय में भी कुछ कहें अर्थात् उसका भी समाधान करें।

केशी श्रमण की दसवीं जिज्ञासा

अण्णवंसि महोहंसि, णावा विपरिधावइ।

जंसि गोयम आरूढो, कहं पारं गमिस्ससि? ॥७०॥

कठिन शब्दार्थ - अण्णवंसि - अर्णव-समुद्र में, महोहंसि - महाओघ-प्रवाह वाले, णावा - नाव, कहं - कैसे, पारं - पार, गमिस्ससि - जा सकोगे, आरूढो - चढ़े हुए।

भावार्थ - दसवाँ प्रश्न - महाओघ अर्थात् महाप्रवाह वाले अर्णव-समुद्र में एक नौका विपरीत दिशा में - इधर-उधर जा रही है। हे गौतम! उस पर चढ़े हुए आप कैसे पार जाओगे?

गौतम का समाधान

जा उ अस्साविणी णावा, ण सा पारस्स गामिणी।

जा णिरस्साविणी णावा, सा उ पारस्स गामिणी ॥७१॥

कठिन शब्दार्थ - जा - जो, णावा - नाव (नौका), अस्साविणी - छिद्र युक्त, पारस्सगामिणी - पार ले जाने वाली, णिरस्साविणी - छिद्र रहित।

भावार्थ - गौतमस्वामी कहते हैं कि जो नौका आस्रव (छिद्रों) वाली होती है वह कभी पार ले जाने वाली नहीं होती, अपितु वह स्वयं समुद्र में डूब जाती है और उसमें बैठे हुए मनुष्यों को भी डूबा देती है किन्तु जो नौका निर्आस्रव छिद्रों रहित है वह अवश्य ही पार ले जाने वाली होती है।

णावा य इइ का वुत्ता? केसी गोयममब्बवी।

केसिमेवं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी॥७२॥

भावार्थ - केशीकुमार श्रमण गौतमस्वामी से इस प्रकार पूछने लगे कि वह नौका कौन-सी कही गई है? उपरोक्त प्रकार से प्रश्न करते हुए केशीकुमार श्रमण से गौतमस्वामी इस प्रकार कहने लगे।

सरीरमाहु णावत्ति, जीवो वुच्चइ णाविओ।

संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो॥७३॥

कठिन शब्दार्थ - सरीरं - शरीर को, आहु - कहा है, णाविओ - नाविक, अण्णवो-अर्णव-समुद्र, वुत्तो - कहा गया है, तरंति - तैर जाते हैं, महेसिणो - महर्षि।

भावार्थ - तीर्थंकर देव ने इस शरीर को नौका कहा है और जीव नाविक-नौका को चलाने वाला कहा जाता है तथा संसार अर्णव-समुद्र कहा गया है जिसे महर्षि लोग तिर कर पार हो जाते हैं।

विवेचन - यह शरीर ज्ञान-दर्शन-चारित्र का अथवा जीव (आत्मा) का आधारभूत है। शरीर जब नौका है तो शरीर के अधिष्ठाता जीव को नाविक ही कहा जाएगा। क्योंकि शरीर रूपी नौका का संचालन जीव के द्वारा ही हो सकता है। संसार रूपी समुद्र भयंकर है जिसमें जन्म-जरा-मरण आदि रूप अगाध जल है। नौका जैसे संसारी जीवों को समुद्र पार ले जाती है उसी प्रकार जिनकी शरीर रूपी नौका आस्रव-छिद्र रहित होती है उन्हें यह संसार समुद्र के पार ले जाती है।

केशीश्रमण की ग्यारहवीं जिज्ञासा

साहु गोयम! पण्णा ते, छिण्णो मे संसओ इमो।

अण्णोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा!॥७४॥

भावार्थ - हे गौतम! तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। तुमने मेरा यह संशय भी दूर कर दिया है। अब मेरा एक अन्य भी संशय-प्रश्न है। हे गौतम! मुझे उसके विषय में भी कुछ कहें अर्थात् उस प्रश्न का भी समाधान कीजिए।

अंधयारे तमे घोरे, चिट्ठंति पाणिणो बहू।

को करिस्सइ उज्जोयं, सव्वलोयम्मि पाणिणं॥७५॥

कठिन शब्दार्थ - अंधयारे - अन्धकार में, तमे - तम, घोरे - घोर-भयंकर, चिट्ठंति- रह रहे हैं, पाणिणो - प्राणियों के लिए, करिस्सइ - करेगा, उज्जोयं - उद्योत (प्रकाश), सव्वलोयम्मि - समग्र लोक में।

भावार्थ - ग्यारहवाँ प्रश्न - जहाँ आँखों की प्रवृत्ति रुक जाने से पुरुष अन्धे के समान बन जाता है ऐसे घोर अन्धकार में बहुत से प्राणी रहते हैं। उन प्राणियों के लिए सम्पूर्ण लोक में कौन उद्योत (प्रकाश) करेगा?

गौतम स्वामी का समाधान

उग्गओ विमलो भाणू, सव्वलोय-पभंकरो।

सो करिस्सइ उज्जोयं, सव्वलोयम्मि पाणिणं॥७६॥

कठिन शब्दार्थ - उग्गओ - उदित हो चुका है, विमलो - निर्मल, भाणू - सूर्य, सव्वलोयपभंकरो - समग्र लोक में प्रकाश करने वाला।

भावार्थ - गौतमस्वामी कहते हैं कि सम्पूर्ण लोक में प्रकाश करने वाला एक निर्मल भानु-सूर्य उदय हुआ है वह प्राणियों के लिए सारे लोक (संसार) में उद्योत करेगा।

भाणू य इइ के बुत्ते, केसी गोयममव्ववी।

केसिमेवं बुवंतं तु, गोयमो इणमव्ववी॥७७॥

भावार्थ - केशीकुमार श्रमण गौतमस्वामी से इस प्रकार पूछने लगे कि वह सूर्य कौन-सा

कहा गया है? उपरोक्त प्रकार से प्रश्न करते हुए केशीकुमार श्रमण से गौतमस्वामी इस प्रकार कहने लगे।

उगओ खीणसंसारो, सव्वण्णू जिणभक्खरो।

सो करिस्सइ उज्जोयं, सव्वलोयम्मि पाणिणं ॥७८॥

कठिन शब्दार्थ - खीणसंसारो - जिसका संसार क्षीण हो चुका है, सव्वण्णू - सर्वज्ञ, जिणभक्खरो - जिन भास्कर।

भावार्थ - क्षीण हो गया है संसार जिसका अर्थात् संसार के मूलभूत कर्मों का क्षय कर देने वाला सर्वज्ञ जिनेन्द्र भगवान् रूपी भास्कर (सूर्य) उदय हुआ है वह प्राणियों के लिए सम्पूर्ण लोक में उद्योत-प्रकाश करेगा।

विवेचन - जैसे सूर्य अंधकार को दूर करके जग को प्रकाशित करता है उसी प्रकार जंगत् में फैले हुए घोर अज्ञान अन्धकार से व्याप्त प्राणियों को उदित हुआ निर्मल ज्ञान सूर्य ही ज्ञान का प्रकाश देता है। तीर्थंकर ऐसे ही निर्मल सूर्य हैं जिनका ज्ञान किसी भी वस्तु से कदापि आवृत्त नहीं होता।

इसके अतिरिक्त उक्त गाथा में प्रतीत होता है कि भगवान् वर्धमान स्वामी के समय में इस आर्य भूमि में अज्ञानता और अंधविश्वास का अधिक प्राबल्य था। बहुत से भव्य जीव अज्ञानता के अंधकारमय भयानक जंगल में भटक रहे थे। इन सब कुसंस्कारों को जिनेन्द्र भगवान् श्री वर्धमान स्वामी ने दूर किया।

केशीश्रमण की बारहवीं जिज्ञासा

साहु गोयम! पण्णा ते, छिण्णो मे संसओ इमो।

अण्णोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा! ॥७९॥

भावार्थ - हे गौतम! तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। तुमने मेरा यह संशय भी दूर कर दिया है। अब मेरा एक अन्य भी संशय-प्रश्न है। हे गौतम! मुझे उसके विषय में भी कुछ कहें अर्थात् मेरी उस जिज्ञासा का भी समाधान कीजिए।

सारीरमाणसे दुक्खे, बज्झमाणण पाणिणं।

खेमं सिव-मणाबाहं, ठाणं किं मण्णसि मुणी! ॥८०॥

कठिन शब्दार्थ - सारीरमाणसे दुक्खे - शारीरिक और मानसिक दुःखों से, बज्झमाणण पाणिणं - पीड़ित (बाधित) प्राणीगण के लिए, खेमं - क्षेमकर, सिवं - शिव रूप (शिवंकर), अणाबाहं - निराबाध - बाधा रहित, ठाणं - स्थान को, कं - किसे, मण्णसि - मानते हो।

भावार्थ - बारहवाँ प्रश्न - हे मुने! शारीरिक और मानसिक दुःखों से बाध्यमान - पीड़ित होते हुए अथवा आकुल-व्याकुल बने हुए प्राणियों के लिए क्षेम रूप, शिव रूप और बाधा-पीड़ा रहित स्थान आप कौन-सा मानते हैं?

विवेचन - खेमं सिवं अणाबाहं: क्षेमं-व्याधि आदि से रहित, शिवं - जरा उपद्रव से रहित, अनाबाध - शत्रुजन का अभाव होने से स्वाभाविक रूप से पीड़ा रहित।

गौतम स्वामी का समाधान

अत्थि एगं धुवं ठाणं, लोगगम्मि दुरारुहं।

जत्थ णत्थि जरामच्चू, वाहिणो वेयणा तथा ॥८१॥

कठिन शब्दार्थ - धुवं - ध्रुव, लोगगम्मि - लोक के अग्रभाग पर, दुरारुहं - दुरारुह-पहुँचने में बहुत कठिन, जरा - जरा - बुढ़ापा, मच्चू - मृत्यु, वाहिणो - व्याधि, वेयणा - वेदना।

भावार्थ - गौतमस्वामी कहते हैं कि लोक के अग्रभाग पर एक ध्रुव (निश्चल) स्थान है जहाँ बुढ़ापा, मृत्यु, व्याधि तथा वेदना नहीं है किन्तु वह स्थान दुरारुह है अर्थात् उस स्थान तक पहुँचना बड़ा कठिन है।

ठाणे य इइ के वुत्ते? केसी गोयममब्बवी।

केसिमेवं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥८२॥

कठिन शब्दार्थ - ठाणे - स्थान।

भावार्थ - केशीकुमार श्रमण गौतमस्वामी से इस प्रकार पूछने लगे कि वह स्थान कौन-सा कहा गया है? उपरोक्त प्रकार से प्रश्न करते हुए केशीकुमार श्रमण से गौतमस्वामी इस प्रकार कहने लगे।

णिव्वाणं ति अब्बाहं ति, सिद्धी लोगगमेव य।

खेमं सिवं अणाबाहं, जं चरंति महेसिणो ॥८३॥

कठिन शब्दार्थ - णिव्वाणं - निर्वाण, अबाहं - अव्याबाध, सिद्धी - सिद्धि, महेसिणो-महर्षि।

भावार्थ - गौतमस्वामी केशीकुमार श्रमण से कहते हैं कि हे मुने! निर्वाण, अव्याबाध सिद्धि, क्षेम, शिव और अनाबाध इत्यादि नामों से कहा जाता है और वह स्थान लोकाग्र पर स्थित है उस स्थान को महर्षि (महात्मा) लोग प्राप्त करते हैं।

विवेचन - केशीकुमार के प्रश्न का उत्तर देते हुए गौतम स्वामी कहते हैं कि वह स्थान निर्वाण के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें सर्वप्रकार के कषायों से निवृत्त होकर परम शांत अवस्था को प्राप्त होने से इसको निर्वाण कहते हैं तथा इसमें सर्व प्रकार की शारीरिक और मानसिक बाधाओं का अभाव होने से इसका 'अव्याबाध' नाम भी है एवं सर्वकार्यों की इसमें सिद्धि हो जाने से इसका 'सिद्धि' नाम भी है। लोक के अग्र-अन्त भाग में होने से इसको 'लोकाग्र' के नाम से भी पुकारते हैं। इसमें पहुँचने से किसी प्रकार का भी कष्ट न होने तथा परम आनंद की प्राप्ति होने से इसको 'क्षेम' और 'शिवरूप' तथा 'अनाबाध' भी कहते हैं। परन्तु इस स्थान को पूर्ण रूप से संयम का पालन करने वाले महर्षि लोग ही प्राप्त करते हैं। क्योंकि यह स्थान सर्वोत्तम और सर्वोच्च तथा सबके लिए उपादेय है।

तं ठाणं सासयं वासं, लोगगाम्मि दुरारुहं।

जं संपत्ता ण सोयंति, भवोहंतकरा मुणी॥८४॥

कठिन शब्दार्थ - सासयं वासं - शाश्वत वास, संपत्ता ण सोयंति - संप्राप्त करके शोक मुक्त हो जाते हैं; भवोहंतकरा - भव प्रवाह का अंत करने वाले।

भावार्थ - वह स्थान आत्मा का शाश्वत वास है। लोक के अग्रभाग पर स्थित है वह दुरारुह है अर्थात् वहाँ पर पहुँचना अत्यन्त कठिन है। नरकादि भवों की परम्परा का अन्त करने वाले मुनि उस स्थान को प्राप्त होते हैं और वहाँ पहुँचने पर शोक नहीं करते अर्थात् वहाँ पहुँचने के बाद शोक, क्लेश, जन्म, जरा आदि दुःख कभी भी नहीं होते फिर कभी संसार में नहीं आना पड़ता।

विवेचन - प्रस्तुत गाथाओं में शाश्वत सुख स्थान-मोक्ष विषयक जानकारी दी गई है।

बहुत से दार्शनिक मोक्ष को नहीं मानते, स्वर्ग तक ही उनकी अंतिम दौड़ है। कुछ नास्तिक स्वर्ग को भी नहीं मानते, वे इसी लोक में-यहीं सब कुछ मानते हैं। कुछ आस्तिक

मोक्ष को तो मानते हैं परन्तु उनके द्वारा मान्य मोक्ष का स्वरूप बिलकुल भिन्न और विचित्र है तथा मोक्ष प्राप्ति के लिए जिन अनुष्ठानों का वे निर्देश करते हैं वे भी यथार्थ नहीं हैं। इसीलिए जैन दर्शन सम्मत अंतिम शाश्वत सुखमय स्थान-मोक्ष क्या है, कैसा है, कैसे प्राप्त होता है, इसका स्पष्टीकरण गौतमस्वामी द्वारा इन गाथाओं में किया गया है।

केशी श्रमण की गौतमस्वामी के प्रति कृतज्ञता

साहु गोयम! पण्णा ते, छिण्णो मे संसओ इमो।

णमो ते संसयातीत! सब्बसुत्तमहोयही ॥८५॥

कठिन शब्दार्थ - पण्णा - प्रज्ञा-बुद्धि, छिण्णो - छिन्न, मे - मेरे, इमो - इन, संसओ - संशय, संसयातीत - संशयातीत - संशय रहित, सब्बसुत्तमहोयही - सर्वसूत्रमहोदधि।

भावार्थ - केशीकुमार श्रमण कहने लगे कि हे गौतम! आपकी प्रज्ञा-बुद्धि बहुत उत्तम है, आपने मेरे इन संशयों को छिन्न-दूर कर दिया है। हे संशयातीत - संशय रहित! हे सर्वसूत्रमहोदधि! अर्थात् सर्वशास्त्रों के ज्ञाता! आपको नमस्कार करता हूँ।

केशीश्रमण का वीरशासन प्रवेश

एवं तु संसए छिण्णे, केसी घोरपरक्कमे।

अभिवंदित्ता सिरसा, गोयमं तु महायसं ॥८६॥

पंचमहव्वयधम्मं पडिवज्जइ भावओ।

पुरिमस्स पच्छिमम्मि, मग्गे तत्थ सुहावहे ॥८७॥

कठिन शब्दार्थ - घोरपरक्कमे - घोरपराक्रमी, अभिवंदित्ता - अभिवंदन कर, सिरसा-सिर से, महायसं - महायशस्वी, पंचमहव्वयधम्मं - पांच महाव्रत रूप धर्म को, पडिवज्जइ-स्वीकार किया, भावओ - भाव से, पुरिमस्स पच्छिमम्मि - प्रथम तीर्थंकर के एवं अंतिम तीर्थंकर के द्वारा उपदिष्ट, मग्गे - मार्ग में, सुहावहे - सुखावह।

भावार्थ - इस प्रकार संशय दूर हो जाने पर घोर पराक्रम वाले केशीकुमार श्रमण ने महायशस्वी गौतम स्वामी को शिर से-मस्तक झुकाकर वंदना करके (हाथ जोड़ कर तथा शिर झुका कर) वहीं तिन्दुक वन में पाँच महाव्रत रूप धर्म को भाव पूर्वक अंगीकार किया और वे

उस सुखकारी मार्ग में विचरण करने लगे जो प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर देवों के साधुओं के लिए प्ररूपित किया गया है।

विवेचन - प्रस्तुत दो गाथाओं में केशीकुमार श्रमण के विनय धर्म का आदर्श चित्र प्रस्तुत किया गया है जिसमें कृतज्ञता प्रकाशन, ज्ञानी महापुरुष के गुणगान, वंदन, नमन आदि गुण गर्भित हैं। साथ ही उनमें सरलता, सत्यप्रियता, निष्पक्षता आदि मुनिजनोचित गुणों का परिचय भी विशेष रूप से मिल रहा है जो प्रत्येक मुमुक्षु एवं स्व-पर कल्याणकारी साधु साध्वियों के लिये मननीय एवं अनुकरणीय है।

प्रथम तीर्थंकर जब मोक्ष चले जाते हैं तब लम्बे समय तक उनकी पाट परम्परा चलती है। जब उनमें केवलज्ञानी नहीं रहते किन्तु छद्मस्थ शिष्यानुशिष्य रहते हैं, उन्हीं दिनों दूसरे तीर्थंकर को केवलज्ञान हो जाता है तब उनका - दूसरे तीर्थंकर का शासन चलता है। उस समय प्रथम तीर्थंकर के साधुओं का दूसरे तीर्थंकर अथवा उनके शिष्यों के साथ मिलन होता है तब चर्चा वार्ता होने के बाद वे दूसरे तीर्थंकर के शासन में चले जाते हैं। इसी प्रकार तेवीसवें तीर्थंकर के साधु साध्वी भी चौबीसवें तीर्थंकर के साधुओं के साथ मिलन होने पर चर्चा वार्ता के बाद उनकी शंका का समाधान हो जाने पर वे चौबीसवें तीर्थंकर का शासन स्वीकार कर लेते हैं। जैसा कि यहाँ कुमार श्रमण केशी स्वामी ने किया है। यदि पूर्व साधु-साध्वी से मिलान न हो तो भी वे आराधक ही होते हैं और यावत् केवलज्ञानी होकर मोक्ष भी प्राप्त कर लेते हैं। मिलान होने पर भी मान कषाय आदि के कारण दूसरे तीर्थंकर का शासन स्वीकार न करें तो विराधक भी बन जाते हैं।

इस प्रकार केशीकुमार श्रमण के मन, वाणी द्वारा किये गये विनय का वर्णन करके अब उनके कायिक विनय का दिग्दर्शन कराते हुए साथ में उक्त शास्त्रार्थ के परिणाम का भी वर्णन करते हैं। यथा -

धर्मचर्चा की फलश्रुति

केसीगोयमओ णिच्चं, तम्मि आसी समागमे।

सुय-सील-समुक्कसो, महत्थत्थ-विणिच्छओ ॥८८॥

कठिन शब्दार्थ - सुयसीलसमुक्कसो - श्रुत और शील का समुत्कर्ष, महत्थत्थ-विणिच्छओ - महार्थ (मुक्ति रूप महान् अर्थ पुरुषार्थ) के अर्थों का विनिश्चय।

भावार्थ - उस तिन्दुक उद्यान में केशीकुमार श्रमण और गौतमस्वामी का जो नित्य समागम हुआ, उससे श्रुत और चारित्र की वृद्धि करने वाले महार्थार्थ - महान् पदार्थों का निर्णय हुआ।

विवेचन - श्री केशीकुमार श्रमण और उनके शिष्य तथा श्री गौतम स्वामी और उनके शिष्य जब तक श्रावस्ती नगरी में रहे तब तक नित्य प्रति उनका समागम (मिलन) होता रहा।

उपसंहार

तोसिया परिसा सव्वा, सम्मगं समुवट्टिया।

संथुया ते पसीयंतु, भयवं केसीगोयमे ॥८६॥ त्तिबेमि ॥

कठिन शब्दार्थ - तोसिया - संतुष्ट, सव्वा परिसा - सारी परिषद्, सम्मगं - सन्मार्ग में, समुवट्टिया - समुपस्थित - समुद्यत, संथुया - स्तुति की, पसीयंतु - प्रसन्न हो।

भावार्थ - सर्व देव, असुर और मनुष्यों से युक्त वह सारी सभा अत्यन्त संतुष्ट हुई और सभी सन्मार्ग में प्रवृत्त हुए तथा वे सभी स्तुति करने लगे कि भगवान् केशीकुमार और गौतमस्वामी सदा प्रसन्न रहें एवं जयवंत रहें। कुमार श्रमण केशीस्वामी और गौतमस्वामी दोनों महापुरुष कर्म क्षय कर मोक्ष पधार गये हैं। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - केशीश्रमण और गौतमस्वामी की धर्मचर्चा से निम्न मुख्य लाभ हुए -

१. श्रुत और शील (शास्त्र ज्ञान और चारित्र) का समुत्कर्ष हुआ।
२. मोक्ष पुरुषार्थ में साधन रूप शिक्षा, व्रत आदि नियमों तथा तत्त्व आदि का निर्णय हुआ।
३. देव, असुर, दानव, मानव सहित समग्र परिषद् संतुष्ट हुई और
४. सम्यक् मार्ग (मोक्ष मार्ग) में प्रवृत्त होने के लिए उद्यत हुई

वास्तव में महापुरुषों के संवाद में किये गये तत्त्व निर्णय से अनेक भव्य पुरुषों को लाभ पहुँचता है। इसलिए परिषद् के द्वारा इन दोनों महापुरुषों की स्तुति का किया जाना सर्वथा समुचित है। इस संदर्भ में प्रथम दो प्रश्नों को छोड़कर शेष दस प्रश्नों के गुप्तोपमालंकार से वर्णन किया गया है ताकि श्रोताओं को प्रश्न विषयक स्फुट उत्तर जानने की पूरी इच्छा बनी रहे। इसके अतिरिक्त 'त्ति बेमि' की व्याख्या पूर्व की ही भांति समझ लेनी चाहिये।

॥ केशि गौतमीय नामक तेईसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

पवयणमाया णामं चउवीसइमं अज्झयणं प्रवचन-माता नामक चौबीसवां अध्ययन

प्रस्तुत अध्ययन में पंच महाव्रतों की रक्षा व अनुपालना करने वाली पांच समिति और तीन गुप्ति रूप अष्ट प्रवचन माता का वर्णन है जिसमें संयमी-जीवन विवेक और यतना के साथ मन, वचन, काया के संगोपन का भी उपदेश है।

जिस प्रकार माता अपने पुत्र की देखभाल, पालन पोषण संवर्द्धन एवं संरक्षण करती है उसी प्रकार ये आठ प्रवचन माताएं भी द्वादशांगी प्रवचन की अथवा ज्ञातपुत्र निर्ग्रंथ भगवान् महावीर स्वामी के प्रवचन का संवर्द्धन, रक्षण, पालन, पोषण एवं देखभाल करती है। ये वात्सल्यमयी माताएं ही वस्तुतः कल्याणकारिणी हैं। साधु साध्वियों के संयमी जीवन का पोषण करने वाली हैं। इन्हीं में द्वादशांगी प्रवचनों का समावेश हो जाता है।

पांच समितियों से उचित, शुभ एवं शुद्ध प्रवृत्तियों में प्रवृत्ति होती है साथ ही अशुभ प्रवृत्तियों से निवृत्ति भी होती है जबकि तीन गुप्तियों में मुख्यतया मन, वचन, काया की अशुभ प्रवृत्तियों पर रोक है, नियंत्रण है किंतु गौण रूप से हित, मित, तथ्य-पथ्यमय प्रवृत्ति का विधान भी है।

इस अध्ययन की प्रथम गाथा इस प्रकार है -

अष्ट प्रवचन माताओं के नाम

अट्ट पवयण-मायाओ, समिई गुत्ती तहेव य।

पंचेव य समिईओ, तओ गुत्तीउ आहिया ॥१॥

कठिन शब्दार्थ - अट्ट - आठ, पवयणमायाओ - प्रवचन माता, समिई - समिति, गुत्ती - गुप्ति, पंचेव - पांच, तओ - तीन, आहिया - कही गई है।

भावार्थ - समिति और गुप्ति ये आठ प्रवचन-माता हैं। समितियाँ पाँच और गुप्तियाँ तीन कही गई हैं।

ईरिया-भासे-सणादाणे, उच्चारे समिई इय।

मणगुत्ती वयगुत्ती, कायगुत्ती य अट्टमा ॥२॥

कठिन शब्दार्थ - ईरिया-भासे-सणादाणे - ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान निक्षेपणा समिति, उच्चारेसमिई - उच्चार प्रस्रवण समिति, मणगुत्ती - मन गुप्ति, वय गुत्ती - वचन गुप्ति, अट्टमा - आठवीं, कायगुत्ती - काय गुप्ति।

भावार्थ - ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदानभांडमात्र-निक्षेपणा समिति और उच्चार-प्रस्रवण-जल्ल-मल-सिंघाण-परिस्थापनिका समिति ये पाँच समितियाँ हैं। मन गुप्ति, वचन गुप्ति और कायगुप्ति आठवीं है। ये आठ प्रवचन माताएँ हैं।

एयाओ अट्ट समिईओ, समासेण वियाहिया।

दुवालसंगं जिणक्खायं, मायं जत्थ उ पवयणं॥३॥

कठिन शब्दार्थ - एयाओ - ये, समासेण - संक्षेप से, वियाहिया - कही गई है, दुवालसंगं - द्वादशांग रूप, जिणक्खायं - जिनेन्द्र कथित, मायं - समाया हुआ-अंतर्भूत है, पवयणं - प्रवचन।

भावार्थ - ये पाँच समिति और तीन गुप्ति रूप अष्ट प्रवचन-माता संक्षेप से कही गई है। जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कथित द्वादशांग रूप प्रवचन इन्हीं में समाया हुआ है, इसलिए ये 'प्रवचन-माता' कहलाती है।

विवेचन - ये आठ समितियाँ यहाँ संक्षेप में बतलाई गई है। शास्त्र विधि के अनुसार आत्मा की प्रवृत्ति गुप्तियों में भी है। इसलिए शास्त्रकार ने यहाँ समिति शब्द से गुप्तियों को भी ग्रहण कर लिया है। इसलिए आठ समिति कही गई है। तीर्थंकर भगवान् द्वारा प्रतिपादित द्वादशांग रूप प्रवचन का इन समितियों में अन्तर्भाव हो जाता है। क्योंकि समिति गुप्ति चारित्र रूप है और जहाँ चारित्र है वहाँ सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन अवश्य है। अतः ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप द्वादशांग का समिति गुप्ति में अन्तर्भाव हो जाता है, ऐसा कहा गया है। जिसमें समावेश हो जाता है वह माता कहलाती है। द्वादशाङ्ग का इसमें समावेश हो जाने से समिति गुप्ति को प्रवचन की माता कहा है।

जैसे द्रव्य माता, पुत्र को जन्म देती है वैसे ही भाव माता समिति गुप्ति रूप हैं, प्रवचन को जन्म देती है। माता की तरह ये प्रवचन की सब प्रकार से रक्षा भी करती है। जैसे माता पुत्र के प्रति वात्सल्य रखती है वैसे ही ये आठ प्रवचन माताएं साधु जीवन की कल्याणकारिणियाँ हैं। इसीलिये जिनेन्द्रों ने इन्हें श्रमण की भी माताएं बताई हैं।

ईर्या समिति का स्वरूप

आलंबणेण कालेण, मग्गेण जयणाइ य।

चउकारण-परिसुद्धं, संजए ईरियं रिए ॥४॥

कठिन शब्दार्थ - आलंबणेण - आलम्बन से, कालेण - काल से, मग्गेण - मार्ग से, जयणाइ - यतना से, चउकारणपरिसुद्धं - चार कारणों से परिशुद्ध, संजए - संयत, ईरियं - ईर्यासमिति में, रिए - विचरण करे।

भावार्थ - आलम्बन, काल, मार्ग और यतना इन चार कारणों से शुद्ध ईर्यासमिति से संयत-साधु गमन करे।

तत्थ आलंबणं णाणं, दंसणं चरणं तहा।

काले य दिवसे वुत्ते, मग्गे उप्पहवजिए ॥५॥

कठिन शब्दार्थ - णाणं - ज्ञान, दंसणं - दर्शन, चरणं - चारित्र, तहा - तथा, काले-काल, दिवसे - दिवस, वुत्ते - कहा गया है, मग्गे - मार्ग, उप्पहवजिए - उत्पथ वर्जित।

भावार्थ - ईर्यासमिति के लिए ज्ञान-दर्शन और चारित्र आलम्बन है। काल दिवस (दिन) कहा गया है और मार्ग उत्पथ वर्जित (सुमार्ग) कहा गया है।

विवेचन - ज्ञान दर्शन और चारित्र ईर्यासमिति में आलंबन (कारण) हैं। इन्हीं का आलम्बन लेकर साधु को गमन करना चाहिये। दिवस, ईर्यासमिति का काल है अर्थात् साधु को दिन में ही गमन करना चाहिए। रात्रि में ईर्या शुद्ध नहीं होती। इसलिए रात्रि में साधु को बाहर गमन करने की मनाई है। उत्पथ को छोड़ कर साधु को सुमार्ग से गमन करना चाहिए, क्योंकि कुमार्ग में जाने से संयम की विराधना होने की संभावना रहती है।

चार प्रकार की यतना

दव्वओ खेत्तओ चेव, कालओ भावओ तहा।

जयणा चउव्विहा वुत्ता, तं मे कित्तयओ सुण ॥६॥

कठिन शब्दार्थ - दव्वओ - द्रव्य से, खेत्तओ - क्षेत्र से, कालओ - काल से, भावओ - भाव से, जयणा - यतना, चउव्विहा - चार प्रकार की, वुत्ता - कही गई है, कित्तयओ - कीर्तन-वर्णन करूंगा, सुण - सुनो।

भावार्थ - द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से यतना चार प्रकार की कही गई है। उनका मैं कीर्तन-वर्णन करूँगा। तुम ध्यानपूर्वक सुनो।

दव्वओ चक्खुसा पेहे, जुगमित्तं च खेत्तओ।

कालओ जाव रीइज्जा, उवउत्ते य भावओ॥७॥

कठिन शब्दार्थ - चक्खुसा - आँखों से, पेहे - देखकर, जुगमित्तं - युगमात्र - शरीर या गाड़ी के जुए जितना लम्बा क्षेत्र-चार हाथ प्रमाण, रीइज्जा - चले, उवउत्ते - उपयोगपूर्वक।

भावार्थ - द्रव्य की अपेक्षा आँखों से जीवादि द्रव्यों को देख कर चले। यह 'द्रव्य उपयोग' कहलाता है और क्षेत्र से युगप्रमाण (चार हाथ भूमि) आगे देख कर चले। यह 'क्षेत्र उपयोग' कहलाता है। काल से जब तक चले अर्थात् जब तक दिन रहे तब तक यतनापूर्वक चले। यह 'काल उपयोग' कहलाता है और भाव से उपयोग पूर्वक चले अर्थात् चलते समय अपने उपयोग को ठीक रखना 'भाव उपयोग' कहलाता है।

इंदियत्थे विवज्जित्ता, सज्झायं चव पंचहा।

तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे, उवउत्ते रियं रिए॥८॥

कठिन शब्दार्थ - इंदियत्थे - इन्द्रियार्थ - इन्द्रियों के विषय, विवज्जित्ता - छोड़ कर, सज्झायं - स्वाध्याय, तम्मुत्ती - तन्मूर्ति - उसी में तन्मय होकर, तप्पुरक्कारे - उसी को सम्मुख (आगे) रख कर, रियं रिए - ईर्या-गमन करे।

भावार्थ - पाँच इन्द्रियों के अर्थों - विषयों को और पाँच प्रकार की स्वाध्याय को वर्ज कर ईर्यासमिति में अपने शरीर को लगा कर तथा ईर्यासमिति को ही प्रधान मान कर साधु उपयोगपूर्वक ईर्यासमिति से चले अर्थात् चलते समय शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श इन पाँच इन्द्रियों के विषय की ओर ध्यान न देवे और चलते समय वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा रूप पाँच प्रकार की स्वाध्याय में से कोई भी स्वाध्याय नहीं करे, क्योंकि इनमें ध्यान देने से जीवों की यतना भली प्रकार नहीं हो सकती, जिससे जीव-विराधना होने की सम्भावना रहती है। इसलिए चलते समय चलने की क्रिया की ओर ही उपयोग रखे।

विवेचन - ईर्या समिति के चार कारण बतलाये हैं - आलम्बन, काल, मार्ग और यतना। इनमें से यतना के फिर चार भेद किये हैं - द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव। द्रव्य की अपेक्षा यतना-गंतव्य मार्ग को देखकर के चलना। क्षेत्र से - धूसरा परिमाण अर्थात् चार हाथ जमीन आगे देख

कर चलना। काल से - दिन में देख कर चलना। रात्रि में विहारादि नहीं करना। किन्तु जहाँ रात्रि विश्राम किया है वहाँ लघुशंका आदि के लिए जाना पड़े तो शरीर को वस्त्र से अच्छी तरह आच्छादित कर रजोहरण से भूमि को पूंज कर जावे और परठ कर वापिस पूंजता हुआ अपने स्थान पर लौट जाय। भाव से उपयोग पूर्वक चले। आलम्बन में ज्ञान, दर्शन, चारित्र की वृद्धि और रक्षा हो तो चले, यह तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा है। इसके २७ भंग बनते हैं-यथा-

१. ज्ञान २. दर्शन ३. चारित्र ४. ज्ञान दर्शन ५. ज्ञान चारित्र ६. दर्शन चारित्र ७. ज्ञान दर्शन चारित्र ८. आचार्य महाराज आदि की वैयावृत्य के लिए तथा ९. आचार्य महाराज आदि जहाँ जाने की आज्ञा प्रदान करे वहाँ काल, मार्ग और यतनापूर्वक जावे इन नौ भङ्गों को मन, वचन और काया इन तीन से गुणा (९×३=२७) करने पर २७ भंग बन जाते हैं।

दूसरी तरह से २७ भंग इस प्रकार होते हैं। १. ज्ञान २. दर्शन ३. चारित्र ४. ज्ञान दर्शन ५. ज्ञान चारित्र ६. दर्शन चारित्र ७. ज्ञान दर्शन चारित्र ८. काल में चलना ९. अकाल में नहीं चलना १०. मार्ग में चलना ११. उन्मार्ग में नहीं चलना १२. शब्द १३. रूप १४. गंध १५. रस १६. स्पर्श १७. वाचना १८. पृच्छना १९. परिवर्तना २०. अनुप्रेक्षा २१. धर्म-कथा इन दश बोलों को वर्ज कर चलना २२. तन्मूर्त्ती (तन्मूर्ति) अपने शरीर को ईर्या समिति में ही लगाना २३. तत्पुरस्कार (तत्पुरस्कार) ईर्या समिति को ही प्रधानता देकर चले अर्थात् शरीर और मन को एकाग्र कर चले २४. उपयोग सहित चलना।

भाषा समिति का स्वरूप

कोहे माणे य मायाए, लोभे य उवउत्तया।

हासे भए मोहरिए, विकहासु तहेव य ॥६॥

एयाइं अट्ट ठाणाइं, परिवज्जित्तु संजए।

असावज्जं मियं काले, भासं भासिज्ज पण्णवं ॥१०॥

कठिन शब्दार्थ - उवउत्तया - उपयुक्तता (उपयोग युक्तता), हासे - हास्य, भए - भय, मोहरिए - मौखर्य (वाचालता) में, विकहासु - विकथाओं में, अट्टठाणाइं - आठ स्थानों को, परिवज्जित्तु - छोड़ कर, असावज्जं - असावद्य-निरवद्य-निर्दोष, मियं - मित, भासं - भाषा, भासिज्ज - बोले, पण्णवं - प्रज्ञावान्।

भावार्थ - अब भाषासमिति के विषय में कहते हैं - क्रोध, मान, माया और लोभ, हास्य, भय, मौखर्य (वाचालता) और विकथाओं में उपयुक्त रहना इन आठ स्थानों (दोषों) को त्याग कर बुद्धिमान् संयत-साधु समय पर निरवद्य और परिमित भाषा बोले अर्थात् उपरोक्त क्रोधादि आठ दोषों को छोड़ कर समय पर हित-मित और पापरहित निर्दोष भाषा बोले।

विवेचन - मौखर्य - मुखरता का अर्थ है - दूसरे की निंदा, चुगली आदि करना यह दोष भी सत्य का विघातक है। मुखरताप्रिय जीव अपने संभाषण में असत्य का अधिक व्यवहार करते हैं। यहाँ पर 'उपयुक्तता' से यह अभिप्रेत है कि कदाचित् क्रोधादि के कारण संभाषण में असत्य के सम्पर्क की संभावना हो जाय तो विवेकशील आत्मा उस पर अवश्य विचार करे और उससे बचने का प्रयत्न करे। कारण कि असत्य का प्रयोग प्रायः अनुपयुक्त दशा में ही होता है।

संयमी साधु क्रोध आदि ८ स्थानों को छोड़ कर यानी क्रोधादि के वशीभूत न होकर भाषा समिति के संरक्षण का ध्यान रखते हुए हित, मित, निर्दोष एवं समयानुकूल भाषा का ही प्रयोग करे। यही दोनों गाथाओं का अभिप्राय है।

एषणा समिति

गवेसणाए गहणे य परिभोगेसणा य जा।

आहारोवहि-सेज्जाए, एए तिण्णि विसोहए॥११॥

कठिन शब्दार्थ - गवेसणाए - गवेषणा में, गहणे - ग्रहणैषणा में, परिभोगेसणा - परिभोगैषणा, आहारोवहि - आहार उपधि, सेज्जाए - शय्या, विसोहए - परिशोधन करे।

भावार्थ - अब एषणासमिति के विषय में कहते हैं - आहार-उपधि और शय्या की गवेषणैषणा, ग्रहणैषणा तथा परिभोगैषणा (ग्रासैषणा) ये प्रत्येक की जो तीन-तीन एषणाएँ हैं उनकी विशुद्धि को अर्थात् गवेषण, ग्रहण और ग्रास (परिभोग) सम्बन्धी दोषों से अदूषित अतएव विशुद्ध आहार, पानी, रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि उपधि और शय्या, पाट, पाटलादि का ग्रहण करना एषणासमिति है।

विवेचन - एषणा का अर्थ है - उपयोग पूर्वक अन्वेषण करना। पदार्थों को देखने, ग्रहण करने एवं उपभोग करने में शास्त्रीय विधि के अनुसार निर्दोषता का विचार करके सम्यग् प्रवृत्ति करना ही एषणा समिति है। गवेषणा आदि शब्दों का विशेषार्थ इस प्रकार है -

१. गवेषणा - आहारादि के निमित्त गोचरी में विचार पूर्वक प्रवृत्त होना। भिक्षा ग्रहण करने से पूर्व उद्गम और उत्पादन के दोषों का परिशोधन करना गवेषणा के ही अंतर्गत है।

२. ग्रहणैषणा - विचार पूर्वक निर्दोष आहार आदि का ग्रहण करना। इसके अंतर्गत शंकादि दस दोषों की शुद्धि आवश्यक है।

३. परिभोगैषणा - वस्त्र, पात्र, पिण्ड, शय्या तथा आहार आदि का उपभोग करते समय निर्दा स्तुति आदि दोषों से बचना।

उगमुप्पायणं पढमे, बीए सोहेज्ज एसणं।

परिभोयम्मि चउक्कं, विसोहेज्ज जयं जई॥१२॥

कठिन शब्दार्थ - उगमुप्पायणं - उद्गम और उत्पादन के दोषों का, सोहेज्ज - शोधन करे, एसणं - एषणा का, परिभोयम्मि - परिभोगैषणा में, चउक्कं - दोष चतुष्क का, विसोहेज्ज - विशोधन करे, जयं जई - यतनाशील यति।

भावार्थ - यतनावान् यति-साधु पहली गवेषणैषणा में उद्गम के १६ और उत्पादन के १६ दोषों की और दूसरी ग्रहणैषणा में एषणा के शंकितादि दस दोषों की शुद्धि करे तथा परिभोगैषणा में संयोजना, प्रमाण, अंगार, धूम और कारण इन चार मांडला के दोषों की विशुद्धि करे तथा आहार, शय्या, वस्त्र और पात्र इन चारों को उद्गमादि के दोष टाल कर भोगे।

विवेचन - भिक्षाजीवी साधु उद्गम, उत्पादना आदि के ४२ दोषों एवं मांडला के ५ दोषों, इस प्रकार ४७ दोषों की शुद्धि करके आहारादि का अन्वेषण, ग्रहण और परिभोग करे, यही एषणा समिति का स्वरूप है।

मोहनीय कर्म के अन्तर्गत होने के कारण अंगार और धूम इन दोनों दोषों को यहाँ एक ही गिना गया है। इन दोनों को पृथक् गिनने से मांडला के पांच दोष होते हैं। यथा - १. संयोजना २. प्रमाण ३. अंगार ४. धूम ५. कारण।

साधु-साध्वी अपने स्थान पर एक जगह बैठ कर आहार करते हैं उसको मंडल (माण्डला) कहते हैं। आहार करते समय जो दोष लगते हैं उनको मांडला के दोष कहते हैं। ४२ दोष टाल कर जो शुद्ध आहार मिला है उनको इन पांच दोषों से दूषित नहीं करना चाहिए। आहार की तरह शय्या-उपाश्रय, वस्त्र और पात्र भी ४२ दोष टालकर ही काम में लेना चाहिए।

आदान निक्षेप समिति

ओहोवहोवग्गहियं, भंडयं दुविहं मुणी।

गिण्हंतो णिक्खिवंतो य, पउंजेज्ज इमं विहिं॥१३॥

कठिन शब्दार्थ - ओहोवहोवग्गहियं - ओघ उपधि और औपग्रहिक उपधि, भंडयं - भण्डोपकरणों को, गिण्हंतो - ग्रहण करता हुआ, णिक्खिवंतो - रखता हुआ, पउंजेज्ज - प्रयोग करे, विहिं - विधि का।

भावार्थ - अब आदान-भंड-मात्र-निक्षेपणा समिति के विषय में कहते हैं - ओघ उपधि और औपग्रहिक उपधि, इन दोनों प्रकार की उपधि तथा भंडोपकरण को ग्रहण करता हुआ और रखता हुआ मुनि इस विधि का प्रयोग करे।

विवेचन - जो सदैव पास रखी जाती है, वह 'ओघ' उपधि कहलाती है। यथा - रजोहरण, वस्त्र-पात्र आदि। जो संयम-रक्षार्थ थोड़े समय के लिए ग्रहण की जाती है वह 'औपग्रहिक' उपधि कहलाती है। जैसे - पाट-पाटला, शय्या आदि।

चक्खुसा पडिलेहिता, पमज्जेज्ज जयं जई।

आइए णिक्खिवेज्जा वा, दुहओ वि समिए सया॥१४॥

कठिन शब्दार्थ - चक्खुसा - आँखों से, पडिलेहिता - प्रतिलेखन कर, पमज्जेज्ज - प्रमार्जन करके, आइए - ग्रहण करे, णिक्खिवेज्जा - रखे, समिए - समिति युक्त।

भावार्थ - समितिबन्त यति-साधु सदैव यतनापूर्वक आँखों से देख कर और प्रमार्जन कर के दोनों प्रकार की उपधि को ग्रहण करे तथा रखे।

विवेचन - साधु साध्वियों के द्वारा अपने उपकरणों को शास्त्रोक्त विधि पूर्वक यतना से ग्रहण करना (आदान) और रखना (निक्षेप) आदान निक्षेप समिति है।

अगर साधु साध्वी अपने किसी भी उपकरण को बिना देखे और प्रमार्जन किये प्रमादवश इस्तेमाल करता है या उठाता रखता है या उपयोग शून्य हो कर ग्रहण निक्षेपण करता है तो उससे अनेक त्रस एवं स्थावर जीवों की विराधना की संभावना है अतः आदान निक्षेपण समिति का पालन करने वाला साधक ही इस समिति का आराधक है। जो प्रमाद करता है, प्रतिलेखन-प्रमार्जन भलीभांति नहीं करता, वह इस समिति का विराधक माना गया है।

उच्चार-प्रसवण-खेल-सिंघाण-जल्ल-परिष्ठापनिका समिति

उच्चारं पासवणं, खेलं सिंघाण-जल्लियं।

आहारं उवहिं देहं, अण्णं वा वि तहाविहं॥१५॥

कठिन शब्दार्थ - उच्चारं - मल, पासवणं - मूत्र, खेलं - श्लेष्म-कफ, सिंघाण - सिंघानक-नाक का मैल, जल्लियं - शरीर का मैल, आहारं - आहार को, उवहिं - उपधि को, देहं - शरीर को, अण्णं वावि - अन्य किसी विसर्जन योग्य वस्तु का, तहाविहं - तथाविध।

भावार्थ - पाँचवी परिस्थापनिका समिति कहते हैं - बड़ीनीत (विष्ठा), प्रसवण-लघुनीत (मूत्र), खंखारा, नाक का मैल, शरीर का मैल, जिस आहार को कारण वश परठना पड़े वैसा विष मिश्रित आहार, जीर्ण वस्त्रादि उपधि, मृत शरीर अथवा इसी प्रकार की अन्य कोई वस्तु जो परठने योग्य हो, इन सब को यतनापूर्वक दस विशेषणों वाले स्थण्डिल में परठे।

चार प्रकार की स्थण्डिल भूमि

अणावायमसंलोए, अणावाए चेव होइ संलोए।

आवायमसंलोए, आवाए चेव संलोए॥१६॥

कठिन शब्दार्थ - अणावायं असंलोए - अनापात एवं असंलोक, अणावाए - अनापात, संलोए - संलोक, आवायं असंलोए - आपात असंलोक, आवाए - आपात।

भावार्थ - कैसे स्थण्डिल में परठना चाहिए? इसके लिए प्रथम बोल के चार भांगे करके बतलाये जाते हैं - १. जहाँ कोई आता जाता भी न हो और देखता भी न हो और २. जहाँ आता जाता तो कोई नहीं किन्तु दूर खड़ा हुआ देखता हो ३. जहाँ कोई आता जाता तो है, परन्तु देखता नहीं और ४. जहाँ कोई आता जाता भी है और देखता भी है। ये चार भंग हैं। इनमें पहला भंग शुद्ध है। शेष तीन भंग अशुद्ध हैं।

स्थण्डिल के दस विशेषण

अणावायमसंलोए, परस्सणुवघाइए।

समे अज्झुसिरे यावि, अचिर-कालकयम्मि य॥१७॥

वित्थिण्णे दूरमोगाढे, णासण्णे बिलवज्जिए।

तसपाण-बीयरहिए, उच्चाराईणि वोसिरे॥१८॥

कठिन शब्दार्थ - परस्स - दूसरों का, अणुवघाइए - अपघात से रहित, समे - सम, अज्जुसिरे - पोली न हो, अचिरकाल कयम्मि - कुछ समय पहले निर्जीव हुई हो, वित्थिण्णे-विस्तीर्ण, दूरमोगाढे - नीचे दूर तक अचित्त, णासण्णे - ग्रामादि के समीप न हो, बिलवज्जिए-बिलों से रहित, तसपाणबीयरहिए - त्रस प्राणी और बीजों से रहित, उच्चाराईणि - मल आदि का, वोसिरे - त्याग करे।

भावार्थ - अब स्थण्डिल के दस विशेषण कहे जाते हैं - दूसरों का १. जहाँ स्वपक्ष और परपक्ष वाले किसी का आना-जाना न हो और न दृष्टि पड़ती हो, २. जहाँ संयम की अर्थात् छहकाय जीवों की विराधना न हो तथा आत्मा की और संयम की भी विराधना न हो, ३. जहाँ ऊंची-नीची भूमि न हो अर्थात् समतल भूमि हो ४. जहाँ पोलार न हो या घास और पत्तों आदि से ढंकी हुई न हो अर्थात् साफ खुली हुई भूमि हो और ५. जो भूमि दाह आदि से थोड़े काल पहले अचित्त हुई हो ६. जो भूमि विस्तृत हो अर्थात् कम से कम एक हाथ लम्बी चौड़ी हो ७. जहाँ कम से कम चार अंगुल नीचे तक भूमि अचित्त हो ८. जहाँ गांव, बगीचा आदि अति निकट न हो ९. जहाँ चूहे आदि का बिल न हो १०. जहाँ बेइन्द्रियादि त्रस जीव तथा शालि आदि बीज न हों। इन दस विशेषणों वाले स्थण्डिल में मल-मूत्रादि का त्याग करे।

विवेचन - परिष्ठापन योग्य दस स्थण्डिल भूमियों के दो तीन आदि सांयोगिक भंग करें तो कुल १०२४ भंग होते हैं। इन दसों में से अंतिम भंग पूर्ण शुद्ध है, ऐसी स्थण्डिल भूमि पर परिष्ठापन करना उचित है।

इस प्रकार पंचम समिति का सम्यक् पालन नहीं करने से संयम की विराधना और प्रवचन की अवहेलना होती है।

तीन गुप्तियों का वर्णन

एयाओ पंच समिईओ, समासेण वियाहिया।

इत्तो य तओ गुत्तीओ, वोच्छामि अणुपुव्वसो॥१९॥

कठिन शब्दार्थ - समासेण - संक्षेप से, वियाहिया - कही गई है, वोच्छामि - वर्णन करूंगा, अणुपुव्वसो - अनुक्रम से।

भावार्थ - ये पाँच समितियाँ संक्षेप से कही गई हैं। अब इसके पश्चात् तीन गुप्तियों का अनुक्रम से वर्णन करूँगा।

मनोगुप्ति का स्वरूप

सच्चा तहेव मोसा य, सच्चामोसा तहेव य।

चउत्थी असच्चमोसा य, मणगुत्ती चउत्विहा॥२०॥

कठिन शब्दार्थ - सच्चा - सत्या, मोसा - मृषा, तहेव - तथैव, सच्चामोसा - सत्यामृषा-सत्य और झूठ से मिश्र, चउत्थी - चौथी, असच्चमोसा - असत्यामृषा।

भावार्थ - सत्या, मृषा, सत्यामृषा और चौथी असत्यामृषा। इस प्रकार मनोगुप्ति चार प्रकार की कही गई है।

सरंभ-समारंभे, आरंभे य तहेव य।

मणं पवत्तमाणं तु, णियत्तेज्ज जयं जई॥२१॥

कठिन शब्दार्थ - सरंभ समारंभे - सरम्भ समारम्भ, आरंभे - आरम्भ में, मणं - मन को, पवत्तमाणं - प्रवर्तमान-प्रवृत्त होते हुए, णियत्तेज्ज - निवृत्त करे।

भावार्थ - सरंभ में, समारम्भ में और आरम्भ में प्रवृत्ति करते हुए मन को यति-साधु यतनापूर्वक हटा लेवे।

विवेचन - सरंभ अर्थात् मानसिक संकल्प, जैसे - 'मैं ऐसा ध्यान करूँगा जिससे वह मर जायगा।' मानसिक ध्यान द्वारा दूसरे को पीड़ा पहुँचाना या उच्चाटन आदि करने वाला ध्यान करना मन-समारंभ है। मानसिक ध्यान द्वारा दूसरे के प्राणों को अत्यन्त क्लेश पूर्वक हरण करना मन-आरंभ है। इन अशुभ संकल्पों से मन को हटाना चाहिये।

वचन गुप्ति का स्वरूप

सच्चा तहेव मोसा य, सच्चामोसा तहेव य।

चउत्थी असच्चमोसा य, वयगुत्ती चउत्विहा॥२२॥

भावार्थ - सत्या, मृषा, सत्यामृषा और चौथी असत्यामृषा। इस प्रकार वचनगुप्ति चार प्रकार की कही गई है।

संरंभ-समारंभे, आरंभे य तहेव य।

वयं पवत्तमाणं तु, णियत्तेज्ज जयं जई ॥२३॥

भावार्थ - संरंभ में, समारंभ में और आरंभ में प्रवृत्ति करते हुए वचन को यति-साधु यतनापूर्वक हटा लेवे।

विवेचन - दूसरों को मारने में समर्थ ऐसी क्षुद्र विद्या गुणने के संकल्प को सूचित करने वाला शब्द बोलना वचन-संरंभ है। दूसरों को पीड़ा करने वाला मंत्र गुणने को उद्यत होना वचन-समारंभ है। प्राणियों के प्राणों का अत्यन्त क्लेशपूर्वक नाश करने में समर्थ मंत्रादि गुणना वचन आरंभ है। संरंभ आदि में प्रवृत्ति करने वाले वचन को साधु यतना से रोके।

कायगुप्ति का स्वरूप

ठाणे णिसीयणे चेव, तहेव य तुयट्टणे।

उल्लंघणे पल्लंघणे, इंदियाण य जुंजणे ॥२४॥

कठिन शब्दार्थ - ठाणे - खड़े रहने में, णिसीयणे - बैठने में, तुयट्टणे - करवट बदलने या लेटने में, उल्लंघणे - उल्लंघन-गड्डे आदि को लांघने में तथा पल्लंघणे - प्रलंघन-सामान्यतः चलने में, इंदियाण - इन्द्रियों के, जुंजणे - प्रयोग में।

भावार्थ - खड़े रहने में, बैठने में, सोने में तथा किसी कारण ऊंची भूमि तथा खड़े आदि के उल्लंघन में, बार-बार उल्लंघन करने में, सीधे चलने में और इन्द्रियों के शब्दादि में प्रवृत्ति करने में साधु यतना पूर्वक काय-गुप्ति करे।

संरंभ-समारंभे, आरंभे य तहेव य।

कायं पवत्तमाणं तु, णियत्तेज्ज जयं जई ॥२५॥

भावार्थ - संरंभ में, समारंभ में और आरंभ में प्रवृत्ति करती हुई काया को साधु यतनापूर्वक हटा लेवे।

विवेचन - किसी प्राणी को लकड़ी आदि से पीटने के लिए तैयार होना काय-संरंभ है। दूसरों को पीड़ा पहुँचाने के लिए लकड़ी आदि का प्रहार करना काय-समारंभ है। किसी प्राणी का वध करने के लिए प्रवृत्ति करना काय-आरंभ है। इन कार्यों में प्रवृत्ति होते हुए अपने शरीर (काया) को साधु रोके।

एयाओ पंच समिईओ, चरणस्स य पवत्तणे ।

गुत्ती णियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसो ॥२६॥

कठिन शब्दार्थ - चरणस्स - चारित्र में, पवत्तणे - प्रवृत्ति के लिए, असुभत्थेसु - अशुभ विषयों से, णियत्तणे - निवृत्ति के लिए, सव्वसो - सर्वथा।

भावार्थ - ये उपरोक्त पाँच समितियाँ चारित्र की प्रवृत्ति के लिए कही गई हैं और गुप्तियाँ अशुभ कार्य से सर्वथा निवृत्ति के लिए कही गई हैं।

विवेचन - समिति का प्रयोजन चारित्र में प्रवृत्ति कराना है और गुप्ति का प्रयोजन शुभ और अशुभ सभी प्रकार के व्यापारों से निवृत्ति कराना है अर्थात् मन, वचन, काया रूप तीनों योगों का सर्वथा निरोध करना गुप्ति का प्रयोजन है। समिति प्रवृत्ति रूप और गुप्ति निवृत्ति रूप है।

उपसंहार

एसा पवयणमाया, जे सम्मं आयरे मुणी ।

सो खिप्पं सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पंडिए ॥२७॥ तिबेमि ॥

कठिन शब्दार्थ - सम्मं - सम्यक् प्रकार से, आयरे - आचरण करता है, खिप्पं - क्षिप्र - शीघ्र, सव्वसंसारा - समस्त संसार से, विप्पमुच्चइ - विमुक्त हो जाता है।

भावार्थ - जो मुनि इन आठ प्रवचन माताओं का सम्यक् प्रकार से आचरण करता है वह पंडित साधु संसार के समस्त बन्धनों से शीघ्र छूट कर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - प्रस्तुत गाथा में अध्ययन का उपसंहार करते हुए सूत्रकार ने अष्ट प्रवचन माताओं के सम्यक् आचरण का फल प्रतिपादित किया है। अष्ट प्रवचन माताओं का विशुद्ध भावों से सम्यक् आचरण करने वाला साधक चार गति रूप संसार का अंत कर मोक्ष सुखों को प्राप्त करता है।

॥ प्रवचनमाता नामक चौबीसवीं अध्ययन समाप्त ॥

जण्डज्जं णामं पंचवीसडमं अज्झयणं

यज्ञीय नामक पच्चीसवां अध्ययन

वाणारसी (बनारस) नगरी में जयघोष और विजयघोष नामक दो सगे भाई रहते थे। जो काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण थे। वे दोनों संस्कृत के महान् पंडित थे। अपने सिद्धांत वेद और वेदांगों के ज्ञाता थे। एक दिन जयघोष स्नान करने के लिए गंगा नदी पर गया वहाँ उसने एक दृश्य देखा। जिसको उसने श्लोक में निबद्ध किया, वह इस प्रकार हैं -

भेको धावति तच्च धावति फणी सर्प शिखी धावति।

व्याधो धावति के किं विधिवशाद् व्याधोऽपि तं धावति।

स्वस्वाहार विहार साधनविधौ सर्वे जना व्याकुलाः।

कालस्तिष्ठति पृष्ठतः कचधरः केनापि नो दृश्यते॥

अर्थ - एक मेंढक ने अपने मुख में मकखी को पकड़ रखी है। वह चीं-चीं करती है फिर भी वह उसे खा रहा है। उसी प्रकार एक सांप ने उस मेंढक को पकड़ रखा है। वह उसे खा रहा है। सांप को एक मयूर (मोर) ने पकड़ रखा है और वह उसे खा रहा है और आधा निगल गया है। ऐसी स्थिति में भी सांप मेंढक को और मेंढक मकखी को नहीं छोड़ रहा है। इधर एक शिकारी आया वह मोर को मारने के लिए धनुष पर बाण चढ़ा रहा है। उधर जंगल से एक शेर पानी पीने के लिए आ रहा था ज्यों ही उसने मनुष्य को देखा वह उसे मारने के लिए झपटा। इस दृश्य को देख कर जयघोष बड़ा विचार में पड़ गया कि इस संसार में तो 'मच्छ गलागल न्याय' चल रहा है। सबल व्यक्ति निर्बल को मारना चाहता है। परन्तु यह नहीं देखता कि मृत्यु तो हमारे पीछे लगी हुई है। केशों को पकड़ रखा है। न मालूम किस समय झटका देकर वह प्राणी को अपना ग्रास बना लेगी। यह दृश्य देखकर जयघोष को संसार की असारता और भयानकता दिखने लगी - हृदय कांप गया। इतने में ही विहार कर आते हुए जैन मुनि दिखाई दिये वह उनके पास पहुँचा। विनयपूर्वक प्रणाम किया और अपना देखा हुआ दृश्य उनकी सेवा में निवेदन किया। मुनि महात्मा अच्छे ज्ञानी थे। इसलिए अवसर के उचित उसको उपदेश दिया कि -

गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्म माचरेत्।

अर्थात् बुद्धिमान् का कर्तव्य है कि मानो मृत्यु ने पीछे से केश पकड़ रखे हैं। न मालूम कब वह एक झटका देकर प्राणी को अपना ग्रास बना लेगी ऐसा सोचकर धर्माचरण में विलंब नहीं करना चाहिये। क्योंकि -

“एवको हु धम्मो णरदेव ताणं,
ण विज्जाइ अण्णमिहेह किंत्ति।”

अर्थ - माता, पिता, स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, परिवार इस जीव के लिये कोई भी शरणभूत नहीं होता है। मात्र एक धर्म ही प्राणी के लिए त्राण और शरणरूप है। इस प्रकार के धर्म उपदेश से जयघोष को वैराग्य उत्पन्न हो गया और पांच महाव्रत धारण करने रूप जैन दीक्षा अंगीकार कर ली। फिर तप संयम में पुरुषार्थ करने लगे। एक समय विचरते हुए वे बनारस पधारे। उनके मासखमण की तपस्या थी। उस समय उनका सांसारिक छोटा भाई विजयघोष यज्ञ कर रहा था। उसको सदबोध देने के लिए यज्ञ शाला में पहुँचे, उनके साथ जो तात्त्विक प्रश्नोत्तर हुए, उनका विस्तृत वर्णन इस अध्ययन में हैं।

सच्चे धर्म यज्ञ का स्वरूप दिखाये जाने के कारण इस अध्ययन का नाम ‘यज्ञीय’ रखा गया है। यज्ञ मण्डप में जयघोषमुनि का याज्ञिक विद्वानों के साथ जो वार्तालाप हुआ, उसमें सच्चे ब्राह्मण का स्वरूप, सच्चे श्रमण की परिभाषा और वास्तविक यज्ञ का स्वरूप समझाया गया है। प्रस्तुत है इस अध्ययन की प्रथम गाथा -

जयघोष-एक परिचय

माहण-कुल-संभूओ, आसी विप्पो महाजसो।

जायाई जम्मजण्णम्मि, जयघोसिन्ति णामओ ॥१॥

कठिन शब्दार्थ - माहणकुल संभूओ - ब्राह्मण कुल में उत्पन्न, आसी - था, विप्पो - विप्र-ब्राह्मण, महाजसो - महायशस्वी, जायाई - यायाजी - यज्ञ करने वाले, जम्मजण्णम्मि - यम रूप यज्ञ में, जयघोसिन्ति णामओ - जयघोष नामक।

भावार्थ - ब्राह्मण कुल में उत्पन्न महायशस्वी यम-नियम रूप भाव यज्ञ करने वाले जयघोष नाम के विप्र-ब्राह्मण थे।

विवेचन - इस गाथा में जयघोष का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। यथा - वह ब्राह्मण

कुल में उत्पन्न हुआ था और भावयज्ञ के अनुष्ठान में रत था अर्थात् अहिंसा आदि पांच महाव्रतों का यथाविधि पालन करने वाला था। इस कथन से द्रव्य यज्ञ की निष्कृष्टता अथवा निषेध सूचन किया गया है। यज्ञ के दो भेद हैं - एक द्रव्य यज्ञ, दूसरा भाव यज्ञ। इनमें द्रव्य यज्ञ श्रौत, स्मार्त भेद से दो प्रकार का है। श्रौतयज्ञ के वाजपेय और अग्निष्टोमादि अनेक भेद हैं। स्मार्त यज्ञ भी कई प्रकार के हैं। इन द्रव्ययज्ञों में जो श्रौतयज्ञ हैं उनमें तो पशुहिंसा अवश्य करनी पड़ती है और जो स्मार्त यज्ञ हैं वे पशु आदि त्रस जीवों की हिंसा से तो रहित हैं परन्तु स्थावर जीवों की हिंसा उनमें भी पर्याप्त रूप से होती है और जो भाव यज्ञ है, उसमें किसी प्रकार की हिंसा की संभावना तक भी नहीं है। उसी को यम यज्ञ कहते हैं। मुनि जयघोष पूर्वाश्रम में ब्राह्मण होते हुए भी सर्वविरति रूप साधु धर्म में दीक्षित हो चुके थे। इसलिए वे सर्वप्रकार के द्रव्ययज्ञों के त्यागी और भावयज्ञ के अनुरागी थे।

जयघोष मुनि का पदार्पण

इंदियग्गाम-णिग्गाही, मग्गामी महामुणी।

गामाणुगामं रीयंतो, पत्तो वाणारसिं पुरिं॥२॥

कठिन शब्दार्थ - इंदियग्गाम णिग्गाही - इन्द्रिय समूह का निग्रहकर्ता, मग्गामी - मोक्षमार्ग का अनुगामी, महामुणी - महामुनि, गामाणुगामं - ग्रामानुग्राम, रीयंतो - विचरण करता हुआ, पत्तो - पहुँचा, वाणारसिं पुरिं - वाणारसी नगरी में।

भावार्थ - इन्द्रियों के समूह को वश में रखने वाले, मोक्ष-मार्ग में प्रवृत्ति करने वाले वे विजयघोष महामुनि ग्रामानुग्राम विहार करते हुए वाणारसी नगरी को प्राप्त हुए।

वाणारसीए बहिया, उज्जाणम्मि मणोरमे।

फासुए सिज्जसंधारे, तत्थ वास-मुवागए॥३॥

कठिन शब्दार्थ - वाणारसीए - वाणारसी के, बहिया - बाहर, उज्जाणम्मि - उद्यान में, मणोरमे - मनोरम, फासुए - प्रासुक (निर्दोष-निर्जीव), सिज्ज-संधारे - शय्या और संस्तारक, वासमुवागए - वहां उन्होंने निवास किया।

भावार्थ - उस वाणारसी नगरी के बाहर प्रासुक शय्या-संधारे वाले एक मनोहर उद्यान में वास किया अर्थात् ठहरे।

वेदवेत्ता विजयघोष

अह तेणेव कालेणं, पुरीए तत्थ माहणे।

विजयघोसित्ति णामेणं, जण्णं जयइ वेयवी ॥४॥

कठिन शब्दार्थ - पुरीए - नगरी में, विजयघोसित्ति णामेणं - विजयघोष नाम का, जण्णं - यज्ञ, जयइ - करता था, वेयवी - वेदवित्-वेद का ज्ञाता।

भावार्थ - अथ इसके बाद उस समय उस नगरी में वेदवित्-वेद का ज्ञाता विजयघोष नाम का एक ब्राह्मण यज्ञ करता था।

विवेचन - जिस समय जयघोष मुनि वाणारसी नगरी के मनोरम उद्यान में विराजमान थे उस समय उस नगरी में उनके गृहस्थ-पक्षीय छोटे भ्राता विजयघोष ब्राह्मण ने एक यज्ञ का आयोजन कर रखा था।

गंगा तट पर नित्यकर्म करते हुए जयघोष को सर्प-मूषक वाली घटना देखकर वैराग्य उत्पन्न होना और जंगल में जाकर उनका एक मुनि के पास धर्म में दीक्षित होना आदि किसी भी घटना का विजयघोष को ज्ञान नहीं था। भ्राता के गंगाजी से लौटकर न आने और इधर-उधर ढूँढने पर भी न मिलने से विजयघोष ने यही निश्चय कर लिया कि मेरे भ्राता गंगा में बह गये और मृत्यु को प्राप्त हो गये। इस निश्चय के अनुसार विजयघोष ने अपने भाई का शास्त्रविधि के अनुसार सारा और्द्धदैहिक क्रियाकर्म किया। जब जयघोष को मरे अथवा गये को अनुमानतः चार वर्ष हो गये, तब विजयघोष ने अपने भाई का चातुर्वार्षिक श्राद्ध करना आरम्भ किया। यही उसका यज्ञानुष्ठान था, ऐसी वृद्ध परंपरा चली आती है। कुछ भी हो विजयघोष का यज्ञ करना तो प्रमाणित ही है। फिर वह चाहे भ्राता के निमित्त हो अथवा और किसी उद्देश्य से हो।

अह से तत्थ अणगारे, मासक्खमण-पारणे।

विजयघोसस्स जण्णम्मि, भिक्खमट्ठा उवट्ठिए ॥५॥

कठिन शब्दार्थ - मासक्खमण पारणे - मासखमण के पारणे के दिन, जण्णम्मि - यज्ञ शाला में, भिक्खमट्ठा - भिक्षा के लिए, उवट्ठिए - उपस्थित हुए।

भावार्थ - अब वे जयघोष मुनि मासखमण के पारणे के दिन विजयघोष ब्राह्मण की यज्ञशाला में भिक्षा के लिए पधारे।

भिक्षा देने का निषेध

समुवट्टियं तहिं संतं, जायगो पडिसेहए।

ण हु दाहामि ते भिक्खं, भिक्खू! जायाहि अण्णओ ॥६॥

कठिन शब्दार्थ - समुवट्टियं - उपस्थित, संतं - संत को, जायगो - याजक विजयघोष ने, पडिसेहए- निषेध कर दिया, ण दाहामि - नहीं दूंगा, भिक्खं - भिक्षा, जायाहि - याचना करो, अण्णओ - दूसरे स्थान से।

भावार्थ - वहाँ आये हुए भिक्षु को निषेध करता हुआ वह विजयघोष कहने लगा कि हे भिक्षो! तुझे मैं भिक्षा नहीं दूँगा अतः अन्यत्र जा कर याचना करो-भिक्षा माँगो।

विवेचन - विजयघोष के शब्दों को देखते हुए उस समय याजक लोगों का मुनियों के ऊपर कितना असद्भाव था, यह स्पष्ट रूप से झलक रहा है, जो कि उस समय बड़ी हुई साम्प्रदायिकता का द्योतक है।

जे य वेयविऊ विप्पा, जण्णद्वा य जे दिया।

जोइसंगविऊ जे य, जे य धम्माण-पारगा ॥७॥

जे समत्था समुद्धत्तुं, परमप्पाणमेव य।

तेसिं अण्णमिणं देयं, भो भिक्खू! सव्वकामियं ॥८॥

कठिन शब्दार्थ - वेयविऊ विप्पा - वेद के ज्ञाता विप्र-ब्राह्मण, जण्णद्वा - यज्ञार्थी, दिया - द्विज-ब्राह्मण, जोइसंगविऊ - ज्योतिषांग के ज्ञाता, धम्माणपारगा - धर्मशास्त्रों में पारंगत, समत्था - समर्थ, समुद्धत्तुं - उद्धार करने में, परमप्पाणमेव - अपनी और पर की आत्मा का, अण्णं - अन्न, इणं - यह, सव्वकामियं - सर्वकामित-सर्व रस युक्त।

भावार्थ - जो विप्र-ब्राह्मण वेदों को जानने वाले हैं और जो द्विज-ब्राह्मण यज्ञार्थी (यज्ञ को जानने वाले) हैं तथा जो ज्योतिष के ज्ञाता हैं अर्थात् शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष इन छह अंगों के जानने वाले हैं और जो धर्म के पारगामी हैं। जो अपनी तथा दूसरों की आत्मा का उद्धार करने में समर्थ हैं। हे भिक्षो! सर्वकामित-छह रस वाला यह अन्न-उत्तम भोजन ऐसे ब्राह्मणों को देने के लिए है।

विवेचन - जैन सिद्धान्त में तीखा, कड़वा, कषैला, खट्टा और मीठा ये पांच रस माने

गये हैं। किन्तु साहित्य (हिन्दी व संस्कृत काव्य) में छठा रस और माना गया है वह है-लवण (नमक)। यथा 'षष्ठो रसेः लवणः'।

आचारांग आदि अनेक आगमों में 'रस' पांच प्रकार के बताये हैं। लवण रस को आगमकार स्वतंत्र रस नहीं मान कर 'संयोगी रस' (दो तीन आदि रसों के संयोग से उत्पन्न) एवं सर्वानुगत रस (पांचों रसों में रहा हुआ) मानते हैं अतः लवण रस का पांचों रसों में समावेश हो जाने से छठा 'लवण रस' नहीं माना है। अन्यत्र आगमों में (दशवैकालिक सूत्र अ० ५ उ० १ गाथा ६७) जहाँ छह रस बताये हैं वहाँ अपेक्षा विशेष से उसकी स्वतंत्र विवक्षा समझनी चाहिये। अन्यथा पांच रस ही होते हैं।

मारवाड़ी में लवण (नमक) को 'लूण' कहते हैं इसलिए मारवाड़ी में कहावत है 'लूण बिना सब रसोई पूण' अर्थात् जिस रसोई (भोजन) में लूण नहीं हो तो वह रसोई पूण (अधूरी) मानी गई है।

समभावी जयघोष मुनि

सो तत्थ एवं पडिसिद्धो, जायगेण महामुणी।

ण वि रुद्धो ण वि तुद्धो, उत्तमद्द-गवेसओ ॥६॥

कठिन शब्दार्थ - पडिसिद्धो - इंकार किये जाने पर, जायगेण - याजक के द्वारा, ण वि रुद्धो - न तो रुष्ट (क्रुद्ध) हुआ, ण वि तुद्धो - न तुष्ट हुआ, उत्तमद्द गवेसओ - उत्तमार्थ - मोक्ष का गवेषक।

भावार्थ - वहाँ यज्ञ करने वाले विजयघोष द्वारा इस प्रकार निषेध कर देने पर वे जयघोष महामुनि न रुष्ट हुए और न तुष्ट हुए (उन्होंने समभाव रखा)। क्योंकि वे उत्तम अर्थ (मोक्ष) के गवेषक (अभिलाषी) थे।

विवेचन - जो आत्मारथी या मोक्षार्थी होता है वह सामान्य अज्ञानों द्वारा की गई निन्दा-प्रशंसा से न तो रुष्ट होता है और न तुष्ट, क्योंकि वह जानता है कि राग-द्वेष करने से अथवा क्रोधादि कषाय से अशुभ कर्मों का बन्ध होता है, जो मुक्ति में बाधक है। यही कारण था कि मोक्षार्थी महामुनि जयघोष, विजयघोष द्वारा भिक्षा निषेध संबंधी नीरस एवं अनादर सूचक वचनों को सुन कर भी निजस्वभाव में स्थिर रहे। उनके चित्त में न तो खेद हुआ और न ही प्रसन्नता क्योंकि वे मोक्ष के गवेषक थे।

णण्णहं पाणहेउं वा, ण वि णिव्वाहणाय वा।

तेसिं विमोक्खणट्ठाए, इमं वयणमब्बवी॥१०॥

कठिन शब्दार्थ - ण अण्णहं - न अन्न के लिए, ण पाणहेउं - न पानी के लिए, णिव्वाहणाय - जीवन निर्वाह के लिये, विमोक्खणट्ठाए - विमोक्षण (मुक्ति) के लिए, इमं वयणं - यह वचन, अब्बवी - कहा।

भावार्थ - वे न तो अन्न के लिए और न पानी के लिए और न निर्वाह के लिए किन्तु उनका अज्ञान दूर करके उनकी मुक्ति के लिए इस प्रकार वचन कहने लगे।

विवेचन - प्रस्तुत गाथा में स्पष्ट किया गया है कि जयघोष मुनि के उद्गार न तो आहार पानी प्राप्त करने की दृष्टि से थे और न ही वस्त्र पात्रादि जीवन निर्वाह की आवश्यक वस्तुएं या यशकीर्ति पाने के हेतु से अपितु याजकों को कर्मबंधन से मुक्त कराने के लिए थे अर्थात् कर्मों की निर्जरा एवं संसार चक्र से मुक्त कराने के लिए थे।

आचारांग सूत्र में बताया गया है कि साधु को इस दृष्टि से धर्मोपदेश नहीं देना चाहिए कि मेरे उपदेश से प्रसन्न होकर ये मुझे अन्न-पानी देंगे। न वस्त्र-पात्रादि के लिए वह धर्म-कथन करता है किन्तु संसार से निस्तार के लिए अथवा कर्म निर्जरा के लिए धर्मोपदेश देना चाहिये।

ण वि जाणासि वेयमुहं, ण वि जण्णाण जं मुहं।

णवखत्ताण मुहं जं च, जं च धम्माण वा मुहं॥११॥

जे समत्था समुद्धत्तुं, परमप्पाणमेव य।

ण ते तुमं वियाणासि, अहं जाणासि तो भण॥१२॥

कठिन शब्दार्थ - जाणासि - जानते हो, वेयमुहं - वेद के मुख को, जण्णाण - यज्ञों का, मुहं - मुख, णवखत्ताण - नक्षत्रों का, धम्माण - धर्मों का, ण वियाणासि - नहीं जानते हो, भण - बताओ।

भावार्थ - तुम न तो वेदों का मुख जानते हो और न तुम यज्ञों का जो मुख है उसे जानते हो। नक्षत्रों के मुख तथा धर्मों के मुख को तुम नहीं जानते अर्थात् वेद, यज्ञ, नक्षत्र और धर्मों में किसे प्रधानता दी गई है तथा इनका क्या रहस्य है, इस बात को भी तुम नहीं जानते हो और जो अपनी तथा दूसरों की आत्मा का उद्धार करने में समर्थ हैं उनको भी तुम नहीं जानते हो। यदि तुम इन सभी बातों को जानते हो तो बताओ?

विवेचन - प्रस्तुत ग्यारहवीं गाथा में 'मुख(मुंह)' शब्द का चार स्थानों पर प्रयोग हुआ है। इसमें से प्रथम और तृतीय चरण में प्रयुक्त मुख शब्द का अर्थ - 'प्रधान' एवं द्वितीय और चतुर्थ चरण में प्रयुक्त मुख शब्द का अर्थ 'उपाय' है।

विजयघोष की जिज्ञासा

तस्सऽक्खेवपमोक्खं च, अचयंतो तहिं दिओ।

सपरिसो पंजलीहोउं, पुच्छइ तं महामुणिं॥१३॥

कठिन शब्दार्थ - तस्स - उसके, अक्खेव - आक्षेपों के, पमोक्खं - प्रमोक्ष (उत्तर) में, अचयंतो - असमर्थ, दिओ - द्विज, सपरिसो - परिषद् सहित, पंजलीहोउं - हाथ जोड़ कर, पुच्छइ - पूछने लगा।

भावार्थ - मुनि के प्रश्नों का उत्तर देने में असमर्थ द्विज, वह विजयघोष ब्राह्मण उस यज्ञशाला में परिषद् सहित (अन्य समस्त ब्राह्मणों के साथ) हाथ जोड़ कर उस महामुनि से पूछने लगा।

जयघोष मुनि का समाधान

वेयाणं च मुहं बूहि, बूहि जण्णाण जं मुहं।

णक्खत्ताण मुहं बूहि, बूहि धम्माण वा मुहं॥१४॥

जे समत्था समुद्धत्तुं, परमप्पाणमेव य।

एयं मे संसयं सव्वं, साहू! कहसु पुच्छिओ॥१५॥

कठिन शब्दार्थ - बूहि - कहो, मुहं - मुख (मुख्य-उपादेय वस्तु), संसयं - संशय, कहसु - कहिये।

भावार्थ - हे मुने! वेदों का मुख (प्रधान) कौन है उसे बताओ और यज्ञों का जो मुख है उसे बताओ तथा नक्षत्रों का मुख कौन है उसे बताओ और धर्मों का मुख बताओ। जो अपनी और दूसरों की आत्मा का उद्धार करने में समर्थ हैं, वे कौन हैं? मेरे मन में ये सभी संशय हैं। इसलिए हे साधो! मैं आप से पूछता हूँ आप कृपा कर के कहिए।

विवेचन - जयघोष मुनि के आक्षेपप्रधान पांचों प्रश्नों के उत्तर देने की अपने में शक्ति न देखकर विजयघोष ने अपने मन में विचार किया कि इस यज्ञ मंडप में उपस्थित हुए मुझ सहित अनेक प्रकाण्ड विद्वानों के समक्ष निर्भय होकर जिस मुनि ने उक्त प्रकार के आक्षेप प्रधान प्रश्न किये हैं, वह अवश्य ही वेदों के तत्त्व का यथार्थ ज्ञान रखने वाला कोई महान् भिक्षु है। ऐसे धारणाशील विद्वान् मुनियों का संयोग कभी भाग्य से ही होता है। अतः इनके किये हुए प्रश्नों के उत्तर भी विनय पूर्वक इन्हीं से पूछने चाहिए और वे उत्तर भी वास्तविक होंगे, जिनमें कि फिर किसी प्रकार के संदेह को भी अवकाश नहीं रहेगा। इसलिए विजयघोष ने अपनी परिषद्-विद्वत्समण्डली - के सहित बड़े विनय के साथ हाथ जोड़कर जयघोष मुनि से पूछने की इच्छा प्रकट की। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि प्रतिपक्षी होने पर भी, ज्ञान प्राप्ति के लिए तो विनय को अवश्य अंगीकार करना चाहिये।

अग्निहुत्तमुहा वेया, जण्णट्ठी वेयसां मुहं।

णक्खत्ताण मुहं चंदो, धम्माणं कासवो मुहं॥१६॥

कठिन शब्दार्थ - अग्निहुत्तमुहा - मुख अग्निहोत्र है, चन्दो - चन्द्रमा, कासवो - काश्यप-ऋषभदेव।

भावार्थ - मुनि कहने लगे - वेद अग्निहोत्र की मुख्यता वाले हैं, अर्थात् वेदों में अग्निहोत्र प्रधान है। धर्मध्यान रूपी अग्नि में सद्भावना की आहुति दे कर कर्म रूप ईन्धन का जलाना, भाव-अग्निहोत्र है। यज्ञार्थी अर्थात् अशुभ-कर्मों का नाश करने के लिए भाव-यज्ञ करने वाला यज्ञार्थी वेदस्-यज्ञों का मुख्य है। नक्षत्रों का चन्द्रमा मुख्य है और धर्म का काश्यप गोत्रीय भगवान् ऋषभदेव प्रधान हैं, क्योंकि युग की आदि में अर्थात् इस अवसर्पिणी काल में सर्वप्रथम धर्म की प्ररूपणा इन्होंने की थी।

विवेचन - अग्नि में आहुति देना या हवन करना, अग्निहोत्र कहलाता है। यह अर्थ तो विजयघोष को ज्ञान ही था किंतु अग्निहोत्र वेदों का मुख माना गया है। मुनि द्वारा इसकी व्याख्या यों की गई है - वेद का अर्थ ज्ञान है। जब ज्ञान के द्वारा सर्व द्रव्यों को भलीभांति जान लिया जाता है तब कर्म जन्य संसार चक्र से अपनी आत्मा को मुक्त करने के लिए तप, संयम रूप अग्नि के द्वारा कर्म रूप ईंधन को जला कर सद्भावना रूप आहुति की आवश्यकता रहती है। तप, संयम, अहिंसा आदि रूप अध्यात्म भाव ही अग्निहोत्र है।

यज्ञों का मुख यज्ञार्थी बताते हुए मुनि ने स्पष्ट किया कि इन्द्रिय और मन को असंयम से हटा कर संयम में केन्द्रित करने वाला आत्मसाधक ही भावयज्ञ का अनुष्ठान करने वाला सच्चा यज्ञार्थी होता है। प्रश्नव्याकरण सूत्र में अहिंसा को 'यज्ञ' बताया गया है। अतः अहिंसा का पूर्णतया पालन करने वाला संयमी ही यज्ञार्थी है।

इसके अतिरिक्त निघंटु-वैदिक कोष में यज्ञ का नाम 'वेदसा' भी लिखा है। अतः यज्ञ का मुख - उपाय अहिंसा आदि कर्म ही है।

नक्षत्रों में चन्द्रमा की प्रधानता होने के कारण नक्षत्रों का मुख चन्द्रमा कहा है।

इसके अतिरिक्त व्यापार विधि में भी चन्द्र संवत्सर और चन्द्र मास की ही प्रधानता मानी जाती है। इसी तरह तिथियों की गणना भी चंद्रमा के ही अधीन है। अतः चंद्रमा नक्षत्रों का मुख है।

काश्यप-ऋषभदेव ही इस अवसर्पिणी के सर्वप्रथम धर्मोपदेष्टा थे अतः धर्मों का मुख काश्यप कहा गया है।

वैदिक धर्म के शास्त्रों (आरण्यक और ब्रह्माण्ड पुराण) में भी ऋषभदेव को ही धर्म की आदि करने वाला माना है। इससे सिद्ध है कि सब धर्मों में प्रधान काश्यप - श्री ऋषभदेव ही हैं। अतः जिस प्रकार का अग्निहोत्र आदि कर्म का स्वरूप तुमने माना हुआ है, वह समीचीन नहीं है। इसका यथार्थ भाव तो जो ऊपर बताया गया है, वही है।

जहा चंदं गहाइया, चिड्ढंति पंजलीउडा।

वंदमाणा णमंसंता, उत्तमं मणहारिणो ॥१७॥

कठिन शब्दार्थ - गहाइया - ग्रह आदि, पंजलीउडा - हाथ जोड़े हुए, वंदमाणा णमंसंता - वन्दना-नमस्कार करते हुए, मणहारिणो - मनोहर।

भावार्थ - जिस प्रकार ग्रह-नक्षत्र आदि चन्द्रमा के सम्मुख हाथ जोड़ कर वंदन और स्तुति करते हुए, नमस्कार करते हुए तथा मन को हरण करते हुए अति विनम्र भाव से खड़े रहते हैं उसी प्रकार इन्द्र, चक्रवर्ती आदि सभी देव और मनुष्य तीर्थंकर भगवान् को विनम्रभाव से नमस्कार करते हैं।

विवेचन - प्रस्तुत गाथा में चन्द्रमा की उपमा से भगवान् ऋषभदेव की महनीयता एवं वंदनीयता सिद्ध की गई है। जैसे ग्रह, नक्षत्र और तारागणों का प्रमुख एवं स्वामी होने से चन्द्रमा उनके द्वारा पूजनीय और वंदनीय है उसी प्रकार भगवान् ऋषभदेव भी धर्मों में प्रमुख-आदि कारण होने से देवेन्द्र और मनुष्यों आदि के पूजनीय एवं वंदनीय है।

उपरोक्त दो गाथाओं में चारों प्रश्नों का उत्तर आ गया है।

अजाणगा जण्णवाई, विज्जा-माहणसंपया।

मूढा* सज्झाय-तवसा, भासच्छण्णा इवग्गिणो ॥१८॥

कठिन शब्दार्थ - अजाणगा - अनभिज्ञ, विज्जा माहणसंपया - विद्या और ब्राह्मण की सम्पदा से, जण्णवाई - यज्ञवादी, मूढा - मूढ (अज्ञानी), सज्झाय तवसा - स्वाध्याय और तप से, भासच्छण्णा इवग्गिणो - राख से ढकी हुई अग्नि की तरह।

भावार्थ - ब्रह्म विद्या रूपी ब्राह्मणों की सम्पत्ति को नहीं जानने वाले स्वाध्याय और तप के विषय में मूढ (अज्ञानी) यज्ञ करने वाले ये ब्राह्मण राख से ढकी हुई अग्नि के समान हैं अर्थात् ये ऊपर से शान्त दिखाई देते हैं किन्तु इनका हृदय कषायों से जल रहा है।

विवेचन - भस्म से ढकी हुई अग्नि जैसे बाहर से तो शान्त दिखाई देती है किन्तु अंदर से उष्ण होती है वैसे ही ये ब्राह्मण बाहर से तो स्वाध्याय-वेदों का अध्ययन तथा तप करते हुए शांत-दांत दिखाई देते हैं किन्तु इनके अंतर में कषायों की अग्नि जल रही है अतः वे विद्या (आध्यात्मिक विद्या) और संपदा (अकिंचन भाव) से अनभिज्ञ हैं।

स्व-पर आत्मा का उद्धार करने में कौन समर्थ है? इस पांचवें प्रश्न के उत्तर में मुनि के कथन का अभिप्राय यह है कि जिन ब्राह्मणों को आप स्व-पर समुद्धारक समझ रहे हैं उनमें ब्राह्मणोचित आध्यात्मिक गुणों का अभाव है।

किसी-किसी प्रति में 'मूढा' के स्थान पर 'गूढा' पाठ मिलता है। इसका अर्थ होता है - 'स्वाध्याय और तप से गूढ़' (छिपे हुए-अनभिज्ञ)।

अतः आगे की गाथाओं में जयघोष मुनि ब्राह्मण का सच्चा स्वरूप प्रकट करते हैं -

ब्राह्मण का लक्षण

जो लोए बंभणो वुत्तो, अग्गीव महिओ जहा।

सया कुसल-संदिट्ठं, तं वयं बूम माहणं ॥१९॥

कठिन शब्दार्थ - बंभणो - ब्राह्मण, वुत्तो - कहा गया है, अग्गीव जहा - अग्नि के समान, महिओ - माहित - पूजनीय, कुसल संदिट्ठं - कुशल सन्दिष्ट - कुशल पुरुषों (तीर्थकरों के) द्वारा कहा हुआ, बूम - कहते हैं।

* पाठान्तर - गूढा

भावार्थ - तत्त्वज्ञ पुरुषों द्वारा जो लोक में ब्राह्मण कहा गया है और जो अग्नि के समान सदा पूजनीय होता है। तत्त्वज्ञ पुरुषों द्वारा कहे गये उसे हम माहन - ब्राह्मण कहते हैं। मा - मत हण - मारो अर्थात्-जीवों को मत मारो, मत मारो ऐसा जो उपदेश देते हैं, उसे 'माहन' कहते हैं। माहन का शब्दार्थ ब्राह्मण होता है तथा जैन मुनि को भी 'माहन' कहते हैं।

जो ण सज्जइ आगंतुं, पव्वयंतो ण सोयइ।

रमए अज्जवयणम्मि, तं वयं बूम माहणं॥२०॥

कठिन शब्दार्थ - ण सज्जइ - आसक्त नहीं होता, आगंतुं - आने पर, पव्वयंतो - चले जाने पर, ण सोयइ - शोक नहीं करता है, रमए - रमण करता है, अज्जवयणम्मि - आर्य वचनों में।

भावार्थ - जो पुरुष स्वजनादि के समीप आने पर उनमें आसक्त नहीं होता है और स्वजनादि से पृथक् हो कर दूसरे स्थान जाता हुआ शोक नहीं करता किन्तु आर्य-वचनों - तीर्थकर देव के वचनों में जो रमण करता है उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

जायरूवं जहामट्टं, णिद्धंतमल-पावगं।

रागद्वोसभयाईयं, तं वयं बूम माहणं॥२१॥

कठिन शब्दार्थ - जायरूवं - जात रूप - सोने की, जहामट्टं - जैसे कसौटी पर धिसे हुए, णिद्धंतमल पावगं - पाप रूपी मल का नाश किये हुए, रागद्वेष, भय आदि से रहित।

भावार्थ - पाप रूपी मल का नाश करके जो कसौटी पर कसे हुए एवं अग्नि में डाल कर शुद्ध किये हुए जात रूप-सोने के समान निर्मल है और जो राग-द्वेष तथा भय से रहित है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

विवेचन - 'जातरूप' नाम स्वर्ण का है। जैसे मनःशिला आदि रासायनिक द्रव्यों के संयोग से अग्नि में तपाने पर निर्मल होने से सुवर्ण अपने वास्तविक स्वरूप में आता हुआ सुवर्ण कहलाता है। तात्पर्य यह है कि अशुद्ध सुवर्ण को जैसे अग्नि में डाला जाता है और द्रव्यों के संयोग से उसको मल से रहित किया जाता है, फिर वह अपने असली रूप को प्रकट करने में समर्थ होता है अर्थात् लोक में वह स्वर्ण के नाम से पुकारा जाता है, ठीक इसी प्रकार साधन

सामग्री के द्वारा जिस आत्मा में भय रूप बाह्य और राग द्वेष रूप अंतरंग मल को दूर करके अपने को सर्वथा निर्मल बना लिया है, उसी को यथार्थ रूप में ब्राह्मण कहते हैं। यहाँ पर इतना स्मरण रहे कि जैसे संशोधित स्वर्ण अपने अपूर्व पर्याय को धारण कर लेता है उसी प्रकार कषाय मल से रहित हुआ आत्मा अपूर्व गुण को धारण करने वाला हो जाता है।

तवस्सियं किसं दंतं, अवचिय-मंस-सोणियं।

सुव्वयं पत्तणिव्वाणं, तं वयं बूम माहणं ॥२२॥

कठिन शब्दार्थ - तवस्सियं - तपस्वी, किसं - कृश, दंतं - दान्त, अवचिय-मंस-सोणियं - जिसका रक्त और मांस अपचित हो गया है, सुव्वयं - सुव्रती, पत्तणिव्वाणं - निर्वाण प्राप्त।

भावार्थ - उग्र तप का आचरण कर जिसने अपना शरीर कृश (दुबला-पतला) कर डाला है और रक्त तथा मांस सूखा डाला है जिसने पाँचों इन्द्रियों का दमन किया है निर्वाण प्राप्त-कषायामि को शान्त कर जो सुव्रत वाला-श्रेष्ठ व्रत वाला है। उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

तसे पाणे वियाणित्ता, संगहेण य थावरे।

जो ण हिंसइ तिविहेणं, तं वयं बूम माहणं ॥२३॥

कठिन शब्दार्थ - तसे य थावरे पाणे - त्रस और स्थावर प्राणियों को, वियाणित्ता - सम्यक् प्रकार से जान कर, तिविहेणं - मन, वचन, काया से, ण हिंसइ - हिंसा नहीं करता है।

भावार्थ - जो त्रस और स्थावर प्राणियों को संक्षेप से और विस्तार से भली प्रकार जान कर तीन करण तीन योग से उनकी हिंसा नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

विवेचन - जो त्रस और स्थावर प्राणियों की मन, वचन और काया से हिंसा करता नहीं तथा मन, वचन, काया से हिंसा करवाता नहीं और हिंसा करने वालों को मन, वचन, काया से अनुमोदन करता नहीं। वह माहन (मुनि) कहलाता है। यह नवकोटि पच्चक्खाण कहलाता है। इस प्रकार तीन करण तीन योग से जीवों की रक्षा रूप दया करने वाला तथा १८ पापों का त्यागी मुनि कहलाता है।

कोहा वा जइ वा हासा, लोहा वा जइ वा भया।

मुसं ण वयइ जो उ, तं वयं बूम माहणं ॥२४॥

कठिन शब्दार्थ - कोहा - क्रोध से, वा - अथवा, हासा - हास्य से, लोहा - लोभ से, भया - भय से, मुसं - मृषा, ण वयइ - नहीं बोलता है।

भावार्थ - क्रोध से अथवा हास्य से, लोभ से अथवा भय से जो तीन करण तीन योग से मृषा-झूठ नहीं बोलता उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

विवेचन - वैदिक शास्त्रों में भी - जो असत्य का त्यागी है, वही सच्चा ब्राह्मण है। इसी बात का समर्थन मिलता है। यथा -

'यदा सर्वाङ्गतं त्यक्तं मिथ्याभाषा विवर्जिता।

अनवद्यं च भाषेत, ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥'

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया घृतम्।

अश्वमेधसहस्रादि, सत्यमेव विशिष्यते॥

तात्पर्य यह है कि सत्य की सहस्रों अश्वमेधों से भी अधिक महिमा है।

चित्तमंतमचित्तं वा, अप्यं वा जइ वा बहुं।

ण गिणहइ अदत्तं जे, तं वयं बूम माहणं॥२५॥

कठिन शब्दार्थ - चित्तमंतं अचित्तं - सचित्त अथवा अचित्त, अप्यं - अल्प, बहुं - बहुत, अदत्तं - अदत्त-बिना दिया हुआ, ण गिणहइ - ग्रहण नहीं करता है।

भावार्थ - सचित्त अथवा अचित्त तथा अल्पमूल्य वाली एवं अल्प परिमाण वाली अथवा बहु मूल्य वाली एवं बहु परिमाण वाली बिना दी हुई वस्तु को जो तीन करण तीन योग से ग्रहण नहीं करता है उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

विवेचन - सचित्त - सजीव - चेतना वाले पदार्थ द्विपदादि और अचित्त - निर्जीव - चेतना रहित पदार्थ तृण भस्मादिक हैं। यहाँ पर सचेतनादि के कहने का अभिप्राय यह है कि जो तृतीय महाव्रत को धारण करने वाले हैं वे शिष्यादि को उनके सम्बन्धिजनों की आज्ञा के बिना ग्रहण नहीं कर सकते अर्थात् दीक्षा नहीं दे सकते। निर्जीव तृण भस्मादि तुच्छ पदार्थों को भी स्वामी के आदेश बिना ग्रहण करने की आज्ञा नहीं है। अन्यत्र भी कहा है -

'परद्रव्यं यदा दृष्टम्, आकुले ह्यथवा रथे।

धर्मकामो न गृह्णाति, ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥'

दिव्व-माणुस्स-तेरिच्छं, जो ण सेवेइ मेहुणं।

मणसा काय-वक्केणं, तं वयं बूम माहणं॥२६॥

कठिन शब्दार्थ - दिव्व माणुस्स तेरिच्छं - देव, मनुष्य और तिर्यच संबंधी, ण सेवेइ-सेवन नहीं करता, मेहुणं - मैथुन का, मणसा-काय-वक्केणं - मन वचन काया से।

भावार्थ - जो मन, वचन, काया रूपी तीन योग तीन करण से देव-मनुष्य और तिर्यच सम्बन्धी मैथुन का सेवन नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

जहा पोमं जले जायं, णोवलिप्पइ वारिणा।

एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं ॥२७॥

कठिन शब्दार्थ - पोमं - कमल, जले - जल में, जायं - उत्पन्न होकर, णोवलिप्पइ-लिप्त नहीं होता, वारिणा - जल से, अलित्तं - लिप्त नहीं होता, कामेहिं - कामभोगों में।

भावार्थ - जिस प्रकार पानी में उत्पन्न होकर भी कमल पानी से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार जो पुरुष काम-भोगों से लिप्त नहीं होता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

अलोलुयं मुहाजीविं, अणगारं अकिंचणं।

असंसत्तं गिहत्थेहिं, तं वयं बूम माहणं ॥२८॥

कठिन शब्दार्थ - अलोलुयं - अलोलुप, मुहाजीविं - मुधाजीवी, अकिंचणं - अकिंचन, असंसत्तं - संसर्ग (आसक्ति) रहित, गिहत्थेहिं - गृहस्थों के।

भावार्थ - जो लोलुपता रहित मुधाजीवी-निस्पृह और निःस्वार्थ भाव से अज्ञात कुल से निर्दोष भिक्षा ग्रहण कर संयम जीवन बिताने वाला अकिंचन - परिग्रह-रहित गृहस्थों के परिचय रहित अनगार है, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

विवेचन - किसी भी सांसारिक लालसा के बिना साधु साध्वी के संयम पालन में सहायक बनने के लिए जो दाता गोचरी बहराता है, उसे 'मुधादायी' कहते हैं। 'यह दाता मुझे अच्छी अच्छी वस्तु देता है इसलिए मैं इसका कुछ उपकार करूँ' ऐसी भावना रखे बिना जो सिर्फ संयम पालन के लिए निःस्वार्थ भाव से भिक्षा लेता है, उसे 'मुधाजीवी' कहते हैं।

जिस घर में यह मालूम नहीं है कि साधु-साध्वी मेरे यहाँ आज गोचरी के लिए पधारेंगे। ऐसे कुल को 'अज्ञात कुल' कहते हैं। कहा है -

मुधादायी मुधाजीवी, दुर्लभ इण संसार।

वीर कहे सुण गोयमा, दोनों होवे भव पार॥

जहिता पुव्वसंजोगं, णाइसंगे य बंधवे।

जो ण सज्जइ भोगेसु, तं वयं बूम माहणं ॥२६॥

कठिन शब्दार्थ - जहिता - छोड़ कर, पुव्वसंजोगं - पूर्व संयोग को, णाइसंगे - ज्ञातिजनों के संबंधों को, बंधवे - बंधुओं का, ण सज्जइ - आसक्त नहीं होता, भोगेसु - भोगों में।

भावार्थ - पूर्वसंयोग (माता-पितादि के संयोग) को और सास-ससुर आदि ज्ञाति-सम्बन्धीजनों के संयोग को तथा बन्धुओं को छोड़ कर जो कामभोगों में आसक्त नहीं होता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

विवेचन - उपरोक्त ११ गाथाओं (क्रं. १६ से २६ तक) में जैन धर्मानुसार माहण-ब्राह्मण के यथार्थ लक्षण बताये गये हैं। जो इस प्रकार हैं - १. जो लोक में अग्नि के समान पूज्य हो २. जो स्वजनादि के आगमन एवं गमन पर हर्ष या शोक से ग्रस्त नहीं होता ३. अर्हत्-वचनों में रमण करता हो ४. स्वर्णसम विशुद्ध हो ५. राग द्वेष एवं भय से मुक्त हो ६. तपस्वी, कृश, दान्त, सुव्रत एवं शान्त हो ७. तप से जिसका रक्त-मांस कम हो गया हो ८. जो मन, वचन, काया से किसी जीव की हिंसा नहीं करता ९. जो क्रोधादि वश असत्य नहीं बोलता १०. जो किसी प्रकार की चोरी नहीं करता ११. जो मन, वचन, काया से किसी प्रकार का मैथुन सेवन नहीं करता १२. जो कामभोगों से अलिप्त रहता है १३. जो अनगार, अकिंचन, गृहस्थों में अनासक्त, मुधाजीवी एवं रसों में अलोलुप है और १४. जो पूर्व संयोगों, ज्ञातिजनों और बान्धवों का त्याग करके फिर उनमें आसक्त नहीं होता।

वेद और यज्ञ आत्मरक्षक नहीं

पसुबंधा सव्ववेया, जट्टं च पावकम्मणा।

णं तं तायंति दुस्सीलं, कम्माणि बलवंति हि ॥३०॥

कठिन शब्दार्थ - पसुबंधा - पशुवध के हेतु, सव्ववेया - सभी वेद, पावकम्मणा - पाप कर्मों से, जट्टं - यज्ञ, णं तायंति - बचा नहीं सकते, दुस्सीलं - दुःशील को, कम्माणि-कर्म, बलवंति - बलवान् हैं।

भावार्थ - पशुवध का विधान करने वाले सभी वेद और पाप-कर्मकारी यज्ञ उस दुःशील-

हिंसादि कुकृत्यों में प्रवृत्ति करने वाले शील रहित पुरुष की दुर्गति से रक्षा नहीं कर सकते क्योंकि कर्म बड़े बलवान् होते हैं, वे अपना फल दिये बिना नहीं रहते।

विवेचन - पूर्वोक्त प्रकार से हिंसक यज्ञों में किये हुए पशुवधादि दुष्ट कर्म के कर्ता को बलात् नरक आदि दुर्गतियों में ले जाते हैं। क्योंकि वेद और यज्ञ में पशुवधादि होने से दुष्कर्म अत्यंत बलवान् होते हैं। अतः ऐसे यज्ञ करने से कोई ब्राह्मण नहीं होता।

वेदों में भी अनेक स्थलों में पशुओं के वध से युक्त यज्ञों का वर्णन हुआ है। इसका विस्तार से वर्णन पू० श्री आत्मारामजी म. सा. के उत्तराध्ययन सूत्र की इस गाथा की हिंदी टीका में किया गया है। जिज्ञासुओं के लिए वह द्रष्टव्य है।

श्रमण ब्राह्मण आदि किन् गुणों से होते हैं?

ण वि मुंडिण समणो, ण ओंकारेण बंभणो।

ण मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण ण तावसो॥३१॥

कटिन शब्दार्थ - मुंडिण - सिर मुंडा लेने से, समणो - श्रमण, ण ओंकारेण - न ओंकार का जाप करने से, बंभणो - ब्राह्मण, ण रण्णवासेणं - न अरण्य वास करने से, कुसचीरेण - कुश के बने हुए चीवर पहनने से, तावसो - तापस।

भावार्थ - मस्तक मुंडाने से कोई श्रमण नहीं होता और ओंकार का उच्चारण करने से कोई ब्राह्मण नहीं होता अरण्य वास-वन में निवास करने मात्र से कोई मुनि नहीं बन जाता और वृक्षों की छाल पहनने से कोई तापस नहीं होता।

विवेचन - ॐ या ओंकार ये शब्द ब्राह्मण संस्कृति (वैदिक संस्कृति) का है किन्तु जैन संस्कृति (श्रमण संस्कृति) का नहीं है, क्योंकि जैनों के किसी भी आगम में ओम् शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है तब उसका अर्थ और महात्म्य तो मिले ही कहाँ से? ब्राह्मण संस्कृति का अनुकरण दिगम्बर जैन सम्प्रदाय ने किया और देखा-देखी अन्य जैन सम्प्रदायों ने भी की। दिगम्बर सम्प्रदाय की मान्यता है कि ओम् शब्द में पंचपरमेष्ठी का समावेश होता है। इसके लिए उन्होंने एक गाथा प्रचलित कर रखी है। वह इस प्रकार है -

अरिहंता असरीरा, आयरिय तह उवज्झाय मुणिणो।

पढमवस्तर निप्पण्णो, ओंकारो पंच परमेष्ठी॥

अर्थ - पंच परमेष्ठी का प्रथम अक्षर लेकर ओंकार शब्द बना है। परन्तु यह कहना प्रत्यक्ष विरुद्ध है क्योंकि प्रथम अक्षर तो ये हैं - अ, सि, आ, उ, सा। इनमें से सि और सा दोनों अक्षर ओम् में आये ही नहीं है। सिद्ध के लिए अशरीरी और साधु के लिए मुनि शब्द लेकर 'ओम्' शब्द बनाने की बात कहना अत्यन्त अनुचित है। क्योंकि इस प्रकार नमस्कार सूत्र को अपना इच्छानुसार तोड़ मरोड़ना अनन्त तीर्थकरों की आशातना करना है। अनादि काल से यह नमस्कार सूत्र इसी रूप में है इनको बदलना अनन्त तीर्थकरों की आशातना करना है। इसलिए तीर्थकरों के नाम के पहले ओम् शब्द लगाना उचित नहीं है।

इस गाथा में ओंकार शब्द आया है वह मंडन रूप नहीं है किन्तु खंडन रूप है कि - केवल ओम् ओम् रटने से कोई ब्राह्मण नहीं होता।

समयाए समणो होइ, बंभचेरेण बंभणो।

णाणेण य मुणी होइ, तवेण होइ तावसो ॥३२॥

कठिन शब्दार्थ - समयाए - समता रखने से, बंभचेरेण - ब्रह्मचर्य पालन से, णाणेण-सम्यग् ज्ञान से, तवेण - तप से।

भावार्थ - समताभाव धारण करने से श्रमण होता है और ब्रह्मचर्य का पालन करने से ब्राह्मण होता है। ज्ञान की आराधना करने से मुनि होता है और तप का सेवन करने से तपस्वी होता है।

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।

वइस्सो कम्मुणा होइ, सुद्धो हवइ कम्मुणा ॥३३॥

कठिन शब्दार्थ - कम्मुणा - कर्म से, खत्तिओ - क्षत्रिय, वइस्सो - वैश्य, सुद्धो - क्षुद्र, हवइ - होता है।

भावार्थ - कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है और कर्म से शूद्र होता है।

विवेचन - ब्राह्मण - 'ब्रह्म - आत्मानं वेत्ति जानाति इति ब्राह्मणः' अर्थात् ब्रह्म - आत्मा के स्वरूप को जानता है और आत्म-कल्याण के लिए प्रवृत्ति करता है उसको ब्राह्मण कहते हैं।

क्षत्रिय - 'क्षतात् त्रायते इति क्षत्रियः' अर्थात् जो प्राणियों की रक्षा करे और उनके दुःख को दूर करे उसे क्षत्रिय कहते हैं जैसा कि - कहा है - 'क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः, क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।'

वैश्य - 'वैशं व्यापारकरोति इति वैश्यः' अर्थात् जो व्यापार करता है उन्हें वैश्य कहते हैं। जिस देश का व्यापार बढ़ा चढ़ा एवं उन्नत होता है वह देश भी सब देशों से सब दृष्टि से बड़ा चढ़ा और उन्नत होता है।

शूद्र - 'शुचं शोकं अशुचिं च द्रवति दूरीकरोति इति शूद्रः' अर्थात् जो शोक एवं अशुचि को दूर कर स्थान को पवित्र करता है उसे शूद्र कहते हैं। यह कर्म की अपेक्षा चार वर्ण की व्याख्या है। नीति चार प्रकार की कही गई है - गृहस्थनीति, लोकनीति, राजनीति और धर्मनीति। सामाजिक दृष्टि से लोकनीति का महत्त्व है। अपने अपने वर्ण वाला अपने अपने वर्ण में ही कन्या आदि का लेन-देन करे इससे सामाजिक व्यवस्था शुद्ध बनी रहती है वर्ण संकरता नहीं होती। जाति सम्पन्नता (मातृपक्ष की निर्मलता) और कुल सम्पन्नता (पितृपक्ष की निर्मलता) बनी रहती है।

ए ए पाउकरे बुद्धे, जेहिं होइ सिणायओ।

सव्वकम्म-विणिमुक्कं, तं वयं बूम माहणं ॥३४॥

कठिन शब्दार्थ - पाउकरे - प्रकट (प्ररूपित) किया है, बुद्धे - सर्वज्ञ अर्हत, सिणायओ-स्नातक-पूर्ण, सव्वकम्म विणिमुक्कं - सर्व कर्मों से मुक्त होता है।

भावार्थ - तीर्थंकर देवों ने ये उपरोक्त अहिंसादि गुण बतलाये हैं जिनका आचरण करने से मनुष्य क्रमशः स्नातक अर्थात् केवलज्ञानी हो जाता है और सभी कर्मों से मुक्त हो जाता है उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

एवं गुणसमाउत्ता, जे भवंति दिउत्तमा।

ते समत्था समुद्धत्तुं, परमप्पाणमेव य ॥३५॥

कठिन शब्दार्थ - गुणसमाउत्ता - गुण सम्पन्न, दिउत्तमा - द्विजोत्तम, समुद्धत्तुं - उद्धार करने में, परमप्पाणमेव - स्व और पर आत्मा का।

भावार्थ - इस प्रकार उपरोक्त गुणों से युक्त जो द्विजोत्तम - उत्तम ब्राह्मण होते हैं वे अपनी और दूसरों की आत्मा का उद्धार करने में समर्थ हैं।

विवेचन - गुणों से ही व्यक्ति ब्राह्मण, श्रमण, मुनि या तपस्वी हो सकता है। केवल जन्म, वेष या बाह्य क्रियाकाण्डों से लक्ष्य सिद्ध नहीं होता है।

विजयघोष द्वारा कृतज्ञता प्रकाशन और गुणगान

एवं तु संसए छिण्णे, विजयघोसे य माहणे।

समुदाय तओ तं तु, जयघोसं महामुणिं ॥३६॥

कठिन शब्दार्थ - संसए - संशय, छिण्णे - मिट जाने पर, समुदाय - सम्यक् रूप से, महामुणिं - महामुनि।

भावार्थ - इस प्रकार संशय छिन्न-नष्ट हो जाने पर विजयघोष ब्राह्मण ने जयघोष मुनि की वाणी सुन कर और हृदय में धारण कर यह जान लिया कि यह मेरा संसारावस्था का भाई जयघोष ही महामुनि है।

विवेचन - जयघोष मुनि ने जब अपना वक्तव्य समाप्त किया, तब विजयघोष ब्राह्मण ने उनकी वाणी और आकृति से उनको पहचान लिया अर्थात् यह मेरा भ्राता ही है, इस प्रकार उसको निश्चय हो गया। वास्तव में शरीर की आकृति, वाणी और सहवास-वार्तालाप आदि से पूर्व विस्मृत पदार्थों की स्मृति हो ही जाया करती है।

तुट्टे य विजयघोसे, इणमुदाहु कयंजली।

माहणत्तं जहाभूयं, सुट्टु मे उवदंसियं ॥३७॥

कठिन शब्दार्थ - तुट्टे - संतुष्ट, इणमुदाहु - इस प्रकार कहा, कयंजली - हाथ जोड़ कर, माहणत्तं - ब्राह्मणत्व का, जहाभूयं - यथाभूत - यथार्थ, सुट्टु - अच्छा, उवदंसियं - उपदर्शन कराया।

भावार्थ - विजयघोष प्रसन्न हुआ और हाथ जोड़ कर इस प्रकार कहने लगा कि हे मुने! यथाभूत-वास्तविक ब्राह्मणत्व का स्वरूप आपने मुझे भली प्रकार उपदर्शित-समझाया है।

विवेचन - जब विजयघोष ने जान लिया कि 'ये मुनिराज तो मेरे पूर्वाश्रम के भाई हैं', तब उसको बड़ी प्रसन्नता हुई और हाथ जोड़कर जयघोष मुनि से कहने लगा कि - 'हे भगवन्! आपने ब्राह्मणत्व के यथावत् स्वरूप को बहुत ही अच्छी तरह से प्रदर्शित किया है।' तात्पर्य यह है कि आपने ब्राह्मण के जो लक्षण वर्णन किये हैं, वास्तव में वही यथार्थ हैं। अर्थात् इन

लक्षणों से लक्षित या इन गुणों से युक्त जो व्यक्ति है, उसी को ब्राह्मण कहना चाहिए। इसके अतिरिक्त विजयघोष के प्रसन्न होने के दो कारण यहाँ पर उपस्थित हो गये - एक तो संशयों का दूर होना और दूसरे वर्षों से गये हुए भ्राता का मिलाप होना। इसलिए वह अति प्रसन्नचित्त होकर जयघोष मुनि के पूर्वोक्त वर्णन का सविनय समर्थन करने लगा।

तुब्भे जइया जण्णाणं, तुब्भे वेयविऊ विऊ।

जोइसंगविऊ तुब्भे, तुब्भे धम्माण पारगा ॥३८॥

कठिन शब्दार्थ - तुब्भे - आप, जइया - यष्टा-यज्ञकर्ता, जण्णाणं - यज्ञों के, वेयविऊ - वेदवित्, विऊ - विद्वान्, जोइसंगविऊ - ज्योतिषांगों के वेत्ता, धम्माण पारगा - धर्मों के पारगामी।

भावार्थ - वास्तव में आप ही यज्ञों के करने वाले हैं। आप ही वेदवित्-वेदों के ज्ञाता विद्वान् हैं। आप ही ज्योतिष शास्त्र एवं उसके अंग जानने वाले हैं और आप ही धर्मों के पारगामी हैं।

तुब्भे समत्था उद्धत्तुं, परमप्पाणमेव य।

तमणुग्गहं करेहम्हं, भिक्खेणं भिक्खुउत्तमा! ॥३९॥

कठिन शब्दार्थ - तं अणुग्गहं - इसलिये अनुग्रह, करेह - करें, अम्हं - हम पर, भिक्खेणं - भिक्षा से, भिक्खुउत्तमा - उत्तम भिक्षुवर!

भावार्थ - हे मुने! आप अपनी और दूसरों की आत्मा का उद्धार करने में समर्थ हैं इसलिए हे भिक्षुओं में श्रेष्ठ भिक्षु! भिक्षा ग्रहण कर के हम पर अनुग्रह कीजिये।

विवेचन - जयघोष मुनि द्वारा अपने संशयों के दूर हो जाने तथा वर्षों से बिछुड़े हुए ज्येष्ठ भ्राता के मिलन से विजयघोष अत्यंत प्रसन्न थे। उन्होंने हाथ जोड़ कर आभार प्रदर्शित करते हुए कहा - हे भगवन्! आपने मुझे ब्राह्मणत्व का यथार्थ दर्शन करा दिया। वास्तव में आप ही सच्चे याज्ञिक, वेदज्ञ, ज्योतिषांगवेत्ता और धर्मपारगामी हैं और आप ही स्व पर का उद्धार करने में समर्थ हैं अतः आप यथेष्ट भिक्षा ग्रहण कर हमें अनुगृहीत कीजिये।

यहाँ पर इतना स्मरण रहे कि विजयघोष ने जयघोष मुनि की सेवा में भिक्षा के लिए जो प्रार्थना की है, वह भावपूर्ण और शुद्ध हृदय से की है। अतः प्रत्येक सद्गृहस्थ को योग्य पात्र का अवसर प्राप्त होने पर अपने अन्तःकरण में इसी प्रकार के भावों को स्थान देना चाहिए।

विजयघोष की इस प्रार्थना के उत्तर में जयघोष मुनि ने जो कुछ कहा अब इसका निरूपण करते हैं -

जयघोषमुनि का वैराग्य पूर्ण उपदेश

ण कञ्जं मज्झ भिक्खेणं, खिप्पं णिक्खमसू दिया।

मा भमिहिसि भयावट्टे, घोरे संसार-सागरे ॥४०॥

कठिन शब्दार्थ - ण कञ्जं - प्रयोजन नहीं है, भिक्खेणं - भिक्षा से, णिक्खमसू - अभिनिष्क्रमण कर, दिया - हे द्विज! मा भमिहिसि - भ्रमण न करना पड़े, भयावट्टे - भय के आवर्तों वाले, घोरे - घोर, संसार सागरे - संसार सागर में।

भावार्थ - मुनि फरमाते हैं कि - हे द्विज! मुझे भिक्षा से प्रयोजन नहीं है किन्तु मैं चाहता हूँ कि तुम शीघ्र प्रव्रज्या स्वीकार करो। ऐसा करने से तुमको भय रूप आवर्त वाले घोर संसार-सागर में परिभ्रमण नहीं करना पड़ेगा।

उवलेवो ह्मोइ भोगेसु, अभोगी णोवलिप्पइ।

भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चइ ॥४१॥

कठिन शब्दार्थ - उवलेवो - उपलेष, भोगेसु - भोगों में, अभोगी - अभोगी - भोगों का सेवन न करने वाला, णोवलिप्पइ - लिप्त नहीं होता, भमइ - भ्रमण करता है, विप्पमुच्चइ - मुक्त हो जाता है।

भावार्थ - भोगों को भोगने से कर्मों का बन्ध होता है और भोगों का सेवन न करने वाला कर्मों से लिप्त नहीं होता। यही कारण है कि भोगी आत्मा संसार में परिभ्रमण करती रहती है और भोगों का त्याग करने वाली आत्मा मुक्त हो जाती है।

उल्लो सुक्को य दो छूढा, गोलया मट्टियामया।

दो वि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो सौत्थ लग्गइ ॥४२॥

कठिन शब्दार्थ - उल्लो - गीला, सुक्को - सूखा, दो मट्टियामया - दो मिट्टी के, गोलया - गोले, छूढा - फेंके गए, आवडिया - आकर गिरे, कुड्डे - दीवार पर, लग्गइ - चिपक गया।

भाषार्थ - गीले और सूखे मिट्टी के दो गोलों को यदि भीत पर फँका जाय तो वे दोनों भीत से टकरायेंगे, उनमें जो गीला होगा वह वहीं चिपक जायगा।

एवं लग्गंति दुम्मेहा, जे णरा कामलालसा।

विरत्ता उ ण लग्गंति, जहा से सुक्कगोलए॥४३॥

कठिन शब्दार्थ - ण लग्गंति - नहीं चिपकते, दुम्मेहा - दुर्मेधा - दुर्बुद्धि, कामलालसा - कामभोगों की लालसा में संलग्न, विरत्ता - विरक्त।

भाषार्थ - इसी प्रकार जो दुर्मेधा-दुर्बुद्धि पुरुष कामभोगों में आसक्त रहते हैं वे कर्मों से लिप्त हो कर संसार में फँसे रहते हैं और जो विरक्त हैं वे यथा मिट्टी के सूखे गोले के समान कर्मों से लिप्त नहीं होते।

विवेचन - जयघोषमुनि ने विजयघोष को सावधान करते हुए कहा - हे विजयघोष! मिथ्यात्व के कारण घोर संसार समुद्र में भटक रहा है अतः मिथ्यात्व छोड़ और शीघ्र ही भगवती दीक्षा ग्रहण कर अन्यथा सप्तभय रूपी आवर्तों के कारण भयावह संसार समुद्र में डूब जायेगा। विषयवासना से युक्त जीव गीले मिट्टी के गोले की तरह कर्मों के लेप से युक्त होते हैं किंतु जो सूखे गोले की तरह कर्मों से लिप्त नहीं होते वे शीघ्र कर्मक्षय कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

यहाँ पर इतना और स्मरण रहे कि यज्ञमण्डप में उपस्थित हुए विद्वानों के सामने कर्मोपचय के सम्बन्ध में इस प्रकार अति स्थूल दृष्टान्त देने का तात्पर्य इतना ही प्रतीत होता है कि उन विद्वानों के साथ यज्ञ मण्डप में बैठे हुए अनेक साधारण बुद्धि रखने वाले मनुष्य भी उपस्थित थे, जो कि इस अति सूक्ष्म विषय को सहज में समझने की योग्यता नहीं रखते थे। इसलिए परमशैवाल जयघोष मुनि ने उनके बोधार्थ इस अति सहज और स्थूल दृष्टान्त को व्यवहार में लाने की चेष्टा की, जिससे कि वे लोग इस सरल दृष्टान्त के द्वारा कर्म बंध के विषय को अच्छी तरह से समझ जायं। जैसे कि स्थानांग सूत्र में लिखा है - 'हेडणा जाणइ' अर्थात् बहुत से जीव हेतु के द्वारा बोध को प्राप्त होते हैं।

जयघोष मुनि के इस सारगर्भित उपदेश को सुनने के अनन्तर विजयघोष याज्ञक ने क्या किया अर्थात् उसकी आत्मा पर मुनि जी के उक्त उपदेश का क्या प्रभाव पड़ा और उसने फिर क्या किया, अब इस विषय में कहते हैं -

विरवित, दीक्षा और सिद्धि

एवं से विजयघोसे, जयघोसस्स अंतिए।

अणगारस्स णिक्खंतो, धम्मं सुच्चा अणुत्तरं॥४४॥

कठिन शब्दार्थ - अंतिए - समीप, णिक्खंतो - निष्क्रमण किया, अणुत्तरं - अनुत्तर-श्रेष्ठ।

भावार्थ - इस प्रकार अनुत्तर-श्रेष्ठ धर्म सुन कर उस विजयघोष ब्राह्मण ने जयघोष मुनि के समीप निष्क्रमण किया अर्थात् दीक्षा धारण कर ली।

उपसंहार

खवित्ता पुब्बकम्माइं, संजमेण तवेण य।

जयघोस विजयघोसा, सिद्धिं पत्ता अणुत्तरं॥४५॥ त्तिवेमि॥

कठिन शब्दार्थ - खवित्ता - नष्ट करके, पुब्बकम्माइं - पूर्व संचित कर्मों को, संजमेण - संयम से, तवेण - तप से, सिद्धिं - सिद्धि को, पत्ता - प्राप्त की।

भावार्थ - संयम और तप से पूर्वकृत कर्मों का क्षय (नाश) कर के जयघोष और विजयघोष दोनों मुनि अनुत्तर-प्रधान सिद्धि गति को प्राप्त हो गये। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - जयघोषमुनि के तात्त्विक, सारगर्भित, वैराग्योत्पादक उपदेश को सुन कर विजयघोष ने मुनि दीक्षा अंगीकार करली। संचित कर्मों का क्षय करने में तप और संयम ही प्रधान कारण हैं। यह जान कर दोनों भाई मुनियों ने निर्मल तप संयम की अध्याधना की और सर्व कर्म क्षय कर सिद्धि गति प्राप्त की।

॥ यज्ञीय नामक पद्यीसर्वाँ अध्ययन समाप्त ॥



सामाचारी णामं छब्बीसइमं अज्झयणं

सामाचारी नामक छब्बीसवाँ अध्ययन

प्रस्तुत अध्ययन में श्रमण के दिन एवं रात्रि के आठ प्रहर की सम्यक् चर्या का वर्णन है। ध्यान, स्वाध्याय, भिक्षाचरी, भोजन, प्रतिलेखन आदि कब, किस विधि से करना, इसका सांगोपांग निरूपण इस अध्ययन में है। आचार में सम्यग्-विवेक का महत्त्व बताने के कारण इस अध्ययन का नाम 'सामाचारी' रखा गया है। यह सामाचारी प्राण की तरह संयमी जीवन की सहचारिणी, तन, मन, वचन को स्वस्थ, सतुलित, शांत और संघीय जीवन को व्यवस्थित रखने वाली है। संसार सागर को पार करने के लिये पंचाचारमयी तरणी है। व्याख्याओं में इसे 'चक्रवाल सामाचारी' कहा गया है। इस अध्ययन की प्रथम गाथा इस प्रकार है -

सामाचारी का स्वरूप

सामायारिं पवक्खामि, सव्व-दुक्ख-विमोक्खणिं।

जं चरित्ताण णिग्गंथा, तिण्णा संसारसागरं ॥१॥

कठिन शब्दार्थ - सामायारिं - सामाचारी का, पवक्खामि - मैं कथन करूंगा, सव्वदुक्ख विमोक्खणिं - समस्त दुःखों से मुक्त कराने वाली, चरित्ताण - आचरण करके, णिग्गंथा - निर्ग्रन्थ मुनि, तिण्णा - तिर गये, संसार सागरं - संसार सागर को।

भावार्थ - सभी दुःखों से छुड़ाने वाली सामाचारी कहूंगा जिसका सेवन करके अनेक निर्ग्रन्थ मुनि संसारसागर को तिर गये हैं। इसी प्रकार इसका सेवन करके अनेक निर्ग्रन्थ मुनि वर्तमान काल में संसार सागर से पार हो रहे हैं और आगामी काल में भी पार होंगे।

विवेचन - सामाचारी का विशेष अर्थ इस प्रकार है - १. सम्यक् आचरण समाचार कहलाता है अर्थात् शिष्टाचरित क्रिया-कलाप, उसका भाव है - सामाचारी। २. साधु वर्ग की इति कर्तव्यता अर्थात् कर्तव्यों की सीमा ३. समयाचारी - आगमोक्त अहोरात्र - क्रियाकलाप सूचिका ४. साधु जीवन के आचार व्यवहार की सम्यक् व्यवस्था।

सामाचारी के दस भेद

पढमा आवस्सिया णामं, बिइया य णिसीहिया।

आपुच्छणा य तइया, चउत्थी पडिपुच्छणा॥२॥

पंचमी छंदणा णामं, इच्छाकारो य छट्ठओ।

सत्तमो मिच्छाकारो य, तहक्कारो य अट्ठमो॥३॥

अब्भुट्ठाणं च णवमं, दसमी उवसंपया।

एसा दसंगा साहूणं, सामायारी पवेइया॥४॥

कठिन शब्दार्थ - आवस्सिया - आवश्यकी, णिसीहिया - नैषिधिकी, आपुच्छणा - आपुच्छना, पडिपुच्छणा - प्रतिपुच्छना, छंदणा णामं - छन्दना नाम की, इच्छाकारो - इच्छाकार, मिच्छाकारो - मिथ्याकार, तहक्कारो - तथाकार, अब्भुट्ठाण - अभ्युत्थान, उवसंपया - उवसम्पदा, दसंगा - दश अंगों वाली, साहूणं - साधुओं की, पवेइया - कती है।

भावार्थ - अब दस सामाचारी के नाम कहे जाते हैं। यथा - पहली आवश्यकी नाम वाली है और दूसरी नैषेधिकी, तीसरी आपुच्छना और चौथी प्रतिपुच्छना है। पांचवीं छंदना नाम की और छठी इच्छाकार और सातवीं मिथ्याकार और आठवीं तथाकार है। नवमी अभ्युत्थान और दसवीं उवसम्पदा है। यह साधुओं की दस प्रकार की सामाचारी तीर्थकर भगवान् ने फरमाई है।

विवेचन - उपर्युक्त गाथाओं में जो दस प्रकार की सामाचारी के नाम बताए गये हैं, वे नाम अनानुपूर्वी के क्रम से समझने चाहिए। पूर्वानुपूर्वी का क्रम तो अनुयोग द्वार सूत्र में 'सामाचारी आनुपूर्वी' के वर्णन में दिया गया है, उस प्रकार से समझना चाहिए।

सामाचारी का प्रयोजन

गमणे आवस्सियं कुज्जा, ठाणे कुज्जा णिसीहियं

आपुच्छणा सयंकरणे, परकरणे पडिपुच्छणा॥५॥

कठिन शब्दार्थ - गमणे - गमन करते समय, आवस्सियं - आवश्यकी, कुज्जा - करे, ठाणे - स्थान में, णिसीहियं - नैषेधिकी, आपुच्छणा - आपुच्छना, सयंकरणे - अपना कार्य करने में, परकरणे - दूसरों के कार्य करने में, पडिपुच्छणा - प्रतिपुच्छना।

भावार्थ - १. बाहर जाने में आवश्यकी समाचारी करे अर्थात् आवश्यक कार्य के लिए अपने स्थान से बाहर जाते समय साधु को 'आवस्सिया आवस्सिया' कहना चाहिए अर्थात् मैं आवश्यक कार्य के लिए जाता हूँ। २. स्थान में नैपेधिकी समाचारी करे अर्थात् बाहर से लौट कर अपने स्थान में प्रवेश करते समय साधु को 'णिसीहिया णिसीहिया' कहना चाहिए (अब मैं बाहर के कार्यों से निवृत्त हो गया हूँ)। ३. स्वयं कार्य करने के लिए आपृच्छना समाचारी करनी चाहिए अर्थात् किसी भी कार्य में प्रवृत्ति करने से पहले गुरु से पूछना चाहिये कि 'क्या मैं यह कार्य करूँ?' इत्यादि। ४. दूसरे मुनियों का कार्य करने के लिए प्रतिपृच्छना समाचारी करनी चाहिए अर्थात् दूसरे मुनि का जो कार्य करने के लिए गुरु ने पहले आज्ञा फरमाई हो उस कार्य में प्रवृत्ति करते समय गुरु महाराज से फिर पूछना कि 'हे भगवन्! मैं अमुक मुनि का अमुक कार्य करूँ?' इस प्रकार पूछना प्रतिपृच्छना है। फिर से पूछने का अभिप्राय यह है कि कदाचित् वह कार्य किसी दूसरे मुनि ने कर दिया हो अथवा इस समय गुरु किसी दूसरे कार्य के लिए आज्ञा प्रदान करें' इसलिए प्रतिपृच्छना समाचारी का सेवन करना चाहिए।

छंदणा दव्वजाएणं, इच्छाकारो य सारणे।

मिच्छाकारो य णिंदाए, तहक्कारो पडिस्सुए॥६॥

कठिन शब्दार्थ - दव्वजाएणं - भिक्षा में प्राप्त द्रव्यों की, सारणे - स्वयं का कार्य करने या दूसरों का कार्य करवाने में, णिंदाए - आत्म निंदा करने में, पडिस्सुए - प्रतिश्रुत-गुरुजनों की बात स्वीकार करने में।

भावार्थ - ५. अशन-पान-खादिम-स्वादिम आदि के लिए दूसरे साधुओं को निमंत्रण देना छंदना समाचारी है जैसे - यदि आपके उपयोग में आ सके तो मेरे इस आहार में से ग्रहण कीजिये और ६. स्वयं कार्य करने में अथवा दूसरों से कोई कार्य करवाने में इच्छाकार समाचारी की जाती है जैसे - 'हे भगवन्! यदि आपकी इच्छा हो तो आप मुझे ज्ञानादि दे कर मुझ पर उपकार करें' इस प्रकार पूछना 'इच्छाकार' समाचारी है। ७. कोई दोष लग जाने पर आत्म-निंदा करना 'मिथ्याकार' समाचारी है। यदि साधुवृत्ति से विपरीत आचरण हो गया हो तो उसके लिए 'मिच्छामि दुक्कडं' देना पश्चात्ताप करना तथा आत्मनिन्दा करना कि 'मेरी आत्मा को धिक्कार हो जो मैंने अमुक अकार्य किया,' यह मिथ्याकार समाचारी कहलाती है और ८. गुरु महाराज के वचनों को सुन कर 'तहत्ति' या 'तथास्तु' कहना 'तथाकार' समाचारी है।

अभ्युद्घाणं गुरुपूया, अच्छणे उवसंपया।

एवं दुपंचसंजुत्ता, सामाचारी पवेइया ॥७॥

कठिन शब्दार्थ - गुरुपूया - गुरुपूजा, अच्छणे - विशिष्ट ज्ञानादि की प्राप्ति के लिए, दुपंचसंजुत्ता - द्विपंच संयुक्ता-दशविध अंगों से युक्त।

भावार्थ - ६. गुरुपूजा-गुरु महाराज एवं अपने से बड़े साधुओं की विनय-भक्ति करना तथा बाल, वृद्ध और ग्लान साधुओं को यथोचित आहार औषधि आदि ला कर देना 'गुरुपूजा अभ्युत्थान' नाम की समाचारी है और १०. ज्ञानादि के लिए अन्य गच्छ के आचार्य के पास रहना 'उपसंपदा' समाचारी है। इस प्रकार २×५=१० दस प्रकार की समाचारी कही गई है।

साधु की दिनचर्या

पुव्विल्लमि चउत्थमाए, आइच्चमि समुट्टिए।

भंडयं पडिलेहिता, वंदिता य तओ गुरुं ॥८॥

पुच्छिज्ज पंजलिउडो, किं कायव्वं मए इह।

इच्छं णिओइउं भंते! वेयावच्चे व सज्झाए ॥९॥

कठिन शब्दार्थ - पुव्विल्लमि - दिन के प्रथम प्रहर के, चउत्थमाए - चतुर्थ भाग में, आइच्चमि - आदित्य-सूर्य के, समुट्टिए - ऊपर उठने पर, भंडयं - भण्डोपकरण की, पडिलेहिता - प्रतिलेखना करके।

पुच्छिज्ज - पूछे, पंजलिउडो - हाथ जोड़ कर, किं कायव्वं - क्या करना चाहिए, इच्छं - इच्छानुसार, णिओइउं - नियुक्त करें, वेयावच्चे - वैयावृत्य, सज्झाए - स्वाध्याय में।

भावार्थ - आदित्य-सूर्य के उदय होने पर प्रथम प्रहर के चौथे भाग में भण्डोपकरण की प्रतिलेखना करे उसके बाद गुरु महाराज को वंदना करके हाथ जोड़ कर पूछे कि - 'हे भगवन्! इस समय मुझे क्या करना चाहिए? स्वाध्याय और वैयावृत्य, इन दोनों में से किस कार्य में आप मुझे नियुक्त करना चाहते हैं? आपकी इच्छानुसार आज्ञा दीजिये।'

विवेचन - दिन के चार प्रहरों में से प्रथम प्रहर के चौथे भाग यानी दो घड़ी सूर्य चढ़ जाने पर, अपने वस्त्र आदि धर्मोपकरणों का प्रतिलेखन करके शिष्य आचार्य आदि गुरु भगवंत को वंदन करके विनयपूर्वक पूछे कि भगवन्! अब मुझे क्या करना है? आप चाहें तो मुझे ग्लान,

रोगी आदि की वैयावृत्य करने में लगा दें अथवा आप चाहें तो मुझे स्वाध्याय की आज्ञा दें। आप जिस कार्य में मुझे नियुक्त करेंगे उसी में मैं नियुक्त हो जाऊंगा।

उपर्युक्त गाथा ८ में 'आइच्चम्मि समुट्टिए' शब्द के द्वारा प्रतिलेखना की समाप्ति का सूचन किया गया है। अर्थात् प्रथम प्रहर के प्रारम्भ के चतुर्थ भाग में जितना आकाश में सूर्य ऊपर उठता है, उतने समय में 'भण्डोपकरणों - पात्रों के सिवाय सभी उपकरणों' की प्रतिलेखना कर लेनी चाहिये। यहाँ पर गाथा में, आए हुए 'भण्डसं' शब्द से-पात्रों की उपधि के सिवाय उपकरणों को ही समझना चाहिए, क्योंकि आगे गाथा २२ में प्रथम प्रहर के अंतिम चतुर्थ भाग में पात्रों की उपधि की प्रतिलेखना करने का वर्णन आया है।

गाथा ९ में आए हुए 'सज्झाए' शब्द से स्वाध्याय एवं ध्यान (अर्थों का चिंतन) का ग्रहण समझना चाहिए एवं वैयावृत्य शब्द से अन्य सभी साध्वोचित कार्यों को समझना चाहिए। यहाँ पर प्रमुख रूप से गोचरी आदि के कार्यों को वैयावृत्य में बताया गया है।

वेयावच्चे णित्तेणं, कायव्व-मगिलायओ।

सज्झाए वा णित्तेणं, सव्वदुक्ख विमोक्खणे ॥१०॥

कठिन शब्दार्थ - कायव्वं - करे, अगिलायओ - बिना ग्लानि के, सव्वदुक्ख-विमोक्खणे - समस्त दुःखों से विमुक्त करने वाले।

भावार्थ - वैयावृत्य में नियुक्त साधु को चाहिए कि वह बिना ग्लानि के वैयावृत्य करे वा स्वाध्याय में नियुक्त साधु को चाहिए कि समस्त दुःखों से मुक्त कराने वाली स्वाध्याय में अतर्कित हो कर लग जाय।

दिवसस्स चउरो भागे, भिक्खू कुज्जा वियक्खणे।

तओ उत्तरगुणे कुज्जा, दिणभागेसु चउसु वि ॥११॥

कठिन शब्दार्थ - वियक्खणे - विचक्षण, उत्तरगुणे - उत्तरगुणों की, कुज्जा - करे, दिणभागेसु - दिन के भागों में।

भावार्थ - विचक्षण साधु दिन के चार भाग करे। इसके बाद दिन के चारों भागों में उत्तरगुणों का सेवक करे (स्वाध्यायादि करे)।

विवेचन - अस्तुत गाथा में आये हुए 'उत्तरगुणे' शब्द से तपस्या एवं स्वाध्याय आदि उत्तरगुणों को समझना चाहिए अर्थात् 'मूल गुणों को सुरक्षित रखने के लिए उत्तरगुणों की वृद्धि करे।'

पढमं पोरिसी संज्जायं, बीयं ज्ञाणं झियायइ।

तइयाए भिक्खायरियं, पुणो चउत्थीइ सज्जायं॥१२॥

कठिन शब्दार्थ - पढमं - प्रथम, पोरिसी - पौरुषी-प्रहर में, सज्जायं - स्वाध्याय, बीयं - दूसरी, ज्ञाणं झियायइ - ध्यान करे, भिक्खायरियं - भिक्षाचरी, चउत्थीइ - चतुर्थ प्रहर में।

भावार्थ - प्रथम पहर में स्वाध्याय करे। दूसरे पहर में ध्यान करे। तीसरे पहर में भिक्षाचर्या करे और चौथे पहर में पुनः स्वाध्याय करे।

विवेचन - यह गाथा सामान्य कथन की है अर्थात् इस गाथा में दिन के चार भाग बतला कर चार कार्य बतलाये हैं परन्तु यदि ये चार ही कार्य करे तो प्रतिलेखन, स्थण्डिल भूमि को जाना, विहार करना, बीमार साधु-साध्वी की सेवा करना आदि कार्य कब करें? अतः यह गाथा सामान्य रूप से कही गई है। क्योंकि- अगली गाथाओं में प्रतिलेखन आदि का विधान किया गया है।

तीसरे प्रहर में ही गोचरी जाना यह एकान्त नियम नहीं है। क्योंकि दशवैकालिक सूत्र के पूर्व अध्ययन में बतलाया गया है कि - जिस गांव में भोजन का जो समय हो उस समय गोचरी जाना चाहिये। मुनि को सम्बोधित कर शास्त्रकार ने फरमाया है कि - 'हे मुने! यदि गोचरी के समय का ध्यान नहीं रखोगे तो अपनी आत्मा को भी क्लेशित करोगे और उस गांव की भी निंदा करोगे।' अतः दशवैकालिक सूत्र के पांचवें अध्ययन के दूसरे उद्देशक की चौथी गाथा में कहा है -

कालेण णिवस्समे भित्थु, कालेण य षडित्तमे।

अकालं च विवत्तिता, काले कालं समासरे॥४॥

जिस समय गृहस्थों के घर भोजन बन जाय और गृहस्थ भोजन करने लग जाय तब गोचरी के लिए जावे और नियत समय पर वापिस सौट आवे। गोचरी के समय गोचरी और स्वाध्याय के समय स्वाध्याय करे। अकाल का निवर्जन करे।

दूसरी बात यह भी है कि - भगवती सूत्र शतक ७ उद्देशक १ में साधु के लिए कालातिक्रान्त दोष बताया है जिसका अर्थ है कि पहले प्रहर में लया हुआ आहार पानी चौथे प्रहर में करता है तो साधु साध्वी को कालातिक्रान्त दोष लगता है और उसका प्रायश्चित्त आता है। इसलिए यदि तीसरे प्रहर में ही गोचरी जाना का एकान्त नियम होता तो पहले प्रहर में गोचरी

जाता ही कैसे? अतः तीसरे प्रहर में ही गोचरी करना यह एकान्त नियम नहीं है। किन्तु यह सामान्य नियम है।

इस गाथा में आये हुए 'सज्झायं' शब्द से प्रमुख रूप से मूल आगम पाठों की परावर्तना समझनी चाहिए। इसीलिए ग्रंथों में प्रथम पौरिसी को 'सूत्रपौरुषी' कहा गया है। 'झाणं' शब्द से आगमों की वाचना, अनुप्रेक्षा आदि समझना चाहिए। ग्रंथों में द्वितीय पौरिसी को 'अर्थपौरुषी' कहा गया है।

पौरिसी का कालमात्र

आसाढे मासे दुपया, पोसे मासे चउप्पया।

चित्तासोएसु मासेसु, तिप्पया हवइ पोरिसी ॥१३॥

कठिन शब्दार्थ - आसाढे - आषाढ, मासे - मास में, दुपया - दो पैर की, पोसे - पौष, चउप्पया - चार पैर की, चित्तासोएसु - चैत्र और आसोज में, तिप्पया - तीन पैर की।

भावार्थ - आषाढ मास में दो पाँव जितनी, पौष मास में चार पाँव तथा चैत्र और आसोज मासों में तीन पाँव की पोरिसी होती है।

अंगुलं सत्तरत्तेणं, पक्खेणं च दुरंगुलं।

वहए हायए वावि, मासेणं चउरंगुलं ॥१४॥

कठिन शब्दार्थ - अंगुलं - अंगुल, सत्तरत्तेणं - सात अहोरात्र में, पक्खेणं - पक्ष में, दुरंगुलं - दो अंगुल, वहए - बढ़ती है, हायए - घटती है, चउरंगुलं - चार अंगुल।

भावार्थ - ऊपर की गाथा में चार महीनों में पोरिसी का परिमाण बताया गया है। शेष आठ महीनों का परिमाण बतलाया जाता है - प्रत्येक सात दिन-रात में एक-एक अंगुल और पक्ष (पन्द्रह दिनों) में दो-दो अंगुल और प्रत्येक मास में चार-चार अंगुल छाया बढ़ती और घटती है।

विवेचन - पुरुष शरीर से जिस काल को नापा जाता है, उसे पौरुषी (पोरिसी) कहते हैं। बारह अंगुल की छाया को एक पाद (पैर) कहते हैं। पुरुष अपना दाहिना कान सूर्य मण्डल के सम्मुख रख कर खड़ा हो और घुटने के बीच तर्जनी अंगुली रखकर उस अंगुली की छाया को देखें। यदि वह आषाढी पूर्णिमा को दो पैर परिमाण यानी २४ अंगुल हो जाय तो एक प्रहर प्रमाण दिन हो जाता है।

बारह महीनों में पौरिसी के परिमाण का खुलासा इस प्रकार है -

दिन या रात्रि के चौथे पहर को पौरिसी कहते हैं। शीतकाल में दिन छोटे होते हैं और रातें बड़ी। जब रातें लगभग पौने चौदह घण्टे की हो जाती हैं तो दिन सवा दस घण्टे का रह जाता है। उष्णकाल में दिन बड़े होते हैं और रातें छोटी। जब दिन लगभग पौने चौदह घंटे के होते हैं तो रात सवा दस घण्टे की रह जाती है। तदनुसार शीतकाल में रात्रि की पौरिसी बड़ी होती है और दिन की छोटी। उष्णकाल में दिन की पौरिसी बड़ी होती है और रात की छोटी।

पौरिसी का परिमाण घुटने की छाया से जाना जाता है। पौष की पूर्णिमा अथवा सब से छोटे दिन को जब घुटने की छाया चार पैर हो तब पौरिसी समझनी चाहिए। इस के बाद प्रति सप्ताह एक अंगुल छाया घटती जाती है। बारह अंगुल का एक पैर होता है। इस प्रकार आषाढी पूर्णिमा अर्थात् सब से बड़े दिन को छाया दो पैर रह जाती है। इस के बाद प्रति सप्ताह एक अंगुल छाया बढ़ती जाती है। इस प्रकार पौषी पूर्णिमा के दिन छाया दो पैर रह जाती है। जब सूर्य उत्तरायण होता है अर्थात् मकर संक्रांति से दिन से छाया बढ़नी शुरू होती है और सूर्य के दक्षिणायन होने पर अर्थात् कर्क संक्रांति से छाया घटनी शुरू होती है। बारह महीनों के प्रत्येक सप्ताह में पौरिसी की छाया जानने के लिए तालिका नीचे दी जाती है -

(१) श्रावण मास

सप्ताह	पैर	अंगुल
प्रथम	२	१
द्वितीय	२	२
तृतीय	२	३
चतुर्थ	२	४

(२) भाद्रपद मास

सप्ताह	पैर	अंगुल
प्रथम	२	५
द्वितीय	२	६
तृतीय	२	७
चतुर्थ	२	८

(३) आश्विन मास

सप्ताह	पैर	अंगुल
प्रथम	२	६
द्वितीय	२	१०
तृतीय	२	११
चतुर्थ	३	०

(४) कार्तिक मास

सप्ताह	पैर	अंगुल
प्रथम	३	१
द्वितीय	३	२
तृतीय	३	३
चतुर्थ	३	४

(५) मार्गशीर्ष मास

सप्ताह	पैर	अंगुल
प्रथम	३	३
द्वितीय	३	६
तृतीय	३	७
चतुर्थ	३	८

(६) पौष मास

पैर	अंगुल
३	६
३	१०
३	११
४	०

(७) माघ मास

सप्ताह	पैर	अंगुल
प्रथम	३	११
द्वितीय	३	१०
तृतीय	३	९
चतुर्थ	३	८

(८) फाल्गुन मास

पैर	अंगुल
३	७
३	६
३	५
३	४

(९) चैत्र मास

सप्ताह	पैर	अंगुल
प्रथम	३	३
द्वितीय	३	२
तृतीय	३	१
चतुर्थ	३	०

(१०) वैशाख मास

पैर	अंगुल
२	११
२	१०
२	९
२	८

(११) ज्येष्ठ मास

सप्ताह	पैर	अंगुल
प्रथम	२	७
द्वितीय	२	६
तृतीय	२	५
चतुर्थ	२	४

(१२) आषाढ मास

पैर	अंगुल
२	३
२	२
२	१
२	०

नोट:- पोरिसी का परिणाम चन्द्रसंवत्सर के अनुसार गिना जाता है। इसमें ३५४ दिन होते हैं। आषाढ, भाद्रपद, कार्तिक, पौष, फाल्गुन और वैशाख का कृष्ण पक्ष चौदह दिन का होता है। इसलिए इन्हें अवमरात्र कहा जाता है। इन पक्षों के सिवाय बाकी पक्षों में एक सप्ताह साढ़े सात सात दिन का समझना चाहिए।

चौदह दिनों का पक्ष किस-किस माह में?

आषाढ-बहुलपक्षे, भद्रवए कर्त्तिए य पोसे य।

फगुण-वइसाहेसु य, बोद्धव्वा ओमरत्ताओ ॥१५॥

कठिन शब्दार्थ - बहुलपक्षे - कृष्ण पक्ष में, भद्रवए - भाद्रपद में, कर्त्तिए - कार्तिक, फगुण वइसाहेसु - फाल्गुन और वैशाख मास में, बोद्धव्वा - समझनी चाहिए।

भावार्थ - आषाढ, भाद्रपद, कार्तिक, पौष, फाल्गुन और वैशाख, इन सब महीनों के कृष्ण-पक्ष में एक-एक तिथि घटती है ऐसा जानना चाहिए अर्थात् उपरोक्त महीनों का कृष्णपक्ष १४ दिन का होता है।

विवेचन - आषाढ आदि महीनों के कृष्णपक्ष में एक अहोरात्र का क्षय कर देना चाहिये। एक अहोरात्र कम होने से चौदह दिनों का पक्ष इन महीनों में स्वतः सिद्ध हो जाता है।

पौन पोरसी काल जानने का उपाय

जेठामूले आषाढ-सावणे, छहिं अंगुलेहिं पडिलेहा।

अट्टहिं बीयतयम्मि, तइए दस अट्टहिं चउत्थे ॥१६॥

कठिन शब्दार्थ - जेठामूले - जेठ, आषाढसावणे - आषाढ और श्रावण, छहिं अंगुलेहिं - छह अंगुलों से, पडिलेहा - प्रतिलेखना का काल, बीयतयम्मि - द्वितीय त्रिक में।

भावार्थ - जेठ, आषाढ और श्रावण मास में पोरिसी का जो परिमाण कहा गया है उसमें छह अंगुल और मिला देने से प्रतिलेखना का समय होता है। दूसरे त्रिक में (भाद्रपद, आश्विन और कार्तिक में) पोरिसी के परिमाण में आठ अंगुल मिलाने से और तीसरे त्रिक (मार्गशीर्ष पौष और माघ मास) में दस-दस अंगुल मिलाने से तथा चौथे त्रिक (फाल्गुन, चैत्र और वैशाख मास) में आठ अंगुल मिलाने से प्रतिलेखना का समय होता है।

विवेचन - अगर पौन पोरिसी की छाया का परिमाण जानना हो तो पहिले बताई हुई पोरिसी की छाया में नीचे लिखे अनुसार अंगुल मिला देने चाहिए - ज्येष्ठ, आषाढ और श्रावण मास में छह अंगुल। भाद्रपद, आश्विन और कार्तिक में आठ अंगुल। मार्गशीर्ष, पौष और माघ में दस अंगुल। फाल्गुन, चैत्र और वैशाख में आठ अंगुल। इस प्रकार छाया बढ़ाने से पौन पोरिसी निकल जाती है। इस समय वस्त्र-पात्रादि की प्रतिलेखना करे।

साधु की रात्रि चर्या

रत्तिं पि चउरो भागे, भिक्खू कुज्जा विचक्खणो।

तओ उत्तरगुणे कुज्जा, राइभागेसु चउसु वि॥१७॥

कठिन शब्दार्थ - रत्तिं - रात्रि, राइभागेसु - रात्रि के भागों में।

भावार्थ - विचक्षण साधु रात्रि के भी चार भाग करे। उसके बाद रात्रि के चारों ही भागों में उत्तरगुणों की वृद्धि करे अर्थात् प्रत्येक पोरिसी में उसके योग्य स्वाध्यायादि करके अपने गुणों की वृद्धि करे।

पढमं पोरिसी सज्झायं, बीयं झाणं झियायइ।

तइयाए णिइमोक्खं तु, चउत्थी भुज्जो वि सज्झायं॥१८॥

भावार्थ - पहले पहर में स्वाध्याय करे। दूसरे पहर में ध्यान करे और तीसरे पहर में निद्रा को मुक्त करे - अर्थात् नींद को रोके नहीं, किन्तु खुली छोड़ दे और चौथे पहर में फिर स्वाध्याय करे।

विवेचन - अठारहवीं गाथा में आए हुए 'णिइमोक्खं' शब्द का अर्थ 'निद्रामोक्षण' समझना चाहिए। इसका आशय यह है कि अन्य प्रहरों में जो निद्रा, स्वाध्याय आदि कार्यों में विघ्न कर रही थी उसे मुक्त कर देना। अर्थात् - विधि पूर्वक अनशन (सागारी संधारा) आदि करके यतना पूर्वक शयन करना चाहिये। शारीरिक विश्राम हेतु एवं प्रमाद घटाने का लक्ष्य होने से निद्रा-मोक्षण को उत्तरगुण कार्यों में बताया गया है। इससे संयम के कार्यों में जागृति बढ़ती है। आगम में मुनिषों के लिए निद्रा को भी जागरण बताया गया है।

जं णेइ जया रत्तिं, णक्खत्तं तम्मि णहइउठभाए।

संपत्ते विरमेज्जा, सज्झायं पओसकालम्मि॥१९॥

कठिन शब्दार्थ - णेइ - पूरी करता है, णक्खत्तं - नक्षत्र, णहइउठभाए - आकाश के चौथे भाग में, संपत्ते - आ जाने पर, पओसकालम्मि - प्रतोषकाल में।

भावार्थ - जब जो नक्षत्र रात्रि को समाप्त करता है अर्थात् जो नक्षत्र सारी रात उदित रह कर सूर्योदय के समय अस्त होता है। उस नक्षत्र के आकाश के चौथे भाग में प्राप्त होने पर प्रदोष काल में स्वाध्याय से निवृत्त हो जावे।

विवेचन - जिस काल में जो-जो नक्षत्र सारी रात तक उदित रहते हों, वे नक्षत्र जब

आकाश के चौथे भाग पर पहुँचे तब रात्रि का एक पहर गया, ऐसा समझना चाहिए। उस समय स्वाध्याय बंद कर देना चाहिये।

तम्मेष य णक्खत्ते, गयणचउब्भागसावसेसम्मि।

वेरत्तियं पि कालं, पडिलेहिता मुणी कुज्जा॥२०॥

कठिन शब्दार्थ - तम्मेष णक्खत्ते - उसी नक्षत्र के, गयणचउब्भागसावसेसम्मि - आकाश के अंतिम चतुर्थ भाग में, वेरत्तियं - वैरात्रिक।

भाषार्थ - उसी नक्षत्र के अर्थात् जो नक्षत्र रात्रि को पूर्ण करता है जब वह आकाश के चतुर्थ भाग के चौथे भाग पर आ जाय तब मुनि वैरात्रिक काल देख कर प्रतिक्रमण करे।

विवेचन - जो नक्षत्र सारी रात उदित रहता है वह चलते-चलते आकाश का केवल चौथा भाग शेष रहे वहाँ (चौथी पोरिसी में) आ पहुँचे तब समझना चाहिये कि अब पहर रात्रि शेष है और उसी समय स्वाध्याय में लग जाना चाहिए। उस पोरिसी के चौथे भाग में (दो घड़ी रात शेष रहने पर) मुनि को प्रतिक्रमण करना चाहिए।

रात्रि के मुख काल को प्रदोष काल कहते हैं, वह प्रातः और सायं के संधिकाल में होता है।

• दैनिक कर्त्तव्य

पुध्विल्लम्मि चउब्भाए, पडिलेहिताण भंडयं।

गुरुं वंदित्तु सज्जायं, कुज्जा दुक्खविमोक्खणं॥२१॥

कठिन शब्दार्थ - गुरुं वंदित्तु - गुरु को वन्दना करके, दुक्खविमोक्खणं - दुःखों से मुक्त कराने वाली।

भाषार्थ - साधु का दैनिक कर्त्तव्य - पहले पहर के चौथे भाग में भण्डोपकरणों की प्रतिलेखना करके गुरु को वन्दना करे फिर सभी दुःखों से मुक्त कराने वाली स्वाध्याय करे।

पोरिसीए चउब्भाए, वंदित्ताण तओ गुरुं।

अपडिक्कमिस्ता कालस्स, भायणं पडिलेहए॥२२॥

कठिन शब्दार्थ - अपडिक्कमिस्ता - प्रतिक्रमण किये बिना, भायणं - पात्रों की, पडिलेहए - प्रतिलेखना करे।

भाषार्थ - पहले पहर के चौथे भाग में (जब पौन पोरिसी हो जाय) तब गुरु महाराज को वन्दना कर के स्वाध्याय-काल से निवृत्त न हो कर पात्रों की प्रतिलेखना करे।

विवेचन - प्रथम पहर स्वाध्याय का समय है, उसमें जब दो घड़ी शेष रहे, तब उसे छोड़ कर स्वाध्याय के लिए जो चौदह अतिचारों का ध्यान किया जाता है, उसे न करके (क्योंकि फिर स्वाध्याय करना है) पात्रों की प्रतिलेखना करने में लग जाना चाहिए।

इस गाथा में आए हुए 'भायणं' शब्द से 'पात्रों की उपधि' का ग्रहण समझना चाहिए। क्योंकि अन्य सभी उपकरणों की प्रतिलेखना का वर्णन आठवीं गाथा में बता दिया गया है।

प्रतिलेखना करने की विधि

मुहपत्तिं पडिलेहिता, पडिलेहिज्ज गोच्छगं।

गोच्छगलइयंगुलियो, वत्थाइं पडिलेहए॥२३॥

कठिन शब्दार्थ - मुहपत्ति - मुखवस्त्रिका की, गोच्छगं - रजोहरण की, गोच्छगलइयंगुलियो - गोच्छक को अंगुलियों से ग्रहण करके।

भावार्थ - साधु मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे फिर पूंजणी और रजोहरण-लतिका - डण्डी इन सबको हाथ की अंगुलियों पर रख कर रजोहरण की प्रतिलेखना करे। तत्पश्चात् वस्त्रों की प्रतिलेखना करे।

विवेचन - यहाँ पर 'गुच्छग-गोच्छक' का अर्थ 'रजोहरण एवं पूंजनी' समझना चाहिए। यद्यपि वृत्तिकार ने गोच्छक का अर्थ 'पात्रों के ऊपर का उपकरण' ऐसा किया है, परन्तु विचार करने पर यह अर्थ प्रकरण-संगत प्रतीत नहीं होता। यदि पात्रों के ऊपर के वस्त्र को ही यहाँ पर गोच्छक शब्द से ग्रहण करें, तो उक्त गाथा के तीसरे पाद की वृत्ति में जो यह लिखा है कि - 'प्राकृतत्वादंगुलिभिर्लातो गृहीतो गोच्छको येन सोयमंगुलिंलातगोच्छकः' अर्थात् अंगुलियों से ग्रहण किया है गोच्छक जिसने, तो फिर उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। इसलिए गोच्छक शब्द का पारिभाषिक अर्थ यहाँ पर 'रजोहरण' ही शास्त्रकार को अभिप्रेत है। तात्पर्य यह है कि - 'पात्रों पर देने वाले वस्त्र को अंगुलियों में ग्रहण कर के वस्त्रों की प्रतिलेखना करे' इसका कुछ भी अर्थ प्रतीत नहीं होता। इसके अतिरिक्त यदि गोच्छक शब्द से 'रजोहरण' का ग्रहण यहाँ पर न किया जाए, तो फिर उक्त सूत्र में रजोहरण की प्रतिलेखना का विधान करने वाली और कौनसी गाथा है? अतः 'अंगुलियों से ग्रहण किया है गोच्छक जिसने' इस अर्थ की सार्थकता रजोहरण के साथ ही सम्बन्ध रखती है, क्योंकि रजोहरण में जो फलियाँ होती हैं, उनकी प्रतिलेखना अंगुलियों से ही की जा सकती है। इसलिए गोच्छक शब्द का गुरु परंपरा से प्राप्त जो 'रजोहरण और पूंजनी' अर्थ है, वही युक्ति-संगत प्रतीत होता है।

उहं थिरं अतुरियं पुव्विं ता वत्थमेव पडिलेहे।

तो बिइयं पप्फोडे, तइयं च पुणो पमज्जिज्जा॥२४॥

कठिन शब्दार्थ - उहं - ऊर्ध्व, थिरं - स्थिर, अतुरियं - शीघ्रता रहित, पुव्विं ता - पहले तो, वत्थमेव - वस्त्र की, बिइयं - दूसरे में, पप्फोडे - यतना से प्रस्फोटना करे (झटकावे), पमज्जिज्जा - प्रमार्जना करे।

भावार्थ - प्रतिलेखना करने की विधि, उत्कटुक आसन से बैठ कर वस्त्र को भूमि से ऊँचा रखते हुए स्थिरता एवं दृढ़ता पूर्वक वस्त्र को पकड़ कर शीघ्रता न करते हुए पहले तो वस्त्र की प्रतिलेखना करे उसके बाद दूसरी बार यतना से वस्त्र को खंखेरे (धीरे-धीरे झड़कावे) और फिर तीसरी बार यतनापूर्वक पूंजे।

अप्रमाद प्रतिलेखना के भेद

अणच्चावियं अवलियं, अणाणुबंधिं अमोसलिं चेव।

छप्पुरिमा णवखोडा, पाणीपाणि-विसोहणं॥२५॥

कठिन शब्दार्थ - अणच्चावियं - नचावे नहीं, अवलियं - मरोड़े नहीं, अणाणुबंधिं- वस्त्र का दृष्टि से अलक्षित विभाग न करे, अमोसलिं - स्पर्शन करे, छप्पुरिमा - छह - पुरिम-क्रियाएं, णवखोडा - नौ खोटक (प्रस्फोट), पाणीपाणि विसोहणं - जीवों को हथेली पर ले कर विशोधन करे।

भावार्थ - अप्रमाद प्रतिलेखना के छह भेद कहते हैं - १. प्रतिलेखना करते समय शरीर और वस्त्र को नचावे नहीं। २. वस्त्र कहीं से भी मुड़ा हुआ न रहे और प्रतिलेखन करने वाला भी शरीर बिना मोड़े सीधा बैठे। ३. वस्त्र को जोर से नहीं झड़के। ४. वस्त्र को ऊपर, नीचे या तिछें दीवाल आदि से न लगावे। ५. प्रतिलेखना में छह पुरिम और नवखोड़ करने चाहिए। वस्त्र के दोनों हिस्सों को तीन-तीन बार खंखेरेना 'छपुरिम' कहलाता है और वस्त्र को तीन-तीन बार पूंज कर तीन बार शोधना 'नवखोड़' कहलाता है और ६. वस्त्रादि पर चलता हुआ यदि कोई जीव दिखाई दे तो उसको अपनी हथेली पर उतार कर रक्षण करना चाहिए।

अप्रशस्त प्रतिलेखना

आरभडा सम्महा, वज्जेयव्वा य मोसली तइया।

पप्फोडणा चउत्थी, विक्खित्ता वेइया छट्ठी॥२६॥

कठिन शब्दार्थ - आरभडा - आरभटा, सम्मद्दा - सम्मर्दा, वज्जेयव्वा - छोड़ देना चाहिए, मोसली - मोसली - वस्त्र को दीवाल आदि से लगाना, पप्फोडणा - प्रस्फोटना, विक्खिता - विक्षिप्ता, वेइया - वेदिका।

भावार्थ - प्रमादपूर्वक की जाने वाली प्रतिलेखना 'प्रमाद प्रतिलेखना' कहलाती है। वह छह प्रकार की है - १. विपरीत रीति से या उतावल के साथ प्रतिलेखना करना अथवा एक वस्त्र की प्रतिलेखना अधूरी छोड़ कर दूसरे वस्त्र की प्रतिलेखना करने लग जाना "आरभटा" प्रतिलेखना है। २. वस्त्र के कोने मुड़े ही रहें (सल न निकाले जायं) वह 'सम्मर्दा' प्रतिलेखना है अथवा उपकरणों के ऊपर बैठ कर प्रतिलेखना करना सम्मर्दा प्रतिलेखना है और ३. वस्त्र को ऊपर नीचे और तिरछे दीवाल आदि पर लगाना 'मोसली' प्रतिलेखना है। ४. जिस प्रकार धूल से भरे हुए वस्त्र को जोर से झड़काया जाता है उसी प्रकार वस्त्र को जोर से झड़काना 'प्रस्फोटना' प्रतिलेखना है। ५. प्रतिलेखना किये हुए वस्त्रों को बिना प्रतिलेखना किये हुए वस्त्रों में मिला देना अथवा प्रतिलेखना करते समय वस्त्र के पल्ले आदि को ऊपर की ओर फेंकना 'विक्षिप्ता' प्रतिलेखना है और ६. प्रतिलेखना करते समय घुटनों के ऊपर नीचे और पसवाड़े हाथ रखना अथवा दोनों घुटनों को या एक घुटने को भुजाओं के बीच रखना 'वेदिका' प्रतिलेखना है। ये अप्रशस्त प्रतिलेखनाएँ हैं, इसलिए इनका त्याग कर देना चाहिए।

प्रमाद प्रतिलेखना के भेद

पसिडिलपलंबलोला, एगामोसा अणेगरूवधुणा।

कुणइ पमाणि पमायं, संकिय गणणोवगं कुज्जा॥२७॥

कठिन शब्दार्थ - पसिडिल - शिथिलता से पकड़ना, पलंब - लटकाना, लोला - रगड़ना, एगामोसा - घसीटना या एक ही दृष्टि में समूचे वस्त्र को देखना, अणेगरूवधुणा - अनेक रूप से वस्त्र को धुनना-हिलाना या झटकाना, पमाणि - प्रमाण में, पमायं - प्रमाद, संकिय - शंका होने पर, गणणोवगं - अंगुलियों पर गिनना।

भावार्थ - प्रमाद प्रतिलेखना के छह भेद आगे बताये हैं। इस गाथा में सात भेद और बताये जाते हैं - १. वस्त्र को दृढ़ता से न पकड़ना, २. वस्त्र को दूर रख कर प्रतिलेखना करना, ३. वस्त्र को भूमि के साथ रगड़ना, ४. एक ही दृष्टि में तमाम वस्त्र को देख जाना, ५. प्रतिलेखना करते समय शरीर और वस्त्र को इधर-उधर हिलाना, ६. प्रतिलेखना में नखोड़ा आदि का जो परिमाण बतलाया गया है, उसमें उपयोग न रखते हुए प्रतिलेखना करना।

७. प्रतिलेखना करते समय यदि शंका उत्पन्न हो जाय तो अंगुलियों पर गिन्ने लगना और उससे उपयोग का चूक जाना तथा ध्यान अन्यत्र चला जाना। ये सब अप्रशस्त प्रतिलेखनाएँ हैं। मुनि को इनका त्याग करके शास्त्रोक्त विधि के अनुसार प्रतिलेखना करना चाहिए।

प्रतिलेखना की प्रशस्तता और अप्रशस्तता

अणूणाइरित्त-पडिलेहा, अविवच्चासा तहेव य।

पढमं पयं पसत्थं, सेसाणि उ अप्पसत्थाइं ॥२८॥

कठिन शब्दार्थ - अणूणाइरित्त - न्यून या अधिक, अविवच्चासा - विधि में विपर्यास रहित, पढमं पयं - प्रथम पद, पसत्थं - प्रशस्त, सेसाणि - शेष, अप्पसत्थाइं - अप्रशस्त।

भावार्थ - प्रतिलेखना के विषय में शास्त्रोक्त विधि से कम न करना, अधिक भी न करना और विपरीत न करना, यह पहला भंग प्रशस्त (शुद्ध) है और शेष भाग अप्रशस्त हैं।

विवेचन - प्रतिलेखना के त्रिसंयोगी आठ भंग इस प्रकार हैं -

भंग	अन्यून	अनतिरिक्त	अविपर्यास	शुद्ध/अशुद्ध	प्रशस्त/अप्रशस्त
१.	अन्यून	अनतिरिक्त	अविपर्यास	शुद्ध	प्रशस्त
२.	अन्यून	अनतिरिक्त	विपर्यास	अशुद्ध	अप्रशस्त
३.	न्यून	अतिरिक्त	अविपर्यास	अशुद्ध	अप्रशस्त
४.	न्यून	अनतिरिक्त	अविपर्यास	अशुद्ध	अप्रशस्त
५.	अन्यून	अतिरिक्त	विपर्यास	अशुद्ध	अप्रशस्त
६.	न्यून	अनतिरिक्त	विपर्यास	अशुद्ध	अप्रशस्त
७.	अन्यून	अतिरिक्त	अविपर्यास	अशुद्ध	अप्रशस्त
८.	न्यून	अतिरिक्त	विपर्यास	अशुद्ध	अप्रशस्त

इन आठ भंगों में - शास्त्रोक्त विधि से न कम, न अधिक और न विपरीत, यह प्रथम भंग शुद्ध और प्रशस्त है। शेष सात भंग अशुद्ध और अप्रशस्त हैं। साधु-साध्वी को प्रथम भंग के अनुसार ही प्रतिलेखना करनी चाहिए। शेष ७ अशुद्ध भंगों को त्याग देना चाहिये।

प्रतिलेखना से विराधक और आराधक

पडिलेहणं कुणंतो, मिहो कहं कुणइ जणवय-कहं वा।

देइ व पच्चक्खाणं, वाएइ सयं पडिच्छइ वा ॥२९॥

पुढवी-आउक्काए, तेऊ-वाऊ वणस्सइ-तसाणं।

पडिलेहणापमत्तो, छण्हं पि विराहओ होइ॥३०॥

पुढवी-आउक्काए, तेऊ-वाऊ-वणस्सइ-तसाणं।

पडिलेहणा आउत्तो, छण्हंपि आराहओ होइ॥३१॥

कठिन शब्दार्थ - पडिलेहणं - प्रतिलेखना, कुणंतो - करता हुआ, मिहो - परस्पर, कहं - कथा-वार्तालाप, जणवय कहं - जनपद कथा, देइ - देता है, पच्चक्खाणं - प्रत्याख्यान, वाएइ - वाचना देता है, सयं - स्वयं, पडिच्छइ - वाचना लेता है, पडिलेहणा पमत्तो - प्रतिलेखना में प्रमाद, विराहओ - विराधक, आराहओ - आराधक।

भावार्थ - प्रतिलेखना करता हुआ जो साधु आपस में कथा-वार्तालाप करता है अथवा जनपद कथा, देशकथा आदि करता है, दूसरे को पच्चक्खाण कराता है अथवा दूसरे को वाचना देता है (पढ़ाता है) अथवा स्वयं वाचना लेता (पढ़ता) है वह प्रतिलेखना में प्रमाद करने के दोष का भागी होता है।

इस प्रकार प्रमत्तभावपूर्वक प्रतिलेखना करने वाला साधु पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय, इन छहों कार्यों का विराधक होता है।

प्रतिलेखना में उपयोग रखने वाला साधु पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय, इन छहों काय का संरक्षक एवं आराधक होता है।

विवेचन - प्रतिलेखना के समय जब साधक परस्पर संभाषण तथा पठन पाठनादि क्रियाएं नहीं करता तब स्वतः ही उसका उपयोग प्रतिलेखना में लग जाता है, इससे प्रमाद नहीं रहता और प्रमाद नहीं रहने से जीवों की विराधना नहीं होती। विराधना का न होना ही आराधकता है। इसी कारण अप्रमत्त होकर प्रतिलेखन करने वाले साधक को आराधक कहा गया है।

तृतीय पोरिसी की दिनचर्या

तइयाए पोरिसीए, भत्तं पाणं गवेसए।

छण्हं अण्णयरगम्मि, कारणम्मि समुट्टिए॥३२॥

कठिन शब्दार्थ - भत्तं - आहार, पाणं - पानी, गवेसए - गवेषणा करे, अण्णयरगम्मि- किसी एक, समुट्टिए - उपस्थित होने पर।

भावार्थ - दूसरी पोरिसी में ध्यान करना चाहिए। तीसरी पोरिसी में आगे कहे जाने वाले, छह कारणों में से किसी एक कारण के उपस्थित होने पर आहार-पानी की गवेषणा करे।

आहार पानी की गवेषणा के छह कारण

वेयण-वेयावच्चे, ईरियट्टाए य संजमट्टाए।

तह पाणवत्तियाए, छट्टं पुण धम्म-चिंताए॥३३॥

कठिन शब्दार्थ - वेयण - वेदना, वेयावच्चे - वैयावृत्य, ईरियट्टाए - ईर्यासमिति के लिए, संजमट्टाए - संयम पालने के लिए, पाणवत्तियाए - प्राणों की रक्षा के लिए, धम्मचिंताए-धर्म चिंतन के लिए।

भावार्थ - १. क्षुधावेदनीय की शांति के लिए, २. वैयावृत्य-सेवा करने के लिए, ३. ईर्यासमिति के पालन के लिए ४. संयम पालने के लिए तथा ५. दस प्राणों की रक्षा के लिए अर्थात् जीवन-निर्वाह के लिए ६. शास्त्र के पठन आदि धर्म चिन्तन के लिए साधु आहार-पानी की गवेषणा करे।

णिग्गंथो धिइमंतो, णिग्गंथी वि ण करिज्ज छहिं चेव।

ठाणेहिं उ इमेहिं, अणइक्कमणाइ से होइ॥३४॥

कठिन शब्दार्थ - णिग्गंथो - निर्ग्रथ, धिइमंतो - धृतिमान, णिग्गंथी - निर्ग्रथी, छहिं ठाणेहिं - छह कारणों से, ण करिज्ज - न करे, अणइक्कमणाइ - अतिक्रमण नहीं, होइ - होता।

भावार्थ - धैर्यवान् साधु अथवा साध्वी इन आगे कहे जाने वाले छह कारणों से आहार-पानी न करे तो वह तीर्थंकर देव की आज्ञा एवं संयम का अतिक्रमण नहीं करता, अपितु उनकी आज्ञा एवं संयम का पालन करने वाला ही होता है।

आहार पानी त्याग के छह कारण

आयंके उवसग्गे, तित्तिक्खया बंभचेर-गुत्तीसु।

पाणिदया तवहेउं, सरीरवोच्छेयणट्टाए॥३५॥

कठिन शब्दार्थ - आयंके - आतंक, उवसग्गे - उपसर्ग, तित्तिक्खया - तित्तिका (सहिष्णुता) वृद्धि के लिए, बंभचेरगुत्तीसु - ब्रह्मचर्य की गुप्ति (रक्षा) के लिए, पाणिदया -

प्राणियों की दया के लिए, तबहेउं - तप करने के लिए, सरीरवोच्छेयणद्वाए - काया के व्युच्छेदनार्थ।

भावार्थ - १. आतंक-रोग ग्रस्त होने पर २. देव-मनुष्य तिर्यच सम्बन्धी उपसर्ग आने पर ३. ब्रह्मचर्य-गुप्ति की रक्षा के लिए ४. प्राणी-भूत-जीव और सत्त्वों की रक्षा के लिए ५. तप करने के लिए और ६. अन्तिम समय में शरीर को छोड़ने की दृष्टि से संधारा करने के लिए। इन छह कारणों से आहार-पानी का त्याग करता हुआ साधु साध्वी तीर्थकर देव की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता।

अवसेसं भंडगं गिज्झा, चक्खुसा पडिलेहए।

परमद्धजोयणाओ, विहारं विहरए मुणी॥३६॥

कठिन शब्दार्थ - अवसेसं - अवशिष्ट, भंडगं - भाण्डोपकरण को, गिज्झा - ग्रहण करके, चक्खुसा - नेत्रों से, पडिलेहए - भलीभांति देख लें, परं - उत्कृष्टतः, अद्धजोयणाओ- अर्द्ध योजन प्रमाण, विहारं विहरए - विहार करे।

भावार्थ - मुनि सभी भंडोपकरण को लेकर आँख से भली प्रकार देखकर, फिर विहार करे अर्थात् गोचरी के लिए जावे किन्तु उत्कृष्ट आधे योजन (दो कोस) से आगे न जावे।

विवेचन - गोचरी के लिए साधु, उत्कृष्ट दो कोस तक जा कर आहार-पानी ला सकता है और यदि आहार-पानी साथ में ले कर विहार करे, तो उस आहार-पानी को दो कोस तक ले जा सकता है, आगे नहीं। आगे ले जाने से मार्गातिक्रान्त दोष लगता है।

भगवती सूत्र शतक ७ उद्देशा १ में अतिक्रान्त के चार दोष बतलाए हैं - १. क्षेत्रातिक्रान्त २. कालातिक्रान्त ३. मार्गातिक्रान्त और ४. प्रमाणातिक्रान्त।

जो कोई निर्ग्रन्थ साधु या साध्वी प्रासुक और एषणीय अशन, पान, खादिम, स्वादिम इन चार प्रकार के आहारादि को सूर्योदय से पहले ग्रहण करके सूर्योदय के बाद खाता है तो यह 'क्षेत्रातिक्रान्त दोष' कहलाता है।

दिन के पहले प्रहर में ग्रहण किये हुए आहार आदि को चौथे प्रहर में खाना 'कालातिक्रान्त' दोष है। इससे यह स्पष्ट होता है कि साधु साध्वी पहले प्रहर में भी गोचरी जा सकते हैं तभी यह कालातिक्रान्त दोष लगने की संभावना रहती है अतः तीसरे प्रहर में गोचरी जाना यह एकान्त नियम नहीं हैं।

आधा योजन अर्थात् दो कोस के उपरान्त ले जा कर आहार पानी आदि करना 'मार्गातिक्रान्त' दोष है।

बत्तीस कवल से अधिक आहार करना 'प्रमाणातिक्रान्त' दोष है।

चौथी पोरिसी की दिनचर्या

चउत्थीए पोरिसीए, णिक्खिवित्ताण भायणं।

सज्झायं च तओ कुज्जा, सव्वभावविभावणं ॥३७॥

कठिन शब्दार्थ - चउत्थीए पोरिसीए - चौथी पौरुषी (पोरिसी) में, भायणं - पात्रों, णिक्खिवित्ताण - रखकर, सव्वभावविभावणं - सभी भावों को प्रकाशित करने वाली।

भावार्थ - चौथी पोरिसी में भाजन-पात्रों को रख कर और उसके बाद सभी भावों को प्रकाशित करने वाली एवं समस्त दुःखों से छुड़ाने वाली स्वाध्याय करे।

पोरिसीए चउब्भाए, वंदित्ताण तओ गुरुं।

पडिक्कमित्ता कालस्स, सेज्जं तु पडिलेहए ॥३८॥

कठिन शब्दार्थ - चउब्भाए - चौथे भाग में, वंदित्ताण - वन्दना करके, सेज्जं - शय्या की, पडिलेहए - प्रतिलेखना करे।

भावार्थ - चौथी पोरिसी के चौथे भाग में गुरु महाराज को वन्दना करके तथा उस काल से निवृत्त होकर फिर शय्या आदि की प्रतिलेखना करे।

विवेचन - इस गाथा में आए हुए 'सेज्जं' शब्द से 'रात्रि में काम आने वाली सभी उपधि' का ग्रहण समझना चाहिए। पात्रों (मात्रक के सिवाय) की उपधि रात्रि में काम नहीं आने से दिन के चतुर्थ प्रहर में उनकी प्रतिलेखना का यहाँ विधान नहीं किया गया है। पात्रों को लेते, रखते एवं बांधते समय तो अच्छी तरह से देखकर यतना पूर्वक बांधना चाहिए। प्रत्येक उपकरणों को यतना पूर्वक लेने एवं रखने को शास्त्रकार आदान निक्षेप समिति कहते हैं। उपकरणों की प्रतिलेखना तो आवश्यकता से आगम में जितनी बार विधि बतलाई है उतनी बार ही करनी चाहिए।

पासवणुच्चार भूमिं च, पडिलेहिज्ज जयं जई।

काउस्सगं तओ कुज्जा, सव्वदुक्खविमोक्खणं ॥३९॥

कठिन शब्दार्थ - पासवणुच्चार भूमिं - प्रसवण और उच्चार भूमि का, जयं - यतना पूर्वक, जई - यति-साधु, काउस्सगं - कायोत्सर्ग, सव्वदुक्खविमोक्खणं - सर्व दुःखों से मुक्त कराने वाला।

भावार्थ - यति-साधु प्रस्रवण (लघुनीत) और उच्चार (बड़ीनीत) के स्थान को यतनापूर्वक देखे। इसके बाद सभी दुःखों से छुड़ाने वाला कायोत्सर्ग करे अर्थात् आवश्यक सूत्र के अनुसार प्रथम आवश्यक की आज्ञा लेकर उसमें कायोत्सर्ग करे।

विवेचन - स्थण्डिल भूमि के २७ मंडल टीकाकार ने दिये हैं वे इस प्रकार हैं -

गांव के अन्दर, समीप, मध्य और दूर यह तीन अध्यासनीय (सामान्य रूप से उपयोग में आने योग्य) और अनध्यासनीय (विशिष्ट प्रयोजन वश उपयोग में आने योग्य) इस प्रकार समीप, मध्य और दूर इस प्रकार प्रत्येक के दो-दो भेद होने से गांव के अन्दर के छह मंडल हुए। इसी प्रकार गांव के बाहर भी समीप, मध्य और दूर के दो-दो भेद होने से गांव के बाहर के भी छह मंडल हुए। इस तरह अन्दर और बाहर के मिलाने से बारह मंडल उच्चार (बड़ी नीत) के होते हैं। इसी प्रकार प्रस्रवण (लघुनीत) के भी बारह भेद हो जाते हैं। इसी प्रकार दोनों को मिलाने से क्षेत्र के २४ मंडल होते हैं फिर रात्रि के प्रथम, मध्यम और अंतिम भाग ऐसे काल के तीन भेद मिलाने से सब २७ मंडल होते हैं। साधु, साध्वी इन २७ मंडलों की प्रतिलेखना करें।

प्रश्न - दैवसिक (दिन सम्बन्धी) प्रतिक्रमण किस समय करने का विधान है? प्रतिक्रमण किस समय प्रारम्भ करना चाहिये? क्या सूर्यास्त होने के पहले प्रतिक्रमण के छहों आवश्यक पूरे हो जाने चाहिये?

उत्तर - इसका समाधान यह है कि - यहाँ पर अर्थात् उत्तराध्ययन सूत्र के २६ वें अध्ययन की बीसवीं गाथा तक सामान्य रूप से साधु साध्वियों का दिन और रात्रि संबंधी कार्य बतलाया गया है। इसके आगे १८॥ गाथा तक अर्थात् ३८॥ गाथा तक विशेष प्रकार से दिन के कार्य बतलाये गये हैं। बाद में (प्रतिक्रमण कायोत्सर्ग आदि) रात्रि के कार्य बताये गये हैं। इस (३६वीं) गाथा की टीका में इस प्रकार कहा है - “एवं च सप्तविंशति स्थंडिलानां प्रत्युप्रेक्षणानन्तरमादित्योऽस्तमेति इत्थं विशेषतो दिनकृत्यमभिधाय संप्रति तथैव रात्रिकर्तव्यमाह” -

अर्थ - दिन के चौथे प्रहर के चौथे भाग में उच्चार प्रस्रवण भूमि - स्थण्डिल भूमि की २७ प्रकार से प्रतिलेखना करे। इसके बाद सूर्य अस्त हो जाता है तब मुनि के दिन में करने योग्य कार्य बतला कर अब रात्रि में करने योग्य कार्य बतलाये जा रहे हैं। इस टीका से यह स्पष्ट होता है कि दैवसिक प्रतिक्रमण सूर्यास्त के बाद प्रारम्भ करना चाहिये।

इसी अध्ययन की ४३ वीं गाथा में बताया गया है कि - प्रतिक्रमण पूरा होने पर स्वाध्याय काल की प्रतिलेखना कर स्वाध्याय करे। दिन और रात की चार संध्याएं कही गई हैं। दिन में प्रातः काल तथा १२ बजे से १ बजे तक मध्याह्न काल। इसी प्रकार शाम को संध्याकाल और रात्रि में १२ बजे से १ बजे तक अर्द्ध रात्रि, इन चार संध्या कालों में स्वाध्याय करना निषिद्ध है। यदि कोई करे तो निशीथ सूत्र के १६ वें उद्देशक में इसका प्रायश्चित्त बतलाया है। यदि सूर्यास्त का समय प्रतिक्रमण की समाप्ति का समय होता तो प्रतिक्रमण समाप्त होते ही स्वाध्याय करना कैसे बतलाया जाता क्योंकि वह तो संध्या का समय है। इसलिए संध्या के अस्वाध्याय की समाप्ति के लगभग ही प्रतिक्रमण की समाप्ति का समय है। उसके बाद स्वाध्याय का समय आ जाता है।

दशाश्रुतस्कन्ध की सातवीं दशा में बतलाया गया है कि - पडिमाधारी अप्रतिबद्ध विहारी, घोर पराक्रमी, अग्नि या सिंह के आक्रमण से अपनी काया को विचलित नहीं करने वाले मुनि

“जत्थेव सूरिए अत्थमेज्जा तत्थेव उवायणावित्तए”

अर्थ - जहाँ सूर्यास्त हो जाय वहीं पर पडिमाधारी मुनि को ठहर जाना चाहिये। एक कदम भी आगे नहीं बढ़ना चाहिये।

इसका यह अर्थ हुआ कि - सूर्यास्त तक पडिमाधारी मुनि विहार कर सकते हैं। जब सूर्यास्त तक विहार कर सकते हैं तो सूर्यास्त तक प्रतिक्रमण पूरा कर लेना कैसे संभव है?

इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध होता है कि- 'दैवसिक' प्रतिक्रमण सूर्यास्त के बाद प्रारम्भ करना चाहिये।

प्रश्न - रात्रि का प्रतिक्रमण कब करना चाहिए?

उत्तर - ४६वीं गाथा और उसकी आगे की गाथाओं में बतलाया गया है कि - रात्रि का प्रतिक्रमण सूर्योदय से पहले पूरा हो जाना चाहिये। सूर्योदय के पहले ५-४ मिनट पहले प्रतिक्रमण (रात्रिक) पूरा हो जाना चाहिए किन्तु सूर्योदय के आधा घण्टे या इससे भी पहले तो पूरा नहीं करना चाहिये।

रात्रि चर्या

देवसियं च अइयारं, चिंतिज्ज अणुपुब्बसो।

णाणम्मि दंसणे चेव, चरित्तम्मि तहेव य॥४०॥

कठिन शब्दार्थ - अइयारं - अतिचार, चित्तिज्ज - चिंतन करे, अणुपुव्वसो - अनुक्रम से, गाणम्मि - ज्ञान में, चरित्तम्मि - चारित्र में लगे हुए।

भावार्थ - ज्ञान, दर्शन और चारित्र में लगे हुए दिवस सम्बन्धी अतिचार का अनुक्रम से चिन्तन करे।

विवेचन - ३६ वीं गाथा के पूर्वार्द्ध तक दिनचर्या का विधान करके उसी गाथा के उत्तरार्द्ध में रात्रिचर्या का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं - प्रथम आवश्यक की आज्ञा लेकर कायोत्सर्ग करे, जो शारीरिक और मानसिक दुःखों से छुटकारा दिलाने वाला है। कायोत्सर्ग में दिनभर में रत्नत्रयी में जो भी अतिचार लगे हों, उनका विचार करे।

पारियकाउस्सगो, वंदित्ताण तओ गुरुं।

देवसियं तु अइयारं, आलोएज्ज जहक्कम्मं ॥४१॥

कठिन शब्दार्थ - पारियकाउस्सगो - कायोत्सर्ग को पार कर, आलोएज्ज - आलोचना करे, जहक्कम्मं - यथाक्रम से।

भावार्थ - कायोत्सर्ग को पार कर फिर गुरु महाराज को वन्दना करके दिवस सम्बन्धी अतिचारों की यथाक्रम से आलोचना करे।

पडिक्कमित्तु णिस्सलो, वंदित्ताण तओ गुरुं।

काउस्सगं तओ कुज्जा, सव्व-दुक्खविमोक्खणं ॥४२॥

कठिन शब्दार्थ - पडिक्कमित्तु - प्रतिक्रमण करके, णिस्सलो - शल्य रहित होकर, वंदित्ताण - वंदना करके।

भावार्थ - प्रतिक्रमण करके शल्यरहित हो कर फिर गुरु महाराज को वन्दना करे, तत्पश्चात् सभी दुःखों से छुड़ाने वाला कायोत्सर्ग करे।

पारियकाउस्सगो, वंदित्ताण तओ गुरुं।

थुइमंगलं च काऊणं, कालं संपडिलेहए ॥४३॥

कठिन शब्दार्थ - थुइमंगलं - स्तुति मंगल, संपडिलेहए - प्रतीक्षा करे।

भावार्थ - कायोत्सर्ग पार कर फिर गुरु महाराज को वन्दना करके और सिद्ध भगवान् की नमोत्थुणं रूप स्तुति मंगल करके स्वाध्याय के काल की प्रतीक्षा करे अर्थात् स्वाध्याय का समय आने पर स्वाध्याय करे।

पढमं पोरिसी सज्झायं, बीयं ज्ञाणं ज्ञियायइ।

तइयाए णिहमोक्खं तु, चउत्थी भुज्जो वि सज्झायं॥४४॥

कठिन शब्दार्थ - णिहमोक्खं - निद्रा को मुक्त करे, भुज्जो - पुनः।

भावार्थ - रात्रिचर्या, पहली पोरिसी में स्वाध्याय करे। दूसरी पोरिसी में ध्यान करे और तीसरी पोरिसी में निद्रा को मुक्त करे अर्थात् आती हुई नींद को रोके नहीं किन्तु उसे खुली छोड़ दें तथा चौथी पोरिसी में पुनः स्वाध्याय करे।

पोरिसीए चउत्थीए, कालं तु पडिलेहिया।

सज्झायं तु तओ कुज्जा, अबोहंतो असंजए॥४५॥

कठिन शब्दार्थ - अबोहंतो - नहीं जगाता हुआ, असंजए - असंयत।

भावार्थ - चौथी पोरिसी में काल को प्रतिलेखना कर-देख कर अर्थात् अस्वाध्याय के कारणों को देख कर फिर असंयत पुरुषों को न जगाता हुआ स्वाध्याय करे अर्थात् इतने ऊँचे स्वर से स्वाध्याय न करे जिससे गृहस्थ लोग जग जाय फिर वे सावद्य कार्य में लग जाय, इससे मुनि को दोष लगता है। अतः स्वाध्याय आदि धीरे स्वर से करना चाहिए।

पोरिसीए चउब्भाए, वंदित्ताण तओ गुरुं।

पडिक्कमित्तु कालस्स, कालं तु पडिलेहए॥४६॥

भावार्थ - रात्रि की चौथी पोरिसी के चौथे भाग में गुरु महाराज को वन्दना करके फिर प्रतिक्रमण का समय आया हुआ जान कर रात्रि सम्बन्धी काल का प्रतिक्रमण करे।

आगए कायवोस्सग्गे, सव्वदुक्खविमोक्खणे।

काउस्सगं तओ कुज्जा, सव्वदुक्खविमोक्खणं॥४७॥

कठिन शब्दार्थ - आगए - आने पर, कायवोस्सग्गे - काय व्युत्सर्ग का समय।

भावार्थ - इसके बाद सभी दुःखों से मुक्त कराने वाले कायोत्सर्ग का समय आने पर समस्त दुःखों से छुड़ाने वाला कायोत्सर्ग करे।

राइयं च अइयारं, चिंतिज्ज अणुपुव्वसो।

णाणम्मि दंसणम्मि य, चरित्तम्मि तवम्मि य॥४८॥

भावार्थ - ज्ञान में, दर्शन में और चारित्र में तथा तप में लगे हुए रात्रि सम्बन्धी अतिचारों का अनुक्रम से चिन्तन करे।

पारियकाउस्सगो, वंदित्ताण तओ गुरुं।

राइयं तु अइयारं, आलोएज्ज जहक्कमं ॥४६॥

भावार्थ - कायोत्सर्ग पार कर फिर गुरु महाराज को वन्दना करके रात्रि सम्बन्धी अतिचारों की यथाक्रम से आलोचना करे।

पडिक्कमित्तु णिस्सल्लो, वंदित्ताण तओ गुरुं।

काउस्सगं तओ कुज्जा, सव्वदुक्खविमोक्खणं ॥५०॥

भावार्थ - उसके बाद प्रतिक्रमण (अतिचारों की आलोचना) करके शल्य रहित होकर गुरु महाराज को वन्दना करके उसके बाद सभी दुःखों से छुड़ाने वाला कायोत्सर्ग करे।

किं तवं पडिवज्जामि, एवं तत्थ विचिंतए।

काउस्सगं तु पारित्ता, करिज्जा जिणसंधवं ॥५१॥

कठिन शब्दार्थ - किं - कौनसा, तवं - तप, पडिवज्जामि - अंगीकार करूँ, विचिंतए- विचार करे, जिणसंधवं - जिनसंस्तव - जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति।

भावार्थ - कायोत्सर्ग में इस प्रकार विचार करे कि, आज मैं कौन-सा तप अंगीकार करूँ - इस प्रकार चिन्तन के पश्चात् कायोत्सर्ग पार कर जिनसंस्तव (जिन भगवान् की स्तुति रूप 'लोगस्स उज्जोयगरे' आदि) करे।

विवेचन - जब कायोत्सर्ग नामक पांचवें आवश्यक का आरंभ करे, तब उसमें इस प्रकार चिंतन करे कि - 'आज मैं कौन से तप का ग्रहण करूँ?' कारण यह है कि भगवान् महावीर स्वामी ने षट् मास पर्यन्त तप किया था। अतः मैं भी देखूँ कि मुझ में कितनी तप करने की शक्ति विद्यमान है। तप की अपार महिमा है। आत्मशुद्धि का यही एक सर्वोपरि विशिष्ट मार्ग है और इसी के द्वारा संसारी जीव विशुद्ध होकर परम कल्याण रूप मोक्ष को प्राप्त होते हैं। तप बाह्य और आभ्यन्तर भेद से बारह प्रकार का है। सो षट् मास से लेकर पांच मास, चार मास, तीन मास, दो मास और एक मास तथा पक्ष और अर्ध पक्ष यावत् यथाशक्ति एक दो दिन तक भी किया जा सकता है।

वर्तमान में प्रत्येक साधक के तप चिंतन की विधि का बराबर चिंतन नहीं समझ पाने से पूर्वाचार्यों ने इस तप चिंतन के स्थान पर दो लोगस्स के कायोत्सर्ग को मानकर प्रायश्चित रूप

दो लोग्स का कायोत्सर्ग तथा तप चिंतन रूप दो लोग्स का कायोत्सर्ग, इस प्रकार चार लोग्स के कायोत्सर्ग करने की व्यवस्था दी है।

पारियकाउस्सग्गो, वंदित्ताण तओ गुरुं।

तवं संपडिवज्जित्ता, करिज्जा सिद्धाण संथवं ॥५२॥

कठिन शब्दार्थ - संपडिवज्जित्ता - अंगीकार करके, सिद्धाण - सिद्ध भगवंतों की, संथवं - संस्तव (स्तुति)।

भावार्थ - कायोत्सर्ग पार कर गुरु महाराज को वन्दना करे, उसके बाद तप अंगीकार करे (प्रत्याख्यान करे) फिर सिद्ध भगवान् की स्तुति करे अर्थात् 'नमोत्थुणं' का पाठ बोले।

विवेचन - इस प्रकार रात्रि प्रतिक्रमण के छह आवश्यक पूर्ण हुए। यहाँ आवश्यक की विधि का संक्षेप में वर्णन किया गया है। विशेष विस्तार आवश्यक सूत्र में है।

उपसंहार

ऐसा समाचारी, समासेण वियाहिया।

जं चरित्ता बहू जीवा, तिण्णा संसारसागरं ॥५३॥ त्तिबेमि ॥

कठिन शब्दार्थ - समासेण - संक्षेप में, वियाहिया - वर्णन की गई है, चरित्ता - आचरण करके, तिण्णा - तिर गए, संसारसागरं - संसार समुद्र को।

भावार्थ - यह दस प्रकार की समाचारी संक्षेप से कही गई है। जिसका पालन करके बहुत-से जीव संसार-सागर से तिर गये हैं। इसी प्रकार वर्तमान काल में तिर रहे हैं और आगामी काल में भी तिरेंगे। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - आगमकार द्वारा प्ररूपित इस सामाचारी का समाचारी सहित आचरण करने से अनेक साधक संसार सागर को पार कर गये, वर्तमान में संख्यात जीव संसार सागर पार कर रहे हैं और भविष्य में अनेक भव्य जीव संसार सागर को पार करेंगे।

॥ सामाचारी नामक छब्बीसवीं अध्ययन समाप्त ॥



खलुंकिज्जं णामं सत्तावीसडमं अज्झायणं खलुंकीय नामक सत्ताईसवां अध्ययन

प्रस्तुत अध्ययन में दुष्ट-अविनीत बेल के दृष्टान्त के द्वारा अविनीत शिष्य की दुष्ट मानसिक वृत्तियों एवं आचार का मनोवैज्ञानिक दिग्दर्शन कराते हुए विनीत शिष्य के कर्तव्य का बोध कराया गया है। इसकी पहली गाथा इस प्रकार है -

गर्गाचार्य का परिचय

थेरे गणहरे गगो, मुणी आसी विसारए।

आइण्णे गणिभावम्मि, समाहिं पडिसंधए॥१॥

कठिन शब्दार्थ - थेरे - स्थविर, गणहरे - गणधारक-गच्छाचार्य, विसारए - विशारद, आइण्णे - गुणों से आकीर्ण-व्याप्त, गणिभावम्मि - गणि भाव में, समाहिं - समाधि को, पडिसंधए - पुनः जोड़ने वाले।

भावार्थ - स्थविर, गणधर अर्थात् गुणों के समूह को धारण करने वाले, विशारद-सभी शास्त्रों में कुशल आचार्य के गुणों से युक्त, टूटी हुई समाधि को फिर से प्राप्त करने वाले गर्ग गोत्रीय अतएव गर्गाचार्य नाम के एक मुनि थे।

विवेचन - गर्गाचार्य बड़े विद्वान् और समर्थ आचार्य थे। उनके बहुत से शिष्य थे, किन्तु वे सब अविनीत और स्वच्छन्दाचारी बन गये। उन अविनीत शिष्यों द्वारा अपने संयम में एवं भाव समाधि में, विघ्न पड़ते देख कर वे उन्हें छोड़ कर पृथक् हो गये और भाव-समाधि में लीन रहते हुए आत्मगुणों की वृद्धि करने लगे।

यहाँ पर स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न हो सकता कि गर्गाचार्य के सब शिष्य अविनीत कैसे हो गये?

इसका उत्तर यह है कि अगला बड़ा शिष्य अविनीत हो तो पीछे आने वाले शिष्य उसको देख कर आगे से आगे अविनीत होते जाते हैं। जैसे की कहावत है - 'बिगड़ियो साधु बिगाडे टोली, सडियो पान सडावे चोली' अर्थात् पानों की चोली (टोकरी) में कोई एक पान सड गया हो तो वह सारी टोकरी के पानों को सडा देता है। पनवाडी (पान बेचने वाला) प्रातःकाल

टोकरी के सब पानों को देखता है और सड़े हुए पान को निकाल फेंकता है। इसी प्रकार साधुओं के समूह में कोई एक साधु दोष सेवी शिथिलाचारी हो तो वह सारे साधु समूह को शिथिलाचारी बना देता है। अतः आचार्य का कर्तव्य है कि ऐसे शिथिलाचारी (जो प्रायश्चित्त देने पर भी बारबार दोष सेवन करता है) साधु को गच्छ से बाहर कर देना चाहिए, जिससे कि दूसरे साधुओं की सुरक्षा हो सके।

विनीत शिष्य से संसार पार

वहणे वहमाणस्स, कंतारं अइवत्तइ।

जोए वहमाणस्स, संसारो अइवत्तइ॥२॥

कठिन शब्दार्थ - वहणे - वाहन में, वहमाणस्स - जोता हुआ, कंतारं - कान्तार-महावन (अटवी) को, अइवत्तइ - पार हो जाता है, जोए - संयम-योग में।

भावार्थ - गार्गाचार्य अपने शिष्यों को उपदेश देते हुए कहते हैं कि - जिस प्रकार गाड़ी में जोता हुआ विनीत बैल, गाड़ी और गाड़ीवान् दोनों को ले कर सुखपूर्व कान्तार-अटवी को पार कर जाता है, उसी प्रकार योग-संयम-मार्ग में प्रवृत्त होता हुआ विनीत शिष्य, स्वयं और गुरु दोनों ही संसार से पार हो जाते हैं।

विवेचन - शिष्यों के विनीत भाव एवं संयम मार्ग में सम्यक् गति-प्रवृत्ति को देख कर गुरु भी समाधिमान् होकर शिष्य के साथ संसार सागर को पार कर जाते हैं।

अविनीत शिष्य और दुष्ट बैल

खलुंके जो उ जोएइ, विहम्माणो किलिस्सइ।

असमाहिं च वेएइ, तोत्तओ से य भज्जइ॥३॥

कठिन शब्दार्थ - खलुंके - दुष्ट बैलों को, जोएइ - जोतता है, विहम्माणो - प्रताड़न करता हुआ, किलिस्सइ - क्लेश पाता है, असमाहिं - असमाधि को, वेएइ - अनुभव करता है, तोत्तओ - तोत्रक-चाबुक, भज्जइ - टूट जाता है।

भावार्थ - जो गाड़ीवान् धृष्ट और दुष्ट (गलियार-आलसी अविनीत) बैलों को गाड़ी में जोतता है। वह उन्हें मारते-मारते थक जाता है, क्लेशित और खेदित होता है, असमाधि (दुःख) का अनुभव करता है और मारते-मारते उस गाड़ीवान् का चाबुक भी टूट जाता है।

एगं डसइ पुच्छम्मि, एगं विंधइऽभिकखणं।

एगो भंजइ समिलं, एगो उप्पहपट्टिओ ॥४॥

कठिन शब्दार्थ - डसइ - दश देता है, पुच्छम्मि - पूछ में, विंधइ - बीधता है, अभिकखणं - बार बार, भंजइ - तोड़ देता है, समिलं - जुए को, उप्पहपट्टिओ - उत्पथ प्रस्थित - उन्मार्ग पर चलता है।

भावार्थ - कोई गाड़ीवान् क्रोधित होकर ऐसे किसी एक गलियार बैल की पूछ दांतों से काटता है तथा किसी एक बैल के बार-बार लोहे की आर चुभा कर बीध डालता है तब कोई एक गलियार बैल जुए को तोड़ देता है और कोई एक उत्पथप्रस्थित - कुमार्ग में दौड़ जाता है। इस प्रकार गलियार बैल और गाड़ीवान् दोनों दुःखी होते हैं।

एगो पडइ पासेणं, णिवेसइ णिविज्जइ।

उक्कुहइ उप्फिडइ, सढे बालगविं वए ॥५॥

कठिन शब्दार्थ - पडइ - पड़ जाता है, पासेणं - एक ओर, णिवेसइ - बैठ जाता है, णिविज्जइ - लेट जाता है, उक्कुहइ - कूदता है, उप्फिडइ - उछलता है, सढे - शठ-धूर्त, बालगविं - तरुण गाय के पीछे, वए - भाग जाता है।

भावार्थ - कोई एक गलियार बैल एक पसवाड़े गिर जाता है, कोई बैठ जाता है, कोई लेट जाता है, कोई कूदने लगता है, कोई मेंढक के समान छलांगें मारता है और कोई दुष्ट बैल तरुण गाय को देख कर उसकी ओर दौड़ने लगता है।

माई मुद्धेण पडइ, कुद्धे गच्छइ पडिप्पहं।

मयलक्खेण चिट्ठइ, वेगेण य पहावइ ॥६॥

कठिन शब्दार्थ - माई - कपटी, मुद्धेण - मस्तक के बल, कुद्धे - क्रुद्ध होकर, पडिप्पहं-प्रतिपथ को, मयलक्खेण - मृतलक्षण, वेगेण - वेग से, पहावइ - दौड़ने लगता है।

भावार्थ - कोई मायावी बैल माथा नीचे करके गिर पड़ता है। कोई क्रोध में आ कर प्रतिपथ-सीधा मार्ग छोड़ कर कुमार्ग में दौड़ जाता है, मृतलक्षण-कोई बैल मृत्यु होने का ढोंग करके पड़ जाता है और कोई वेग से दौड़ने लगता है।

छिण्णाले छिंदइ सेल्लिं, दुहंतो भंजए जुगं।

से वि य सुस्सुयाइत्ता, उज्जहिता पलायए ॥७॥

कठिन शब्दार्थ - छिण्णाले - दुष्ट बैल, छिंदइ - तोड़ देता है, सेल्लिं - रस्सी को, दुहंतो - दुर्दान्त, जुगं - जुए को, भंजए - तोड़ डालता है, सुस्सुयाइत्ता - सूं सूं करके, उज्जहिता - छोड़ कर, पलायए - भाग जाता है।

भावार्थ - कोई दुष्ट बैल रश्मि-रस्सी को तोड़ देता है, दुर्दान्त (कठिनाई से वश में किया जा सकने वाला) कोई बैल जुए (धूसरे) को तोड़ डालता है और फिर वह दुष्ट बैल फुफकार मार कर गाड़ीवान् के हाथ से छूट कर भाग जाता है।

खलुंका जारिसा जुज्जा, दुस्सीसा वि हु तारिसा।

जोइया धम्म-जाणम्मि, भज्जंति धिइदुब्बला॥८॥

कठिन शब्दार्थ - जारिसा - जैसे, जुज्जा - जोते हुए, दुस्सीसा - दुष्ट शिष्य, तारिसा - वैसे, धम्मजाणम्मि - धर्मयान में, भज्जंति - दूर भागते हैं, धिइदुब्बला - धैर्य से दुर्बल।

भावार्थ - जैसे गाड़ी में जोते हुए धृष्ट-गलियार बैल गाड़ी को तोड़ कर एवं गाड़ीवान् को दुःखी करके भाग जाते हैं वैसे ही धर्म रूपी गाड़ी में जुते हुए धृतिदुर्बल-अधीर एवं कायर दुष्ट स्वच्छन्दी शिष्य भी संयम-धर्म को भंग कर देते हैं।

कुशिष्य और गर्गाचार्य

इह्ठी-गारविए एगे, एगेऽत्थ रस-गारवे।

साया-गारविए एगे, एगे सुचिर-कोहणे॥९॥

कठिन शब्दार्थ - इह्ठी गारविए - क्रद्धि गौरव से युक्त, एगे - कोई, रस गारवे - रस गौरव से युक्त, सायागारविए - सुख साता का गौरव (गर्व) करने वाला, सुचिरकोहणे - चिरकाल तक क्रोध रखने वाला।

भावार्थ - गर्गाचार्य अपने शिष्यों के विषय में कहते हैं कि - अत्र-मेरे इन शिष्यों में से कोई एक शिष्य क्रद्धि से गर्वित बने हुए हैं। कोई एक रसलोलुप बन गये हैं। कोई एक साताशील (सुख शीलिये) बन गये हैं और कोई चिर क्रोधी हैं।

भिक्खालसिए एगे, एगे ओमाण-भीरुए।

थद्धे एगे अणुसासम्मि, हेऊहिं कारणेहि य॥१०॥

कठिन शब्दार्थ - भिक्खालसिए - भिक्षाचरी करने में आलसी, ओमाण-भीरुए - अपमान से भयभीत होने वाला, थद्धे - स्तब्ध-अहंकारी, अणुसासम्मि - अनुशासित करने में, हेऊहिं - हेतुओं, कारणेहि - कारणों से।

भावार्थ - कोई एक शिष्य भिक्षा लाने में आलसी बन गये हैं। कोई एक शिष्य अपमान भीरु बन गये हैं (भिक्षा माँगने में अपना अपमान समझते हैं) और कोई एक अहंकारी बन गये हैं। ऐसे शिष्यों को जब मैं योग्य शिक्षा देता हूँ तो वे अनेक हेतु और कारणों से कुतर्क करते हैं।

सो वि अंतरभासिल्लो, दोसमेव पकुव्वइ।

आयरियाणं तु वयणं, पडिकूलेइऽभिक्खणं॥११॥

कठिन शब्दार्थ - अंतरभासिल्लो - बीच में बोलने लगता है, दोसमेव - दोष ही, पकुव्वइ - निकालता है, आयरियाणं - आचार्यों के, वयणं - वचन के, पडिकूलेइ - प्रतिकूल आचरण करता है, अभिक्खणं - बार बार।

भावार्थ - जब गुरु महाराज शिक्षा देते हैं तब भी वह दुष्ट शिष्य बीच ही में बोल उठता है और गुरु महाराज का ही दोष निकालता है और बार-बार आचार्य महाराज के वचनों से प्रतिकूल आचरण करता है।

ण सा ममं वियाणाइ, ण वि सा मज्झ दाहिइ।

णिग्गया होहिइ मण्णे, साहू अण्णोऽत्थ वच्चउ॥१२॥

कठिन शब्दार्थ - वियाणाइ - जानती है, मज्झ - मुझे, दाहिइ - देगी, णिग्गया - बाहर निकल गई, होहिइ - होगी, मण्णे - समझता हूँ, साहू - श्रेष्ठ है, अण्णो - अन्य को, वच्चउ - भेज दें।

भावार्थ - जब गुरु महाराज भिक्षा के लिए भेजते हैं, अथवा किसी ग्लान साधु के लिए विवक्षित औषधि या आहारादि लाने के लिए कहते हैं, तब अविनीत शिष्य बहाना बनाता हुआ इस प्रकार उत्तर देता है कि 'वह श्राविका तो मुझे पहचानती ही नहीं है अथवा वह मुझे भिक्षा देगी ही नहीं। मैं समझता हूँ इस समय वह घर से बाहर गई हुई होगी। अच्छा तो यह है कि इस कार्य के लिए आप किसी दूसरे साधु को भेज दें' अथवा कोई अविनीत शिष्य ऐसा भी कह देता है कि 'आप बार-बार मुझे ही मुझे कहते हैं। मेरे सिवाय दूसरे साधु भी तो हैं, उन्हें क्यों नहीं कहते?' इस प्रकार अविनयपूर्वक उत्तर देकर वे गुरु महाराज को खेदित करते हैं।

पेसिया पलिउंचंति, ते परियंति समंतओ।

राय-वेड्डिं च मण्णंता, करेति भिउडिं मुहे॥१३॥

कठिन शब्दार्थ - पेसिया - भेजे जाने पर, पलिउंचंति - अपलाप करते हैं, परियंति-भटकते रहते हैं, समंतओ - चारों ओर, रायवेड्डिं - राजा की बेगार, मण्णंता - मानते हुए, भिउडिं - भृकुटि, मुहे - मुख पर।

भावार्थ - किसी काम के लिए भेजे हुए अविनीत शिष्य, काम तो नहीं करते और पूछने पर इन्कार कर देते हैं कि 'आपने मुझे उस काम के लिए कहा ही कब था?' वे काम से जी चुरा कर इधर-उधर घूमते रहते हैं। यदि गुरु का कार्य करते हैं, तो उसे राजा की बेगार सरीखा मानते हुए मुख पर भृकुटि करते हैं अर्थात् क्रोधित होकर मुँह पर भृकुटि चढ़ाते हैं।

विवेचन - पुराने समय में जब राजाओं का राज्य था तब राजघराने में कोई काम होता तो राजा अपने किसी पुलिस (कर्मचारी) को भेजता कि पांच मजदूरों को ले आओ तो वह राज कर्मचारी बाजार में से किन्हीं पांच मजदूरों को पकड़ कर राजमहल में ले जाता, दिन भर उन से काम करवाता और शाम को उनकी कुछ भी मजदूरी दिये बिना घर भेज देता। वे मजदूर भी इस बात को जानते थे कि यहाँ से मजदूरी तो कुछ मिलना है नहीं, इसलिए बिना मन काम करते। जब राज कर्मचारी देखता तो काम करते अन्यथा बैठे रहते। इसलिए किसी से जबरदस्ती काम करवाना अथवा बिना मन काम करवाना वेठ-बेगार कहलाता है।

वाइया संगहिया चेष, भत्तपाणेण पोसिया।

जायपक्खा जहा हंसा, पक्कमंति दिसो दिसिं॥१४॥

कठिन शब्दार्थ - वाइया - वाचना दी-पढ़ाया, संगहिया - शिक्षा-दीक्षा दे कर अपने पास रखा, भत्तपाणेण - आहार पानी से, पोसिया - पोषण किया, जायपक्खा - पंख आने पर, जहा - जैसे; हंसा - हंस, पक्कमंति - उड़ जाते हैं, दिसोदिसिं - दशों दिशाओं में।

भावार्थ - गर्गाचार्य अपने मन में विचार करते हैं कि मैंने इन शिष्यों को पढ़ाया-गुनाया दीक्षित किया और आहार-पानी से पालन पोषण किया किन्तु जिस प्रकार पंखों के निकल आने पर हंस अपनी इच्छानुसार दिशा विदिशा में उड़ जाते हैं। इसी प्रकार ये मेरे शिष्य भी स्वच्छन्द बन कर अपनी इच्छानुसार कार्य करते हैं।

अह सारही विचिंतेइ, खलुंकेहिं समागओ।

किं मज्झ दुद्धसीसेहिं, अप्पा मे अवसीयइ ॥१५॥

कठिन शब्दार्थ - सारही - सारथी, विचिंतेइ - विचार करते हैं, समागओ - युक्त होने पर, दुद्धसीसेहिं - दुष्ट शिष्यों से, अप्पा - आत्मा, अवसीयइ - अवसाद-खेद पाती है।

भावार्थ - जिस प्रकार सारथी - आलसी बैलों को हांकने वाला गाड़ीवान् दुःखित होता है उसी प्रकार गलियार बैल के समान अविनीत शिष्यों से खेद को प्राप्त हुए गर्गाचार्य विचार करते हैं कि इन दुष्ट शिष्यों से मुझे क्या लाभ है? प्रत्युतः इनके संसर्ग से मेरी आत्मा खेदित और क्लेशित होती है। अतः इनके संर्ग का त्याग कर के मुझे अपनी आत्मा का कल्याण करना ही श्रेष्ठ है।

विवेचन - प्रस्तुत गाथाओं (क्रं. ६ से १५ तक) में गर्गाचार्य द्वारा अपने अविनीत शिष्यों की घृष्टता एवं अविनीतता का चित्रण किया गया है।

गर्गाचार्य ने चिन्तन किया कि इन घृष्ट और अविनीत शिष्यों से मेरा कौनसा इहलौकिक या पारलौकिक प्रयोजन सिद्ध होता है? उल्टे, इन्हें प्रेरणा देने पर मेरे आत्मकृत्य में हानि होती है। अतः इन कुशिष्यों को छोड़ कर मुझे स्वयं उद्यत विहारी हो जाना ही श्रेष्ठ है।

कुशिष्यों का त्याग

जारिसा मम सीसाओ, तारिसा गलिगद्दहा।

गलिगद्दहे जहित्ताणं, दढं पगिण्हइ तवं ॥१६॥

कठिन शब्दार्थ - जारिसा - जैसे, सीसाओ - शिष्य, तारिसा - वैसे, गलिगद्दहा - गलि गर्दभ, चइत्ताणं - छोड़ कर, दढं - दृढ़, पगिण्हइ - स्वीकार किया, तवं - तप को।

भावार्थ - जिस प्रकार गलियार गधे होते हैं वैसे ही मेरे ये शिष्य हैं। इस प्रकार विचार कर गर्गाचार्य गलियार गधों के समान अपने अविनीत शिष्यों को छोड़ कर दृढ़तापूर्वक तप-संयम का पालन करने लगे।

विवेचन - ढीठ गधों का यह स्वभाव होता है कि मंद बुद्धि होने के कारण उन्हें बार बार प्रेरणा देने पर भी वे प्रायः चलते नहीं, इसी प्रकार गर्गाचार्य के बार बार प्रेरणा देने पर भी उनके शिष्य सन्मार्ग पर नहीं चलते थे अतः आगमकार ने उन्हें 'गलि-गर्दभ' की उपमा दी है।

गर्गाचार्य का एकाकी विचरण

मिउ-महव-संपण्णो, गंभीरो सुसमाहिओ।

विहरइ महिं महप्पा, सीलभूएण अप्पणा॥१७॥ त्तिवेमि॥

कठिन शब्दार्थ - मिउमहवसंपण्णो - मृदु और मार्दव गुण से संपन्न, गंभीरे - गम्भीर, सुसमाहिए - सम्यक् समाधि में संलग्न, महिं - पृथ्वी पर, महप्पा - महात्मा, सीलभूएण - शीलभूत, अप्पणा - आत्मा से।

भावार्थ - मृदु मार्दव संपन्न (विनय और कोमलता सरलता सहित) गम्भीर, सुसमाधिवन्त वे महात्मा गर्गाचार्य शीलभूत श्रेष्ठ आचार वाले आत्मा से युक्त हो कर पृथ्वी पर विचरने लगे। शुद्ध संयम का पालन करके और आठ कर्मों को क्षय करके मोक्ष को प्राप्त हो गये। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - जिन कारणों से आत्मा में असमाधि उत्पन्न हो, ज्ञान, दर्शन, चारित्र की उन्नति में बाधा उपस्थित हो। धर्मध्यान, शुक्लध्यान के स्थान पर आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान उत्पन्न होता हो, उन कारणों से स्वयं को पृथक् रखना मुमुक्षु आत्मा का परम कर्त्तव्य है। यही अन्तःप्रेरणा गर्गाचार्य के मन में जागी और उन्होंने शिष्यों का मोह छोड़ कर स्वतंत्र समाधि मार्ग अपना लिया।

इस गाथा में आये हुए 'मिउ महव संपण्णो' शब्द का अर्थ - मृदु - ब्राह्मवृत्ति से कोमल-विनम्र तथा मन से भी मृदुता से युक्त समझना चाहिए।

॥ खलुंकीय नामक सत्ताईसवां अध्ययन समाप्त ॥



मोक्षमार्गगङ्गामं अहावीसडमं अज्झयणं

मोक्षमार्ग गति नामक अहाईसवां अध्ययन

मोक्ष के चार साधन हैं - १. सम्यग्-ज्ञान २. सम्यग्-दर्शन ३. सम्यक्-चारित्र और ४. सम्यक्-तप। तप को सम्यक्-चारित्र में अन्तर्भूत कर लेने से सम्यग्-ज्ञान, सम्यग्-दर्शन और सम्यक्-चारित्र रूपी रत्नत्रय मोक्षमार्ग कहलाता है।

इस अध्ययन में रत्नत्रयी रूप मोक्षमार्ग की ओर गति प्रवृत्ति का निरूपण होने से इसका नाम 'मोक्षमार्ग गति' रखा गया है।

प्रस्तुत अध्ययन की प्रथम गाथा इस प्रकार है -

मोक्षमार्ग का स्वरूप

मोक्षमार्गगङ्गामं तच्चं, सुणेह जिणभासियं।

चउकारणसंजुत्तं, णाण-दंसण-लक्खणं॥१॥

कठिन शब्दार्थ - मोक्षमार्गगङ्गामं - मोक्षमार्ग की गति को, तच्चं - तथ्य रूप-यथार्थ, सुणेह - सुनो, जिणभासियं - जिन-भाषित, चउकारणसंजुत्तं - चार कारणों से युक्त, णाण-दंसण-लक्खणं - ज्ञान और दर्शन के लक्षण वाली।

भावार्थ - जिनेन्द्र भगवान् द्वारा भाषित, कथित, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्-दर्शन, सम्यक्-चारित्र और सम्यक्-तप इन चार कारणों से संयुक्त अर्थात् इन चार कारणों से प्राप्त होने वाली, ज्ञान-दर्शन लक्षण वाली तथ्य-यथार्थ मोक्षमार्ग गति को सुनो अर्थात् मैं मोक्ष मार्ग गति नामक अध्ययन का वर्णन करता हूँ, सो तुम सुनो।

विवेचन - इस प्रथम गाथा में ज्ञान, दर्शन को लक्षण बताया गया है। अर्थात् ज्ञानादि चार कारण साधक अवस्था में होते हैं तथा ज्ञान एवं दर्शन तो स्वाभाविक रूप से सदा सर्वदा जीव के मौलिक लक्षण होने से एवं मुक्ति के मूल कारण भी ये दोनों ही होने से इन दोनों को ही लक्षण बताया गया है। साध्य अवस्था में ज्ञान और दर्शन गुण ही विद्यमान रहते हैं।

णाणं च दंसणं चैव, चरित्तं च तवो तथा।

एस मग्गोत्ति पण्णत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं॥२॥

कठिन शब्दार्थ - एस - यह, मग्गोत्ति - मार्ग है, जिणेहिं - जिनेन्द्र देवों ने, वरदंसिहिं - वरदर्शी - केवलज्ञानी, केवलदर्शी - सर्वज्ञ सर्वदर्शी।

भावार्थ - वरदर्शी-संसार के समस्त पदार्थों को देखने वाले सर्वज्ञ-सर्वदर्शी जिनेन्द्र देवों ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूप यह मोक्ष का मार्ग फरमाया है।

विवेचन - सम्यग्ज्ञानादि का स्वरूप - नय और प्रमाण से होने वाला जीवादि पदार्थों का यथार्थ बोध सम्यग्ज्ञान है। जिस गुण अर्थात् शक्ति के विकास से तत्त्व (सत्य) की प्रतीति हो, जिसमें हेय, ज्ञेय और उपादेय के यथार्थ विवेक की अभिरुचि हो, वह सम्यग्दर्शन है। सम्यग्ज्ञान पूर्वक काषायिक भाव यानी राग-द्वेष और योग की निवृत्ति से होने वाला स्वरूप रमण सम्यग्चारित्र है। एवं पुरातन कर्मों का क्षय करने के लिए द्वादश प्रकार की जो तपश्चर्या वर्णन की गई है वही तप है। इस प्रकार कैवल्यदर्शी-प्रधानद्रष्टा जिनेन्द्र देवों ने ये पूर्वोक्त चार मोक्ष के कारण बतलाये हैं अर्थात् सम्यग्-ज्ञान, सम्यग्-दर्शन, सम्यक्-चारित्र और सम्यक्-तप, इन चारों के द्वारा मोक्ष की उपलब्धि हो सकती है।

यद्यपि मूल गाथा में सम्यक् तप का उल्लेख नहीं है तथापि 'वरदर्शिप्रतिपादित' ऐसा कहने से, संशय, विपर्यय और अनध्यवसायात्मक मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर परिवेश में सम्यग् ज्ञानादि ही लिये जाते हैं तथा चारित्र से पृथक् जो तप का ग्रहण किया है उसका तात्पर्य कर्म-क्षय में तप को प्रधानता देना है अर्थात् तप के द्वारा कर्मों का विशेष क्षय होता है एवं 'जिन' इस शब्द के ग्रहण से मोक्ष मार्ग की संप्रयोजनता सिद्ध की गई है।

मोक्षमार्ग का फल

णाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।

एयं मग्ग-मणुपत्ता, जीवा गच्छंति सुग्गइं॥३॥

कठिन शब्दार्थ - एयं - इस, मग्गं - मार्ग को, अणुपत्ता - प्राप्त करने वाले, जीवा - जीव, गच्छंति - प्राप्त करते हैं, सुग्गइं - सुगति-मोक्ष को।

भावार्थ - ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, यह मोक्ष का मार्ग है। इस मार्ग का आचरण करके जीव सुगति - मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

विवेचन - अष्टविध कर्मों के बन्धन से सर्वथा मुक्त होना - मोक्ष है, उसका मार्ग

जिनोक्त सम्यग् ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप स्वरूप है। उक्त मोक्षमार्ग में शुद्ध गति-प्राप्ति या सिद्धि-मोक्ष मार्ग गति है।

यद्यपि उपर्युक्त गाथाओं में ज्ञानादि के पूर्व 'सम्यक्' विशेषण नहीं लगाया गया है किंतु 'तच्च' और 'जिणभासियं' ये दो शब्द ऐसे हैं जो दर्शन, ज्ञान आदि की सम्यक्ता के ही सूचक हैं। जिन्होंने सम्यग्ज्ञान आदि रूप मोक्षमार्ग की सम्यक् रूप से साधना-आराधना की है वे अवश्य ही सुगति - सिद्धि गति को प्राप्त करते हैं।

सम्यग्ज्ञान के भेद

तत्थ पंचविहं णाणं, सुयं आभिणिबोहियं।

ओहिणाणं तु तइयं, मणणाणं च केवलं॥४॥

कठिन शब्दार्थ - तत्थ - उनमें, पंचविहं - पंचविध-पांच प्रकार का, णाणं - ज्ञान, सुयं - श्रुत, आभिणिबोहियं - आभिनिबोधक, ओहिणाणं - अवधिज्ञान, तइयं - तीसरा, मणणाणं - मनःपर्यय ज्ञान, केवलं - केवलज्ञान।

भावार्थ - मोक्ष के जो चार कारण बताये गये हैं उनमें ज्ञान पाँच प्रकार का है। आभिनिबोधक (मतिज्ञान), श्रुतज्ञान, तीसरा अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान और केवलज्ञान।

विवेचन - आभिनिबोधक (मतिज्ञान) आदि पांच ज्ञानों का विस्तृत रूप से वर्णन नंदी सूत्र में तथा ठाणांग ५ उद्देशक ३ में है। संक्षेप में इनका स्वरूप इस प्रकार है -

१. मतिज्ञान (आभिनिबोधक ज्ञान) - इन्द्रिय और मन की सहायता से योग्य देश में रही हुई वस्तु को जानने वाला ज्ञान मतिज्ञान (आभिनिबोधक ज्ञान) कहलाता है।

२. श्रुतज्ञान - वाच्य - वाचक भाव सम्बन्ध द्वारा शब्द से सम्बद्ध अर्थ को ग्रहण कराने वाला इन्द्रिय मन कारणक ज्ञान श्रुतज्ञान है। जैसे - इस प्रकार कम्बुग्रीवादि आकार वाली वस्तु जलधारणादि क्रिया में समर्थ है और घट शब्द से कही जाती है। इत्यादि रूप से शब्दार्थ की पर्यालोचना के बाद होने वाले त्रैकालिक सामान्य परिणाम को प्रधानता देने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। अथवा -

मतिज्ञान के अनन्तर होने वाला और शब्द तथा अर्थ की पर्यालोचना जिसमें हो, ऐसा ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है। जैसे कि घट शब्द के सुनने पर अथवा आँख से घड़े के देखने पर उसके बनाने वाले का, उसके रंग का और इसी प्रकार तत्सम्बन्धी भिन्न-भिन्न विषयों का विचार करना श्रुतज्ञान है।

३. **अवधिज्ञान** - इन्द्रिय तथा मन की सहायता बिना, मर्यादा को लिए हुए रूपी द्रव्य का ज्ञान करना अवधिज्ञान कहलाता है।

४. **मनःपर्ययज्ञान** - इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना मर्यादा को लिए हुए संज्ञी जीवों के मनोगत भावों का जानना मनःपर्ययज्ञान है।

५. **केवलज्ञान** - मति आदि ज्ञान की अपेक्षा बिना, त्रिकाल एवं त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थों को युगपत् हस्तामलकवत् जानना केवलज्ञान है।

इस गाथा में श्रुतज्ञान का ग्रहण पहले किया है। इसका कारण यह है कि मतिज्ञान आदि ज्ञानों का स्वरूप प्रायः श्रुतज्ञान के अधीन है। इस बात को बतलाने के लिए यहाँ श्रुतज्ञान का ग्रहण पहले किया गया है।

एयं पंचविहं णाणं, दब्बाण य गुणाण य।

पज्जवाण य सव्वेसिं, णाणं णाणीहिं देसियं ॥५॥

कठिन शब्दार्थ - दब्बाण - द्रव्यों का, गुणाण - गुणों का, पज्जवाण - पर्यायों का, सव्वेसिं - समस्त, णाणं - जानने के लिए, णाणीहिं - ज्ञानी पुरुषों ने, देसियं - निर्देश किया है।

भावार्थ - ज्ञानी पुरुषों ने द्रव्य, गुण और उनकी समस्त पर्यायों को जानने के लिए यह उपरोक्त पाँच प्रकार का ज्ञान देशित-फरमाया है।

द्रव्य, गुण और पर्याय

गुणाणमासओ दव्वं, एगदव्वस्सिया गुणा।

लक्खणं पज्जवाणं तु, उभओ अस्सिया भवे ॥६॥

कठिन शब्दार्थ - गुणाणं - गुणों का, आसओ - आश्रय, एगदव्वस्सिया - एक द्रव्य के आश्रित, गुणा - गुण, लक्खणं - लक्षण, पज्जवाणं - पर्यायों का, उभओ - दोनों के, अस्सिया - आश्रित होकर रहना, भवे - होता है।

भावार्थ - द्रव्य गुणों का आश्रय-आधार है, अर्थात् जिसके आश्रय में गुण रहते हैं उसे 'द्रव्य' कहते हैं और गुण अपने आधारभूत एक द्रव्य में रहते हैं और पर्यायों का लक्षण यह है कि पर्यायें द्रव्य और गुण दोनों में आश्रित रहने वाली हैं अर्थात् द्रव्य और गुण दोनों में जो रहे, उसे 'पर्याय' कहते हैं।

विवेचन - जो रूप आदि गुणों तथा उसकी काला, नीला आदि विभिन्न पर्यायों का आधार है, वह द्रव्य है। जैन दार्शनिकों ने सहभावी धर्मों को गुण और क्रमभावी धर्मों को पर्याय कहा है। जैसे - आत्मा एक द्रव्य है, उसके ज्ञान आदि गुण हैं तथा कर्मवशात् उसकी मनुष्य तिर्यच आदि जो विभिन्न अवस्थाएँ हैं, वे उसकी पर्याय हैं।

षट् द्रव्य

धम्मो अधम्मो आगासं, कालो पुग्गल-जंतवो।

एस लोगो त्ति पण्णत्तो, जिणोहिं वरदंसिहिं॥७॥

कठिन शब्दार्थ - धम्मो - धर्मास्तिकाय, अधम्मो - अधर्मास्तिकाय, आगासं - आकाशास्तिकाय, कालो - काल, पुग्गल-जंतवो - पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय, एस-यह, लोगोत्ति - लोक, पण्णत्तो - कहा है।

भावार्थ - धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और काल, यह छह द्रव्य रूप लोक है। ऐसा वरदशीं, केवलदर्शीं, रागद्वेष को जीतने वाले जिनेश्वर देवों ने फरमाया है।

विवेचन - धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, जीव और काल जितने क्षेत्र में हैं, उतने क्षेत्र को 'लोक' कहते हैं। जहाँ आकाश के सिवाय अन्य कोई द्रव्य नहीं है, उसे 'अलोक' कहते हैं।

धम्मो अधम्मो आगासं, दव्वं इक्किक्कमाहियं।

अणंताणि य दव्वाणि, कालो पुग्गल-जंतवो॥८॥

कठिन शब्दार्थ - इक्किक्कं - एक-एक, आहियं - कहा है, अणंताणि - अनंत, दव्वाणि - द्रव्य।

भावार्थ - धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य ये एक-एक कहे गये हैं और काल पुद्गल और जीव, ये तीनों द्रव्य अनन्त कहे गये हैं।

गइ-लक्खणो उ धम्मो, अहम्मो ठाण-लक्खणो।

भायणं सव्वदव्वाणं, णहं ओगाह-लक्खणं॥९॥

कठिन शब्दार्थ - गइलक्खणो - गति लक्षण, ठाणलक्खणो - स्थिति लक्षण, भायणं-भाजन, सव्वदव्वाणं - सभी द्रव्यों का, णहं - नभ का, ओगाहलक्खणं - अवगाहन लक्षण।

भावार्थ - धर्मास्तिकाय गति-लक्षण वाला है अर्थात् धर्मास्तिकाय जीव और पुद्गल को गति करने में सहायता देता है और अधर्मास्तिकाय स्थिति लक्षण वाला है (अधर्मास्तिकाय जीव और पुद्गलों को ठहरने में सहायता देता है) और सभी द्रव्यों का भाजन (पात्र) आधारभूत नभ-आकाश अवगाहन-लक्षण वाला है। (समस्त पदार्थों का आधारभूत आकाश द्रव्य है और सब को अवकाश-स्थान देना उसका लक्षण है)।

वत्तणा लक्खणो कालो, जीवो उवओग-लक्खणो।

णाणेणं दंसणेणं च, सुहेण य दुहेण य ॥१०॥

कठिन शब्दार्थ - वत्तणा लक्खणो - वर्तना लक्षण वाला, उवओगलक्खणो - उपयोग लक्षण वाला, णाणेणं - ज्ञान से, दंसणेणं - दर्शन से, सुहेण - सुख से, दुहेण - दुःख से।

भावार्थ - काल द्रव्य, वर्तना लक्षण वाला है (जो जीव और पुद्गलों में नवीन-नवीन पर्याय की प्राप्ति रूप परिणमन करता रहता है एवं सभी द्रव्यों की अवस्थाओं को बदलता रहता है, वह 'काल द्रव्य' कहलाता है) जीव, उपयोग (चेतना) लक्षण वाला है, (जिसमें ज्ञान-दर्शन रूप उपयोग हो उसे 'जीव' कहते हैं) वह ज्ञान, दर्शन, सुख और दुःख द्वारा पहचाना जाता है।

णाणं च दंसणं चैव, चरित्तं च तवो तथा।

वीरियं उवओगो य, एयं जीवस्स लक्खणं ॥११॥

कठिन शब्दार्थ - वीरियं - वीर्य, उवओगो - उपयोग, जीवस्स लक्खणं - जीव का लक्षण।

भावार्थ - ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग, ये जीव के विशिष्ट लक्षण हैं, अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग ये जीव-तत्त्व को छोड़ कर अन्य किसी में नहीं रहते, इसलिए ये जीव के विशिष्ट (असाधारण) लक्षण हैं।

विवेचन - उपर्युक्त दसवीं और ग्यारहवीं गाथाओं में दो बार जीव द्रव्य के लक्षण बताये हैं। दसवीं गाथा के उत्तरार्द्ध में जीव के स्वाभाविक लक्षणों को बताया गया है अर्थात् ज्ञान, दर्शन, सुख और दुःख, ये चारों लक्षण सभी संसारी जीवों में होते हैं। मिथ्यात्व के होने पर मिथ्याज्ञान एवं मिथ्यादर्शन होता है तथा सम्यक्त्व के होने पर सम्यग् ज्ञान और सम्यग्दर्शन होता है। सिद्ध अवस्था में भी इन चारों में से ज्ञान, दर्शन एवं सुख, ये तीन गुण तो होते ही हैं एवं दुःख के पूर्ण अभाव रूप में चौथा भेद भी माना जा सकता है। ग्यारहवीं गाथा में जो जीवों के छह गुणों का वर्णन किया है वे जीवों के संयोगी अवस्था (कर्मा से संयुक्त) के गुण समझने चाहिए। संयोगी अवस्था से रहित होने पर उपर्युक्त (दसवीं गाथा में कहे हुए) गुण ही होते हैं।

सहंधयार-उज्जोओ, पभा छायाऽऽतवो इ वा।

वण्ण-रस-गंध-फासा, पुग्गलाणं तु लक्खणं॥१२॥

कठिन शब्दार्थ - सहंधयार उज्जोओ - शब्द, अंधकार, उद्योत, पभा - प्रभा, छाया-छाया, आतवो - आतप (धूप), वण्ण-रस-गंध-फासा - वर्ण, रस, गंध और स्पर्श, पुग्गलाणं- पुद्गलों के।

भावार्थ - शब्द, अंधकार, उद्योत, प्रभा, छाया, आतप-धूप (उष्ण प्रकाश) और वर्ण, रस, गंध और स्पर्श, ये सब पुद्गलों के लक्षण हैं। इनके द्वारा पुद्गल द्रव्य पहचाना जाता है।

विवेचन - शब्द - पुद्गलों के संघात और विघात तथा जीव के प्रयत्न से होने वाले पुद्गलों के ध्वनि परिणाम को शब्द कहा गया है। शब्द को जैन दर्शन में पौद्गलिक, मूर्त और अनित्य माना है।

अंधकार और उद्योत - अंधकार को जैन दर्शन में प्रकाश का अभाव रूप न मान कर प्रकाश (उद्योत) की तरह पुद्गल का सद्रूप पर्याय माना है। वास्तव में अंधकार पुद्गल द्रव्य है, क्योंकि उसमें गुण है। जो-जो गुणवान् होता है वह-वह द्रव्य होता है, जैसे - प्रकाश। जैसे प्रकाश का भास्वर रूप और उष्ण स्पर्श प्रसिद्ध है, वैसे ही अंधकार का कृष्ण रूप और शीत स्पर्श अनुभव सिद्ध है। निष्कर्ष यह है कि अंधकार (अशुभ) पुद्गल का कार्य-लक्षण है, इसलिए वह पौद्गलिक है। पुद्गल का एक पर्याय है।

छाया : स्वरूप और प्रकार - छाया भी पौद्गलिक है - पुद्गल का एक पर्याय है। प्रत्येक स्थूल पौद्गलिक पदार्थ चय-उपचय धर्म वाला है। पुद्गल रूप पदार्थ का चय-उपचय होने के साथ-साथ उसमें से तदाकार किरणें निकलती रहती है। वे ही किरणें योग्य निमित्त मिलने पर प्रतिबिम्बित होती है, उसे ही 'छाया' कहा जाता है। वह दो प्रकार की है - तद्वर्णादिविकार छाया (दर्पण आदि स्वच्छ पदार्थों में ज्यों की त्यों दिखाई देने वाली आकृति) और प्रतिबिम्ब छाया (अन्य पदार्थों पर अस्पष्ट प्रतिबिम्ब मात्र पड़ना)। अतएव छाया भाव रूप है, अभाव रूप नहीं।

एगत्तं च पुहत्तं च, संखा संठाणमेव य।

संजोगा य विभागा य, पज्जवाणं तु लक्खणं॥१३॥

कठिन शब्दार्थ - एगत्तं - एकत्व-एकत्रित होना, पुहत्तं - पृथक् होना, संखा -

संख्या, संठाणमेव - संस्थान-आकार, संजोगा - संयोग, विभागा - विभाग, पज्जवाणं - पर्यायों का।

भावार्थ - एकत्व (इकट्टे होना) और पृथक्त्व (बिखर जाना) संख्या (एक, दो, तीन आदि संख्या) और संस्थान (आकार) संयोग और विभाग (वियोग) यह पर्यायों का लक्षण है।

विवेचन - जैसे कि एक ही पुद्गल-द्रव्य में क्रमपूर्वक अनेक प्रकार के एकत्व-पृथक्त्वादि भाव उत्पन्न और विनष्ट होते रहते हैं, वैसे ये ही पर्याय कहे जाते हैं। द्रव्य नित्य है और पर्याय अनित्य है। कारण यह है कि उत्पाद और व्यय होने पर भी द्रव्य की सत्ता का अभाव नहीं होता। जैसे कि सुवर्ण-पिण्ड में कटक रूप का उत्पाद और कुंडलरूप का विनाश होता है, परन्तु उत्पत्ति और विनाश के होने पर स्वर्ण अपने मूल स्वरूप से च्युत नहीं होता अपितु अपने मूल रूप से सर्वदा स्थित रहता है। परमाणुओं के समूह का एकत्र होकर घड़े का आकार बन जाना एकत्व है और परमाणुओं के समूह का बिखर जाना पृथक्त्व है। इसी प्रकार संयोग और विभाग के विषय में समझ लेना चाहिए और 'च' शब्द से नवीन और पुरातन अवस्था, रूप पर्यायों की कल्पना कर लेनी चाहिये।

नव तत्त्वों के नाम

जीवाजीवा य बंधो य, पुण्णं पावासवो तहा।

संवरो णिज्जरा मोक्खो, संतेए तहिया णव॥१४॥

कठिन शब्दार्थ - जीवा - जीव, अजीवा - अजीव, बंधो - बंध, पुण्णं - पुण्य, पावासवो - पाप आस्रव, संवरो - संवर, णिज्जरा - निर्जरा, मोक्खो - मोक्ष, संति - हैं, ए - ये, तहिया - यथातथ्य, णव - नौ।

भावार्थ - जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष, ये नव यथातथ्य (तत्त्व) हैं।

सम्यग्-दर्शन का स्वरूप

तहियाणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं।

भावेण सहहंतस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं॥१५॥

कठिन शब्दार्थ - तहियाणं भावाणं - तथ्यरूप (तत्त्वभूत) भावों के, सब्भावे -

सद्भाव (अस्तित्व), उवएसणं - उपदेश का, भावेण - भावों से, सदहंतस्स - श्रद्धा करने वाले के, सम्मत्तं - सम्यक्त्व, वियाहियं - कहा गया है।

भावार्थ - इन उपरोक्त तथ्य-सत्य जीवादि तत्त्वों का सद्भाव (असली स्वरूप बतलाने वाले) उपदेश का भाव पूर्वक-अन्तःकरण से श्रद्धा करने वाले जीव के सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) होता है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने फरमाया है।

विवेचन - तत्त्वभूत जीव-अजीव आदि पदार्थों के विषय में आप्तज्ञानों का जो उपदेश है उसे अन्तःकरण से मानने, उसके प्रति अपनी अनन्य श्रद्धा रखने तथा मोहनीय कर्म के क्षय या क्षयोपशम भाव आदि से आत्मा में उत्पन्न हुए अभिरुचि रूप परिणाम विशेष को तीर्थंकरों ने सम्यक्त्व कहा है।

सम्यक्त्व मोक्ष का द्वार, मूल या अधिष्ठान है। उसी से आत्म-विकास का प्रारंभ होता है। व्रत, तप या ज्ञान आदि सम्यक्त्वपूर्वक हों, तभी मोक्ष के हेतु बन सकते हैं।

सम्यक्त्व की रुचियाँ

णिसग्गुवएसरुई, आणारुई सुत्त बीयरुइमेव।

अभिगमवित्थाररुई, किरिया संखेवधम्मरुई ॥१६॥

कठिन शब्दार्थ - णिस्सग्गुवएसरुई - निसर्ग-उपदेश रुचि, आणारुई - आज्ञारुचि, सुत्त - सूत्र, बीयरुइमेव - बीज रुचि, अभिगम - अभिगम, वित्थाररुई - विस्तार रुचि, किरिया - क्रिया, संखेव - संक्षेप, धम्मरुई - धर्मरुचि।

भावार्थ - सम्यक्त्व का स्वरूप बता कर, अब उसकी रुचियों के नाम बताये जाते हैं - १. निसर्ग रुचि २. उपदेश रुचि ३. आज्ञा रुचि ४. सूत्र रुचि ५. बीज रुचि ६. अभिगम रुचि ७. विस्तार रुचि ८. क्रिया रुचि ९. संक्षेप रुचि और १०. धर्म रुचि।

विवेचन - रुचि का अर्थ यहां सम्यक्त्व प्राप्ति के विभिन्न निमित्तों के प्रति श्रद्धा है। सम्यक्त्व रुचि के दस भेद संक्षेप में इस प्रकार हैं -

१. **निसर्ग रुचि** - किसी के उपदेश के बिना स्वाभाविक रूप से होने वाली तत्त्वरुचि।
२. **उपदेश रुचि** - गुरु आदि के उपदेश से हुई तत्त्वरुचि।
३. **आज्ञारुचि** - सर्वज्ञ के वचन से हुई तत्त्वरुचि।
४. **सूत्र रुचि** - आगमों के गहन अध्ययन से हुई तत्त्वरुचि।

५. **बीजरुचि** - बीज की तरह एक पद का ज्ञान होते ही अनेक अर्थों को समझ लेने या हृदयगम करने की तत्त्वरुचि।

६. **अभिगमरुचि** - शास्त्रों को अर्थ सहित पारायण करने से हुई तत्त्वरुचि।

७. **विस्ताररुचि** - द्रव्यों को नय-प्रमाणों से विस्तृत रूप से जानने की हुई तत्त्वरुचि।

८. **क्रियारुचि** - विविध धर्म क्रियाओं में हुई रुचि।

९. **संक्षेप रुचि** - विवादास्पद विषयों से अनभिज्ञ तथा दूर रह कर संक्षेप में श्रद्धा रखने की रुचि।

१०. **धर्मरुचि** - जिनोक्त धर्म के प्रति रुचि रखना।

१. निसर्ग रुचि

भूयत्थेणाहिगया, जीवाजीवा य पुण्णपावं च।

सहसम्मुइयासवसंवरो य, रोएइ उ णिसग्गो ॥१७॥

कठिन शब्दार्थ - भूयत्थेण - सद्भूत अर्थ-यथार्थ रूप से, अहिगया - जान लिया, सहसम्मुइया - अपनी ही मति से, आसवसंवरो - आस्रव और संवर, रोएइ - रुचि रखता है।

भावार्थ - गुरु आदि के उपदेश के बिना स्वयमेव जातिस्मरण या प्रतिभा आदि ज्ञान द्वारा जीव और अजीव, पुण्य और पाप, आस्रव और संवर तथा बन्ध, निर्जरा और मोक्ष, ये पदार्थ सत्य हैं इस प्रकार जिसने जान लिया है, उसके जो रुचि होती है, उसे 'निसर्ग रुचि' कहते हैं।

जो जिणदिट्ठे भावे, चउव्विहे सदहाइ सयमेव।

एमेव णण्णहत्ति य, णिसग्गरुइत्ति णायव्वो ॥१८॥

कठिन शब्दार्थ - जिणदिट्ठे - जिनोपदिष्ट या जिनदृष्ट, भावे - भावों को, चउव्विहे - चार प्रकार से, सदहाइ - श्रद्धा करता है, सयमेव - स्वयमेव, एमेव णण्णहत्ति - यह इसी प्रकार है, अन्यथा नहीं ऐसी, णायव्वो - जानना चाहिये।

भावार्थ - जो प्राणी गुरु आदि के उपदेश के बिना स्वयमेव जातिस्मरण एवं प्रतिभा आदि ज्ञान द्वारा जिनदृष्ट-रागद्वेष के विजेता तीर्थंकर देव के बताये हुए जीवादि पदार्थों को चार प्रकार से अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से अथवा नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव से 'ये इस प्रकार ही हैं न अन्यथा-अन्य प्रकार से नहीं हैं' इस प्रकार श्रद्धा करता है वह 'निसर्ग रुचि' वाला है ऐसा जानना चाहिए।

२. उपदेश रुचि

एण चेव उ भावे, उवइट्ठे जो परेण सहहइ।

छउमत्थेण जिणेण व, उवएसरुइत्ति णायव्वो ॥१६॥

कठिन शब्दार्थ - उवइट्ठे - उपदेश से, परेण - पर-दूसरे के, छउमत्थेण - छद्मस्थ से, जिणेण - जिन से।

भावार्थ - केवली भगवान् के पास से अथवा दूसरे छद्मस्थ गुरुओं से उपदेश सुन कर जो इन जीवादि तत्त्वों की श्रद्धा करता है वह 'उपदेश रुचि' वाला है, ऐसा जानना चाहिए।

३. आज्ञा रुचि

रागो दोसो मोहो, अण्णाणं जस्स अवगयं होइ।

आणाए रोयंतो, सो खलु आणारुई णामं ॥२०॥

कठिन शब्दार्थ - रागो - राग, दोसो - द्वेष, मोहो - मोह, अण्णाणं - अज्ञान, अवगयं - अपगत-दूर, आणाए - आज्ञा से, रोयंतो - जीवादि पदार्थों पर रुचि श्रद्धा रखता है।

भावार्थ - जिसके रागद्वेष, मोह और अज्ञान एक देशतः नष्ट हों गया है और आचार्य की आज्ञा मात्र से ही जिसको जीवादि तत्त्वों को जानने की रुचि होती है, वह निश्चय से 'आज्ञा रुचि' है।

विवेचन - प्रज्ञापना सूत्र पद १ में 'आज्ञा रुचि' का अर्थ इस प्रकार दिया है - 'जो हेतु को नहीं जानता हुआ केवल जिनाज्ञा से ही प्रवचन पर रुचि-श्रद्धा रखता है और समझता है कि जिनेश्वर भगवान् द्वारा उपदिष्ट तत्त्व ऐसे ही हैं, अन्यथा नहीं, वह आज्ञा रुचि है।'

४. सूत्र रुचि

जो सुत्तमहिज्जंतो, सुएण ओगाहइ उ सम्मत्तं।

अंगेण बाहिरेण व, सो सुत्तरुइत्ति णायव्वो ॥२१॥

कठिन शब्दार्थ - सुत्तं - श्रुत को, अहिज्जंतो - अध्ययन करता हुआ, सुएण - सूत्रों से, ओगाहइ - अवगाहन करता है, सम्मत्तं - सम्यक्त्व, अंगेण - अंगप्रविष्ट, बाहिरेण - अंग बाह्य।

भावार्थ - जो सूत्र-श्रुत पढ़ता हुआ आचारांगदि अंगप्रविष्ट अथवा उत्तराध्ययन आदि अंगबाह्य सूत्रों से सम्यक्त्व प्राप्त करता है वह 'सूत्ररुचि' है, ऐसा जानना चाहिए। अंगप्रविष्ट तथा अंगबाह्य सूत्रों को पढ़ कर जीवादि तत्त्वों पर श्रद्धा करना 'सूत्ररुचि' है।

५ बीज रुचि

एगेण अणेगाइं पयाइं, जो पसरइ उ सम्मत्तं।

उदएव्व तेल्लबिंदू, सो बीयरुइत्ति णायव्वो ॥२२॥

कठिन शब्दार्थ - एगेण - एक पद से, अणेगाइं पयाइं - अनेक पदों से, पसरइ - फैल जाता है, उदएव्व तेल्लबिंदू - जल में तैल की बूंद की तरह।

भावार्थ - जिस प्रकार जल में पड़ी हुई तैल की बूंद फैल जाती है उसी प्रकार जिसकी सम्यक्त्व एक जीवादि पद से अनेक पदों में फैल जाती है वह 'बीजरुचि' है, ऐसा जानना चाहिए।

६ अभिगम रुचि

सो होइ अभिगमरुई, सुयणाणं जेण अत्थओ दिट्ठं।

इक्कारस अंगाइं, पइण्णगं दिट्ठिवाओ य ॥२३॥

कठिन शब्दार्थ - सुयणाणं - श्रुतज्ञान को, अत्थओ - अर्थ रूप से, दिट्ठं - देखा है या उपदेश प्राप्त किया है, इक्कारस अंगाइं - ग्यारह अंग, पइण्णगं - प्रकीर्णक, दिट्ठिवाओ - दृष्टिवाद।

भावार्थ - जिसने ग्यारह अंग, प्रकीर्णक सूत्र और दृष्टिवाद तथा उपांग सूत्रों में जो श्रुतज्ञान है, उसको अर्थ रूप से जान लिया है, वह 'अभिगम रुचि' है।

७ विस्तार रुचि

दव्वाण सव्वभावा, सव्वपमाणेहिं जस्स उवलद्धा।

सव्वाहिं णयविहीहिं च, वित्थाररुइ त्ति णायव्वो ॥२४॥

कठिन शब्दार्थ - सव्वपमाणेहिं - सभी प्रमाणों से, उवलद्धा - उपलब्ध-ज्ञात हो गये हैं, णयविहीहिं - नय विधियों से।

भावाथ - जिसने द्रव्यों की समस्त पर्यायों को प्रत्यक्षादि सभी प्रमाणों से और सब नय विधि-नैगमादि नयों से जान लिया है वह 'विस्ताररुचि' वाला है, ऐसा जानना चाहिए।

८. क्रिया रुचि

दंसण-णाण-चरित्ते, तवविणए सच्चसमिङ्गुत्तीसु।

जो किरियाभावरुई, सो खलु किरियारुई णाम ॥२५॥

कठिन शब्दार्थ - दंसण-णाण-चरित्ते - दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तवविणए - तप विनय, सच्चसमिङ्गुत्तीसु - सत्य, समिति और गुप्तियों में, किरियाभावरुई - क्रिया भाव रुचि।

भावाथ - जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनय, सत्य, समिति और गुप्ति की क्रियाओं का पालन करने में भावपूर्वक रुचि रखता है, वह निश्चय से 'क्रियारुचि' है।

९. संक्षेप रुचि

अणभिग्गहियकुदिट्ठी, संखेवरुइ त्ति होइ णायव्वो।

अविसारओ पवयणे, अणभिग्गहिओ य सेसेसु ॥२६॥

कठिन शब्दार्थ - अणभिग्गहियकुदिट्ठी - जिसने कुदृष्टि ग्रहण नहीं की है, अविसारओ-अविशारद, पवयणे - प्रवचन में, अणभिग्गहिओ - गृहीत बुद्धि नहीं है, सेसेसु - शेष कपिल आदि मतों पर।

भावाथ - जिसने मिथ्यामत का ग्रहण नहीं किया है तथा शेष-जो कपिलादि के शास्त्रों का भी ज्ञाता नहीं है और जो जिन-प्रवचनों में विशारद (प्रवीण) नहीं है, किन्तु शुद्ध श्रद्धा रखता है वह 'संक्षेपरुचि' होता है, ऐसा जानना चाहिए।

१०. धर्मरुचि

जो अत्थिकायधम्मं, सुयधम्मं खलु चरित्तधम्मं च।

सद्दहइ जिणाभिहियं, सो धम्मरुइत्ति णायव्वो ॥२७॥

कठिन शब्दार्थ - अत्थिकायधम्मं - अस्तिकाय धर्म को, सुयधम्मं - श्रुतधर्म को, चरित्तधम्मं - चारित्र धर्म पर, सद्दहइ - श्रद्धा करता है, जिणाभिहियं - जिनेन्द्र कथित।

भावाथ - जो जिनेन्द्र भगवान् के कहे हुए धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि तथा

उनके गति, स्थिति आदि धर्मों और श्रुतधर्म-आगम के स्वरूप एवं सामायिकादि चारित्र धर्म की श्रद्धा-प्रतीति करता है वह 'धर्मरुचि' है, ऐसा जानना चाहिए।

सम्यक्त्व की श्रद्धा

परमत्थसंथवो वा, सुदिद्वपरमत्थसेवणा वा वि।

वावण्ण-कुदंसण-वज्जणा, य सम्मत्तसद्दहणा ॥२८॥

कठिन शब्दार्थ - परमत्थसंथवो - परमार्थ का संस्तव-परिचय, सुदिद्वपरमत्थसेवणा - सुदृष्ट परमार्थ सेवन, वावण्ण कुदंसण वज्जणा - व्यापन्न और कुदर्शन वर्जन, सम्मत्तसद्दहणा-सम्यक्त्व श्रद्धान।

भावार्थ - परमार्थ संस्तव - परमार्थ का परिचय करें अर्थात् जीवादि तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त कर उनका मनन करना और सुदृष्ट परमार्थ सेवन - सम्यक् प्रकार से तत्त्वों के ज्ञाता आचार्य-उपाध्याय-साधु आदि की सेवा करना तथा व्यापन्नवर्जन - जिसने सम्यक्त्व वमन कर दिया हो अर्थात् सम्यक्त्व से पतित हुए व्यक्तियों की संगति का त्याग करना, कुदर्शन वर्जन - कुदर्शनियों (कुतीर्थियों की संगति) का त्याग करना। इन गुणों से सम्यक्त्व श्रद्धान - इससे सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है और समकित की श्रद्धा की सुरक्षा होती है। सम्यक्त्व से पतित और कुदर्शनियों की संगति से सम्यक्त्व मलिन होती है। इसलिए इनकी संगति का त्याग करना ही श्रेयस्कर है। ये चार सम्यक्त्व की श्रद्धा कहलाती है।

सम्यक्त्व की महिमा

णत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं, दंसणे उ भइयव्वं।

सम्मत्त-चरित्ताइं, जुगवं पुव्वं व सम्मत्तं ॥२९॥

कठिन शब्दार्थ - णत्थि - नहीं होता, चरित्तं - चारित्र, सम्मत्तविहूणं - सम्यक्त्व के बिना, भइयव्वं - भजना, सम्मत्त-चरित्ताइं - सम्यक्त्व और चारित्र, जुगवं - युगपत्-एक साथ, पुव्वं - पहले, सम्मत्तं - सम्यक्त्व।

भावार्थ - सम्यक्त्व बिना चारित्र नहीं होता और सम्यक्त्व के होने पर चारित्र की भजना है। सम्यक्त्व और चारित्र युगपत् (एक साथ) भी हो सकते हैं अथवा पहले सम्यक्त्व होता है और पीछे चारित्र होता है।

विवेचन - सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर ही भाव चारित्र की प्राप्ति होती है। अतः समकित का बड़ा महत्त्व है। सभी जीव अनादि काल से मिथ्यादृष्टि ही हैं। जीव समदृष्टि पीछे ही बनता है। मिथ्यादृष्टि के तीन भेद हैं - १. अनादि अपर्यवसित (आदि रहित और अंत रहित) ऐसा जीव अभी भी होता है वह अनादिकाल से मिथ्यात्वी तो है ही उसके मिथ्यात्व का कभी भी अन्त नहीं होता। वह मिथ्यादृष्टि ही, बना रहता है। २. अनादि सपर्यवसित अर्थात् अनादि से मिथ्यादृष्टि तो है किन्तु उसके मिथ्यात्व का अंत आ जाता है ऐसा जीव भवी (भवसिद्धिक) होता है। ३. सादि सपर्यवसित अर्थात् किसी भवी जीव को औपशमिक अथवा क्षायोपशमिक समकित की प्राप्ति हुई किन्तु कालांतर में उसकी समकित चली गयी और मिथ्यादृष्टि बन गया फिर कालांतर में उसको समकित की प्राप्ति होगी। ऐसा जीव सादि सपर्यवसित मिथ्यादृष्टि कहलाता है। उसके गुणस्थान चढ़ने की चार मार्गणाएं हैं - पहले से तीसरे या चौथे या पांचवें या सातवें गुणस्थान में। पहले गुणस्थान से सीधा सातवें गुणस्थान में जाने वाले जीव को सम्यक्त्व और भाव चारित्र दोनों एक साथ प्राप्त होते हैं। किन्तु उसमें भी सम्यक्त्व की प्राप्ति पहले और भाव चारित्र की प्राप्ति पीछे होती है। यही आशय इस गाथा में बतलाया गया है।

णादंसणिस्स णाणं, णाणेण विणा ण हुंति चरणगुणा।

अगुणिस्स णत्थि मोक्खो, णत्थि अमोक्खस्स णिव्वाणं॥३०॥

कठिन शब्दार्थ - अदंसणिस्स - दर्शन रहित को, णाणं - ज्ञान, णाणेण विणा - ज्ञान के बिना, ण - नहीं, चरणगुणा - चारित्र के गुण, अगुणिस्स - चारित्र गुण रहित मनुष्य का, मोक्खो णत्थि - मोक्ष नहीं होता, अमोक्खस्स - अमुक्त का, णिव्वाणं - निर्वाण।

भावार्थ - सम्यग्दर्शन (समकित) रहित पुरुष के सम्यग्ज्ञान नहीं होता। सम्यग्ज्ञान के बिना चारित्रगुण प्रगट नहीं होते। चारित्रगुण-रहित मनुष्य का मोक्ष नहीं होता और कर्मों से छुटकारा हुए बिना निर्वाण (सिद्धि पद) की प्राप्ति नहीं होती है।

दर्शनाचार के भेद

णिस्संकिय णिक्कंखिय, णिव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।

उववूह-थिरीकरणे, वच्छल्ल-पभावणे अट्ट॥३१॥

कठिन शब्दार्थ - णिस्संकिय - निःशंकित, णिक्कंखिय - निष्कांक्षित-आकांक्षा रहित, णिव्वितिगिच्छा - निर्विचिकित्सा, अमूढदिट्ठी - अमूढदृष्टि, उववूह - उपबृंहण, थिरीकरणे-स्थिरीकरण, वच्छल्ल - वात्सल्य, पभावणे - प्रभावना, अट्ट - आठ।

भावार्थ - १. निःशंकित - वीतराग-सर्वज्ञ के वचनों में शंका न करना २. निष्कांक्षित-परदर्शन की आकांक्षा न करना अथवा सुख की आकांक्षा न करना और दुःख से द्वेष न करना, किन्तु सुख-दुःख को अपने किये हुए कर्मों का फल समझ कर समभाव रखना ३. निर्विचिकित्सा - धर्म के फल में सन्देह न करना अथवा अपने ब्रह्मचर्य आदि व्रतों के पालन की दृष्टि से साधु साध्वियों का मैला शरीर और मैले कपड़े देख कर घृणा न करना ४. अमूढदृष्टि - कुतीर्थियों को ऋद्धिशाली देख कर भी अपनी श्रद्धा को दृढ़ रखना ५. उपबृंहण - गुणीजनों को देख कर उनकी प्रशंसा करना एवं उनके गुणों की वृद्धि करना तथा स्वयं भी उन गुणों को प्राप्त करने का प्रयत्न करना ६. स्थिरीकरण - धर्म से डिगते प्राणी को धर्म में स्थिर करना और ७. वात्सल्य-साधर्मियों के साथ वात्सल्यभाव रखना ८. प्रभावना - जैनधर्म की प्रशंसा और उन्नति के लिए चेष्टा करना, ये आठ दर्शनाचार हैं।

विवेचन - उपर्युक्त गाथा में आये हुए सम्यक्त्व (दर्शन) के आठ आचारों में से शुरू के चार आचार तो व्यक्तिगत जीवन से संबंधित है। आगे के चार आचार (पांचवें से आठवें तक) संघीय व्यवस्था से संबंधित है। अथवा इनमें से प्रथम के चार आचार तो अन्तरंग हैं और आगे के चार बहिरंग कहे जाते हैं। इन आठ आचारों के द्वारा दर्शन की पुष्टि होती है और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। इन आठ आचारों का विस्तार से वर्णन इस प्रकार है -

१. निःशंकता - जिनोक्त तत्त्व, देव, गुरु, धर्म-संघ या शास्त्र आदि में देशतः या सर्वतः शंका का न होना सम्यग्दर्शनाचार का प्रथम अंग निःशंकता है। शंका के दो अर्थ किये गए हैं - संदेह और भय। अर्थात् जिनोक्त तत्त्वादि के प्रति संदेह अथवा सात भयों से रहित होना निःशंकित सम्यग्दर्शन है।

२. निष्कांक्षा - कांक्षा रहित होना निष्कांक्षित सम्यग्दर्शन है। कांक्षा के दो अर्थ मिलते हैं - १. एकान्तदृष्टि वाले दर्शनों को स्वीकार करने की इच्छा अथवा २. धर्माचरण से इहलौकिक-पारलौकिक वैभव या सुखभोग आदि पाने की इच्छा।

३. निर्विचिकित्सा - विचिकित्सा रहित होना सम्यग्दर्शन का तृतीय आचार है।

विचिकित्सा के भी दो अर्थ है - १. धर्मफल में संदेह करना और २. जुगुप्सा-घृणा। द्वितीय अर्थ का आशय है - रत्नत्रय से पवित्र साधु-साध्वियों के शरीर को मलिन देख कर घृणा करना या सुदेव, सुगुरु सुधर्म आदि की निन्दा करना भी विचिकित्सा है।

४. **अमूढदृष्टि** - देवमूढता, गुरुमूढता, धर्ममूढता, शास्त्रमूढता, लोकमूढता आदि मूढताओं - मोहमयी दृष्टियों से रहित होना अमूढदृष्टि है। देवमूढता - रागी-द्वेषी देवों की उपासना करना, गुरुमूढता - आरम्भ-परिग्रह में आसक्त, हिंसादि में प्रवृत्त, मात्र वेषधारी साधु को गुरु मानना, धर्ममूढता - अहिंसादि शुद्ध धर्मतत्त्वों को धर्म न मानकर हिंसा, आरम्भ, आडम्बर, प्रपंच आदि से युक्त सम्प्रदाय या मत-पंथ को या स्नानादि आरम्भजन्य क्रियाकाण्डों या अमुक वेश को धर्म मानना धर्ममूढता है। शास्त्रमूढता - हिंसादि की प्ररूपणा करने वाले या असत्य-कल्पनाप्रधान, अथवा राग-द्वेष युक्त अल्पज्ञों द्वारा जिनाज्ञा-विरुद्ध प्ररूपित ग्रन्थों को शास्त्र मानना। लोकमूढता - अमुक नदी या समुद्र में स्नान, अथवा गिरिपत्तन आदि लोकप्रचलित कुरुद्वियों या कुप्रथाओं को धर्म मानना। किन्हीं-किन्हीं आचार्यों के अनुसार मूढता का अर्थ - एकान्तवादी, कुपथगामियों तथा षडायतनों (मिथ्यात्व, मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञान, मिथ्याज्ञानी, मिथ्याचारित्र, मिथ्याचारित्री) की प्रशंसा स्तुति, सेवा या सम्पर्क अथवा परिचय करना भी है।

५. **उपबृंहण** - इसके अर्थ हैं - १. प्रशंसा २. वृद्धि ३. पुष्टि। यथा - १. गुणीजनों की प्रशंसा करके उनके गुणों को बढ़ावा देना २. अपने आत्मगुणों (क्षमा, मृदुता आदि) की वृद्धि करना ३. सम्यग्दर्शन की पुष्टि करना। कई आचार्य इसके बदले उपगूहन मानते हैं। जिसका अर्थ है - १. परदोषों का निगूहन करना, अथवा अपने गुणों का गोपन करना।

६. **स्थिरीकरण** - सम्यक्त्व अथवा चारित्र से चलायमान हो रहे व्यक्तियों को पुनः उसी मार्ग में स्थिर कर देना या उसे अर्थादि का सहयोग देकर धर्म में स्थिर करना स्थिरीकरण है।

७. **वात्सल्य** - अहिंसादि धर्म अथवा साधर्मिकों के प्रति हार्दिक एवं निःस्वार्थ अनुराग, वत्सलभाव रखना तथा साधर्मिक साधुवर्ग की या श्रावकवर्ग की सेवा करना।

८. **प्रभावना** - प्रभावना का अर्थ है - १. रत्नत्रय से अपनी आत्मा को भावित (प्रभावित) करना २. धर्म एवं संघ की उन्नति के लिए चिन्तन, मंगलमयी भावना करना। आठ प्रकार के व्यक्ति प्रभावक माने जाते हैं - १. प्रवचनी २. वादी ३. धर्मकथी ४. नैमित्तिक ५. सिद्ध (मंत्रसिद्धिप्राप्त आदि) और ६. कवि।

सम्यक्चारित्र का स्वरूप

सामाडयत्थ पढमं, छेओवट्टावणं भवे बीयं।

परिहारविसुद्धीयं, सुहमं तह संपरायं च॥३२॥

अकसायमहक्खायं, छउमत्थस्स जिणस्स वा।

एयं चयरिक्तकरं, चारित्तं होइ आहियं॥३३॥

कठिन शब्दार्थ - अत्थ - इसमें, सामाडयं - सामायिक, पढमं - प्रथम, छेओवट्टावणं- छेदोपस्थापनीय, भवे - होता है, बीयं - दूसरा, परिहारविसुद्धीयं - परिहार विशुद्धि, सुहमं संपरायं - सूक्ष्म संपराय।

अकसायं - कषाय रहित, अहक्खायं - यथाख्यात, छउमत्थस्स - छद्मस्थ के, जिणस्स - जिन के, चारित्तं - चारित्र, चयरिक्तकरं - चयरिक्तकर - संचित कर्मराशि को रिक्त करने वाला, होइ - होता है, आहियं - कहा है।

भावार्थ - अब चारित्र के भेदों का वर्णन किया जाता है - अथ-इसके बाद चारित्र में पहला सामायिक, दूसरा छेदोपस्थापनीय, तीसरा परिहारविशुद्धि, चौथा सूक्ष्मसंपराय चारित्र है। कषाय के क्षय या उपशम से होने वाला पाँचवाँ यथाख्यात चारित्र ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानवर्ती छद्मस्थ मुनि के अथवा केवली भगवान् के होता है। यह पाँचों प्रकार का चारित्र चयरिक्त कर - संचित कर्मों के खजाने को रिक्त (खाली) करने वाला अर्थात् कर्मों का नाश करने वाला है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने फरमाया है।

विवेचन - इन पाँच चारित्रों का विस्तृत रूप से वर्णन भगवती सूत्र के शतक २५ उद्देशक ७ में तथा ठाणांग सूत्र ५ उद्देशक २ में हैं। जिज्ञासुओं को वहाँ से देखना चाहिए। संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है -

चारित्र की व्याख्या और भेद - चारित्र मोहनीय कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से होने वाले विरति परिणाम को चारित्र कहते हैं।

अन्य जन्म में ग्रहण किये हुए कर्म संचय को दूर करने के लिए मोक्षाभिलाषी आत्मा का सर्व सावद्य योग से निवृत्त होना चारित्र कहलाता है।

चारित्र के पाँच भेद हैं - १. सामायिक चारित्र २. छेदोपस्थापनीय चारित्र ३. परिहार विशुद्धि चारित्र ४. सूक्ष्म सम्पराय चारित्र और ५. यथाख्यात चारित्र।

१. सामायिक चारित्र - सम अर्थात् राग-द्वेष रहित आत्मा के प्रतिक्षण अपूर्व-अपूर्व निर्जरा से होने वाली आत्मविशुद्धि का प्राप्त होना, सामायिक है।

भवाटवी के भ्रमण से पैदा होने वाले क्लेश को प्रतिक्षण नाश करने वाली, चिन्तामणि, कामधेनु एवं कल्पवृक्ष के सुखों का भी तिरस्कार करने वाली, निरुपम सुख देने वाली ऐसी ज्ञान, दर्शन, चारित्र पर्यायों को प्राप्त कराने वाले, राग-द्वेष रहित आत्मा के क्रियानुष्ठान को सामायिक चारित्र कहते हैं।

सर्व सावद्य व्यापार का त्याग करना एवं निरवद्य व्यापार का सेवन करना, सामायिक चारित्र है।

यों तो चारित्र के सभी भेद सावद्य योग विरतिरूप हैं। इसलिए सामान्यतः सामायिक ही हैं। किन्तु चारित्र के दूसरे भेदों के साथ छेद आदि विशेषण होने से नाम और अर्थ से भिन्न-भिन्न बताये गये हैं। छेद आदि विशेषणों के न होने से पहले चारित्र का नाम सामान्य रूप से सामायिक ही दिया गया है।

सामायिक के दो भेद - इत्वरकालिक सामायिक और यावत्कथिक सामायिक।

इत्वरकालिक सामायिक - इत्वरकाल का अर्थ है अल्प काल अर्थात् भविष्य में दूसरी बार फिर सामायिक व्रत का व्यपदेश होने से जो अल्पकाल की सामायिक हो, उसे इत्वरकालिक सामायिक कहते हैं। पहले एवं अन्तिम तीर्थकर भगवान् के तीर्थ में जब तक शिष्य में महाव्रत का आरोपण नहीं किया जाता, तब तक उस शिष्य के इत्वरकालिक सामायिक समझनी चाहिए।

यावत्कथिक सामायिक - यावज्जीवन की सामायिक यावत्कथिक सामायिक कहलाती है। प्रथम एवं अन्तिम तीर्थकर भगवान् के सिवा शेष बाईस तीर्थकर भगवान् एवं महाविदेह क्षेत्र के तीर्थकरों के साधुओं के यावत्कथिक सामायिक होती है। क्योंकि इन तीर्थकरों के शिष्यों को दूसरी बार सामायिक व्रत नहीं दिया जाता।

२. छेदोपस्थापनीय चारित्र - जिस चारित्र में पूर्व पर्याय का छेद एवं महाव्रतों में उपस्थापन - आरोपण होता है, उसे छेदोपस्थापनीय चारित्र कहते हैं। अथवा -

पूर्व पर्याय का छेद करके जो महाव्रत दिये जाते हैं, उसे छेदोपस्थापनीय चारित्र कहते हैं।

यह चारित्र भरत, ऐरावत क्षेत्र के प्रथम एवं चरम तीर्थकरों के तीर्थ में ही होता है, शेष तीर्थकरों के तीर्थ में नहीं होता।

छेदोपस्थापनीय चारित्र के दो भेद हैं - १. निरतिचार छेदोपस्थापनीय २. सातिचार छेदोपस्थापनीय।

१. निरतिचार छेदोपस्थापनीय - इत्वर सामायिक वाले शिष्य के एवं एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ में जाने वाले साधुओं के, जो व्रतों का आरोपण होता है वह निरतिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र है।

२. सातिचार छेदोपस्थापनीय - मूल गुणों का घात करने वाले साधु के जो व्रतों का आरोपण होता है वह सातिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र है।

३. परिहार विशुद्धि चारित्र - जिस चारित्र में परिहार तप विशेष से कर्म निर्जरा रूप शुद्धि होती है, उसे परिहार विशुद्धि चारित्र कहते हैं।

अथवा

जिस चारित्र में अनेषणीयादि का परित्याग विशेष रूप से शुद्ध होता है, वह परिहार विशुद्धि चारित्र है।

स्वयं तीर्थकर भगवान् के समीप या तीर्थकर भगवान् के समीप रह कर पहले जिसने परिहार विशुद्धि चारित्र अङ्गीकार किया है, उसके पास यह चारित्र अङ्गीकार किया जाता है। नव साधुओं का गण, परिहार तप अङ्गीकार करता है। इन में से चार तप करते हैं जो पारिहारिक कहलाते हैं। चार वैयावृत्य करते हैं, जो अनुपारिहारिक कहलाते हैं और एक कल्पस्थित अर्थात् गुरु रूप में रहता है, जिसके पास पारिहारिक एवं अनुपारिहारिक साधु आलोचना, वंदना, प्रत्याख्यान आदि करते हैं। पारिहारिक साधु ग्रीष्म ऋतु में जघन्य एक उपवास, मध्यम बेला (दो उपवास) और उत्कृष्ट तेला (तीन उपवास) तप करते हैं। शिशिर काल में जघन्य बेला, मध्यम तेला और उत्कृष्ट (चार उपवास) चौला तप करते हैं। वर्षा काल में जघन्य तेला, मध्यम चौला और उत्कृष्ट पचौला तप करते हैं। शेष चार नुपारिहारिक एवं कल्पस्थित (गुरु रूप) पांच साधु प्रायः नित्य भोजन करते हैं। ये उपवास आदि नहीं करते। आयंबिल के सिवा ये और भोजन नहीं करते अर्थात् सदा आयंबिल ही करते हैं। इस प्रकार पारिहारिक साधु छह मास तक तप करते हैं। छह मास तक तप कर लेने के बाद वे अनुपारिहारिक अर्थात् वैयावृत्य करने वाले हो जाते हैं और वैयावृत्य करने वाले (अनुपारिहारिक) साधु पारिहारिक बन जाते हैं अर्थात् तप करने लग जाते हैं। यह क्रम भी छह मास तक पूर्ववत् चलता है। इस प्रकार आठ साधुओं के तप

कर लेने पर उनमें से एक गुरु पद पर स्थापित किया जाता है और शेष सात वैयावृत्य करते हैं और गुरु पद पर रहा हुआ साधु तप करना शुरू करता है। यह भी छह मास तक तप करता है। इस प्रकार अठारह मास में यह परिहार तप का कल्प पूर्ण होता है। परिहार तप पूर्ण होने पर वे साधु या तो इसी कल्प को पुनः प्रारम्भ करते हैं या जिन कल्प धारण कर लेते हैं या वापिस गच्छ में आ जाते हैं। यह चारित्र, छेदोपस्थापनीय चारित्र वालों के ही होता है, दूसरों के नहीं।

निर्विश्यमानक और निर्विष्टकायिक के भेद से परिहार विशुद्धि चारित्र दो प्रकार का है।

तप करने वाले पारिहारिक साधु निर्विश्यमानक कहलाते हैं। उनका चारित्र निर्विश्यमानक परिहार विशुद्धि चारित्र कहलाता है।

तप करके वैयावृत्य करने वाले अनुपारिहारिक साधु तथा तप करने के बाद गुरु पद रहा हुआ साधु निर्विष्टकायिक कहलाता है। इनका चारित्र, निर्विष्टकायिक परिहार विशुद्धि चारित्र कहलाता है।

४. सूक्ष्म सम्पराय चारित्र - सम्पराय का अर्थ कषाय होता है। जिस चारित्र में सूक्ष्म सम्पराय अर्थात् संज्वलन लोभ का सूक्ष्म अंश होता है, उसे सूक्ष्म सम्पराय चारित्र कहते हैं।

विशुद्धयमान और संक्लिश्यमान के भेद से सूक्ष्म सम्पराय चारित्र के दो भेद हैं।

क्षपक श्रेणी एवं उपशम श्रेणी पर चढ़ने वाले साधु के परिणाम उत्तरोत्तर शुद्ध रहने से उनका सूक्ष्म सम्पराय चारित्र विशुद्धयमान कहलाता है। उपशम श्रेणी से गिरते हुए साधु के परिणाम संक्लेशयुक्त होते हैं, इसलिए उनका सूक्ष्म सम्पराय चारित्र संक्लिश्यमान कहलाता है।

५. यथाख्यात चारित्र - सर्वथा कषाय का उदय न होने से अतिचार रहित पारमार्थिक रूप से प्रसिद्ध चारित्र, यथाख्यात चारित्र कहलाता है। अथवा अकषायी साधु का निरतिचार यथार्थ चारित्र यथाख्यात चारित्र कहलाता है।

छद्यस्थ और केवली के भेद से यथाख्यात चारित्र के दो भेद है अथवा उपशांत मोह और क्षीण मोह या प्रतिपाती और अप्रतिपाती के भेद से इसके दो भेद हैं।

सयोगी केवली और अयोगी केवली के भेद से केवली यथाख्यात चारित्र के दो भेद हैं।

सम्यक् तप का स्वरूप

तवो य दुविहो वुत्तो, बाहिरब्भंतरो तथा।

बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भंतरो तवो ॥३४॥

कठिन शब्दार्थ - तवो - तप, दुविहो - दो प्रकार का, वुत्तो - कहा गया है, बाहिरब्भंतरो - बाह्य और आभ्यंतर, बाहिरो - बाह्य, छव्विहो - छह प्रकार का, एवं - इसी प्रकार, अब्भंतरो - आभ्यन्तर।

भावार्थ - तप दो प्रकार का कहा गया है। बाह्य तप और आभ्यन्तर तप। बाह्य तप छह प्रकार का कहा गया है इसी प्रकार आभ्यन्तर तप भी छह प्रकार का कहा गया है।

विवेचन - मोक्ष का चतुर्थ साधन - तप अन्तरंग (आत्मा पर असर दिखाने वाला) एवं बहिरंग (सरीर पर प्रभाव दिखाने वाला) रूप से कर्म निर्जरा व आत्म विशुद्धि का कारण होने से मोक्ष का विशिष्ट साधन है। इसलिए इसे पृथक् मोक्षमार्ग के रूप में यहाँ स्थान दिया गया है। तप की भेद - प्रभेद सहित विस्तृत व्याख्या उत्तराध्ययन सूत्र के 'तपोमार्गगति' नामक तीसरे अध्ययन में दी गई है।

ज्ञानादि की उपयोगिता

णाणेण जाणइ भावे, दंसणेण य सदहे।

चरित्तेण णिगिण्हाइ, तवेण परिसुज्जइ ॥३५॥

कठिन शब्दार्थ - णाणेण - ज्ञान से, जाणइ - जानता है, भावे - भावों-तत्त्वों को, दंसणेण - दर्शन से, सदहे - श्रद्धा करता है, चरित्तेण - चारित्र से, णिगिण्हाइ - निरोध करता है, तवेण - तप से, परिसुज्जइ - विशुद्धि करता है।

भावार्थ - आत्मा ज्ञान से पदार्थों को जानता है, दर्शन (सम्यक्त्व) से श्रद्धा करता है चारित्र से आस्रव का निरोधरूप संवर करता है अर्थात् आते हुए कर्मों को रोकता है और तप से पूर्वकृत कर्मों का क्षय कर के शुद्ध होता है।

विवेचन - सम्यग्ज्ञान का कार्य वस्तु तत्त्व को जानना है, सम्यग्दर्शन का कार्य उस पर पूर्ण विश्वास करना है, चारित्र का कार्य आस्रवों से रहित करना है और तप का कार्य आत्मा से

संयुक्त कर्मों को नष्ट कर उसे शुद्ध बनाना है। इन चारों के द्वारा आत्मा कर्मबंधनों से सर्वथा मुक्त हो जाती है।

उपसंहार

खवित्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य।

सव्वदुक्खपहीणट्ठा, पक्कमंति महेसिणो ॥३६॥ त्तिबेमि ॥

कठिन शब्दार्थ - खवित्ता - क्षय करके, पुव्वकम्माइं - पूर्व कर्मों का, संजमेण - संयम से, तवेण - तप से, सव्वदुक्खपहीणट्ठा - सभी दुःखों को नष्ट करने के लिये, पक्कमंति - पराक्रम करते हैं, महेसिणो - महर्षिगण।

भावार्थ - महर्षि, मुनि महात्मा संयम और तप से पूर्वकृत कर्मों को क्षय कर के सभी दुःखों से रहित होने के लिए ज्ञान दर्शन चारित्र में पराक्रम (पुरुषार्थ) करते हैं और उसके फलस्वरूप-सिद्धि गति प्राप्त करते हैं ॥३६॥ ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - प्रस्तुत गाथा में आगमकार ने इस अध्ययन का उपसंहार करते हुए और तप संयम से कर्मों की मुक्ति बताई है। सम्यग्ज्ञानादि प्रथम तीन का संयम में और सम्यक् तप का तप में इस प्रकार चारों का संयम और तप में ग्रहण किया गया है। इन दोनों उपायों से आत्मा सर्व कर्मों से रहित बन कर मोक्ष के शाश्वत सुखों को प्राप्त करती है।

॥ मोक्षमार्गगति नामक अट्टाईसवाँ अध्ययन समाप्त ॥



समत्त परवक्त्रमे णामं एगुणतीसइमं अज्झयणं

सम्यक्त्व पराक्रम नामक उन्तीसवां अध्ययन

प्रस्तुत अध्ययन में ७३ प्रकार के विविध विषयक प्रश्नोत्तरों के द्वारा जीव के आध्यात्मिक विकास का सुंदर क्रम बताया गया है। यह पूरा अध्ययन गद्यमय है। इसके सभी प्रश्न और उत्तर बहुत ही मार्मिक और साधक को नवीन दृष्टि प्रदान करने वाले हैं।

अट्टाईसवें अध्ययन में ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चार को मुक्ति का कारण कहा गया है। ये चारों ही संवेग से लेकर अकर्मता तक तिहत्तर बोल वाले होते हैं। सो इन्हीं बोलों का वर्णन इस अध्ययन में किया गया है।

सम्यक्त्व पराक्रम का फल

सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं - इह खलु सम्मत्तपरवक्त्रमे णामं अज्झयणे समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइए, जं सम्मं सद्वहित्ता पत्तइत्ता रोयइत्ता फासइत्ता पालइत्ता तीरित्ता कित्तइत्ता सोहइत्ता आराहइत्ता आणाए अणुपालइत्ता बहवे जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिब्बायंति सब्बदुक्खाणमंतं करंति ॥१॥

कठिन शब्दार्थ - सुयं - सुना है, मे - मैंने, आउसं - हे आयुष्मन्, तेणं - उन, भगवया - भगवान् ने, एवं - इस प्रकार, अक्खायं - कहा था, सम्मत्तपरवक्त्रमे णामं - सम्यक्त्व पराक्रम नामक, अज्झयणे - अध्ययन, समणेणं - श्रमण, महावीरेणं - महावीर ने, कासवेणं - काश्यप गोत्रीय, पवेइए - प्रतिपादन किया है, जं - जिसका, सम्मं - सम्यक्, सद्वहित्ता - श्रद्धान करके, पत्तइत्ता - प्रतीति कर के, रोयइत्ता - रुचि करके, फासइत्ता - स्पर्श करके, पालइत्ता - पालन करके, तीरित्ता - पार करके, कित्तइत्ता - कीर्तन करके, सोहइत्ता - शुद्ध करके, आराहइत्ता - आराधन करके, आणाए अणुपालइत्ता - आज्ञानुसार पालन करके, बहवे जीवा - बहुत से जीव, सिज्झंति - सिद्ध होते हैं, बुज्झंति - बुद्ध होते हैं, मुच्चंति - मुक्त होते हैं, परिणिब्बायंति - परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं, सब्बदुक्खाणं - समस्त दुःखों का, अंतं करंति - अंत करते हैं।

भावार्थ - श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन् जम्बू! उन भगवन्तों ने इस प्रकार कहा था सो मैंने सुना है। इस जिनशासन में निश्चय ही काश्यप गोत्रीय भ्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने सम्यक्त्व पराक्रम नामक अध्ययन प्रतिपादित किया है जिस पर सम्यक् प्रकार से श्रद्धा कर के, प्रतीति कर के, रुचि कर के, स्पर्श (ग्रहण) कर के, पालन कर के, तिर कर - अध्ययन अध्यापन आदि द्वारा उसको समाप्त करके, कीर्तन कर के, शुद्ध कर के, आराधन कर के, आज्ञानुसार पालन कर के बहुत से जीव सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, सकल कर्मों से मुक्त होते हैं, कर्म रूपी दावानल से छूट कर शान्त होते हैं और सभी प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःखों का अन्त करते हैं।

विवेचन - समान शब्दों के व्युत्पत्तिजन्य भिन्न अर्थ -

श्रद्धा करना - केवली भगवान् के वचन सत्य हैं, ऐसा विश्वास करना।

प्रतीति करना - हेतु युक्ति आदि के द्वारा विशेष निश्चय करना।

रुचि करना - भगवान् के वचनों को मैं भी जीवन में उतारूँ, ऐसी अभिलाषा करना।

स्पर्श करना - मन, वचन, काया से स्वीकार करना। इसी प्रकार पालन करना, तीर (किनारे) तक पहुँचना।

भगवान् के वचनों को मैंने जीवन में उतारा, यह अच्छा किया, इस प्रकार कीर्तन (प्रशंसा) करना।

शोधन करना - अतिचारों की शुद्धि करना।

आराधन करना - सूत्रोक्त विधि से पालन करना।

अनुपालन करना - तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा के अनुसार पालन करना।

सिद्धयन्ति - संसार के सारे कार्य सिद्ध हो गये, कोई कार्य करना बाकी नहीं रहा।

शुद्ध्यन्ते - केवल ज्ञान, केवल दर्शन के द्वारा सम्पूर्ण लोकालोक को जानते और देखते हैं।

मुच्यन्ते - आठों कर्मों से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं।

परिनिर्वान्ति - सम्पूर्ण कर्म रूपी अग्नि के सर्वथा बुझ जाने के कारण शीतलीभूत बन जाते हैं। अतएव शारीरिक और मानसिक दुःखों का सर्वथा अन्त कर देने के कारण एवं सिद्धि गति नामक स्थान की प्राप्ति से अव्याबाध सुख के भोक्ता बन जाते हैं।

सम्यक्त्व पराक्रम के ७३ मूल सूत्र

- तस्स णं अयमट्ठे एवमाहिज्जइ, तंजहा - १. संवेगे २. णिव्वेए ३. धम्मसद्धा
 ४. गुरुसाहम्मियसुस्सूसणया ५. आलोयणया ६. णिंदणया ७. गरिहणया
 ८. सामाइए ९. चउवीसत्थए १०. वंदणए ११. पडिक्कमणे १२. काउस्सग्गे
 १३. पच्चक्खाणे १४. थवथुइमंगले १५. कालपडिलेहणया १६. पायच्छित्तकरणे
 १७. खमावणया १८. सज्झाए १९. वायणया २०. पडिपुच्छणया
 २१. परियट्टणया २२. अणुप्पेहा २३. धम्मकहा २४. सुयस्स आराहणया
 २५. एगगमण-सण्णिवेसणया २६. संजमे २७. तवे २८. वोदाणे २९. सुहसाए
 ३०. अप्पडिबद्धया ३१. विवित्तसयणासणसेवणया ३२. विणियट्टणया
 ३३. संभोगपच्चक्खाणे ३४. उवहिपच्चक्खाणे ३५. आहारपच्चक्खाणे
 ३६. कसायपच्चक्खाणे ३७. जोगपच्चक्खाणे ३८. सरीरपच्चक्खाणे
 ३९. सहायपच्चक्खाणे ४०. भत्तपच्चक्खाणे ४१. सवभावपच्चक्खाणे
 ४२. पडिरूवणया ४३. वेयावच्चे ४४. सव्वगुणसंपण्णया ४५. वीयरगया
 ४६. खंती ४७. मुत्ती ४८. अज्जवे ४९. मह्वे ५०. भावसच्चे ५१. करणसच्चे
 ५२. जोगसच्चे ५३. मणगुत्तया ५४. वयगुत्तया ५५. कायगुत्तया
 ५६. मणसमाधारणया ५७. वयसमाधारणया ५८. कायसमाधारणया ५९. णाण-
 संपण्णया ६०. दंसणसंपण्णया ६१. चरित्तसंपण्णया ६२. सोइंदियणिग्गहे
 ६३. चक्खिंदियणिग्गहे ६४. घाणिंदियणिग्गहे ६५. जिब्भिंदियणिग्गहे
 ६६. फासिंदियणिग्गहे ६७. कोहविजए ६८. माणविजए ६९. मायाविजए
 ७०. लोभविजए ७१. पेज्जदोसमिच्छादंसणविजए ७२. सेलेसी
 ७३. अकम्मया ॥२॥

कठिन शब्दार्थ - अयं - यह, अट्ठे - अर्थ, आहिज्जइ - कहा जाता है, संवेगे - संवेग, णिव्वेए - निर्वेद, धम्मसद्धा - धर्मश्रद्धा, गुरुसाहम्मियसुस्सूसणया - गुरु और साधर्मिक की श्रुषा, आलोयणया - आलोचना, णिंदणया - निन्दना, गरिहणया - गर्हणा, सामाइए-

सामायिक, चउवीसस्थए - चतुर्विंशति (जिन) स्तव, वंदणए - वंदना, पडिक्कमणे - प्रतिक्रमण, काउस्सग्गे - कायोत्सर्ग, पंच्चक्खाणे - प्रत्याख्यान, थवथुइमंगले - स्तव-स्तुतिमंगल, कालपडिलेहणया - काल प्रतिलेखनता, पायच्छित्तकरणे - प्रायश्चित्तकरण, खमावणया - क्षमापना, सज्झाए - स्वाध्याय, वायणया - वाचना, पडिपुच्छणया - प्रतिपृच्छा, परियट्ठणया - परावर्तना-पुनरावृत्ति, अणुप्पेहा - अनुप्रेक्षा, धम्मकहा - धर्मकथा, सुयस्स आराहणया - श्रुत-आराधना, एगगमणसण्णिवेसणया - एकाग्र मन की सन्निवेशना, संजमे - संयम, तवे-तप, वोदाणे - व्यवदान-कर्मों की निर्जरा, सुहसाए - सुखशाता, अप्पडिबद्धया - अप्रतिबद्धता, विवित्तसयणासणसेवणया - विविक्त शयन आसन सेवन, विणियट्ठणया - विविवर्तना, संभोगपच्चक्खाणे - सम्भोग प्रत्याख्यान, उवहिपच्चक्खाणे - उपधि (उपकरण) का प्रत्याख्यान, आहारपच्चक्खाणे - आहार प्रत्याख्यान, कसायपच्चक्खाणे - कषाय प्रत्याख्यान, जोगपच्चक्खाणे - योग-प्रत्याख्यान, सरीरपच्चक्खाणे - शरीर प्रत्याख्यान, सहायपच्चक्खाणे-सहाय-प्रत्याख्यान, भत्तपच्चक्खाणे - भक्त प्रत्याख्यान-भोजन का त्याग, सन्भावपच्चक्खाणे-सद्भाव प्रत्याख्यान, पडिरूवणया- प्रतिरूपता, वेधावच्चे- वैयावृत्य (सेवा), सव्वगुणसंपण्णया-सर्वगुण सम्पन्नता, वीयरगया - वीतरागता, खंती - क्षांति (क्षमा), मुत्ती - मुक्ति (निर्लोभता), अज्जवे - ऋजुता - सरलता, मह्वे - मृदुता, भावसच्चे - भावं सत्य, करणसच्चे - करणसत्य, जोगसच्चे- योगसत्य, मणगुत्तया - मन गुप्ति, वयगुत्तया- वचन गुप्ति, कायगुत्तया- काय गुप्ति, मणसमाधारणया - मनसमाधारणता, वयसमाधारणया - वचन समाधारणता, कायसमाधारणया - काय समाधारणता, णाणसंपण्णया - ज्ञान सम्पन्नता, दंसणसंपण्णया- दर्शन सम्पन्नता, चरित्तसंपण्णया - चारित्र सम्पन्नता, सोइंदियणिग्गहे - श्रोत्रेन्द्रिय निग्रह, चक्खिंदियणिग्गहे- चक्षुइन्द्रिय निग्रह, घाणिंदियणिग्गहे - घ्राणेन्द्रिय निग्रह, जिब्भिंदियणिग्गहे- जिह्वेन्द्रिय निग्रह, फासिंदियणिग्गहे - स्पर्शेन्द्रिय निग्रह, कोहविजए- क्रोध-विजय, माणविजए- मानविजय, मायाविजए - मायाविजय, लोहविजए - लोभ विजय, पेज्जदोसमिच्छा-दंसणविजए - प्रिय (राग) द्वेष मिथ्यादर्शन विजय, सेलेसी - शैलेशी, अकम्मया - अकर्मता।

भावार्थ - उस सम्यक्त्व पराक्रम नामक अध्ययन का यह अर्थ है, जो इस प्रकार कहा जाता है, यथा - १. संवेग २. निर्वेद ३. धर्म श्रद्धा ४. गुरु और साधर्मियों की सेवा शुश्रूषा ५. आलोचना ६. निन्दा ७. गर्हा ८. सामायिक ९. चतुर्विंशति-स्तव (चौबीस तीर्थकरों की स्तुति) १०. वन्दना ११. प्रतिक्रमण १२. कायोत्सर्ग १३. प्रत्याख्यान १४. स्तव स्तुतिमंगल

(गुणीजनों की स्तुति) १५. काल प्रतिलेखनता १६. प्रायश्चित्तकरण १७. क्षमापना १८. स्वाध्याय १९. वाचना २०. प्रतिपृच्छना (प्रश्नोत्तर) २१. परिवर्तना २२. अनुप्रेक्षा २३. धर्मकथा २४. श्रुत की आराधना २५. एकाग्र मन सन्निवेशनता (मन की एकाग्रता) २६. संयम २७. तप २८. व्यवदान (कर्मों की निर्जरा) २९. सुखशात (वैषयिक सुखों से निवृत्ति) ३०. अप्रतिबद्धता ३१. विविक्त शय्या आसन का सेवन ३२. विनिवर्तना (पापकर्मों से निवृत्त होना) ३३. संभोग प्रत्याख्यान ३४. उपधि प्रत्याख्यान ३५. आहार प्रत्याख्यान ३६. कषाय प्रत्याख्यान ३७. योग प्रत्याख्यान ३८. शरीर प्रत्याख्यान ३९. सहाय-प्रत्याख्यान ४०. भक्तप्रत्याख्यान ४१. सद्भाव प्रत्याख्यान ४२. प्रतिरूपता (मन वचन काया की एकता) ४३. वैयावृत्य ४४. सर्वगुण सम्पन्नता ४५. वीतरागता ४६. क्षमा ४७. मुक्ति (निर्लोभता) ४८. आर्जव (सरलता) ४९. मार्दव ५०. भाव सत्य ५१. करण सत्य ५२. योग सत्य ५३. मनोगुप्तता (मन गुप्ति) ५४. वागगुप्तता (वचन गुप्ति) ५५. कायगुप्तता (काय गुप्ति) ५६. मनः समाधारणता ५७. वाक् (वचन) समाधारणता ५८. काय-समाधारणता ५९. ज्ञान-सम्पन्नता ६०. दर्शन-सम्पन्नता ६१. चारित्र-सम्पन्नता ६२. श्रोत्रेन्द्रिय निग्रह ६३. चक्षुइन्द्रिय निग्रह ६४. घ्राणेन्द्रिय निग्रह ६५. जिह्वा इन्द्रिय निग्रह ६६. स्पर्शेन्द्रिय निग्रह ६७. क्रोध विजय ६८. मान विजय ६९. माया विजय ७०. लोभ विजय ७१. प्रेमद्वेष-मिथ्यादर्शन विजय - प्रेम (राग) द्वेष तथा मिथ्यादर्शन का विजय ७२. शैलेशी अवस्था ७३. अकर्मता (कर्मरहित अवस्था)।

१. संवेग

संवेगेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

कठिन शब्दार्थ - भंते! - हे भगवन्! संवेगेणं - संवेग (मोक्षाभिलाषा) से, जीवे - जीव को, किं - क्या, जणयइ - प्राप्त होता है।

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! संवेग भाव से जीव को क्या लाभ होता है?

संवेगेणं अणुत्तरं धम्मसद्धं जणयइ, अणुत्तराए धम्मसद्धाए संवेगं हव्वमागच्छइ, अणंताणुबंधी कोह-माण-माया-लोभे खवेइ, णवं च कम्मं ण बंधइ, तप्पच्चइयं च मिच्छत्तविसोहिं कारुण दंसणाराहए भवइ, दंसणविसोहिएणं विसुद्धाए अत्थेगइए जीवे तेणेव भवगाहणेणं सिज्झइ बुज्झइ मुच्चइ परिणिव्वायइ

सव्वदुक्खाणमंतं करेइ, विसोहिए णं विसुद्धाए तच्चं पुणो भवग्गहणं
णाइक्कमइ ॥१॥

कठिन शब्दार्थ- अणुत्तरं - अनुत्तर-उत्कृष्ट, धम्मसद्धं - धर्मश्रद्धा, अणुत्तराए धम्मसद्धाए-
अनुत्तर धर्म श्रद्धा से, हव्वं - शीघ्र, आगच्छइ - आता है, अणंताणुबंधी - अनंतानुबंधी,
खवेइ - क्षय करता है, णवं - नये, कम्मं - कर्मों को, ण बंधइ - नहीं बांधता है,
तप्पच्चइयं - उसके निमित्त (कारण), मिच्छन्तविसोहिं - मिथ्यात्व विशुद्धि, काऊण - करके,
दंसणाराहए - दर्शनाराधक, दंसणविसोहिएणं - दर्शन विशोधि के द्वारा, विसुद्धाए - विशुद्ध
होने से, अत्थेगइए - कई एक, तेणेव भवग्गहणेणं - उसी जन्म में, सिज्झइ - सिद्ध होता है,
बुज्झइ - बुद्ध होता है, मुच्चइ - मुक्त हो जाता है, परिणिव्वायइ- परिनिर्वाण को प्राप्त होता
है, सव्वदुक्खाणं अंतं करेइ - सभी दुःखों का अंत कर देता है, तच्चं - तीसरे, पुणो - फिर,
भवग्गहणं - भवग्रहण-भव का, णाइक्कमइ - अतिक्रमण नहीं करता।

भावार्थ - उत्तर - संवेग (मोक्ष की अभिलाषा) से अनुत्तर-उत्कृष्ट धर्मश्रद्धा उत्पन्न होती
है। अनुत्तर-सर्वोत्कृष्ट धर्मश्रद्धा से शीघ्र ही संवेग (उत्कृष्ट मोक्ष की अभिलाषा) उत्पन्न होता है
और संवेग से अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ का क्षय होता है और नवीन कर्मों का
बन्ध नहीं होता। कर्मबन्धन के निमित्त कारण मिथ्यात्व की विशुद्धि कर के क्षायिक सम्यक्त्व
का आराधक हो जाता है। दर्शन-सम्यक्त्व की विशुद्धि से विशुद्ध बने हुए कोई एक जीव उसी
भव में सिद्ध हो जाता है, बुद्ध हो जाता है, कर्मों से मुक्त हो जाता है, परिनिर्वाण-परम शान्ति
को प्राप्त हो जाता है, सभी दुःखों का अन्त कर देता है। जो उसी भव में मोक्ष नहीं जाता है
वह सम्यक्त्व की उच्च विशुद्धि के कारण फिर तीसरे भवग्रहण - भव का अतिक्रमण नहीं
करता अर्थात् तीसरे भव में तो अवश्य मोक्ष पा लेता है, क्योंकि क्षायिक-सम्यक्त्व की प्राप्ति
के बाद जीव संसार में तीन भव से अधिक भव नहीं करता।

विवेचन - संवेग अर्थात् सम्यक् उद्वेग - मोक्ष के प्रति उत्कंठा अभिलाषा या संसार के
दुःखों से भीति पाकर मोक्ष के सुखों की अभिलाषा। देव, गुरु, धर्म एवं तत्त्वों पर निश्चल
अनुराग संवेग है।

क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होने के पहले यदि आयुष्य का बंध न हुआ हो तो वह उसी भव
में मोक्ष चला जाता है। यदि पहले आयुष्य का बंध हो गया हो तो तीसरे भव में या युगलिक
का आयुष्य बंध हो गया हो तो चौथे भव में अवश्य मोक्ष चला जाता है।

यहाँ पर मूल पाठ में जो 'तीन भव' करना बताया है, उसका आशय - मनुष्य के तीन भवों को समझना चाहिए। देव भव को गिनने पर तो चार भव भी हो सकते हैं। द्रव्य लोक प्रकाश आदि ग्रंथों में क्षायिक सम्यक्त्वी के चार भव होना भी बताया है। जिनका स्पष्टीकरण ऊपर किया गया है।

२. निर्वेद

णिव्वेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! निर्वेद (संसार से विरक्ति) से जीव को क्या लाभ होता है?

णिव्वेणं दिव्वमाणुस्सतिरिच्छिण्णसु कामभोगेसु णिव्वेयं हव्वमागच्छइ, सव्वविसण्णसु विरज्जइ, सव्वविसण्णसु विरज्जमाणे आरंभपरिग्गहपरिच्चायं करेइ, आरंभपरिग्गह-परिच्चायं करेमाणे संसारमग्गं वोच्छिंदइ, सिद्धिमग्गं पडिवण्णे य भवइ ॥२॥

कठिन शब्दार्थ - णिव्वेणं - निर्वेद से, दिव्वमाणुस्सतिरिच्छिण्णसु - देव, मनुष्य एवं तिर्यच संबंधी, कामभोगेसु - कामभोगों में, सव्वविसण्णसु - सभी विषयों में, विरज्जइ - विरक्त होता है, विरज्जमाणे - विरक्त होता हुआ, आरंभपरिग्गहपरिच्चायं - आरम्भ परिग्रह का त्याग, संसारमग्गं - संसार के मार्ग का, वोच्छिंदइ - विच्छेद कर देता है, सिद्धिमग्गं - सिद्धि मार्ग को, पडिवण्णे - प्रतिपन्न - ग्रहण करने वाला।

भावार्थ - उत्तर - निर्वेद से जीव देव, मनुष्य और तिर्यच सम्बन्धी समस्त प्रकार के कामभोगों में शीघ्र ही निर्वेद को प्राप्त हो जाता है और सभी विषयों से विरक्त हो जाता है। सभी विषयों से विरक्त होता हुआ जीव आरम्भ-परिग्रह का त्याग कर देता है, आरम्भ परिग्रह का त्याग करता हुआ संसार-मार्ग का अर्थात् भवपरम्परा का व्यवच्छेद-नाश कर डालता है और सिद्धि मार्ग - मोक्ष मार्ग का प्रतिपन्न - पथिक बन जाता है।

विवेचन - निर्वेद शब्द के विभिन्न अर्थ इस प्रकार मिलते हैं - १. सांसारिक विषयों के त्याग की भावना (बृहदवृत्ति ५७८) २. संसार, शरीर और भोगों से विरक्ति (मोक्षप्राभृत ८२ टीका) ३. समस्त अभिलाषाओं का त्याग (पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध ४४३)।

३. धर्म श्रद्धा

धम्मसद्धाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! धर्म श्रद्धा से जीव को क्या लाभ होता है?

धम्मसद्धाए णं सायासोक्खेसु रज्जमाणे विरज्जइ, अगारधम्मं च णं चयइ, अणगारिए णं जीवे सारीरमाणसाणं दुक्खाणं छेयणभेयण-संजोगाईणं वोच्छेयं करेइ, अव्वाबाहं च सुहं णिव्वत्तेइ ॥३॥

कठिन शब्दार्थ - धम्मसद्धाए णं - धर्म पर पूर्ण श्रद्धा रखने से, सायासोक्खेसु - साता सुखों - साता वेदनीय कर्मजन्य विषय सुखों में, रज्जमाणे - अनुरक्ति-आसक्ति से, अगारधम्मं- अगार-धर्म - गृहस्थ धर्म को, चयइ - त्याग देता है, अणगारिए - अनगार - मुनि हो कर, सारीरमाणसाणं - शारीरिक और मानसिक, दुक्खाणं - दुःखों का, छेयणभेयण- छेदन भेदन, संजोगाईणं - संयोग आदि, वोच्छेयं - विच्छेद, अव्वाबाहं - अव्याबाध - समस्त बाधा रहित, सुहं - सुख को, णिव्वत्तेइ - निष्पन्न - प्राप्त करता है।

भावार्थ - उत्तर - धर्म पर पूर्ण श्रद्धा रखने से सातावेदनीय कर्म के उदय से प्राप्त हुए जिन सुखों में जीव अनुराग करता था, उन सुखों से विरक्त हो जाता है और अगार धर्म - गृहस्थ धर्म का त्याग कर देता है। अनगार - मुनि बन कर शारीरिक और मानसिक दुःखों का छेदन-भेदन कर देता है तथा संयोग-वियोगजन्य दुःखों का व्यवच्छेद (नगश) कर देता है और अव्याबाध (बाधा-पीड़ा रहित) मोक्ष-सुख को प्राप्त कर लेता है।

विवेचन - यहाँ पर 'धर्म श्रद्धा' शब्द से 'चारित्र धर्म पर श्रद्धा करना' अर्थ समझना चाहिए। संवेग के फल में जो धर्म श्रद्धा का कथन किया गया है उसमें श्रुत एवं चारित्र धर्म पर श्रद्धा करना बताया गया है। यहाँ पर विशिष्ट धर्म श्रद्धा को समझने से पुनरुक्ति दोष की संभावना नहीं रहती है।

४. गुरु-साधर्मिक शुश्रूषा

गुरुसाहम्मिय सुस्सूसणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! गुरुजनों तथा साधर्मियों की सेवा शुश्रूषा करने से जीव को क्या लाभ होता है?

गुरुसाहम्मिय-सुस्सूसणयाए णं विणयपडिवत्तिं जणयइ, विणयपडिवण्णे य णं जीवे अणच्चासायणसीले णेरइय-तिरिक्ख-जोणिय-मणुस्स-देव-दुग्गईओ णिरुंभइ, वण्णसंजलण-भत्ति-बहु-माणयाए मणुस्सदेवसुग्गईओ णिबंधइ, सिद्धिसोग्गइं च विसोहेइ, पसत्थाइं च णं विणयमूलाइं सव्वकज्जाइं साहेइ, अण्णे य बहवे जीवा विणइत्ता भवइ ॥४॥

कठिन शब्दार्थ - गुरुसाहम्मिय सुस्सूसणयाए - गुरु और साधर्मिकों की शुश्रूषा से, विणयपडिवत्तिं - विनय प्रतिपत्ति को, अणच्चासायणसीले - आशातना रहित स्वभाव वाला होकर, णेरइय-तिरिक्ख-जोणिय-मणुस्स-देव-दुग्गईओ - नारकी, तिर्यच, मनुष्य, देव संबंधी दुर्गतियों का, णिरुंभइ - निरोध करता है, वण्णसंजलणभत्ति बहुमाणयाए - वर्ण-श्लाघा संज्वलन - गुणों का प्रकाशन भक्ति और बहुमान से, मणुस्सदेवसुग्गईओ - मनुष्य देव सुगतियों का, णिबंधइ - बंध करता है, सिद्धिसोग्गइं - श्रेष्ठ गति रूप सिद्धि को, पसत्थाइं- प्रशस्त, विणयमूलाइं - विनय मूलक, सव्वकज्जाइं - सब कार्यों को, साहेइ - सिद्ध कर लेता है, विणइत्ता - विनय ग्रहण कराने वाला।

भावार्थ - उत्तर - गुरुजनों की तथा साधर्मियों की सेवा शुश्रूषा करने से विनय प्रतिपत्ति अर्थात् विनय की प्राप्ति होती है। विनय को प्राप्त हुआ जीव सम्यक्त्वादि का नाश करने वाली आशातना का त्याग कर देता है, फिर वह जीव नारकी, तिर्यच, मनुष्य और देव सम्बन्धी दुर्गतियों का निरोध कर देता है। गुरुजनों का गुणकीर्तन, प्रशंसा, संज्वलन भक्ति बहुमान करने से मनुष्य और देवों में उत्तम ऐश्वर्य आदि सम्पन्न शुभ-गति का बन्ध करता है। सिद्धि सुगति-मोक्ष के कारणभूत ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप मोक्ष-मार्ग की विशुद्धि करता है। विनय-मूलक प्रशस्त सभी उत्तम कार्यों को सिद्ध कर लेता है और दूसरे बहुत-से जीवों को विनयवान् करता है अर्थात् उसे देखकर बहुत से जीव विनयवान् बनते हैं।

विवेचन - शुश्रूषा शब्द के विभिन्न अर्थ - १. सद्बोध और धर्मशास्त्र सुनने की इच्छा २. परिचर्या ३. गुरु आदि की वैयावृत्य ४. गुरु के आदेश को विनयपूर्वक सुनने की वृत्ति ५. न अतिदूर और न अतिनिकट किंतु विधिपूर्वक सेवा करना।

विनय प्रतिपत्ति के चार अंग - १. वर्ण - गुणाधिक व्यक्ति की प्रशंसा २. संज्वलन - गुणों को प्रकट करना ३. भक्ति - हाथ जोड़ना, गुरु के आने पर उठ कर सामने जाना, आदर देना और ४. बहुमान - अंतर में प्रीति, मन में आदरभाव।

चारों गति की दुर्गति - नारकी और तिर्यच तो दुर्गति रूप है ही, मनुष्य की दुर्गति है - अधमाधम जाति में उत्पन्न होना और देव की दुर्गति है - किल्बिषिक या परमाधामी अधम देवजाति में उत्पन्न होना।

मनुष्य और देव की सुगति - मनुष्य की सुगति है - ऐश्वर्य युक्त विशिष्ट कुल में उत्पन्न होना। देव की सुगति है - अहमिन्द्र आदि पदवी को प्राप्त करना।

५ आलोचना

आलोचनाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! आलोचना से जीव को क्या लाभ होता है?

आलोचनाए णं माया-णियाण-मिच्छा-दंसण-सल्लाणं मोक्खमग्ग-विग्घाणं अणंत-संसार-वद्धणाणं उद्धरणं करेइ, उज्जुभावं च जणयइ, उज्जुभावपडिवण्णे य णं जीवे अमाई इत्थिवेयं णपुंसगवेयं च ण बंधइ, पुव्वबद्धं च णं णिज्जरेइ ॥५॥

कठिन शब्दार्थ - आलोचनाए - आलोचना से, माया-णियाण-मिच्छा-दंसण-सल्लाणं- माया, निदान और मिथ्यादर्शन रूप शल्यों को, मोक्खमग्गविग्घाणं - मोक्षमार्ग में विघ्न डालने वाले, अणंत-संसार-वद्धणाणं - अनंत संसार को बढ़ाने वाले, उद्धरणं करेइ - निकाल फैकता है, उज्जुभावं - ऋजुभाव को, उज्जुभावपडिवण्णे - ऋजुभाव को प्राप्त, अमाई - अमायी-माया रहित, इत्थिवेयं णपुंसगवेयं - स्त्रीवेद और नपुंसकवेद का, पुव्वबद्धं-पूर्वबद्ध की, णिज्जरेइ - निर्जरा करता है।

भावार्थ - उत्तर - गुरु के समक्ष अपने दोषों को प्रकाशित कर आलोचना करने से मोक्षमार्ग में विघ्न करने वाले और अनन्त संसार बढ़ाने वाले माया, निदान और मिथ्यात्व रूप तीनों शल्यों को उद्धृत करता है-हृदय से निकाल फैकता है और सरल भाव को प्राप्त करता है। सरलभाव को प्राप्त हुआ जीव माया-कपटाई रहित हो जाता है, ऐसा माया-रहित जीव स्त्रीवेद और नपुंसकवेद का बंध नहीं करता और यदि कदाचित् उनका बन्ध हो चुका हो तो उनकी निर्जरा कर देता है।

विवेचन - शल्य तीन कहे गये हैं। जैसे पैर आदि में चुभा हुआ कांटा जब तक नहीं

निकलता तब तक खटकता रहता है। इसी तरह से ये तीन शल्य भी हृदय में खटकते रहते हैं -
 १. माया शल्य (कपटाई) २. निदान शल्य (की हुई धर्मकरणी के फल को मांग लेना)
 ३. मिथ्यादर्शनशल्य (कुदेव, कुगुरु, कुधर्म की मान्यता रखना, इन्हें सुदेव सुगुरु सुधर्म मानना)।

गुरु महाराज के आगे आलोचना करने से पाप का भार उतर कर हृदय हलका हो जाता है। आलोचना के दो भेद हैं - पर की आलोचना और स्व (आत्मा की) आलोचना। पर की आलोचना (निंदा) करने से तो कर्म बंध होता है और जीव विराधक बन जाता है। इसलिए दूसरों की आलोचना नहीं करनी चाहिये। स्वयं की आलोचना करने से जीव कर्मों के भार से हलका हो जाता है। भगवान् की आज्ञा का आराधक बन जाता है। जैसा कि कहा है -

‘आलोचना निज दोष नी कीजे, गुरु समीपे जायजी।’

६. निन्दना

णिंदणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! आत्मनिन्दा अर्थात् अपने दोषों की स्वयं निन्दा करने से जीव को क्या लाभ होता है?

णिंदणयाए णं पच्छाणुतावं जणयइ, पच्छाणुतावेणं विरज्जमाणे
 करणगुणसेदिं पडिवज्जइ, करणगुणसेदिपडिवण्णे य अणगारे मोहणिज्जं कम्मं
 उग्घाएइ ॥६॥

कठिन शब्दार्थ - णिंदणयाए - निन्दना से, पच्छाणुतावं - पश्चात्ताप, करणगुणसेदिं -
 करण गुण श्रेणी को, पडिवज्जइ - प्राप्त होता है, करणगुणसेदिपडिवण्णे - करण गुण श्रेणी
 को प्राप्त, मोहणिज्जं कम्मं - मोहनीय कर्म को, उग्घाएइ - नष्ट कर देता है।

भावार्थ - उत्तर - अपने दोषों की निंदा करने से पश्चात्ताप होता है। पश्चात्ताप करने से
 वैराग्य उत्पन्न होता है। वैराग्य के कारण जीव क्षपक श्रेणी पर चढ़ता है और क्षपक श्रेणी पर चढ़ा
 हुआ अनगार मोहनीय कर्म का क्षय कर देता है। मोहनीय कर्म का क्षय होने से मोक्ष होता है।

विवेचन - यहाँ ‘करण’ शब्द से ८ वें गुणस्थान से पहले होने वाला अपूर्वकरण लिया
 गया है। इस प्रकार के अपूर्व परिणामों द्वारा जीव क्षपक श्रेणि प्राप्त करता है और उसी भव में
 मोक्ष प्राप्त कर लेता है। निन्दा आत्म-साक्षी से होती है।

५. गर्हणा

गरिहणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! आत्मगर्हा से जीव को क्या लाभ होता है?

गरिहणयाए णं अपुरक्कारं जणयइ, अपुरक्काराए णं जीवे अप्पसत्थेहिंतो जोगेहिंतो णियत्तेइ, पसत्थे य पडिवज्जइ पसत्थ जोगपडिवण्णे य णं अणगारे अणंतघाई पज्जवे खवेइ ॥७॥

कठिन शब्दार्थ - गरिहणयाए - गर्हणा से, अपुरक्कारं - अपुरस्कार-आत्मलघुता (आत्म विनम्रता या गौरवहीनता) को, अप्पसत्थेहिंतो - अप्रशस्त, जोगेहिंतो - योगों से, णियत्तेइ - निवृत्त हो जाता है, पसत्थे - प्रशस्त, जोगपडिवण्णे - योगों को प्राप्त, अणंतघाई पज्जवे - अनंत ज्ञान दर्शनादि की घात करने वाली पर्यायों का।

भावार्थ - उत्तर - आत्मगर्हा करने से अपुरस्कार भाव (गर्व-भंग) की उत्पत्ति होती है और आत्म-नम्रता प्राप्त होती है। आत्मनम्रता को प्राप्त हुआ जीव अप्रशस्त - अशुभ योगों से निवृत्त हो जाता है और प्रशस्त - शुभ-योगों को प्राप्त होता है और शुभ योगों को प्राप्त हुआ अनगर (साधु) अनन्तज्ञान-दर्शनादि की घात करने वाली कर्म-पर्यायों को क्षय कर देता है।

विवेचन - गुरु के सामने अपने दोषों को प्रकट करना 'गर्हा' कहलाती है। आत्मसाक्षी से अपने पापों की निंदा करने के बाद गुरु के सामने अपने दोषों को प्रकट करना भी आवश्यक है। क्योंकि निंदा के अपेक्षा गर्हा का महत्त्व अधिक है। आत्मार्थी पुरुष ही गर्हा कर सकता है।

६. सामायिक

सामाइएणं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! सामायिक करने से जीव को क्या लाभ होता है?

सामाइएणं सावज्ज-जोग-विरइं जणयइ।

कठिन शब्दार्थ - सामाइएणं - सामायिक से, सावज्ज-जोग-विरइं - सावद्य योगों से निवृत्ति।

भावार्थ - उत्तर - सामायिक करने से सावद्य योगों से निवृत्ति होती है।

विवेचन - संसार के समस्त जीवों को अपनी आत्मा के तुल्य समझना 'सम' कहलाता है। उस 'सम' का लाभ होना सम+आय=समाय है। इसी अर्थ में संस्कृत में 'इक' प्रत्यय लगकर 'सामायिक' शब्द बनता है। शत्रु, मित्र सभी जीवों पर समभाव की प्राप्ति होना सामायिक कहलाती है। अनुयोगद्वार सूत्र में तथा आवश्यक सूत्र में इसका विस्तृत वर्णन है।

९. चतुर्विंशतिस्तव

चउवीसत्थए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! चौबीस तीर्थकरों का स्तव (स्तवन) नाम कथन पूर्वक गुण कीर्तन करने से जीव को क्या फल अर्थात् लाभ मिलता है?

चउवीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ।

कठिन शब्दार्थ - चउवीसत्थएणं - चतुर्विंशतिस्तव से, दंसणविसोहिं - दर्शन की विशुद्धि।

भावार्थ - उत्तर - चौबीस तीर्थकरों का स्तव (स्तवन) करने से दर्शन-सम्यक्त्व की विशुद्धि होती है।

विवेचन - चतुर्विंशतिस्तव अर्थात् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर तक प्रवर्तमान अवसर्पिणीकाल की चौबीसी के चौबीस तीर्थकरों का श्रद्धापूर्वक गुणोत्कीर्तन करने से जीव के दर्शन में बाधा उत्पन्न करने वाले जो कर्म हैं वे दूर हो जाते हैं। सम्यक्त्व, चल-मल-अगाढ़ दोष से रहित निर्मल-शुद्ध हो जाता है।

१०. वन्दना

वंदणएणं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! गुरु महाराज को वन्दना करने से जीव को क्या लाभ होता है?

वंदणएणं णीयागोयं कम्मं खवेइ, उच्चागोयं कम्मं णिवंधइ, सोहगं च णं अप्पडिहयं आणाफलं णिव्वत्तेइ, दाहिणभावं च णं जणयइ।

कठिन शब्दार्थ - वंदणएणं - वंदना करने से, णीयागोयं कम्मं - नीच गोत्र कर्म का, उच्चागोयं - उच्च गोत्र को, सोहगं - सौभाग्य, आणाफलं - आज्ञा का प्रतिफल, अप्पडिहयं-अप्रतिहत, दाहिणभावं - दाक्षिण्यभाव को।

भावार्थ - उत्तर - वन्दना करने से नीच-गोत्र कर्म का क्षय करता है। उच्च-गोत्र कर्म को बाँधता है और अप्रतिहत अर्थात् अखण्ड सौभाग्य और सफल आज्ञा के फल को प्राप्त करता है। दाक्षिण्यभाव को प्राप्त करता है अर्थात् वह लोगों का प्रीतिपात्र और मान्य बन जाता है।

विवेचन - आचार्य, गुरु आदि गुरुजनों को वन्दना - यथोचित प्रतिरूप विनयभक्ति करने से जीव के यदि पूर्व में नीच गोत्र भी बाँधा हुआ हो तो उसे दूर करके वह उच्च गोत्र-उत्तमकुलादि में उत्पन्न कराने वाले कर्म का उपार्जन कर लेता है। इसके अतिरिक्त वह अखण्ड सौभाग्यशाली होता है, उसकी आज्ञा सफल होती है अर्थात् वह जन समुदाय का मान्य नेता बन जाता है उसकी आज्ञा को लोग शिरोधार्य करते हैं तथा वह दाक्षिण्य भाव - जनजन के मानस में अनुकूल भाव अर्थात् लोकप्रियता को प्राप्त कर लेता है।

अपने दाहिने कान से लेकर बाँये कान तक अंजलि बद्ध दोनों हाथों को यतना पूर्वक घुमाना आदक्षिण-प्रदक्षिण कहलाता है। आदक्षिण प्रदक्षिण पूर्वक पञ्चाङ्गों को (दो हाथ, दो घुटने और मस्तक) नमाकर विनय पूर्वक गुणी जनों को, गुरुजनों को और बड़ों को नमस्कार करना 'वन्दन' कहलाता है।

११. प्रतिक्रमण

पडिक्कमणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! प्रतिक्रमण करने से जीव को क्या लाभ होता है?

पडिक्कमणेणं वयच्छिदाइं पिहेइ, पिहियवयच्छिहे पुण जीवे णिरुद्धासवे
असबल-चरित्ते अट्टसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणिहिए विहरइ ॥११॥

कठिन शब्दार्थ - पडिक्कमणेणं - प्रतिक्रमण करने से, वयच्छिदाइं - व्रतों के छिद्रों को ढाँकने वाला, णिरुद्धासवे - आस्रवों को रोक देता है, असबलचरित्ते - चारित्र पर आये हुए धब्बे मिटा देता है, अट्टसु पवयणमायासु - अष्ट प्रवचन माताओं में, उवउत्ते - उपयोगवान्-सावधान, अपुहत्ते - पृथक्त्व रहित, सुप्पणिहिए - सम्यक् प्रकार से प्रणिहित - समाधि युक्त होकर।

भावार्थ - उत्तर - प्रतिक्रमण करने से व्रतों में बने हुए छिद्रों को बन्द करता है फिर व्रतों के दोषों से निवृत्त बना हुआ शुद्ध व्रतधारी जीव आस्रवों को रोक कर तथा शबलादि दोषों से रहित शुद्ध संयम वाला हो कर आठ प्रवचन माताओं में उपयुक्त-सावधान होता है। अपृथक्त्व-

संयम में तल्लीन रहता हुआ समाधिपूर्वक एवं अपनी इन्द्रियों को असन्मार्ग से हटा कर संयम मार्ग में विचरण करता है।

विवेचन - प्रतिक्रमण का अर्थ है - ज्ञान-दर्शन चारित्र में प्रमादवश जो दोष-अतिचार लगे हों, उनके कारण जीव स्वस्थान से परस्थान में - संयम से असंयम में गया हो उससे प्रतिक्रम करना - वापिस लौटना - उन दोषों या स्वकृत अशुभयोगों से निवृत्त होना।

१२. कायोत्सर्ग

काउस्सगोणं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! कायोत्सर्ग से जीव को किन गुणों की प्राप्ति होती है?

काउस्सगोणं तीयपडुप्पणं पायच्छित्तं विसोहेइ, विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे णिव्वुयहियए ओहरियभरुव्व भारवाहे पसत्थज्झाणोवगए सुहं सुहेणं विहरइ ॥१२॥

कठिन शब्दार्थ - काउस्सगोणं - कायोत्सर्ग से, तीयपडुप्पणं - अतीत और वर्तमान के, विसुद्धपायच्छित्ते - प्रायश्चित्त से विशुद्ध हुआ, णिव्वुयहियए - निर्वृत्त हृदय - शान्त-चिन्ता रहित हृदय वाला, ओहरियभरुव्व भारवाहे - अपहृत भरइव भारवह - भार को उतारने वाले भारवाहक की भांति, पसत्थज्झाणोवगए - प्रशस्तध्यानोपगत - प्रशस्त ध्यान में लीन होकर, सुहंसुहेणं - सुखपूर्वक, विहरइ- विचरण करता है।

भावार्थ - उत्तर - कायोत्सर्ग करने से भूतकाल और वर्तमान काल के दोषों का प्रायश्चित्त कर के जीव शुद्ध बनता है। जिस प्रकार बोझ उतर जाने से मजदूर सुखी होता है उसी प्रकार प्रायश्चित्त से विशुद्ध बना हुआ जीव शान्त हृदय बन कर शुभ ध्यान ध्याता हुआ सुखपूर्वक विचरता है।

विवेचन - अतिचारों की शुद्धि के निमित्त शरीर का आगमोक्त उत्सर्ग - ममत्व त्याग करना अथवा अतिचारों का आलोचना द्वारा शोधन करने हेतु ध्यानावस्था में शरीर की समस्त चेष्टाओं का त्याग करना - कायोत्सर्ग है।

१३. प्रत्याख्यान

पच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! प्रत्याख्यान से जीव को क्या लाभ होता है?

पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं णिरुंभइ, पच्चक्खाणेणं इच्छाणिरुहं जणयइ
इच्छाणिरुहं गए य णं जीवे सब्बदब्बेसु विणीयतण्हे सीइभूए विहरइ ॥१३॥

कठिन शब्दार्थ - पच्चक्खाणेणं - प्रत्याख्यान से, आसवदाराइं - आस्रवद्वारों का,
इच्छाणिरुहं - इच्छा का निरोध, इच्छाणिरुहं गए - इच्छा का निरोध होने से, सब्बदब्बेसु-
सभी द्रव्यों में, विणीयतण्हे - तृष्णा रहित बना हुआ, सीइभूए - शीतीभूत।

भावार्थ - उत्तर - प्रत्याख्यान करने से आस्रवद्वारों का निरोध होता है। प्रत्याख्यान करने
से इच्छा का निरोध होता है। इच्छा का निरोध होने से जीव सभी पदार्थों में तृष्णारहित बना
हुआ शीतीभूत - परम शांति से विचरता है।

विवेचन - भविष्य में हिंसादि दोष न हों, इसके लिए वर्तमान में ही कुछ न कुछ त्याग,
नियम, व्रत, तप आदि अंगीकार करना प्रत्याख्यान कहलाता है।

१४. स्तव स्तुति मंगल

थवथुइमंगलेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! स्तवस्तुतिमंगल से जीव को क्या लाभ होता है?

थवथुइमंगलेणं णाण-दंसण-चरित्त-बोहिलाभं जणयइ, णाण-दंसण-
चरित्त-बोहिलाभ-संपण्णे य णं जीवे अंतकिरियं कप्पविमाणोववत्तियं आराहणं
आराहेइ ॥१४॥

कठिन शब्दार्थ - थवथुइमंगलेणं - स्तव स्तुति मंगल से, णाण-दंसण-चरित्त-
बोहिलाभं- ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप बोधि लाभ, अंतकिरियं- अंतक्रिया, कप्पविमाणोववत्तियं-
कल्पों - वैमानिक देवों में उत्पन्न होने योग्य, आराहणं आराहेइ - आराधना करता है।

भावार्थ - उत्तर - स्तवस्तुति मंगल से ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप बोधिलाभ को प्राप्त करता
है। ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप बोधिलाभ को प्राप्त करने वाला जीव कल्प विमानों में (बारह
देवलोक, नवग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर विमानों में) उच्च जाति का देव होता है और ज्ञान-
दर्शन-चारित्र की आराधना करता हुआ जीव क्रमशः अन्तक्रिया कर मोक्ष को प्राप्त करता है।

विवेचन - साधारण गुणों का वर्णन करना स्तव कहलाता है। विशेष गुणों का वर्णन
करना स्तुति कहलाता है। जैसे कि - तीर्थकर भगवान् के अतिशयों का वर्णन करना। अभिधान

राजेन्द्र कोश में बतलाया है कि एक श्लोक से लेकर सात श्लोक तक गुण वर्णन करना 'स्तव' कहलाता है। खड़े होकर जघन्य चार, मध्यम आठ और उत्कृष्ट १०८ श्लोकों तक में गुण वर्णन करना 'स्तुति' कहलाता है। कहीं पर इससे विपरीत व्याख्या भी मिलती है यथा - एक से लेकर सात श्लोक तक स्तुति कहलाती है एवं आगे स्तव कहलाता है।

१५ काल प्रतिलेखना

कालपडिलेहणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! काल-प्रतिलेखना (स्वाध्याय काल के ज्ञान) से जीव को क्या लाभ होता है?

कालपडिलेहणयाए णं णाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ।

भावार्थ - उत्तर - काल प्रतिलेखना से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है अर्थात् स्वाध्यायादि काल का ज्ञान रहने से साधु उस समय में स्वाध्यायादि करता है। स्वाध्याय करने से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है।

विवेचन - काल प्रतिलेखना का अर्थ यह है कि - स्वाध्याय काल में स्वाध्याय करना किन्तु अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय नहीं करना।

आगम विहित जो प्रादोषिक आदि काल हैं, उनमें यथा विधि निरूपणा - ग्रहण करना तथा प्रतिजागरणा अर्थात् समय का विभाग करके उसके अनुसार क्रियाएं करना, यह काल प्रतिलेखना है। काल प्रतिलेखना से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है क्योंकि समय विभाग के अनुसार चलने से आत्मा को प्रमाद रहित होना और उपयोग रखना पड़ता है उसी के फलस्वरूप ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय हो जाता है।

१६ प्रायश्चित्तकरण

पायच्छित्तकरणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! प्रायश्चित्त करने से जीव को किन गुणों की प्राप्ति होती है?

पायच्छित्त-करणेणं पावकम्मविसोहिं जणयइ, णिरइयारे यावि भवइ, सम्मं च णं पायच्छित्तं पडिवज्जमाणे मग्गं च मग्गफलं च विसोहेइ, आयारं च आयारफलं च आराहेइ ॥१६॥

कठिन शब्दार्थ - प्रायश्चित्त-करणेणं - प्रायश्चित्त करने से, पावकम्मविसोहिं - पाप कर्मों की विशुद्धि, णिरइयारे - निरतिचार, मग्गफलं - मार्ग के फल को, आयारं - आचार को, आयारफलं - आचार - चारित्र के फल को, आराहेइ - प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ - उत्तर - प्रायश्चित्त करने से जीव पाप कर्मों की विशुद्धि करता है और वह निरतिचार (दोषों से रहित) हो जाता है। सम्यक् प्रकार से प्रायश्चित्त ग्रहण करता हुआ जीव मार्ग (सम्यक्त्व) और मार्ग के फल (मोक्ष) को विशुद्ध करता है और क्रमशः वह जीव आचार - चारित्र को और चारित्र के फल (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है।

विवेचन - प्रायः का अर्थ है पाप और चित्त का अर्थ है विशुद्धि को, जिससे पापों की विशुद्धि हो, उसे प्रायश्चित्त कहते हैं।

पूर्व के अट्टाईसवें अध्ययन में यह बताया है कि सबसे पहले दर्शन होता है तथा चारित्र प्राप्ति का कारण होने से दर्शन और ज्ञान ही उसका फल है, अतः ज्ञानाचार आदि का फल मोक्ष कहा है। अथवा मार्ग शब्द से मुक्ति मार्ग का ग्रहण करना चाहिए और क्षायोपशमिक दर्शन आदि उस मार्ग के फल हैं। जब वे प्रकर्ष दशा को प्राप्त हुए क्षायिक भाव को प्राप्त होते हैं तब उनका फल मुक्ति है। इसलिए विशोधना और आराधना के द्वारा सर्वदा निरतिचार संयम का ही पालन करना चाहिए जिसका कि फल मोक्षपद की प्राप्ति है।

१७ क्षमापना

खमावणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! क्षमापना से जीव को किन गुणों की प्राप्ति होती है?

खमावणयाए णं पल्हायणभावं जणयइ, पल्हायण भावमुवगए य सव्वपाण-भूय-जीव-सत्तेसु मित्तीभावमुप्पाएइ, मित्तीभावमुवगए यावि जीवे भावविसोहिं कारुण णिब्भए भवइ॥१७॥

कठिन शब्दार्थ - खमावणयाए - क्षमापना से, पल्हायणभावं - प्रल्हाद भाव - चित्त की प्रसन्नता को, सव्वपाणभूयजीवसत्तेसु - सर्व प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों में, मित्तीभावं-मैत्री भाव, उप्पाएइ - उत्पन्न करता है, भावविसोहिं - भावविशुद्धि को, णिब्भए - निर्भय।

भावार्थ - उत्तर - अपराध की क्षमा माँगने से चित्त आह्लादित होता है और प्रह्लादनभाव-चित्त की प्रसन्नता को प्राप्त हुआ जीव समस्त प्राण-भूत-जीव-सत्त्वों (संसार के समस्त प्राणियों)

के साथ मैत्रीभाव उत्पन्न करता है और मैत्रीभाव को उपगत-प्राप्त हुआ जीव अपने भावों को विशुद्ध बना कर निर्भय हो जाता है।

विवेचन -

प्राणाः द्वि त्रि चतुः प्रोक्ताः, भूतास्तु तखः स्मृताः।

जीवाः पंचेन्द्रिया प्रोक्ताः, शेषाः सत्त्वा उदीरिताः॥

अर्थ - द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय को 'प्राण' कहते हैं। वनस्पति को 'भूत' और पंचेन्द्रिय को 'जीव' तथा पृथ्वीकाय, अपकाय, तेउकाय, वाउकाय को 'सत्त्व' कहते हैं। जहाँ ये चारों शब्द आवें वहाँ उपरोक्त अर्थ करना चाहिए। किन्तु जहाँ इन चारों में से कोई एक शब्द आवे वहाँ एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी जीवों का ग्रहण कर लेना चाहिए।

प्रस्तुत बोल में क्षमा के फल का वर्णन किया गया है। किसी से अपराध होने पर प्रतीकार का सामर्थ्य रखते हुए भी उसकी उपेक्षा कर देना अर्थात् किसी प्रकार का दंड देने के लिए उद्यत न होना क्षमा कहलाती है।

१८. स्वाध्याय

सज्जाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! स्वाध्याय करने से जीव को क्या लाभ होता है?

सज्जाएणं णाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ॥१८॥

भावार्थ - उत्तर - स्वाध्याय करने से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है।

विवेचन - स्वाध्याय का अर्थ है - १. शोभनः अध्यायः - अध्ययन-स्वाध्यायः अर्थात् शुभ-सुंदर (श्रेष्ठ) अध्ययन स्वाध्याय है।

२. सुष्ठु आ मर्यादया-कालवेलापरिहारेण पौरुष्यपेक्षया वा अध्यायः स्वाध्याय (धर्मसंग्रह अधि० ३) - काल मर्यादा पूर्वक अकाल वेला को छोड़कर स्वाध्याय पौरुषी की अपेक्षा से सम्यक् प्रकार से अध्ययन करना स्वाध्याय है।

३. स्वस्य स्वस्मिन् अध्यायः - स्व का स्व में अध्ययन करना स्वाध्याय है।

१९. वाचना

वायणाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! वाचना से जीव को किन गुणों की प्राप्ति होती है?

वायणाए णं णिज्जरं जणयइ, सुयस्स अणुसज्जणाए अणासायणाए वट्टइ,
सुयस्स य अणुसज्जणाए अणासायणाए वट्टमाणे तित्थधम्मं अवलंबइ, तित्थधम्मं
अवलंबमाणे महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ ॥१९॥

कठिन शब्दार्थ - वायणाए - वाचना से, अणुसज्जणाए - अनुषज्जन - अनुवर्तन से,
वट्टइ - प्रवृत्त होता है, तित्थधम्मं - तीर्थ धर्म का, अवलंबइ - अवलम्बन लेता है,
महाणिज्जरे - महानिर्जरा वाला, महापज्जवसाणे - महापर्यवसान - कर्मों का सर्वथा अंत
करने वाला।

भावार्थ - उत्तर - आगम की वाचना से कर्मों की निर्जरा होती है और श्रुत का वाचन
(पठन पाठन) होते रहने से अनुषज्जन-अनुवर्तन से श्रुत की आशातना नहीं होती। श्रुत की
अनुवर्तन से आशातना न करता हुआ जीव तीर्थधर्म का अवलम्बन प्राप्त करता है। तीर्थधर्म का
अवलम्बन करता हुआ जीव कर्मों की महानिर्जरा करता है और महापर्यवसान - कर्मों का अन्त
कर के मोक्ष सुख को प्राप्त करता है।

विवेचन - वाचना का अर्थ है - पठन-पाठन-अध्ययन-अध्यापन करना। वाचना से कर्मों
की निर्जरा होती है।

तीर्थ का अर्थ है गणधर, उसका जो आचार तथा श्रुत प्रधान रूप धर्म उसके आश्रित हो
जाता है, अथवा श्रुत रूप तीर्थ का जो स्वाध्याय रूप धर्म है उसके आश्रित होते हुए यह जीव
महा-निर्जरा और महापर्यवसान को प्राप्त कर लेता है, अर्थात् कर्मों का क्षय और संसार का
अंत कर लेता है। सारांश यह है कि वाचना से एक तो श्रुत के पठन पाठन की परंपरा बनी
रहती है, दूसरी श्रुत की आशातना नहीं होती और तीसरे श्रुत में प्रतिपादन किए हुए धर्म का
आश्रय लेकर कर्मों की निर्जरा करता हुआ जीव संसार का अंत कर देता है अर्थात् मोक्षपद को
प्राप्त कर लेता है।

२०. प्रतिपृच्छना

पडिपुच्छणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! प्रतिपृच्छना से जीव को क्या लाभ होता है?

पडिपुच्छणयाए णं सुत्तत्थतदुभयाइं विसोहेइ, कंखामोहणिज्जं कम्मं वोच्छिंदइ ॥२०॥

कठिन शब्दार्थ - पडिपुच्छणयाए - प्रतिपृच्छना से, सुत्तत्थतदुभयाइं - सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ दोनों को, कंखामोहणिज्जं - कांक्षा-मोहनीय को, वोच्छिंदइ - विच्छिन्न कर देता है।

भावार्थ - उत्तर - प्रतिपृच्छना से जीव सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ दोनों को विशुद्ध करता है और कांक्षा-मोहनीय कर्म का विच्छिन्न-नाश कर देता है।

विवेचन - सूत्र और अर्थ में संदेह उत्पन्न होने पर उसकी निवृत्ति के लिए विनयपूर्वक शंका-समाधान करना 'प्रतिपृच्छना' कहलाती है।

२१. परिवर्तना

परियट्टणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! परिवर्तना (पढ़े हुए सूत्रपाठ का पुनः पुनः परावर्तन करने) से जीव को क्या लाभ होता है?

परियट्टणयाए णं वंजणाइं जणयइ, वंजणलब्धिं च उप्पाएइ ॥२१॥

कठिन शब्दार्थ - परियट्टणयाए णं - परिवर्तना से, वंजणाइं - व्यंजनों की, वंजणलब्धिं - व्यञ्जन लब्धि को, उप्पाएइ - प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ - उत्तर - परिवर्तन (परावर्तन) से भूले हुए व्यञ्जन याद हो जाते हैं और व्यञ्जन-लब्धि (अक्षर-लब्धि और पदलब्धि) उत्पन्न हो जाती है।

विवेचन - पढ़े हुए सूत्र और अर्थ की बार-बार आवृत्ति करना अर्थात् गुनते रहना परावर्तना कहलाती है। इस से सूत्रार्थ उपस्थित रहता है। ऐसे जीव को व्यंजन लब्धि (सूत्र के एक अक्षर याद आ जाने के तदनुकूल दूसरे सैकड़ों अक्षरों की स्मृति हो जाना) प्राप्त हो जाती है तथा एक पद याद आने से दूसरे सैकड़ों पदों का याद आ जाना पदानुसारिणी लब्धि भी प्राप्त हो जाती है।

२२. अनुप्रेक्षा

अणुप्पेहाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! अनुप्रेक्षा (चिन्तन) से जीव को क्या लाभ होता है?

अणुप्पेहाए णं आउय-वज्जाओ सत्त-कम्मपयडीओ धणियबंधण-बद्धाओ सिढिलबंधण-बद्धाओ पकरेइ, दीहकालट्टिइयाओ हस्सकालट्टिइयाओ पकरेइ, तिब्वाणुभावाओ मंदाणुभावाओ पकरेइ, बहुप्पएसगाओ अप्पएसगाओ पकरेइ, आउयं च णं कम्मं सिय बंधइ सिय णो बंधइ, असायावेयणिज्जं च णं कम्मं णो भुज्जो भुज्जो उवचिणाइ, अणाइयं च णं अणवयगं दीहमद्धं चाउरंत-संसार-कंतारं खिप्पामेव वीइवयइ ॥२२॥

कठिन शब्दार्थ - अणुप्पेहाए - अनुप्रेक्षा से, आउयवज्जाओ - आयुष्य कर्म को छोड़कर, सत्तकम्मपयडीओ - सात कर्मों की प्रवृत्तियों को, धणियबंधणबद्धाओ - गाढ़ बंधनों से बद्ध, सिढिलबंधणबद्धाओ - शिथिल बंधनों से बद्ध, पकरेइ - कर लेता है, दीहकालट्टिइयाओ - दीर्घकाल की स्थिति वाली, हस्सकालट्टिइयाओ - अल्पस्थिति वाली, तिब्वाणुभावाओ- तीव्र अनुभाव वाली, मंदाणुभावाओ- मन्द अनुभाव वाली, बहुप्पएसगाओ- बहुप्रदेश वाली, अप्पएसगाओ - अल्प प्रदेश वाली, असायावेयणिज्जं - असाता वेदनीय को, भुज्जो भुज्जो - बार बार, णो उवचिणाइ - उपचय नहीं करता, अणाइयं - अनादि, अणवयगं - अनवदग्र-अनन्त, दीहमद्धं - दीर्घ मार्ग वाले, चाउरंत-संसार-कंतारं - चार गति रूप संसार कान्तार-अटवी को, खिप्पामेव - शीघ्र ही, वीइवयइ - व्यतिक्रम (पार) कर लेता है।

भावार्थ - उत्तर - अनुप्रेक्षा से आयु-कर्म के सिवाय सात कर्मों की प्रकृतियों को यदि वे गाढ़ बन्धन से बन्धी हुई हों तो उन्हें शिथिल बन्ध वाली कर देता है। दीर्घ काल स्थिति-लम्बी स्थिति वाली हों तो उन्हें अल्प स्थिति वाली करता है। तीव्र अनुभाव-रस वाली हों तो मंद रस वाली कर देता है। बहुप्रदेशी हों तो उन्हें अल्प प्रदेश वाली कर देता है और उसके आयु कर्म का कदाचित् बन्ध होता और कदाचित् बन्ध नहीं भी होता। ऐसे जीव को असाता-वेदनीय कर्म का बार बार बन्ध नहीं होता है। ऐसे जीव इस अनादि अनवदग्र-अनन्त तथा दीर्घ मार्ग वाले चतुर्गति रूप संसार कान्तार-अटवी को शीघ्र ही पार कर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।

विवेचन - अनुप्रेक्षा से यहाँ पर सभी प्रकार की अनुप्रेक्षाओं का ग्रहण अभिमत है। यथा- अनित्य आदि द्वादश अनुप्रेक्षा, धर्मध्यान संबंधी ४ और शुक्लध्यान की ४ अनुप्रेक्षा इत्यादि।

आयुष्यकर्म जीवन में एक बार ही बंधता है और वह निकाचित रूप से बंधता है। मूल

पाठ में 'असायावेयणिज्जं च णं कम्मं णो भुज्जो-भुज्जो उवचिणाइ' शब्द दिये हैं। जिसका अर्थ है - असातावेदनीय कर्म को बार-बार नहीं बांधता। लक्षणा से यह अर्थ भी निकलता है कि - कभी प्रमत्त गुणस्थानवर्ती होने से असाता वेदनीय कर्म का बंध भी कर लेता है। यह कर्मों की विचित्रता है। कहीं तो इस प्रकार का पाठान्तर भी है - "सायावेयणिज्जं च णं कम्मं भुज्जो भुज्जो उवचिणाइ" अर्थात् साता वेदनीय कर्म को बारम्बार बांधता है। साथ ही दूसरी शुभ प्रकृतियों को भी बांधता है।

२३. धर्मकथा

धम्मकहाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! धर्मकथा कहने से जीव को क्या लाभ होता है?

धम्मकहाए णं, णिज्जरं जणयइ, धम्मकहाए णं पवयणं पभावेइ,
पवयणपभावेणं जीवे आगमिसस्स भद्दत्ताए कम्मं णिबंध्यइ॥२३॥

कठिन शब्दार्थ - धम्मकहाए - धर्मकथा से, पवयणं - प्रवचन की, पभावेइ - प्रभावना करता है, आगमिसस्स - आगामीकाल में, भद्दत्ताए कम्मं - भद्रता से शुभकर्मों का, णिबंध्यइ - बंध करता है।

भावार्थ - उत्तर - धर्म कथा कहने से (धर्मोपदेश देने से) कर्मों की निर्जरा होती है। धर्मकथा कहने से प्रवचन की प्रभावना होती है। प्रवचन की प्रभावना करने से जीव आगामी-भविष्य काल में भद्रता से शुभ कर्मों का ही बन्ध करता है।

विवेचन - यहाँ स्वाध्याय के पांच भेद किये हैं। ठाणाङ्ग सूत्र के पांचवें ठाणे में भी पांच भेद किये हैं। उनका टीकानुसार अर्थ इस प्रकार है - अस्वाध्याय काल को छोड़ कर शोभन रीति से मर्यादा पूर्वक शास्त्र का अध्ययन करना सु+आ+अध्याय=स्वाध्याय कहलाता है। इसके पांच भेद कहे गये हैं।

१. वाचन्ना - जिज्ञासु शिष्य आदि को सूत्र और अर्थ पढ़ाना वाचना है।

२. पृच्छन्ना - पढ़े हुए सूत्र अर्थ में शंका होने पर प्रश्न करना पृच्छना है।

३. परिवर्तन्ना (परायर्तन्ना) - पढ़ा हुआ ज्ञान भूल न जाये इसलिए उन्हें बार-बार फेरना परिवर्तना है।

४. अनुप्रेक्षा - सीखे हुए सूत्र और उसके अर्थ का चिंतन मनन करना अनुप्रेक्षा है।

५. धर्मकथा - उपरोक्त चारों प्रकार से शास्त्र का अभ्यास कर लेने पर जगत् जीवों को शास्त्रों का व्याख्यान सुनाना, धर्मोपदेश देना धर्मकथा है। धर्मोपदेश देना सरल काम नहीं है। उसमें सावद्य वचन का प्रयोग न हो जाय इसका निरंतर ध्यान रखना पड़ता है। जैसा कि कहा है-

सावद्यञ्ज अणवज्ज वयणाणं, जोण जाणाइ विसेमं।

तस्स वोत्तुं वि ण खमं, किमंग पुण देसणां दाउं॥

सावद्य निरवद्य वचन का, है न जिसकी ज्ञान।

बातचीत के योग्य नहीं, कैसे वे व्याख्यान?॥

इसीलिए धर्मकथा के लक्षण में ऊपर कहा गया है कि - शास्त्रों की वाचना गुरुदेवों से लेकर फिर पृच्छना, परिवर्तना और अनुप्रेक्षा कर लेने के बाद ही धर्मोपदेश देना चाहिए।

प्रवचन की प्रभावना करने वाले आठ माने गये हैं। यथा - १. धर्मकथा कहने वाला २. प्रावचनी ३. वादी ४. नैमित्तिक ५. तपस्वी ६. विद्वान ७. सिद्ध ८. कवि।

इसलिए धर्मकथा कहने से प्रवचन की प्रभावना होती है और प्रवचन प्रभावक जीव आगामी काल में शुभ कर्म का ही बन्ध करता है। परन्तु यहाँ पर इतना स्मरण रहे कि धर्मकथा के कहने का अधिकार उसी जीव को है जो उसमें योग्यता रखता है। यदि योग्यता के बिना धर्मकथा करेगा तो कदाचित् उत्सूत्र प्ररूपणा से भविष्य काल में अशुभ कर्मों के बंध की भी पूरी संभावना है।

२४. श्रुत की आराधना

सुयस्स आराहणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! श्रुत की आराधना से जीव को क्या लाभ होता है?

सुयस्स आराहणयाए णं अण्णाणं खवेइ, ण य संकिलिस्सइ॥२४॥

कठिन शब्दार्थ - सुयस्स आराहणयाए णं - श्रुत की आराधना करने से जीव,

अण्णाणं - अज्ञान का, ण संकिलिस्सइ - संक्लेश को प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ - उत्तर - श्रुत की आराधना करने से जीव अज्ञान का क्षय-नाश करता है और संक्लेश को प्राप्त नहीं होता।

विवेचन - श्रुत अर्थात् शास्त्र या सिद्धान्त की आराधना - सम्यक् आसेवना - भलीभांति

अध्ययन-मनन से अज्ञान का नाश होता है। वस्तुतः श्रुतजन्य विशिष्ट बोध मिथ्याज्ञान नाशक होता ही है और अज्ञान के नाश होने से रागद्वेषजन्य आंतरिक क्लेश भी शांत हो जाता है।

श्रुत आराधना का फल बताते हुए एक आचार्य ने कहा है - ज्यों-ज्यों श्रुत (शास्त्र) में गहरा उतरता जाता है, त्यों-त्यों अतिशय प्रशम रस में सराबोर होकर अपूर्व आनंद (आह्लाद) प्राप्त करता है। संवेगभाव नई-नई श्रद्धा से युक्त होता जाता है।

२५ एकाग्रमन सन्निवेश

एगगमण-सण्णिवेसणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! एकाग्रमनसन्निवेशनता - मन की एकाग्रता से जीव को क्या लाभ होता है?

एगग-मण-सण्णिवेसणयाए णं चित्तणिरोहं करेइ ॥२५॥

कठिन शब्दार्थ - एगगमणसण्णिवेसणयाए - मन की एकाग्रता से, चित्तणिरोहं - चित्त का निरोध।

भावार्थ - उत्तर - मन की एकाग्रता से जीव चित्तवृत्ति का निरोध करता है।

विवेचन - मन की एकाग्रता का फल चित्त निरोध बताया गया है। मन को एकाग्र करने के तीन उपाय हैं - १. एक ही पुद्गल में दृष्टि गड़ा देना २. मन को एक ही शुभ अवलम्बन में स्थिर करना ३. मन और वायु के निरोध से मन को एकाग्र करके एक मात्र ध्येय में लीन हो जाना।

चित्त में विकल्पों का न उठना ही चित्तनिरोध है। चित्तवृत्ति का निरोध ही योग है।

यद्यपि सूत्र में केवल 'एकाग्र' पद ही दिया है, तथापि प्रस्ताव से यहाँ पर शुभ आलंबन का ग्रहण किया जाता है। यदि शुभ आलंबन का ग्रहण न किया जावे तो आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान में भी मन की स्थिति हो सकती है। इसलिए आर्त्तध्यान और रौद्र ध्यान को छोड़कर केवल धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान में ही किसी शुभ आलंबन के द्वारा मन की एकाग्रता शास्त्रकार को सम्मत है। उसी से चित्तवृत्ति का निरोध होना अभीष्ट है।

यदि दूसरे शब्दों में कहें तो प्रस्तुत बोल में द्रव्य प्राणायाम और भाव प्राणायाम का स्पष्ट वर्णन दिखाई देता है, क्योंकि मन और वायु का एक स्थान है और वायु के निरोध से मन की एकाग्रता हो जाती है। उसका फल चित्त का सर्वथा निरोध है। इसीलिए पातंजल योग दर्शन में 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध' (यो० १-१-२) कहा है।

२६. संयम

संजमेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! संयम धारण करने से जीव को क्या लाभ होता है?

संजमेणं अणणहत्तं जणयइ ॥२६॥

कठिन शब्दार्थ - संजमेणं - संयम धारण करने से, अणणहत्तं - अनास्रवत्व-आते हुए कर्मों का निरोध।

भावार्थ - उत्तर - संयम धारण करने से आस्रवों का निरोध होता है।

विवेचन - यद्यपि शास्त्रकारों ने संयम के १७ भेद किये हैं। तथापि उनमें से अंतिम के - जो मनःसंयम, वाक्-संयम और काय संयम, ये ३ भेद हैं उनका सम्यक्तया पालन किया जाने पर ही जीव अनास्रवी हो सकता है।

२७. तप

तवेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! तपस्या करने से जीव को क्या लाभ होता है?

तवेणं वोदाणं जणयइ ॥२७॥

कठिन शब्दार्थ - तवेणं - तप से, वोदाणं - व्यवदान।

भावार्थ - उत्तर - तपस्या करने से व्यवदान (पूर्वकृत कर्मों का क्षय) होता है।

विवेचन - यद्यपि यहाँ पर तप के भेदों का निरूपण नहीं किया है तथापि तप शब्द से ब्राह्म और आभ्यन्तर दोनों ही प्रकार के तपों का ग्रहण कर लेना चाहिए।

२८. व्यवदान

वोदाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! व्यवदान (पूर्वकृत कर्मों के क्षय) से जीव को क्या लाभ होता है?

वोदाणेणं अकिरियं जणयइ, अकिरियाए भवित्ता तओ पच्छा सिज्झइ
बुज्झइ मुच्चइ परिणिव्वायइ सव्वदुक्खाणमंतं कोइ ॥२८॥

कठिन शब्दार्थ - वोदाणेणं - व्यवदान से, अकिरियं - अक्रिय, अकिरियाए भवित्ता-
अक्रिय होने के।

भावार्थ - उत्तर - पूर्वकृत कर्मों के क्षय हो जाने से जीव अक्रिय हो जाता है। अक्रिय होने के बाद सिद्ध हो जाता है अर्थात् कृतकृत्य हो जाता है, बुद्ध हो जाता है अर्थात् केवलज्ञान केवलदर्शन से सम्पूर्ण लोकालोक को जानने और देखने लग जाता है। समस्त कर्मों से मुक्त हो जाता है। कर्मरूप अग्नि को बुझा कर शीतल हो जाता है तथा शारीरिक और मानसिक सभी दुःखों का अंत कर देता है।

विवेचन - संयम से नये कर्मों का आगमन रुक जाता है। तप से पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय हो जाता है। व्यवदान से पूर्व संचित कर्मों के विनाश होने पर आत्मा विशुद्ध हो जाती है तत्पश्चात् आत्मा के अक्रिय और निष्कंप होने पर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त अवस्था प्राप्त हो जाती है।

कई लोगों का कथन है कि मुक्ति में प्राप्त हुई आत्मा शून्य अवस्था को प्राप्त हो जाती है। परन्तु उनका यह कथन युक्ति और प्रमाण दोनों से ही रहित है। इसी कारण से सूत्रकार ने 'बुद्ध' पद दिया है। जिस समय जिस आत्मा के समस्त कर्म क्षय हो जाते हैं, तब वह सादि-अनंत जो मोक्ष पद है, उसको प्राप्त करके सर्वप्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःखों का अंत कर देती है फिर वह जन्म मरण परंपरा के चक्र में नहीं आती है।

२१. सुखशाता

सुहसाएणं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! सुखशाता (विषय सुख का त्याग करने) से जीव को क्या लाभ होता है?

सुहसाएणं अणुस्सुयत्तं जणयइ, अणुस्सुयएणं जीवे अणुकंपए अणुब्भडे
विगयसोगे चरित्तमोहणिज्जं कम्मं खवेइ ॥२६॥

कठिन शब्दार्थ - सुहसाएणं - सुखशाता से, अणुस्सुयत्तं - अनुत्सुकता, अणुकंपए - अनुकम्पा करने वाला, अणुब्भडे - अनुद्भट - उद्धतता से रहित, विगयसोगे - विगत शोक-शोक रहित, चरित्तमोहणिज्जं - चारित्र मोहनीय।

भावार्थ - उत्तर - सुखशाता से अर्थात् विषय सुख का त्याग करने से जीव को अनुत्सुकता अर्थात् विषयों के प्रति अनिच्छा उत्पन्न होती है। अनुत्सुकता से विषयों के प्रति

अनिच्छा उत्पन्न होने से जीव दूसरे जीवों के प्रति अनुकम्पा करने वाला अनुद्धट-निरभिमानी चिन्ता-शोक रहित होता है और चारित्र-मोहनीय कर्म का क्षय कर देता है।

विवेचन - मूल पाठ में आए 'सुहसाए' शब्द का 'सुखशायिता' अनुवाद भी पू० श्री आत्मारामजी म. सा. वाली प्रति में किया है। उसके अनुसार यहाँ पर यह अर्थ होता है कि - स्थानांग सूत्र में बताई हुई चार प्रकार की सुख शय्या में विश्राम करने वाले जीव को किस फल की प्राप्ति होती है? उस फल को इस बोल में बताया गया है।

३०. अप्रतिबद्धता

अप्पडिबद्धयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! अप्रतिबद्धता (विषय सुखों में आसक्ति का त्याग करने) से जीव को क्या लाभ होता है?

अप्पडिबद्धयाए णं णिस्संगत्तं जणयइ, णिस्संगत्तेणं जीवे एगे एगगचित्ते दिया य राओ य असज्जमाणे अप्पडिबद्धे यावि विहरइ ॥३०॥

कठिन शब्दार्थ - अप्पडिबद्धयाए - अप्रतिबद्धता से, णिस्संगत्तं - निःसंगता को, एगे - एकाकी (अकेला-आत्मनिष्ठ), एगगचित्ते - एकाग्रचित्त, दिया वा राओ - दिन और रात, असज्जमाणे - अनासक्त, अप्पडिबद्धे - अप्रतिबद्ध।

भावार्थ - उत्तर - अप्रतिबद्धता (अनासक्ति) से निस्संगता (स्त्र्यादिक की संगति रहितपना) प्राप्त होती है। निस्संगता से जीव एक अर्थात् रागद्वेष रहित होकर एकाग्र चित्त वाला होता है तथा दिन और रात किसी भी पदार्थ में अनुराग नहीं रखता हुआ अप्रतिबद्ध भाव से विचरता है।

विवेचन - अप्रतिबद्धता का अर्थ है - किसी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के प्रति आसक्तिपूर्वक न बंधना - प्रतिबन्ध युक्त न होना अथवा मन में किसी भी पदार्थ पर आसक्ति-ममता न रखना।

३१. विविक्त शयनासन

विवित्तसयणासणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! विविक्तशयनासनता - स्त्री-पशु-नपुंसक रहित स्थान, शयन और आसन का सेवन करने से जीव को क्या लाभ होता है?

विविक्तसयणासण्याए णं चरित्तगुत्तिं जणयइ, चरित्तगुत्ते य णं जीवे विविक्ताहारे दढचरित्ते एगंतरए मोक्खभावपडिवण्णे य अट्टविहं कम्मगंठिं णिज्जरेइ ॥३१॥

कठिन शब्दार्थ - विविक्तसयणासण्याए - विविक्त शयनासन के सेवन से, चरित्तगुत्तिं- चारित्र गुप्ति - चारित्र रक्षा, विविक्ताहारे - शुद्ध सात्त्विक, विकृति रहित एवं पवित्र आहारी, दढचरित्ते - दृढ़ चारित्री, एगंतरए - एकान्तरत (एकान्तप्रिय), मोक्खभावपडिवण्णे - मोक्षभाव प्रतिपन्न - मोक्ष भाव से सम्पन्न, अट्टविहं कम्मगंठिं - आठ प्रकार की कर्म ग्रंथियों की, णिज्जरेइ - निर्जरा कर लेता है।

भावार्थ - उत्तर - स्त्री-पशु-नपुंसक से रहित एकान्त स्थान, शयन, आसन का सेवन करने से चारित्र की रक्षा होती है और चारित्र की रक्षा करने वाला जीव विविक्ताहारी होता है अर्थात् विगयादि में आसक्त नहीं होता। ऐसा जीव चारित्र में दृढ़ एकान्त रत अर्थात् एकान्त सेवी और मोक्षभाव प्रतिपन्न - मोक्ष का साधक होता है और आठों प्रकार के कर्मों की ग्रंथि का भेदन करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

विवेचन - विविक्त शयनासन का अर्थ है - जन-सम्पर्क एवं कोलाहल से रहित, स्त्री-पशु-नपुंसक के निवास से असंसक्त, शांत एकान्त निरवद्य स्थान। उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ३५ गाथा ६ में- 'सुसाणे सुण्णागारे य रुक्खमूले व एगओ' - श्मशान, शून्यगृह एवं वृक्षमूल को विविक्त स्थान बताया है।

जो पदार्थ अपने पूर्व के रस को छोड़ कर अन्य रस को प्राप्त हो चुका है, उसे विकृत या विकृति कहते हैं तथा चित्त में विकार उत्पन्न करने वाले जो पदार्थ हैं, उनको भी विकृति कहते हैं। अतः शास्त्रकारों ने दुग्ध, दधि, नवनीत और घृत आदि को भी विकृति में परिगणित किया है। जिस पुरुष ने इन विकृतियों का त्याग कर दिया है, उसे विविक्ताहारी कहते हैं तथा 'चारित्र गुप्त' शब्द 'गुप्त-चारित्र' के अर्थ में है।

३२. विनिवर्तना

विणिवट्टणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! विनिवर्तना (विषयों के त्याग) से जीव को किन गुणों की प्राप्ति होती है?

विणिवट्टणयाए णं पावकम्माणं अकरणयाए अब्भुट्टेइ, पुव्वबद्धाण य
णिज्जरणयाए पावं णियत्तेइ, तओ पच्छा चाउरंतं संसार-कंतरं वीइवयइ ॥३२॥

कठिन शब्दार्थ - विणिवट्टणयाए - विनिवर्तना से, पावकम्माणं - पाप कर्मों को, अकरणयाए - न करने के लिये, अब्भुट्टेइ - उद्यत होता है, पुव्वबद्धाण - पहले बंधे हुए, णिज्जरणयाए - निर्जरा से, पावं - पाप से, णियत्तेइ - निवृत्ति पा लेता है, चाउरंतसंसार-कंतरं- चतुर्गतिक संसार रूपी महारण्य को।

भावार्थ - उत्तर - विनिवर्तना करने वाला जीव पाप-कर्म नहीं करने के लिये उद्यत होता है प्रत्युत धर्मकार्य करने के लिए उद्यत होता है और पहले बन्धे हुए पापकर्मों की निर्जरा कर के पाप से निवृत्त हो जाता है। उसके पश्चात् चतुर्गति वाले संसार रूपी कान्तार-अटवी को पार कर जाता है।

विवेचन - विनिवर्तना का अर्थ है - आत्मा (मन और इन्द्रियों) की विषय वासना से निवृत्ति। विषय वासना से पराङ्मुख होने वाला जीव पाप कर्म बंध के हेतुओं से विनिवृत्त हो जाता है। नये कर्म नहीं बंधते और पुराने कर्म क्षीण होने से वह शीघ्र संसार सागर को पार कर लेता है।

३३. संभोग प्रत्याख्यान

संभोग-पच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! संभोग का प्रत्याख्यान करने से जीव को क्या लाभ होता है?

संभोग-पच्चक्खाणेणं आलंबणाइं खवेइ, णिरालंबणस्स य आययट्ठिया
जोगा भवंति, सएणं लाभेणं संतुस्सइ, परस्स लाभं णो आसाएइ णो तक्केइ
णो पीहेइ णो पत्थेइ णो अभिलसइ, परस्स लाभं अणासाएमाणे अतक्केमाणे
अपीहेमाणे अपत्थेमाणे अणभिलसेमाणे दुच्चं सुहसेज्जं उवसंपज्जित्ताणं
विहरइ ॥३३॥

कठिन शब्दार्थ - संभोगपच्चक्खाणेणं - सम्भोग के प्रत्याख्यान से, आलंबणाइं - आलम्बनों को, णिरालंबणस्स - निरावलम्बन के, आययट्ठिया - आयतार्थ-मोक्षार्थ, सएणं लाभेणं - स्वयं के लाभ से, संतुस्सइ - संतुष्ट रहता है, परस्सलाभं - दूसरे के लाभ को।

णो आसाएइ - उपयोग नहीं करता, णो तक्केइ - नहीं ताकता, णो पीहेइ - स्पृहा नहीं करता, णो पत्थेइ - प्रार्थना नहीं करता, णो अभिलसइ - अभिलाषा नहीं करता, अणासाएमाणे - आस्वादन न करता हुआ, अतक्केमाणे - कल्पना न करता हुआ, अपीहेमाणे - स्पृहा न करता हुआ, अपत्थेमाणे - प्रार्थना न करता हुआ, अणभिलसमाणे - अभिलाषा न करता हुआ, दुच्चं - दूसरी, सुहसेज्जं - सुखशय्या को, उवसंपज्जित्ताणं - अंगीकार करके।

भावार्थ - उत्तर - संभोग का त्याग करने से जीव आलंबनों का क्षय कर देता है (परावलंबीपन छूट कर स्वावलम्बी बन जाता है) और निरालम्बन अर्थात् स्वावलंबी जीव के योग केवल शुभ प्रयोजन के लिए ही प्रवृत्त होते हैं। वह अपने ही लाभ से संतुष्ट रहता है। दूसरे के लाभ का उपयोग नहीं करता, कल्पना नहीं करता, दूसरों का लाया हुआ आहार अच्छा है ऐसी स्पृहा - इच्छा नहीं करता। यह अच्छा आहार मुझे दो, ऐसी प्रार्थना नहीं करता, अभिलाषा नहीं करता। दूसरे के लाभ का उपभोग न करता हुआ, कल्पना न करता हुआ, इच्छा न करता हुआ, प्रार्थना न करता हुआ, अभिलाषा न करता हुआ जीव दूसरी सुखशय्या को अंगीकार कर के विचरता है।

विवेचन - समान समाचारी वाले साधुओं का एक जगह बैठकर आहार करना तथा परस्पर आहार करना तथा परस्पर आहारादि का लेना देना एवं वस्त्र पात्र एवं अन्य उपधि का भी परस्पर लेना देना, परस्पर वंदन करना आदि को संभोग कहते हैं। इसके बारह भेद हैं जिसका विस्तृत वर्णन समवायाङ्ग सूत्र के १२ वें समवाय में दिया गया है जिसका हिन्दी अनुवाद श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह बीकानेर के चौथे भाग में दिया गया है। जिज्ञासुओं को वहाँ देखना चाहिए।

इस ३३ वें बोल में दूसरी सुख शय्या का वर्णन किया है। शय्या के दो भेद हैं - दुःख शय्या और सुख शय्या। इन दोनों के चार-चार भेद हैं जिनका वर्णन ठाणाङ्ग सूत्र के चौथे ठाणे के तीसरे उद्देशक में दिया गया है। जिसका हिन्दी अनुवाद जैन सिद्धान्त बोल संग्रह भाग १ में दिया गया है। प्रकरण संगत होने से यहाँ सुख शय्या के चार भेदों का वर्णन किया जाता है।

१. साधु-साध्वी वीतराग तीर्थंकर भगवान् के प्रवचन पर शंका-कांक्षा विचिकित्सा न करता हुआ तथा चित्त को डांवाडोल और कलुषित न करता हुआ निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा प्रतीति और रुचि रखता है तथा मन को संयम में स्थिर रखता है, वह धर्म से भ्रष्ट नहीं होता अपितु धर्म पर और भी अधिक दृढ़ होता है। यह पहली सुखशय्या है।

२. जो साधु अपने लाभ से संतुष्ट रहता है और दूसरों के लाभ में से आशा इच्छा याचना और अभिलाषा नहीं करता। उस संतोषी साधु का मन संयम में स्थिर रहता है और वह धर्म भ्रष्ट नहीं होता, यह दूसरी सुखशय्या है।

३. जो साधु तिर्यच, मनुष्य और देवता सम्बन्धी काम भोगों की आशा यावत् अभिलाषा नहीं करता, उसका मन संयम में स्थिर रहता है अतएव वह धर्म से भ्रष्ट नहीं होता, यह तीसरी सुख शय्या है।

४. कोई साधु दीक्षा लेकर यह सोचता है कि जब हृष्ट, पुष्ट, नीरोग, बलवान् शरीर वाले तीर्थंकर भगवान् आशंसा दोष रहित अतएव उदार कल्याणकारी दीर्घ-कालीन महा प्रभावशाली, कर्मों को क्षय करने वाले तप को संयम पूर्वक आदर भाव से अंगीकार करते हैं। तो क्या मुझे केश लोच, ब्रह्मचर्य पालन आदि में होने वाली आभ्युपगमिकी और ज्वर अतिसार आदि रोगों से होने वाली औपक्रमिकी वेदना को शांति पूर्वक, दैन्यभाव न दर्शाते हुए, बिना किसी पर कोप किए सम्यक् प्रकार से समभाव पूर्वक न सहन कर मैं एकान्त पाप कर्म के सिवाय और क्या उपार्जन करता हूँ? यदि मैं इसे सम्यक् प्रकार सहन कर लूँ, तो क्या मुझे एकान्त निर्जरा न होगी? इस प्रकार विचार कर ब्रह्मचर्य व्रत के दूषण रूप मर्दन आदि की आशा, इच्छा का त्याग करना चाहिए। एवं उनके अभाव से प्राप्त वेदना तथा अन्य प्रकार की वेदना को सम्यक् प्रकार से समभाव पूर्वक सहना चाहिए। यह चौथी सुख शय्या है।

यह संभोग प्रत्याख्यान, गच्छ निर्गत जिनकल्पी आदि मुनियों के ही होता है।

३४. उपधि प्रत्याख्यान

उवहि-पच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! उपधिप्रत्याख्यान - रजोहरण और मुखवस्त्रिका के अतिरिक्त वस्त्र-पात्रादि उपधि का प्रत्याख्यान - त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है?

उवहि-पच्चक्खाणेणं अपलिमंथं जणयइ, णिरुवहिए णं जीवे णिक्कंखी उवहिमंतरेण य ण संकिलिस्सइ॥३४॥

कठिन शब्दार्थ - उवहिपच्चक्खाणेणं - उपधि के प्रत्याख्यान से, अपलिमंथं - अपरिमन्थ (स्वाध्याय ध्यान में निर्विघ्नता), णिरुवहिए - निरुपधिक - उपधि रहित, णिक्कंखी

निष्कांक्ष - आकांक्षा से मुक्त हो कर, उवहिमंतरेण - उपधि के बिना, ण संकिलिस्सइ - संक्लेश नहीं पाता।

भावार्थ - उत्तर - रजोहरण और मुखवस्त्रिका के अतिरिक्त वस्त्र-पात्रादि उपधि का प्रत्याख्यान-त्याग करने से स्वाध्याय आदि में विघ्न बाधा उपस्थित नहीं होती। निरुपधिक-उपधि रहित जीव को निष्कांक्ष-वस्त्रादि की अभिलाषा नहीं रहती और उपधि न रहने से शारीरिक और मानसिक कोई क्लेश नहीं होता।

विवेचन - संयम का निर्वाह जिन उपकरणों से हो, उन्हें उपधि कहते हैं। उपधि से यहां प्रसंगवश रजोहरण और मुखवस्त्रिका को छोड़ कर अन्य उपकरणों का ग्रहण अभीष्ट है। जब मन की धृति और परीषह-सहनशक्ति बढ़ जाए तब उपधि के त्याग करने से परिमंथ अर्थात् स्वाध्याय, ध्यान आदि आवश्यक क्रियाओं में पड़ने वाला विघ्न दूर हो जाता है। उपधि के त्याग करने वाले को उपधि के टूटने-फूटने, चोरी हो जाने अथवा अभाव आदि से होने वाले मानसिक संक्लेश तथा ईर्ष्या, क्लेश आदि विकार उत्पन्न नहीं होते। मनोज्ञ उपधि पाने की आकांक्षा भी उसे नहीं रहती।

३५ आहार-प्रत्याख्यान

आहार-पच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! आहार का त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है?

आहार-पच्चक्खाणेणं जीवियासंसप्पओगं वोच्छिंदइ, जीवियासंसप्पओगं वोच्छिंदित्ता जीवे आहारमंतरेणं ण संकिलिस्सइ ॥३५॥

कठिन शब्दार्थ - आहारपच्चक्खाणेणं - आहार का प्रत्याख्यान करने से, जीवियासंसप्पओगं - जीवित रहने की आशांसा (लालसा) के प्रयत्न को, वोच्छिंदइ - विच्छिन्न कर देता है, आहारमंतरेणं - आहार के अभाव में, ण संकिलिस्सइ - संक्लेश नहीं करता।

भावार्थ - उत्तर - आहार का प्रत्याख्यान - त्याग करने से जीने की लालसा छूट जाती है, जीने की लालसा छूट जाने से जीव आहार के बिना संक्लेश को प्राप्त नहीं होता।

विवेचन - आहार त्याग का परिणाम - आहार प्रत्याख्यान यहाँ व्यापक अर्थ में है। आहार प्रत्याख्यान के दो पहलू हैं - थोड़े समय के लिए और जीवन भर के लिए। अथवा दोष

युक्त अनेषणीय-अकल्पनीय आहार का त्याग करना भी इसका अर्थ है। सबसे बड़ी दो उपलब्धियाँ आहार प्रत्याख्यान से होती है - १. जीने की आकांक्षा समाप्त हो जाना और २. आहार के प्राप्त न होने से उत्पन्न होने वाला मानसिक संक्लेश न होना।

३६. कषाय प्रत्याख्यान

कसाय-पच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! कषाय का प्रत्याख्यान - त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है?

कसाय-पच्चक्खाणेणं वीयरागभावं जणयइ, वीयरागभावपडिवण्णेवि य णं जीवे समसुहदुक्खे भवइ॥३६॥

कठिन शब्दार्थ - कसायपच्चक्खाणेणं - कषाय का प्रत्याख्यान करने से, वीयरागभावं- वीतराग भाव, समसुहदुक्खे - सुख दुःख में समभाव रखने वाला।

भावार्थ - क्रोधादि कषाय का प्रत्याख्यान - त्याग करने से वीतराग भाव प्राप्त होता है और वीतराग भाव को प्राप्त हुआ जीव सुख-दुःख में समभाव रखने वाला होता है।

विवेचन - क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चारों की कषाय संज्ञा है अर्थात् संसार का आय=लाभ या आगमन जिससे हो, वह कषाय है। कषायों के त्याग से जीव राग-द्वेष से रहित- वीतराग हो जाता है।

३७. योज-प्रत्याख्यान

जोग-पच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! मन-वचन-काया रूप योगों की प्रवृत्ति का निरोध करने से जीव को क्या लाभ होता है?

जोग-पच्चक्खाणेणं अजोगित्तं जणयइ, अजोगी णं जीवे णवं कम्मं ण बंधइ, पुब्बबद्धं च णिज्जरेइ॥३७॥

कठिन शब्दार्थ - जोगपच्चक्खाणेणं - योगों की प्रवृत्ति का प्रत्याख्यान-निरोध करने से, अजोगित्तं - अयोगित्व - अयोगी भाव को, पुब्बबद्धं - पहले के बंधे हुए कर्म की।

भावार्थ - उत्तर - मन-वचन-काया रूप तीनों योगों की प्रवृत्ति का प्रत्याख्यान-निरोध करने से अयोगी अवस्था अर्थात् शैलेशी भाव को प्राप्त होता है। अयोगी जीव के नवीन कर्मों का बन्ध नहीं होता और पहले बंधे हुए अघाती कर्मों की निर्जरा होती है।

३८. शरीर-प्रत्याख्यान

शरीर-पच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! औदारिकादि शरीरों का प्रत्याख्यान-त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है?

शरीर-पच्चक्खाणेणं सिद्धाइसयगुणत्तणं णिव्वत्तेइ, सिद्धाइसयगुणसंपण्णे य णं जीवे लोगगमुवगए परमसुही भवइ ॥३८॥

कठिन शब्दार्थ - शरीरपच्चक्खाणेणं - शरीर के प्रत्याख्यान से, सिद्धाइसयगुणत्तणं- सिद्धों के अतिशय गुणत्व का, णिव्वत्तेइ - सम्पादन कर लेता है, लोगगमुवगए - लोक के अग्रभाग में पहुंच कर, परमसुही - परमसुखी।

भावार्थ - उत्तर - औदारिकादि शरीरों का प्रत्याख्यान - त्याग करने से सिद्धों के अतिशय गुण प्रकट होते हैं और सिद्धों के अतिशय गुण सम्पन्न जीव लोकाग्र में गया हुआ जीव परम सुखी हो जाता है अर्थात् मोक्ष में चला जाता है।

विवेचन - समवाय सूत्र ३१ वें समवाय में बतलाया गया है कि - आठ कर्मों के क्षय से सिद्ध भगवान् में ३१ गुण प्रकट होते हैं उनको सिद्धातिशय गुण कहते हैं।

३९. सहाय प्रत्याख्यान

सहायपच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! सहायता का प्रत्याख्यान-त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है?

सहायपच्चक्खाणेणं एगीभावं जणयइ, एगीभावभूए य णं जीवे एगगं भावेमाणे अप्पसदे अप्पझंझे अप्पकलहे अप्पकसाए अप्पतुमंतुमे संजमबहुले संवरबहुले समाहिए यावि भवइ ॥३९॥

कठिन शब्दार्थ - सहायपच्चक्खाणेणं - सहाय (सहायक) के प्रत्याख्यान से, एगीभावं- एकीभाव को, एगीभावभूए - एकीभाव को प्राप्त, एगत्तं - एकत्व की, भावेमाणे - भावना करता हुआ, अप्पसदे - शब्द से रहित, अप्पझंझे - वाक् कलह से रहित, अप्पकलहे - कलह से रहित, अप्पकसाए - कषाय से रहित, अप्पतुमंतुमे - तू तू मैं मैं से रहित, संजमबहुले - प्रधान संयमवान्, संवरबहुले - संवर प्रधान, समाहिए - समाधि युक्त।

भावार्थ - उत्तर - दूसरे मुनियों से सहायता लेने का प्रत्याख्यान-त्याग करने से जीव एकत्व भाव को प्राप्त होता है और एकत्व भाव को प्राप्त हुआ जीव एकाग्रता की भावना भाता हुआ शब्द रहित गण में भेद पड़े ऐसे वचन नहीं बोलता है। कलह-रहित, कषाय-रहित, तू तू मैं मैं रहित हो कर, संयम बहुल - प्रधान संयम वाला, विशिष्ट संयम वाला और समाधिवंत होता है।

विवेचन - संयमी जीवन में किसी दूसरे साधक का भी सहयोग न लेना सहाय-प्रत्याख्यान है। सहाय-त्याग का संकल्प करने से साधक एकत्व भावना से ओतप्रोत हो जाता है, फिर वह समाधि भंग करने वाले कलह, द्वेष, रोष, कषाय, ईर्ष्या, तू-तू, मैं-मैं आदि कारणों से बच जाता है। उस समाधिवान् साधक के संयम, संवर आदि में उत्तरोत्तर वृद्धि होती है।

यह सहाय प्रत्याख्यान गच्छवर्ती एकल विहार प्रतिमा वाले मुनियों के होता है।

४०. भक्त प्रत्याख्यान

भक्तपच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! भक्त-आहार का त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है?

भक्तपच्चक्खाणेणं अणेगाइं भवसयाइं णिरुंभइ ॥४०॥

कठिन शब्दार्थ - भक्तपच्चक्खाणेणं - भक्त प्रत्याख्यान से, अणेगाइं - अनेक, भवसयाइं - सैकड़ों भवों को, णिरुंभइ - रोक देता है।

भावार्थ - उत्तर - भक्त-आहार का त्याग करने से अनेक सैकड़ों भवों का निरोध कर देता है (अल्पसंसारी हो जाता है)।

विवेचन - भक्त प्रत्याख्यान का अर्थ - आमरण अनशन व्रत है, इसको स्वीकार करके समाधिपूर्वक दुग्ध अध्यवसाय करने से साधक अनेक जन्मों का निरोध कर देता है। इस प्रकार अल्पसंसारी होना भक्त प्रत्याख्यान का फल है।

पूर्व के पैतीसवें आहार प्रत्याख्यान के वर्णन में अल्पकालीन अनशन रूप आहार का त्याग समझना चाहिए। यहाँ पर भक्त प्रत्याख्यान में जीवन पर्यन्त आहार का त्याग समझना चाहिए।

४१. सद्भाव प्रत्याख्यान

सद्भावपच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! सद्भावप्रत्याख्यान (प्रवृत्ति मात्र का त्याग करने) से जीव को क्या लाभ होता है?

सद्भावपच्चक्खाणेणं अणियट्ठिं जणयइ, अणियट्ठिपडिवण्णे य अणगारे चत्तारि केवलिकम्मंसे खवेइ, तंजहा - वेयणिज्जं आउयं णामं गोयं, तओ पच्छा सिज्झइ बुज्झइ मुच्चइ परिणिव्वायइ सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ॥४१॥

कठिन शब्दार्थ - सद्भावपच्चक्खाणेणं - सद्भाव प्रत्याख्यान से, अणियट्ठिं - अनिवृत्ति रूप शुक्लध्यान के चतुर्थ भेद की, केवलिकम्मंसे - केवलि कर्मांश, वेयणिज्जं - वेदनीय, आउयं - आयुष्य, णामं - नाम, गोयं - गोत्र।

भावार्थ - उत्तर - सद्भावप्रत्याख्यान (प्रवृत्तिमात्र का त्याग करने से) जीव अनिवृत्तिकरण को प्राप्त होता है और अनिवृत्तिकरण अर्थात् शैलेशी अवस्था को प्राप्त हुआ अनगार चार केवलिकर्मांश - केवली अवस्था में शेष रहे हुए भवोपग्राही अर्थात् अघाती कर्मों की ग्रन्थियों को क्षय करता है यथा - वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र। इसके बाद सिद्ध हो जाता है अर्थात् कृतकृत्य हो जाता है, बुद्ध हो जाता है अर्थात् केवलज्ञान और केवलदर्शन से सम्पूर्ण लोकालोक को जानने और देखने लग जाता है, कर्मों से मुक्त हो जाता है, कर्म रूपी अग्नि को बुझा कर शीतल हो जाता है और सभी दुःखों का अन्त कर देता है।

विवेचन - जो सबसे अंतिम, पूर्ण पारमार्थिक प्रत्याख्यान हो, जिसमें सर्व क्रियाओं, कर्मों, योगों, कषायों आदि का पूर्णतः परित्याग हो जाता है, उसे सद्भाव प्रत्याख्यान कहते हैं। यह प्रत्याख्यान सर्व संवर रूप या शैलेशी अवस्था रूप होता है, इसका अधिकारी १४वें गुणस्थान वाली आत्मा होता है। यह पूर्ण प्रत्याख्यान है, इसके बाद कोई भी प्रत्याख्यान करना शेष नहीं रहता। ऐसा साधक शुक्लध्यान के चतुर्थ पाद पर आरूढ़ हो जाता है, फिर उसे जन्म मरण रूप संसार में पुनः लौटना नहीं होता। इसे ही अनिवृत्ति कहते हैं फिर उसके, केवली के शेष भवोपग्राही चार अघाती कर्म भी सर्वथा नष्ट हो जाते हैं।

प्रस्तुत बोल के फल में 'अणियट्टि' (अनिवृत्ति) शब्द दिया है। जिसका अर्थ बिना मतभेद के - 'शुक्ल ध्यान का चौथा भेद' किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि - प्राचीन समय में- चौथे भेद में 'अणियट्टि' शब्द रहा था। फलित से - तीसरे भेद में - 'अप्रतिपाती' शब्द होना स्पष्ट हो जाता है। अनिवृत्ति और अप्रतिपाती ये दोनों शब्द समान अर्थ वाले होने से बाद के समय में - एक दूसरे के स्थान पर एक दूसरे का परिवर्तन हो गया हो, ऐसी संभावना प्रतीत होती है।

४२. प्रतिरूपता

पडिरूवयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! प्रतिरूपता (द्रव्य और भाव से शुद्ध स्थविरकल्पी मुनि का वेश धारण करने) से जीव को क्या लाभ होता है?

पडिरूवयाए णं लाघवियं जणयइ, लहुभूएणं जीवे अप्पमत्ते पागडलिंगे पसत्थलिंगे विसुद्धसम्मत्ते सत्तसमिइ-समत्ते सव्वपाणभूयजीवसत्तेसु वीससणिज्जरूवे अप्पपडिलेहे जिइंदिए विउलतवसमिइसमण्णागए यावि भवइ॥४२॥

कठिन शब्दार्थ - पडिरूवयाए - प्रतिरूपता से, लाघवियं - लघुता को, लहुभूएणं - लघुभूत बना हुआ, अप्पमत्ते - अप्रमत्त - प्रमाद रहित, पागडलिंगे - प्रकट लिंग (वेश) वाला, पसत्थलिंगे - प्रशस्त लिंग वाला, विसुद्धसम्मत्ते - विशुद्ध सम्यक्त्वी, सत्तसमिइसमत्ते-सत्त्वसमितिसमाप्त - सत्त्व और समिति से परिपूर्ण, सव्वपाणभूयजीवसत्तेसु - समस्त प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों के लिए, वीससणिज्जरूवे - विश्वसनीय रूप वाला, अप्पपडिलेहे - अल्प प्रतिलेखन वाला, जिइंदिए - जितेन्द्रिय, विउलतवसमिइसमण्णागए - विपुल तप एवं समिति से समन्वित।

भावार्थ - उत्तर - प्रतिरूपता से लघुता (हल्कापन) को प्राप्त होता है। लघुभूत बना हुआ जीव प्रमाद रहित होता है तथा प्रकट लिंग (मुनिवेशादि) और प्रशस्त लिंग (जीव रक्षा के निमित्त मुखवस्त्रिका, रजोहरणादि वाला) हो कर विशुद्ध सम्यक्त्वी होता है तथा सत्त्वसमिति समाप्त - सत्त्व-धैर्य समिति वाला हो कर सभी प्राणी-भूत-जीव-सत्त्वों का विश्वसनीय रूप

वाला होता है और अल्प उपधि होने के कारण अल्प प्रतिलेखना, वाला जितेन्द्रिय विपुल तप और समिति युक्त होता है अर्थात् महातपस्वी होता है।

विवेचन - स्थविर-कल्पी मुनि की द्रव्य और भाव पूर्ण आंतरिक तथा बाह्य दशा को प्रतिरूपता कहते हैं। दूसरे शब्दों में प्रतिरूप नाम आदर्श का है। अर्थात् द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से शुद्ध जो स्थविर-कल्पी का वेष है, उसको धारण करना प्रतिरूपता है।

४३. वैयावृत्य

वेयावच्चेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! वैयावृत्य करने से जीव को क्या लाभ होता है?

वेयावच्चेणं तित्थयर-णामगोयं कम्मं णिबंधइ ॥४३॥

कठिन शब्दार्थ - वेयावच्चेणं - वैयावृत्य से, तित्थयरणामगोयं - तीर्थकर नाम गोत्र कर्म का, णिबंधइ - बन्ध करता है।

भावार्थ - उत्तर - वैयावृत्य करने से तीर्थकर नाम-गोत्र कर्म का बन्ध करता है।

विवेचन - वैयावृत्य, आभ्यंतर तप है। वैयावृत्य का अर्थ है - निःस्वार्थ भाव से गुणिजनों तथा स्थविर आदि मुनियों की आहार आदि से यथोचित सेवा करना। आचार्य आदि दस की उत्कृष्ट भाव से सेवाभक्ति - वैयावृत्य करता हुआ जीव उत्कृष्ट रसायन आने पर तीर्थकर नाम गोत्र कर्म का उपार्जन करता है।

यहाँ पर 'तीर्थकर नाम गोत्र कर्म' शब्द दिया है, उसका आशय यह है कि - 'तीर्थकर नाम' यह प्रकृति नामकर्म की प्रकृति होने पर भी त्रैलोक्य पूजित होने से एवं चतुर्विध संघ के मालिक रूप में तथा सर्वत्र सर्वोत्कृष्ट पुण्य प्रकृति के कारण प्रशंसित और प्रसिद्धि को प्राप्त होने से इसका नाम 'तीर्थकर नाम गोत्र' बता दिया गया है। गोत्र कर्म की यह प्रकृति नहीं है।

४४. सर्व गुण सम्पन्नता

सव्वगुणसंपण्णयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! सर्वगुणसंपन्नता - ज्ञानादि समस्त गुणों से युक्त होने से जीव को क्या लाभ होता है?

सर्वगुणसंपण्णयाए णं अपुणरावृत्तिं जणयइ, अपुणरावृत्तिं पत्तए णं जीवे सारीरमाणसाणं दुक्खाणं णो भागी भवइ ॥४४॥

कठिन शब्दार्थ - सर्वगुणसंपण्णयाए - सर्व गुण सम्पन्नता से, अपुणरावृत्ति - अपुनरावृत्ति - पुनः संसार में आगमन के अभाव-मोक्ष को, सारीरमाणसाणं दुक्खाणं - शारीरिक और मानसिक दुःखों का भागी।

भावार्थ - उत्तर - ज्ञानादि सभी गुणों से सम्पन्न होने से जीव अपुनरागमन (जन्म-मरण रूप संसार में फिर नहीं आने रूप) लाभ प्राप्त करता है। अपुनरागमन को प्राप्त हुआ जीव शारीरिक और मानसिक दुःखों का भागी नहीं होता है।

विवेचन - आत्मा को परिपूर्णता के शिखर पर पहुंचाने वाले गुणों से परिपूर्ण होना सर्वगुण सम्पन्नता है। आत्मा के ये निजी गुण हैं - १. निरावरण पूर्ण ज्ञान २. पूर्ण दर्शन (क्षायिक सम्यक्त्व) एवं ३. सर्व संवर रूप पूर्ण चारित्र (यथाख्यात चारित्र)। सर्वगुण सम्पन्नता से जीव शारीरिक और मानसिक दुःखों से मुक्त होकर अव्याबाध सुखों के स्थान - मोक्ष को प्राप्त करता है। इसीलिये प्रस्तुत सूत्र में कहा है कि सर्वगुणसंपन्नता से अपुनरावृत्ति अर्थात् मुक्ति प्राप्त होती है।

४५ वीतरागता

वीयरागयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! वीतरागता से जीव को क्या लाभ होता है?

वीयरागयाए णं णेहाणुबंधणाणि तण्हाणुबंधणाणि य वोच्छिंदइ मणुण्णामणुण्णेषु सहफरिसरसरूवगंधेषु चेव विरज्जइ ॥४५॥

कठिन शब्दार्थ - वीयरागयाए णं - वीतरागता से, णेहाणुबंधणाणि - स्नेहानुबन्धनों, तण्हाणुबंधणाणि - तृष्णानुबन्धनों का, मणुण्णामणुण्णेषु - मनोज्ञ और अमनोज्ञ, सहफरिसरसरूवगंधेषु - शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध से, विरज्जइ - विरक्त हो जाता है।

भावार्थ - उत्तर - वीतरागता से स्त्री-पुत्र सगे-सम्बन्धी आदि का स्नेह और धन-धान्य आदि की तृष्णा का विनाश हो जाता है और मनोज्ञ और अमनोज्ञ (प्रिय और अप्रिय) शब्द-स्पर्श-रस-रूप और गन्ध इन विषयों से विरक्त हो जाता है।

विवेचन - यद्यपि वीतरागता का कथन पहले - छत्तीसवें बोल में भी आ चुका है तथापि राग की प्रधानता दर्शाने के लिए यह प्रश्न किया गया है। कारण यह है कि संसार में सर्वप्रकार के अनर्थों का मूल यदि कोई है तो वह राग है। उसको दूर करना ही वीतरागता है जो कि परम पुरुषार्थ रूप मोक्ष तत्त्व का साधक है।

७६. क्षांति

खंतीए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! क्षमा करने से जीव को क्या लाभ होता है?

खंतीए णं परीसहे जिणेइ ॥४६॥

भावार्थ - क्षमा करने से जीव परीषहों को जीत लेता है।

विवेचन - दस प्रकार के श्रमण धर्मों में क्षांति का पहला स्थान है। क्षांति के दो अर्थ होते हैं - १. क्षमा और २. सहिष्णुता। सहिष्णुता और तितिक्षा होने पर व्यक्ति की सहन करने की क्षमता बढ़ जाती है। वह परीषहों पर विजय प्राप्त कर लेता है।

७७. मुक्ति

मुत्तीए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! मुक्ति (निर्लोभता) से जीव को क्या लाभ होता है?

मुत्तीए णं अकिंचणं जणयइ, अकिंचणे य जीवे अत्थ-लोलानं पुरिसाणं अपत्थणिज्जे भवइ ॥४७॥

कठिन शब्दार्थ - मुत्तीए - मुक्ति - निर्लोभता से, अकिंचणं - अकिंचनता, अत्थलोलानं पुरिसाणं - अर्थलोलुपी पुरुषों द्वारा, अपत्थणिज्जे - अप्रार्थनीय।

भावार्थ - उत्तर - निर्लोभता से अकिञ्चनभाव (परिग्रह रहित) की प्राप्ति होती है और अकिञ्चन जीव अर्थलोल - धन के लोभी पुरुषों का अप्रार्थनीय होता है अर्थात् वह धनलोभी चोरादि द्वारा नहीं सताया जाता है और परिग्रह-रहित होने के कारण उसको किसी प्रकार का भय और चिन्ता भी नहीं होती है।

विवेचन - मुक्ति का अर्थ है - निर्लोभता या परिग्रह विरक्ति। निर्लोभता से जीव

अकिंचनता प्राप्त कर लेता है। अकिंचन - धनादि द्रव्य रहित होने से धनलोलुप, चोर या याचक आदि उससे कोई याचना - मांग नहीं करते और उसे किसी प्रकार की चिंता या मांगने की प्रार्थना नहीं करनी पड़ती।

४८. आर्जवता

अज्जवयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! आर्जवता (सरलता) से जीव को क्या लाभ होता है?

अज्जवयाए णं काउज्जुययं भावुज्जुययं भासुज्जुययं अविसंवायणं जणयइ,
अविसंवायणसंपण्णयाए णं जीवे धम्मस्स आराहए भवइ॥४८॥

कठिन शब्दार्थ - अज्जवयाए - आर्जवता-सरलता से, काउज्जुययं - काया की सरलता, भावुज्जुययं - भावों की सरलता, भासुज्जुययं - भाषा की सरलता, अविसंवायणं-अविसंवादन को, धम्मस्स आराहए - धर्म का आराधक।

भावार्थ - उत्तर - ऋजुता-सरलता (निष्कपटता) से जीव को काया की ऋजुता, भाव की ऋजुता, भाषा की ऋजुता और अविसंवादन भाव की प्राप्ति होती है-अर्थात् ऐसा सरल जीव किसी के साथ ठगाई नहीं करता। अविसंवादन सम्पन्नता रूप भाव को प्राप्त हुआ (किसी को न ठगने वाला) जीव धर्म का आराधक होता है।

विवेचन - आर्जवता - सरलता से जीव निम्न प्रकार की वक्रता से रहित होता है -

१. काय वक्रता - कुब्जादि वेष या बहुरूपिया आदि वेष बना कर लोगों को हंसाना कायवक्रता है।

२. भाव वक्रता - मन में कुछ और वचन में कुछ और भाव होना भाववक्रता है।

३. भाषा वक्रता - उपहास के लिए अन्य देशों की भाषा बोलना या वचन से फुसला बहका कर ठगना, धोखा देना - भाषा वक्रता है।

४. विसंवादिता वंचकता - लोगों को ठगना, वंचना करना विसंवादिता वंचकता है।

निष्कपटता से जीव काया, भाव और भाषा तीनों से सरल - अवक्र होता है तथा उसमें अविसंवादिता - पूर्वापर विरोध का अभाव या अवंचकता होती है। अवंचक भाव से जीव धर्म का आराधक हो जाता है।

४९. मृदुता

मद्दवयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! मृदुता (स्वभाव की कोमलता) से जीव को क्या लाभ होता है?

मद्दवयाए णं अणुस्सियत्तं जणयइ, अणुस्सियत्ते णं जीवे मिउमद्दवसंपण्णे

अट्ट मयट्ठाणाइं णिट्ठवेइ ॥४६॥

कठिन शब्दार्थ - मद्दवयाए - मृदुता से, अणुस्सियत्तं - अनुद्धतभाव - निरभिमानता को, मिउमद्दवसंपण्णे - मृदु और मार्दव भाव से सम्पन्न होकर, अट्टमयट्ठाणाइं - आठ मद स्थानों को, णिट्ठवेइ - विनष्ट कर देता है।

भावार्थ - उत्तर - मृदुता (कोमलता) से जीव अनुच्छिन्नत्व, अहंकार-रहित हो जाता है अनुच्छिन्नत्व - अहंकार-रहित बना हुआ जीव मृदु-मार्दव-सम्पन्न (नम्र और कोमल स्वभाव वाला) हो कर आठ मद स्थानों का परित्याग कर देता है अर्थात् ऐसा विनीत और सरल जीव जाति, कुल, बल, रूप, तप, ज्ञान, लाभ और ऐश्वर्य, इन आठ का मद नहीं करता है।

विवेचन - जो जीव द्रव्य और भाव से मृदु कोमल स्वभाव वाला होता है उसके जीवन में - १. अनुद्धतता - अभिमान रहितता २. कोमलता और नम्रता तथा ३. आठ मद स्थानों का अभाव हो जाता है।

५०. भावसत्य

भावसच्चेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! भाव-सत्य से जीव को क्या लाभ होता है?

भावसच्चेणं भावविसोहिं जणयइ, भावविसोहीए वट्टमाणे जीवे

अरहंतपण्णत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए अब्भुट्ठेइ, अरहंतपण्णत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए अब्भुट्ठित्ता परलोगधम्मस्स आराहए भवइ ॥५०॥

कठिन शब्दार्थ - भावसच्चेणं - भाव सत्य से, भावविसोहिं - भाव विशुद्धि को, वट्टमाणे- वर्तमान, अरहंतपण्णत्तस्स धम्मस्स - अर्हन्त देव द्वारा प्ररूपित धर्म की, आराहणयाए- आराधना करने के लिए, अब्भुट्ठेइ - उद्यत होता है, परलोगधम्मस्स - परलोक धर्म का, आराहए - आराधक।

भावार्थ - उत्तर - भाव-सत्य से भाव-विशुद्धि को प्राप्त करता है। भाव-विशुद्धि में वर्तमान जीव अर्हन्त देव द्वारा प्ररूपित धर्म की आराधना करने के लिए उद्यत होता है। अर्हन्त देव द्वारा प्ररूपित धर्म की आराधना के लिए उद्यत होकर परलोक धर्म का आराधक होता है।

विवेचन - भावसत्य - अंतरात्मा की सत्यता से जीवात्मा के अध्यवसाय शुद्ध होते हैं जिससे वह अर्हन्त प्ररूपित धर्म की आराधना में कटिबद्ध रहता है। इस धर्माराधना के फलस्वरूप उसे परलोक में भी सद्धर्म की प्राप्ति होती है अर्थात् वह जन्मान्तर में भी धर्माराधक होता है।

५१. करण सत्य

करण-सच्चेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! करण-सत्य (सत्यप्रवृत्ति) से जीव को क्या लाभ होता है?

करण-सच्चेणं करणसत्तिं जणयइ, करणसच्चे वट्टमाणे जीवे जहावाई तहाकारी यावि भवइ ॥५१॥

कठिन शब्दार्थ - करणसच्चेणं - करण सत्य से, करणसत्तिं - करण शक्ति को, वट्टमाणे - प्रवर्तमान, जहावाई तहाकारी - यथावादी तथाकारी - जैसा कहता है वैसा करने वाला।

भावार्थ - उत्तर - करण-सत्य से सत्य क्रिया करने की शक्ति उत्पन्न होती है। करण-सत्य में प्रवृत्ति करने वाला जीव जैसा बोलता है वैसा ही करता है।

विवेचन - करण सत्य अर्थात् कार्य की सत्यता से जीव में कार्य करने की क्षमता बढ़ जाती है और भविष्य में उसके वक्तव्य और कार्य अर्थात् उपदेश और आचरण दोनों समान हो जाते हैं।

५२. योग-सत्य

योग-सच्चेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! मन, वचन, काया रूप योग-सत्य से जीव को क्या लाभ होता है?

योग-सच्चेणं योगे विसोहेइ ॥५२॥

भावार्थ - उत्तर - योग-सत्य से योगों की विशुद्धि होती है।

विवेचन - योगसत्य अर्थात् मन, वचन, काया के योगों - प्रयत्नों की सत्यता से साधक योगों की विशुद्धि कर लेता है।

५३. मनःगुप्तता

मण-गुत्तयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! मनःगुप्तता - मनोगुप्ति (मन को वश में रखने) से जीव को क्या लाभ होता है?

मण-गुत्तयाए णं जीवे एगगं जणयइ, एगगचित्तेणं जीवे मणगुत्ते संजमाराहए भवइ ॥५३॥

कठिन शब्दार्थ - मणगुत्तयाए - मनःगुप्तता - मनोगुप्ति से, एगगं - एकाग्रता, संजमाराहए - संयम का आराधक।

भावार्थ - उत्तर - मनःगुप्तता - मनोगुप्ति से जीव का चित्त एकाग्र होता है और एकाग्र चित्त वाला जीव मन को वश में कर के संयम का आराधक होता है।

विवेचन - समस्त विकल्प जाल से मुक्त होना और समभाव में प्रतिष्ठित होकर मन का आत्मा में रमण करना अथवा अशुभ अध्यवसाय में जाते हुए मन को रोकना मनोगुप्ति कहलाती है।

५४. वचनगुप्तता

वय-गुत्तयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! वाग् गुप्तता - वचनगुप्ति से जीव को क्या लाभ होता है?

वय-गुत्तयाए णं णिव्वियारत्तं जणयइ, णिव्वियारेणं जीवे वइगुत्ते अज्झप्पजोग-साहणजुत्ते यावि भवइ ॥५४॥

कठिन शब्दार्थ - वयगुत्तयाए - वचन गुप्ति से, णिव्वियारत्तं - निर्विकारता को, अज्झप्पजोगसाहणजुत्ते - अध्यात्मयोग के साधनभूत ध्यान से युक्त।

भावार्थ - उत्तर - वाग्-गुप्तता - वचनगुप्ति से निर्विकार भाव की प्राप्ति होती है। निर्विकारी जीव वचन-गुप्त होता है और अध्यात्म - योग (धर्मध्यान) आदि के साधनों से युक्त होता है।

५५ कायगुप्तता

काय-गुत्तयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! कायगुप्तता - काय-गुप्ति का पालन करने से जीव को क्या लाभ होता है?

काय-गुत्तयाए संवरं जणयइ, संवरेणं कायगुत्ते पुणो पावासवणिरोहं करेइ ॥५५॥

कठिन शब्दार्थ - कायगुत्तयाए - कायगुप्ति से, संवरं - संवर की, पावासवणिरोहं - पापास्रव का निरोध।

भावार्थ - उत्तर - कायगुप्तता - कायगुप्ति से संवर की प्राप्ति होती है फिर संवर से कायगुप्त बना हुआ जीव पाप आस्रवों का निरोध कर देता है।

५६ मनसमाधारणता

मण-समाहारणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! मनसमाधारणता (आगम के अनुसार मन की प्रवृत्ति करने) से जीव को क्या लाभ होता है?

मण-समाहारणयाए णं एगगं जणयइ, एगगं जणइत्ता णाणपज्जवे जणयइ णाणपज्जवे जणइत्ता सम्मत्तं विसोहेइ मिच्छत्तं च णिज्जरेइ ॥५६॥

कठिन शब्दार्थ - मणसमाहारणयाए - मन समाधारणता से, एगगं - एकाग्रता, णाणपज्जवे - ज्ञान पर्यवों को, सम्मत्तं - सम्यक्त्व की, विसोहेइ - विशुद्धि करता है, मिच्छत्तं - मिथ्यात्व की, णिज्जरेइ - निर्जरा करता है।

भावार्थ - उत्तर - मनसमाधारणता से अर्थात् संकल्प-विकल्पों से हटा कर स्वाध्यायादि उत्तम कार्यों में मन को लगाने से मन एकाग्र होता है। मन एकाग्र होने पर ज्ञान की पर्यायों की प्राप्ति होती है। ज्ञान पर्यायों की प्राप्ति होने पर जीव सम्यक्त्व की विशुद्धि करता है और मिथ्यात्व की निर्जरा करता है।

विवेचन - शास्त्रोक्त भावों के चिंतन में मन को सम्यक् प्रकार से व्यवस्थित, स्थापित

या नियुक्त करना मनःसमाधारणता है। इसके चार लाभ हैं - १. चित्त की एकाग्रता २. ज्ञान के पर्यायों की प्राप्ति ३. दर्शन की विशुद्धि और ४. मिथ्यात्व का क्षय।

५७. वचन समाधारणता

वच-समाहारणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! वाक्समाधारणता - वचन-समाधारणता (वचन को पठन पाठन स्वाध्यायादि में लगाये रहने) से जीव को क्या लाभ होता है?

वच-समाहारणयाए णं वयसाहारण-दंसणपज्जवे विसोहेइ, वयसाहारण-दंसणपज्जवे विसोहिता सुलहबोहियत्तं णिव्वत्तेइ दुल्लहबोहियत्तं णिज्जेइ ॥५७॥

कठिन शब्दार्थ- वच-समाहारणयाए - वचन समाधारणता से, वयसाहारण-दंसण-पज्जवे- साधारण वाणी के विषयभूत दर्शन के पर्यायों को, सुलहबोहियत्तं - सुलभबोधिता की, दुल्लहबोहियत्तं - दुर्लभबोधिता की।

भावार्थ - उत्तर - वचन-समाधारणता से वचन सम्बन्धी दर्शन-पर्यायें विशुद्ध होती हैं। वचन-सम्बन्धी दर्शन (सम्यक्त्व) पर्यायों को विशुद्ध कर के जीव सुलभबोधिपन को प्राप्त करता है और दुर्लभबोधिपन की निर्जरा करता है।

विवेचन - वाणी को सतत स्वाध्याय में सम्यक् प्रकार से लगाये रखना वचन समाधारणता है। वचन समाधारणता से सम्यक्त्व निर्मल हो जाता है। सम्यक्त्व विशुद्ध होने पर सुलभबोधिता प्राप्त हो जाती है और दुर्लभबोधिता नष्ट हो जाती है।

५८. काय समाधारणता

काय-समाहारणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! कायसमाधारणता (काया को संयमित करने) से जीव को क्या लाभ होता है?

काय-समाहारणयाए णं चरित्तपज्जवे विसोहेइ, चरित्तपज्जवे विसोहिता अहक्खाय चरित्तं विसोहेइ, अहक्खाय-चरित्तं विसोहिता चत्तारि केवलिकम्मंसे खवेइ, तओ पच्छा सिज्झइ बुज्झइ मुच्चइ परिणिव्वायइ सब्बदुक्खाणमंतं करेइ ॥५८॥

कठिन शब्दार्थ - काय-समाहारणयाए - कायसमाधारणता से, चरित्तपज्जवे - चारित्र की पर्यायों को, अहक्खाय चरित्तं - यथाख्यात चारित्र को, केवलिकम्मसे - केवलिकर्मांश का।

भावार्थ - उत्तर - कायसमाधारणता से जीव चारित्र की पर्यायों को विशुद्ध करता है। चारित्र की पर्यायों को विशुद्ध करके यथाख्यात चारित्र को विशुद्ध करता है। यथाख्यात चारित्र को विशुद्ध करके चार केवलिकर्मांश - केवली अवस्था में शेष रहे हुए चार भवोपग्राही अघाती कर्मों का क्षय कर देता है, इसके बाद सिद्ध हो जाता है अर्थात् उसके सब कार्य सिद्ध हो जाने से कृतकृत्य हो जाता है, बुद्ध हो जाता है अर्थात् केवलज्ञान केवलदर्शन से सम्पूर्ण लोकालोक को जानने और देखने लग जाता है, सब कर्मों से मुक्त हो जाता है, कर्माग्नि को बुझा कर शीतल हो जाता है और समस्त दुःखों का अंत कर देता है।

विवेचन - काया को संयम की शुद्ध प्रवृत्तियों में भलीभांति लगाये रखना कायसमाधारणा है। कायसमाधारणा से चारित्र पर्यायों की विशुद्धि होती है। विशुद्ध चारित्र पर्यायों से यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति होती है जिससे केवली के शेष चार कर्मों का क्षय कर डालता है फिर उसे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होने में देर नहीं लगती।

५९. ज्ञान सम्पन्नता

णाण-संपण्णयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! ज्ञान-सम्पन्नता (श्रुतज्ञान की प्राप्ति) से जीव को क्या लाभ होता है?

णाण-संपण्णयाए णं सव्वभावाहिगमं जणयइ, णाणसंपण्णे णं जीवे चाउरंते संसार-कंतारे ण विणस्सइ।

जहा सूई ससुत्ता, पडियावि ण विणस्सइ।

तहा जीवे ससुत्ते, संसारे ण विणस्सइ॥१॥

णाण-विणय-तव-चरित्त-जोगे संपाउणाइ, ससमय-परसमय-विसारए य असंघायणिज्जे भवइ॥

कठिन शब्दार्थ - णाण-संपण्णयाए - ज्ञान सम्पन्नता से, सव्वभावाहिगमं - सर्वभावों का अधिगम-बोध, ण विणस्सइ - नष्ट नहीं होता, ससुत्ता - सूत्र (धगो) सहित, सूइ -

सूई, पडियावि - गिर जाने पर, संसारे - संसार में, संपाउणइ - संप्राप्त करता है, णाण-
विण्य-तव-चरित्त-जोगे - ज्ञान, विनय, तप और चारित्र के योगों को, ससमय-परसमय
विसारए - स्व सिद्धान्त और पर सिद्धान्त में विशारद, असंघायणिज्जे - असंघातनीय - हार
नहीं पाता, प्रामाणिक।

भावार्थ - उत्तर - ज्ञान सम्पन्नता से सभी पदार्थों का अभिगम-ज्ञान होता है। ज्ञानसम्पन्न
जीव चतुर्गति रूप संसार कान्तार-वन में नहीं भटकता है। जिस प्रकार डोरे सहित सूई कूड़े
कचरे में गिर जाने पर भी गुम नहीं होती, वैसे ही श्रुत-श्रुतज्ञानी जीव संसार में नहीं भटकता
है किन्तु ज्ञान, विनय, तप और चारित्र के योगों को प्राप्त करता है। स्वसमय और परसमय का
(अपने सिद्धान्त और पर सिद्धान्त का) विशारद-ज्ञाता होता है और असंघातनीय - वादी -
प्रतिवादी द्वारा शास्त्रार्थ में पराभव (हार) को प्राप्त नहीं होता। अतएव सबके लिये माननीय
(प्रामाणिक पुरुष) होता है।

विवेचन - ज्ञान सम्पन्नता से आशय है - श्रुतज्ञान की प्राप्ति से युक्त होना क्योंकि यहां
ज्ञान सम्पन्नता का फल सर्वभावों का बोध बताया है।

श्रुतज्ञान सम्पन्नता से जीव सर्व पदार्थों के रहस्य को जान लेता है तथा चतुर्गति रूप
संसार अटवी में रुलता नहीं। जैसे डोरे सहित सूई यदि कहीं गिर भी जाए तो वह गुम नहीं
होती, दूढ़ने पर जल्दी मिल जाती है, उसी प्रकार श्रुतज्ञान से युक्त जीव संसार में भटकता नहीं
क्योंकि श्रुतज्ञान से उसे समय-समय पर मार्गदर्शन मिलता रहता है। वह उत्तरोत्तर श्रुत का
अभ्यास करता हुआ अवधि आदि ज्ञानों को तथा विनय, तप और चारित्र के योगों को प्राप्त
कर लेता है। स्व, पर सिद्धान्तों का ज्ञाता होने वह शास्त्रार्थ में किसी से हारता नहीं और
प्रामाणिक पुरुष हो जाता है।

६०. दर्शन सम्पन्नता

दंसणसंपणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! दर्शन-सम्पन्नता (क्षायोपशमिक सम्यक्त्व) से जीव को
क्या लाभ होता है?

दंसणसंपणयाए णं भवमिच्छत्तछेयणं करेइ, परं ण विज्झायइ परं
अविज्झाएमाणे अणुत्तरेणं णाणदंसणेणं अप्पाणं संजोएमाणे सम्मं भावेमाणे
विहरइ ॥६०॥

कठिन शब्दार्थ - दंसणसंपणयाए - दर्शन सम्पन्नता से, भवमिच्छत्तछेयणं - संसार के हेतुभूत मिथ्यात्व का छेदन, परं - उत्तरकाल में, ण विज्झायइ - बुझता नहीं, अणुत्तरेणं णाणदंसणेणं - अनुत्तर ज्ञान दर्शन से, संजोएमाणे - संयोजित करता हुआ, सम्मं - सम्यक् प्रकार से, भावेमाणे - भावित करता हुआ, विहरइ - विचरण करता है।

भावार्थ - उत्तर - दर्शन-सम्पन्नता से जीव भवभ्रमण के कारण मिथ्यात्व का छेदन-नाश कर देता (क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता) है फिर आगामी काल में उसका सम्यक्त्व रूपी दीपक बुझता नहीं है किन्तु उस सम्यक्त्व के प्रकाश से युक्त होता हुआ जीव अनुत्तर-प्रधान ज्ञान-दर्शन (केवलज्ञान-केवलदर्शन) से अपनी आत्मा को संयुक्त करता हुआ और सम्यक् प्रकार से भावना भाता हुआ विचरता है।

विवेचन - यहां दर्शन-सम्पन्नता से आशय है - क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से युक्त होना। ऐसा व्यक्ति क्षायिक समकित को प्राप्त कर लेता है। इसकी प्राप्ति से जीव जन्म-मरण परम्परा के कारणभूत मिथ्यात्व का सर्वथा नाश कर देता है फिर उसका ज्ञान दर्शन संबंधी आलोक बुझता नहीं, वह केवलज्ञान केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है।

यदि पहले आयुष्य नहीं बंधा हो ऐसे जीव को क्षायिक समकित प्राप्त हुई हो तो वह जीव उसी भव में मोक्ष चला जाता है। यदि आयुष्य (देवता नारकी) बंध गया हो तो तीसरे भव में मोक्ष चला जाता है। यदि तीस अकर्मभूमि के मनुष्य (युगलिक) का अथवा स्थलचर तिर्यच युगलिक का आयुष्य बंध गया हो तो चौथे भव में मोक्ष चला जाता है। क्योंकि युगलिक मरकर देवगति में ही जाता है। देव मरकर, मनुष्य होकर मोक्ष में चला जाता है। इस प्रकार जिस भव में क्षायिक समकित प्राप्त हुई वह पहला भव, दूसरा युगलिक का भव, तीसरा देव का भव और मनुष्य का चौथा भव। इस प्रकार चार भव होते हैं।

६१. चारिव सम्पन्नता

चरित्त-संपणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! चारित्र-सम्पन्नता से जीव को क्या लाभ होता है?

चरित्त-संपणयाए णं सेलेसीभावं जणयइ, सेलेसिं पडिवण्णे य अणगारे चत्तारि केवलिकम्मंसे खवेइ, तओ पच्छा सिज्झइ बुज्झइ मुच्चइ परिणिब्बायइ सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ॥६१॥

कठिन शब्दार्थ - चरित्तसंपण्णयाए - चारित्र-सम्पन्नता से, सेलेसीभावं - शैलेषी अवस्था को।

भावार्थ - उत्तर - चारित्र-सम्पन्नता से शैलेषी अवस्था प्राप्त होती है और शैलेषी अवस्था को प्राप्त हुआ अनगार चार केवलिकर्माश - केवलि अवस्था में रहे हुए चार भवोपग्राही अघाती कर्मों का क्षय कर देता है इसके बाद सिद्ध हो जाता है, बुद्ध हो जाता है, मुक्त हो जाता है, कर्माग्नि को बुझा कर शीतल हो जाता है और सभी दुःखों का अंत कर देता है।

विवेचन - मूल पाठ में 'केवलिकम्मंसे' शब्द आया है। यहाँ पर कर्माश शब्द का टीकाकार ने सत्कर्म ऐसी संस्कृत छाया की है। अंश शब्द का 'सत्' शब्द पर्यायवाची दिया है।

शैल का अर्थ है - पर्वत और ईश का अर्थ है स्वामी, राजा। संसार के समस्त पर्वतों में जम्बूद्वीप का मेरु पर्वत सबसे ऊँचा है अर्थात् एक हजार योजन जमीन में ऊँडा है और ६६ हजार योजन धरती से ऊपर ऊँचा है इस प्रकार मेरु पर्वत की ऊँचाई एक लाख योजन की है। वह अचल अडोल अत्यन्त स्थिर है। उसी प्रकार मन, वचन और काया इन तीनों योगों के निरोध से मुनि भी अचल और अडोल हो जाते हैं। इस अचलता, अडोलता और स्थिरता का नाम ही शैलेषी भाव है।

६२. श्रोत्रेन्द्रिय निग्रह

सोइंदियणिग्गहेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रह (श्रोत्रेन्द्रिय को वश करने) से जीव को क्या लाभ होता है?

सोइंदिय-णिग्गहेणं मणुण्णामणुण्णेसु सद्देसु रागदोस-णिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं च णं कम्मं ण बंधइ, पुव्वबद्धं च णिज्जेइ ॥६२॥

कठिन शब्दार्थ - सोइंदिय-णिग्गहेणं - श्रोत्रेन्द्रिय निग्रह से, मणुण्णामणुण्णेसु - मनोज्ञ और अमनोज्ञ, सद्देसु - शब्दों में, रागदोस-णिग्गहं - रागद्वेष का निग्रह, तप्पच्चइयं - तन्निमित्तक।

भावार्थ - उत्तर - श्रोत्रेन्द्रिय के निग्रह से मनोज्ञ और अमनोज्ञ (प्रिय और अप्रिय) शब्दों में रागद्वेष का निग्रह होता है और तन्निमित्तक (श्रोत्रेन्द्रिय सम्बन्धी) कर्म का बंध नहीं होता, और पहले बाँधे हुए कर्मों की निर्जरा कर देता है।

६३. चक्षुरिन्द्रिय निग्रह

चक्खिंदिय-णिग्गहेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! चक्षु इन्द्रिय के निग्रह से जीव को क्या लाभ होता है?

चक्खिंदिय-णिग्गहेणं मणुण्णामणुण्णेसु रूवेसु रागदोस-णिग्गहं जणयइ,
तप्पच्चइयं च णं कम्मं ण बंधइ, पुव्वबद्धं च णिज्जरेइ ॥६३॥

कठिन शब्दार्थ - चक्खिंदिय-णिग्गहेणं - चक्षुइन्द्रिय के निग्रह से, रूवेसु - रूपों में।

भावार्थ - उत्तर - चक्षु इन्द्रिय के निग्रह से मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूपों में रागद्वेष का निग्रह होता है और चक्षुइन्द्रिय निमित्तक कर्मों का बन्ध नहीं होता है और पहले बंधे हुए कर्मों की निर्जरा हो जाती है।

६४. घ्राणेन्द्रिय-निग्रह

घाणिंदिय-णिग्गहेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! घ्राणेन्द्रिय के निग्रह से जीव को क्या लाभ होता है?

घाणिंदिय-णिग्गहेणं मणुण्णामणुण्णेसु गंधेसु रागदोस-णिग्गहं जणयइ,
तप्पच्चइयं च णं कम्मं ण बंधइ, पुव्वबद्धं च णिज्जरेइ ॥६४॥

कठिन शब्दार्थ - घाणिंदियणिग्गहेणं - घ्राणेन्द्रिय के निग्रह से, गंधेसु - गन्धों में।

भावार्थ - उत्तर - घ्राणेन्द्रिय के निग्रह से मनोज्ञ और अमनोज्ञ गन्धों में रागद्वेष का निग्रह होता है, तन्निमित्तक-घ्राणेन्द्रिय निमित्तक कर्मों का बन्ध नहीं होता और पहले बाँधे हुए कर्मों की निर्जरा हो जाती है।

६५. जिह्वेन्द्रिय निग्रह

जिब्भिंदिय-णिग्गहेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! जिह्वा इन्द्रिय के निग्रह से जीव को क्या लाभ होता है?

जिब्भिंदिय-णिग्गहेणं मणुण्णामणुण्णेसु रसेसु रागदोस-णिग्गहं जणयइ,
तप्पच्चइयं च णं कम्मं ण बंधइ, पुव्वबद्धं च णिज्जरेइ ॥६५॥

कठिन शब्दार्थ - जिब्भिन्दियणिग्गहेणं - जिह्वाइन्द्रिय के निग्रह से, रसेसु - रसों में।

भावार्थ - उत्तर - जिह्वा इन्द्रिय के निग्रह से मनोज्ञ और अमनोज्ञ रसों में रागद्वेष का निग्रह होता है, तन्निमित्तक कर्मों का बन्ध नहीं होता है और पहले बाँधे हुए कर्मों की निर्जरा हो जाती है।

६६. स्पर्शनिन्द्रिय निग्रह

फासिंदिय-णिग्गहेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! स्पर्शन इन्द्रिय के निग्रह से जीव को क्या लाभ होता है?

फासिंदिय-णिग्गहेणं मणुण्णामणुण्णेसु फासेसु रागदोस-णिग्गहं जणयइ तप्पच्चइयं च णं कम्मं ण बंधइ, पुव्वबद्धं च णिज्जेइ ॥६६॥

कठिन शब्दार्थ - फासिंदियणिग्गहेणं - स्पर्शन इन्द्रिय के निग्रह से, फासेसु - स्पर्शों में।

भावार्थ - उत्तर - स्पर्शन इन्द्रिय के निग्रह से मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्शों में रागद्वेष का निग्रह होता है, तन्निमित्तक कर्मों का बन्ध नहीं होता और पहले बाँधे हुए कर्मों की निर्जरा हो जाती है।

विवेचन - प्रश्न - इन्द्रिय किसे कहते हैं?

उत्तर - शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श इन पांच विषयों में से किसी भी नियत विषय का ज्ञान करने वाली आत्म-चेतना एवं उसके साधन और पौद्गलिक आकार को इन्द्रिय कहते हैं अथवा चमड़ी, नेत्र आदि जिन साधनों से सदीं, गर्मी, काला, पीला आदि विषयों का ज्ञान होता है तथा जो अङ्गोपाङ्ग और निर्माण नाम कर्म के उदय से प्राप्त होती है, वह इन्द्रिय कहलाती है। इन्द्रियाँ पांच हैं उनके विषय और विकार इस प्रकार हैं -

१. श्रोत्रेन्द्रिय के तीन विषय - जीव शब्द, अजीव शब्द और मिश्र शब्द। इसके बारह विकार हैं यथा - ये तीन शुभ, तीन अशुभ। इन छह पर राग और छह पर द्वेष। इस प्रकार बारह विकार हैं।

२. चक्षु इन्द्रिय के पांच विषय - काला, नीला, लाल, पीला और सफेद। इनके ६० विकार हैं यथा - ५ सचित्त, ५ अचित्त, ५ मिश्र - ये १५ शुभ और १५ अशुभ। इन ३० पर राग और ३० पर द्वेष। इस प्रकार ६० विकार हैं।

३. घ्राणेन्द्रिय के दो विषय - सुरभिगंध (सुगन्ध-शुभ गंध) और दुरभिगन्ध (दुर्गन्ध-अशुभ गंध) इनके १२ विकार हैं यथा - २ सचित्त, २ अचित्त, और २ मिश्र। इन ६ पर राग और ६ पर द्वेष। इस प्रकार १२ विकार हैं।

४. रसनेन्द्रिय (जिह्वा इन्द्रिय) के पांच विषय - तीखा, कड़वा, कषैला, खट्टा और मीठा। इनके ६० विकार हैं यथा - ५ सचित्त, ५ अचित्त, ५ मिश्र, ये १५ शुभ, १५ अशुभ, इन ३० पर राग और ३० पर द्वेष। इस प्रकार ६० विकार हैं।

५. स्पर्शनेन्द्रिय के आठ विषय - कर्कश (खुरदरा), मुदु (कोमल), लघु (हलका), गुरु (भारी), शीत (ठण्डा), उष्ण (गर्म), रूक्ष (लूखा) और स्निग्ध (चिकना)। इनके ६६ विकार हैं। यथा - ८ सचित्त, ८ अचित्त, ८ मिश्र ये २४ शुभ और २४ अशुभ, इन ४८ पर राग और ४८ पर द्वेष। इस प्रकार ६६ विकार हैं।

पांच इन्द्रियों के सामने उन-उन के विषय आवे अर्थात् शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श आने पर अर्थात् शब्द कान में पड़ने पर सुना न जाय ऐसा तो हो नहीं सकता है, किन्तु उनमें विकार भाव को प्राप्त होना अर्थात् राग द्वेष करने से कर्मों का बंध होता है। जैसा कि -
आचाराङ्ग सूत्र के दूसरे श्रुतस्कन्ध के १५ वें अध्ययन में कहा है कि -

ण सवका ण सोउं सहा, सोयविसयमागया।

रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिवसू परिवज्जाए॥१॥

ण सवकं ऋवमदहं चवसुविसयमागयं।

रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिवसू परिवज्जाए॥२॥

णो सवका गंधमग्घाउं, णासाविसयमागयं।

रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिवसू परिवज्जाए॥३॥

णो सवका रसमरसाउं, जीहाविसयमागयं।

रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिवसू परिवज्जाए॥४॥

णो सवका फासमवेदेउं, फासाविसयमागयं।

रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिवसू परिवज्जाए॥५॥

अर्थ - इन गाथाओं का सारांश यह है कि - पांच इन्द्रियों के सामने शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श आने पर श्रोत्रेन्द्रिय आदि इन्द्रियों द्वारा उनका ग्रहण न हो, यह तो संभव नहीं है किन्तु उसमें विकार को प्राप्त नहीं होना अर्थात् राग द्वेष नहीं करना यह मुनिजन आदि ज्ञानी पुरुषों का कर्तव्य है इससे उनको कर्म बंध नहीं होगा क्योंकि राग द्वेष करने से कर्म बंध होता है।

पाँचों परिपूर्ण इन्द्रियों का मिलना महान् पुण्यवाणी का उदय है। इनको नष्ट भ्रष्ट कर देना उचित नहीं है। यह अज्ञानता है। इनके विषय में राग द्वेष करने रूप विकार को प्राप्त नहीं होना, यह इन्द्रिय निग्रह का वास्तविक अर्थ है और यही इनका सदुपयोग है।

६७ क्रोध-विजय

कोह-विजएणं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! क्रोध विजय - क्रोध को जीतने से जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है?

कोह-विजएणं खंतिं जणयइ, कोहवेयणिज्जं कम्मं ण बंधइ, पुव्वबद्धं च णिज्जरेइ ॥६७॥

कठिन शब्दार्थ - कोहविजएणं - क्रोध-विजय से, खंतिं - क्षमा की, कोहवेयणिज्जं कम्मं - क्रोध वेदनीय कर्मों का।

भावार्थ - उत्तर - क्रोध विजय - क्रोध को जीतने से जीव को क्षान्ति - क्षमा गुण की प्राप्ति होती है और क्षमागुण युक्त जीव, क्रोध वेदनीय (क्रोधजन्य) क्रोध करके वेदने योग्य अर्थात् भोगने योग्य कर्मों का बन्ध नहीं करता है और पहले बंधे हुए कर्मों की निर्जरा कर देता है।

६८. मान-विजय

माण-विजएणं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! मान विजय - मान को जीतने से जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है?

माण-विजएणं महवं जणयइ, माणवेयणिज्जं कम्मं ण बंधइ, पुव्वबद्धं च णिज्जरेइ ॥६८॥

कठिन शब्दार्थ - माणविजएणं - मान विजय से, महवं - मार्दव-मृदुता, माणवेयणिज्जं कम्मं - मान वेदनीय कर्मों का।

भावार्थ - उत्तर - मान विजय - मान को जीतने से मार्दव-मृदुता (स्वभाव की कोमलता) गुण की प्राप्ति होती है और मृदुता गुण युक्त जीव के मान वेदनीय (भोगने योग्य) कर्मों का बंध नहीं होता है और पहले बंधे हुए मानजनित कर्मों की निर्जरा कर देता है।

६९. माया-विजय

माया-विजयणं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! माया विजय - माया को जीतने से जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है?

माया-विजयणं अज्जवं जणयइ, माया-वेयणिज्जं कम्मं ण बंधइ, पुव्वबद्धं च णिज्जरेइ ॥६९॥

कठिन शब्दार्थ - माया-विजयणं - माया विजय से, अज्जवं - आर्जव, माया-वेयणिज्जकम्मं - माया वेदनीय कर्म का।

भावार्थ - उत्तर - माया विजय - माया को जीतने से आर्जव (सरलता) गुण की प्राप्ति होती है और सरलता को प्राप्त हुआ जीव माया वेदनीय - माया के द्वारा भोगने योग्य कर्मों का बन्ध नहीं करता और पहले बंधे हुए कर्मों की निर्जरा कर देता है।

७०. लोभ-विजय

लोभ-विजयणं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! लोभविजय - लोभ को जीतने से जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है?

लोभ-विजयणं संतोसं जणयइ, लोभ-वेयणिज्जं कम्मं ण बंधइ, पुव्वबद्धं च णिज्जरेइ ॥७०॥

कठिन शब्दार्थ - लोभ-विजयणं - लोभ-विजय से, संतोसं - संतोष की, लोभ-वेयणिज्जं कम्मं - लोभ वेदनीय कर्मों का।

भावार्थ - उत्तर - लोभविजय - लोभ को जीतने से सन्तोष गुण की प्राप्ति होती है और सन्तोषी जीव लोभ-वेदनीय - लोभ के द्वारा भोगने योग्य कर्मों का बन्ध नहीं करता और पहले बन्धे हुए लोभजन्य कर्मों की निर्जरा कर देता है।

विवेचन - क्रोध, मान, माया और लोभ, ये चार कषाय हैं। क्रोध मोहनीय, मान मोहनीय, माया मोहनीय और लोभ मोहनीय के उदय से होने वाला जीव का परिणाम-विशेष क्रमशः क्रोध, मान, माया और लोभ है। क्रोधादि कषायों के परिणाम अत्यंत भयंकर, दुःखद

और पश्चात्तापजनक होते हैं। इस प्रकार का निरन्तर विचार करने जीव इन कषायों पर विजय प्राप्त कर लेता है।

क्रोध पर विजय करने से क्षमा, मान पर विजय करने से नम्रता, माया पर विजय करने से सरलता तथा लोभ पर विजय करने संतोष गुण की प्राप्ति होती है। क्षमा के कारण क्रोध के उदय से बंधने वाले क्रोध मोहनीय (क्रोध करने से अवश्य भोगने योग्य कर्माणुओं का आत्मा के साथ संबंध-क्रोध वेदनीय) का बंध नहीं होता तथा पूर्व में बंधे हुए कर्मों का भी क्षय हो जाता है। क्षमा की तरह ही नम्रता, सरलता और संतोष का फल क्रमशः मान वेदनीय, माया वेदनीय, लोभ वेदनीय का बंध नहीं होना और पूर्वबद्ध का निर्जरित होना समझना चाहिये।

७९. प्रेय-द्वेष मिथ्यादर्शन विजय

पिज्ज-दोस-मिच्छादंसण-विजएणं भंते! जीवे किं जणयइ?

भावार्थ - प्रश्न - हे भगवन्! प्रेय्य (प्रेम) द्वेष-मिथ्या-दर्शन विजय - राग-द्वेष और मिथ्यादर्शन के विजय से जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है?

पिज्ज-दोस-मिच्छा-दंसण-विजएणं णाणदंसण-चरित्ताराहणयाए अब्भुट्ठेइ, अट्ठविहस्स कम्मस्स कम्मगंठिविमोयणयाए तप्पढमयाए जहाणुपुव्विं अट्ठवीसइविहं मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ, पंचविहं णाणावरणिज्जं, णवविहं दंसणावरणिज्जं, पंचविहं अंतरायं एए तिण्णि वि कम्मसे जुगवं खवेइ तओ पच्छा अणुत्तरं अणंतं कसिणं पडिपुण्णं णिरावरणं वितिमिरं विसुद्धं लोगालोगप्पभावं केवलवर-णाणदंसणं समुप्पाडेइ, जाव सजोगी हवइ ताव ईरियावहियं कम्मं णिबंधइ सुहफरिसं दुसमयट्ठिइयं, तंजहा - पढमसमए बद्धं बिइयसमए वेइयं तइयसमए णिज्जिण्णं, तं बद्धं पुट्ठं उदीरियं वेइयं णिज्जिण्णं, सेयाले य अकम्मं यावि भवइ ॥७९॥

कठिन शब्दार्थ - पिज्ज-दोस-मिच्छा-दंसण-विजएणं - प्रेय्य (प्रेम-राग) और द्वेष तथा मिथ्यादर्शन के विजय से, णाणदंसण-चरित्ताराहणया - ज्ञान दर्शन और चारित्र की आराधना के लिए, अब्भुट्ठेइ - उद्यत होता है, अट्ठविहस्स कम्मस्स - आठ प्रकार के कर्मों की, कम्मगंठि-विमोयणयाए - कर्मग्रंथी को (विमोचन) खोलने के लिए, तप्पढमयाए -

उनमें से सर्वप्रथम, जहाणुपुब्बिं - अनुक्रम से, अट्टावीसइविहं - अट्टाईस प्रकार के, मोहणिज्जं कम्मं - मोहनीय कर्म का, उग्घाएइ - घात (क्षय) करता है, पंचविहं णाणावरणिज्जं - पांच प्रकार के ज्ञानावरणीय कर्म का, णवविहं दंसणावरणिज्जं - नौ प्रकार के दर्शनावरणीय, पंचविहं अंतरायं- पांच प्रकार के अंतराय कर्म, कम्मंसे - कर्मांश-कर्मों का, जुगवं - युगपत्-एक साथ, खवेइ- क्षय कर डालता है, अणुत्तरं - अनुत्तर (प्रधान), अणंतं - अनन्त, कसिणं - सम्पूर्ण, पडिपुण्णं - परिपूर्ण, णिरावरणं - निरावरण-आवरण रहित, वित्तिमिरं - अन्धकार रहित, विसुद्धं - विशुद्ध, लोपालोक्कप्पभावं - लोक और अलोक का प्रकाशक, केवल - सहाय रहित, वरणाणदंसणं - श्रेष्ठ ज्ञान और दर्शन को, समुप्पाडेइ - प्राप्त कर लेता है, सजोगी - सयोगी, ईरियावहियं - ईर्यापथिक, कम्मं - कर्मक्रिया का, णिबंधइ - बंध करता है, सुहफरिसं - स्पर्श सुखरूप, दुसमयट्टिइयं - दो समय की स्थिति, पढमसमए बद्धं - प्रथम समय में बंध, बिइयसमय वेइयं - द्वितीय समय में वेदन, तइयसमए णिज्जिण्णं- तृतीय समय में निर्जीर्ण, पुट्टं - स्पर्श, उदीरियं - उदीरित-उदय, सेचाले - आगामीकाल में, अकम्मं- अकर्म - कर्म रहित।

भावार्थ - उत्तर - प्रेय्य (प्रेम-राग) द्वेष मिथ्यादर्शनविजय - राग-द्वेष और मिथ्यादर्शन के विजय से जीव सब से पहले ज्ञान-दर्शन और चारित्र की आराधना के लिए उद्यत होता है और बाद में अट्टाईस प्रकार के मोहनीय कर्म का यथानुपूर्वी - यथाक्रम से क्षय करता है। इसके बाद पाँच प्रकार के ज्ञानावरणीय, नौ प्रकार के दर्शनावरणीय, पाँच प्रकार के अन्तराय, इन तीनों कर्मांश-कर्मों को एक साथ क्षय करता है इसके बाद अनुत्तर अनन्त कृत्स्न - सम्पूर्ण प्रतिपूर्ण निरावरण-आवरण रहित अन्धकार रहित विशुद्ध लोकालोकप्रभावक - लोकालोक को प्रकाशित करने वाले केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त करता है। जब तक सयोगी रहता है तब तक ईर्यापथिक क्रिया का बन्ध होता है, किन्तु इसका विपाक अति सुखकर होता है और स्थिति केवल दो समय की होती है उसका प्रथम समय में बन्ध होता है, दूसरे समय में उदय होकर वेदा जाता है और तीसरे समय में निर्जीर्ण अर्थात् क्षय हो जाता है। इस प्रकार प्रथम समय में बन्ध और स्पर्श, दूसरे समय में उदीरित-उदय और वैदित-वेदन और तीसरे समय में निर्जीर्ण-निर्जरा हो कर आगामी काल अर्थात् चौथे समय में जीव सर्वथा कर्म-रहित हो जाता है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में रागद्वेष और मिथ्यादर्शन पर विजय का फल बतलाया गया है। इन पर विजय पाने वाला जीव रत्नत्रयी की आराधना में सतत तत्पर रहता हुआ सर्वप्रथम मोहनीय

कर्म की २८ प्रकृतियों का क्षय करता है तत्पश्चात् ज्ञानावरणीय की ५, दर्शनावरणीय की ६ और अंतराय की ५ प्रकृतियों का क्षय करके केवलज्ञान केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है।

७२. योग निरोध

अहाउयं पालइत्ता अंतोमुहुत्तद्वावसेसाए जोगणिरोहं करेमाणे सुहुमकिरियं अप्पडिवाइं सुक्कज्झाणं ज्ञायमाणे तप्पढमयाए मणजोगं णिरुंभइ मणजोगं णिरुंभित्ता वयजोगं णिरुंभइ वयजोगं णिरुंभित्ता कायजोगं णिरुंभइ कायजोगं णिरुंभित्ता आणापाणणिरोहं करेइ, आणापाणणिरोहं करित्ता, ईसिपंचहस्सक्खरुच्चारणद्धाए य णं अणगारे समुच्छिण्णकिरियं अणियट्टिसुक्कज्झाणं ज्ञियायमाणे वेयणिज्जं आउयं णामं गोयं च एए चत्तारि कम्मंसे जुगवं खवेइ ॥७२॥

कठिन शब्दार्थ - अह - अथ, आउयं - शेष आयु को, पालइत्ता - भोग कर, अंतोमुहुत्तद्वावसेसाए - अंतर्मुहूर्तकाल परिमित आयु शेष रहने पर, जोगणिरोहं - योगनिरोध, करेमाणे - करता हुआ, सुहुमकिरियं अप्पडिवाइं - सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती, सुक्कज्झाणं - शुक्लध्यान को, ज्ञायमाणे - ध्याता हुआ, तप्पढमयाए - सर्वप्रथम, मणजोगं - मनोयोग का, णिरुंभइ - निरोध करता है, वइजोगं - वचन योग का, आणापाणणिरोहं - आनापान-श्वासोच्छ्वास का निरोध, ईसि - ईषत्-स्वल्प (मध्यम गति से), पंचहस्सक्खरुच्चारणद्धाए - पांच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण जितने काल में, समुच्छिण्णकिरियं अणियट्टिसुक्कज्झाणं - समुच्छिन्न क्रिया अनिवृत्ति नामक शुक्लध्यान को।

भावार्थ - केवलज्ञान के बाद अपनी अवशिष्ट आयु को भोग कर जब आयु का अन्तर्मुहूर्त काल शेष रह जाता है तब जीव योगों का निरोध करने के लिए सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाति नामक शुक्लध्यान के तीसरे पाद का ध्यान करता हुआ सब से पहले मन-योग का निरोध करता है मन-योग का निरोध कर के वचन-योग का निरोध करता है, वचनयोग का निरोध करके काय-योग का निरोध करता है काययोग का निरोध करके आनापाननिरोध - श्वासोच्छ्वास का निरोध करता है, श्वासोच्छ्वास का निरोध करके 'अ, इ, उ, ऋ, लृ' इन पाँच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण में जितना समय लगता है उतने समय तक वह अनगार (अयोगी

केवली) समुच्छिन्न क्रिया अनिवृत्ति नामक शुक्लध्यान के चतुर्थपाद का ध्यान करता हुआ वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र इन चार कर्मों का एक साथ क्षय कर देता है।

विवेचन - उपर्युक्त मूल पाठ में 'समुच्छिण्णकिरियं अणियट्टि' शब्द आया है। जिसका अर्थ - टीकाकार ने भी बिना किसी मतान्तर के 'शुक्ल ध्यान का चौथा भेद' किया है। इस पाठ से एवं बोल क्रमांक ४९ में आये हुए 'अणियट्टि' शब्द से यह स्पष्ट होता है कि पहले-शुक्ल ध्यान के चार भेदों में से चौथे भेद का नाम उपर्युक्त प्रकार से ही रहा था। बाद में कभी 'अनिवृत्ति' शब्द के स्थान पर 'अप्रतिपाति' शब्द हो गया ऐसी संभावना लगती है। 'अनिवृत्ति' और 'अप्रतिपाति' शब्द लगभग समान अर्थ वाले होने से तीसरे और चौथे भेद में दोनों में से कोई भी शब्द कभी एक दूसरे के स्थान पर प्रयुक्त हो गया हो, ऐसी संभावना लगती है। योग-निरोध की प्रक्रिया का क्रम इस प्रकार समझना चाहिए-

उत्तराध्ययन (अ० २६ बोल ७२ वां) औपपातिक सूत्र, प्रज्ञापना सूत्र (पद ३६ वां) में योग-निरोध की विधि-मन, वचन, काया के क्रम से दी है। वहाँ पर बादर-सूक्ष्म भेद भी नहीं किए हैं। उत्तराध्ययन सूत्र को छोड़कर शेष आगमों में श्वासोच्छ्वास को 'काययोग' में ही ग्रहण कर लिया है। आगमों में तो योग-निरोध की यही संक्षिप्त विधि मिलती है। आगम पाठों का अनुगमन करते हुए 'विशेषावश्यक एवं हारिभद्रीयावश्यक' में भी बादर सूक्ष्म भेद नहीं करते हुए ही योग-निरोध की विधि बताते हैं। इसीलिए इनमें एक योग का पूर्ण निरोध करने के बाद ही दूसरे-योग निरोध में प्रवृत्त होता है, ऐसा बताया है। प्रज्ञापना टीका (पद ३६) में भी यही शाब्दिक अर्थ किया है। किन्तु इसे मन्दबुद्धि वालों के सुखावबोधार्थ आचार्यों (आगमकारों) ने यह सब स्थूल दृष्टि से प्रतिपादन किया है। ऐसी टिप्पणी की है।

उत्तराध्ययन सूत्र (अ० २६) में - काययोग के बाद 'श्वासोच्छ्वास निरोध' बताया है। (उत्तराध्ययन की चूर्णि में तो योग निरोध सम्बन्धी पाठ मिलता ही नहीं है। ऐसा - पुण्यविजय जी सम्पादित उत्तराध्ययन में बताया है।) औपपातिक सूत्र एवं प्रज्ञापना सूत्र में (विशेषावश्यक भाष्य में) श्वासोच्छ्वास को काययोग के अन्तर्गत मान लेने से उसका अलग उल्लेख नहीं किया है। शेष ग्रन्थों (आवश्यक चूर्णि, कषाय प्राभृत आदि) में प्रायः काययोग के पहले श्वासोच्छ्वास का निरोध बताया है।

योगों को निरोध करने का आशय इस प्रकार समझना चाहिये कि योगों को उत्पन्न करने वाली शक्ति का निरोध करना। यहाँ पर कारण में कार्य का उपचार किया गया है। पहले बादर

योगों को उत्पन्न करने वाली शक्ति का निरोध किया जाता है, फिर सूक्ष्म योगों की उत्पादक शक्ति को रोका जाता है। ऐसा 'खवगसेढी' ग्रंथ में 'शंका-समाधान' के रूप में करके बताया गया है।

७३. अकर्मता

तओ ओरालियतेयकम्माइं च सव्वाहिं विप्पजहणाहिं विप्पजहिता उज्जुसेढिपत्ते अफुसमाणगई उड्डं एगसमएणं अविग्गहेणं तत्थ गंता सागारोवउत्ते सिज्झइ बुज्झइ मुच्चइ परिणिव्वायइ सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ॥७३॥

कठिन शब्दार्थ - ओरालियतेयकम्माइं - औदारिक, तैजस और कार्मण शरीर को, विप्पजहणाहिं - सर्वथा छोड़ने योग्य, उज्जुसेढीपत्ते - ऋजुश्रेणी को प्राप्त, एगसमएणं - एक समय में, अफुसमाणगई - अस्पृशद्गति रूप, उड्डं - ऊंची, अविग्गहेणं - अविग्रह गति से, तत्थ - वहाँ, गंता - जाकर, सागारोवउत्ते - साकारोपयुक्त।

भावार्थ - वेदनीयादि चार अघाती कर्मों का क्षय कर देने के बाद औदारिक, तैजस् और कार्मण इन सभी शरीरों को सभी प्रकार की सर्वथा छोड़ने योग्य सब विधि पूर्वक छोड़ कर ऋजुश्रेणी को प्राप्त हुआ अस्पर्शमानगति (जितने आकाश प्रदेशों में जीव रहा हुआ है उनके अतिरिक्त अन्य आकाश प्रदेशों को स्पर्श न करता हुआ) जीव एक समय वाली ऊँची अविग्रह गति से वहाँ मोक्ष में चला जाता है और वहाँ जा कर सिद्ध हो जाता है, बुद्ध हो जाता है, समस्त कर्मों से मुक्त हो जाता है। सब प्रकार की कर्माग्नि को सर्वथा बुझा कर शान्त हो जाता है। सभी दुःखों का अंत कर देता है।

विवेचन - ऊपर गाथा में बताया गया है कि जीव ऊर्ध्वलोक में लोकान्त में जाकर सिद्ध हो जाता है। यहाँ प्रश्न होता है कि जीव लोकान्त तक कैसे जाता है?

उत्तर - लोक का अन्तिम भाग जहाँ से अलोकाकाश का प्रारम्भ होता है। लोक के उस अंतिम भाग के स्थान का नाम सिद्धिगति या सिद्धालय है। इस स्थान पर जीव ऊर्ध्वगति से गमन करता हुआ बिना मोड़ लिये सरल सीधी रेखा में गमन करता हुआ अपने देह त्याग के स्थान से एक समय मात्र में सिद्ध शिला से भी ऊपर पहुँच कर अवस्थित हो जाता है। जीव की वह सर्व कर्म विमुक्त दशा सिद्ध अवस्था अथवा सिद्धि गति कहलाती है।

सब कर्मों का बन्धन टूटते ही जीव में चार बातें घटित होती हैं - १. औपशमिक आदि

भावों का क्षय होना २. शरीर का छूट जाना ३. मात्र एक समय में सिद्ध शिला से ऊपर तक ऊर्ध्व गति से गमन ४. लोकान्त में अवस्थिति ।

प्रश्न - मुक्त जीव ऊर्ध्व दिशा में ही गमन क्यों करता है? तथा उस गमन क्रिया के कारण क्या है?

उत्तर - जीव के ऊर्ध्व दिशा में गति करने के कारण ये हैं -

१. पूर्व प्रयोग - 'पूर्व' यानी पहले के प्रयोग से। प्रयोग का यहां अर्थ है 'आवेग'। जिस प्रकार कुम्हार का चाक (पहिया या चक्र) दण्ड को हटा देने के बाद भी कुछ देर तक स्वयं ही घूमता रहता है। उसी प्रकार मुक्त जीव भी पहले के बन्धे हुए कर्मों के छूट जाने के बाद भी उनके निमित्त से प्राप्त आवेग के द्वारा गति करता है। जैसे कुम्हार का चाक।

२. संग्रहितता - जीव की स्वाभाविक गति ऊर्ध्व है किन्तु कर्मों के संघ (सम्बन्ध) के कारण उसे नीची अथवा तिरछी गति भी करनी पड़ती है। कर्मों का संग तथा सम्बन्ध टूटते ही वह अपनी स्वाभाविक ऊर्ध्व गति से गमन करता है।

३. बन्धन का टूटना - संसारी अवस्था में जीव कर्मों के बन्धन से बन्धा रहता है। उस बन्धन के टूटते ही जीव अपनी स्वाभाविक ऊर्ध्व गति से गमन करता है।

४. तथागति परिणाम - जीव की स्वाभाविक गति ऊर्ध्व ही है अर्थात् ऊर्ध्व गमन जीव का स्वभाव ही है।

जीव के ऊर्ध्व गमन स्वभाव को समझाने के लिए ज्ञाता सूत्र के सातवें अध्ययन में तुम्बे का दृष्टान्त दिया गया है। जिस प्रकार सूखे तुम्बे पर डोरी लपेट कर और उस पर आठ बार मिट्टी का लेप कर उसे गहरे पानी में छोड़ दिया जाय तो वह भारी होने के कारण पानी के तल में पहुँच जाता है किन्तु ज्यों-ज्यों मिट्टी का लेप गलता जाता है त्यों-त्यों वह तुम्बा हलका होकर ऊपर उठने लगता है। सब लेप गल जाने पर वह सीधा उठ कर पानी की सतह पर आ जाता है इसी प्रकार कर्मों से मुक्त आत्मा भी कर्मबन्ध के टूटते ही ऊर्ध्वगमन करता है।

दूसरा दृष्टान्त अग्निशिखा का दिया जाता है - अग्निशिखा का स्वभाव ऊर्ध्व गमन है। उसी प्रकार मुक्त आत्मा का स्वभाव भी ऊर्ध्व गमन है।

तीसरा दृष्टान्त एरण्ड के बीज का दिया जाता है। जैसे ही एरण्ड के बीज पर लगा हुआ फल का आवरण सूखने पर फट जाता है तो बीज तुरन्त ही उछल कर ऊपर को जाता है उसी प्रकार कर्म मुक्त आत्मा भी ऊपर की ओर जाती है।

प्रश्न - यदि मुक्त आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्व गमन का है तो वह लोकान्त पर जाकर ही क्यों रुक जाता है? आगे अलोक में गमन क्यों नहीं करता?

उत्तर - ठाणाङ्ग सूत्र के चौथे ठाणे में बतलाया है कि चार कारणों से जीव और पुद्गल लोक के बाहर नहीं जा सकते हैं।

१. आगे गति का अभाव होने से।
२. उपग्रह (धर्मास्तिकाय) का अभाव होने से।
३. लोक के अन्त में परमाणु का अत्यंत रूक्ष हो जाने से।
४. और अनादि काल का स्वभाव होने से।

इस प्रकार इन चार कारणों से मुक्त जीव अलोक में नहीं जा सकता इसलिए लोकान्त में जाकर सिद्ध स्थान में ही ठहर जाता है।

प्रश्न - जब जीव का स्वभाव ऊर्ध्वगमन का है तो फिर नीचा और तिरछा क्यों जाता है?

उत्तर - जीव का स्वभाव तो ऊर्ध्वगमन का ही। किन्तु कर्म उदय सहित जीव जब चारों गति में से किसी एक गति में जाता है तब आनुपूर्वी नाम कर्म के उदय के वश जीव नीचा और तिरछा जाता है।

प्रश्न - आनुपूर्वी नाम कर्म किसको कहते हैं?

उत्तर - जिस प्रकार ऊंट या बैल सीधी सड़क से जाता है। किन्तु जब उसका मालिक अपने खेत आदि में ले जाता है तब ऊंट की नकेल और बैल की नाथ को खींच कर अपने इष्ट स्थान खेत आदि पर ले जाता है इसी प्रकार जीव जब एक भव का आयुष्य पूरा कर दूसरे भव में जाता है तब आनुपूर्वी नाम कर्म का उदय होता है। वह उस जीव को खींच कर उस स्थान पर ले जाता है जहाँ का आयुष्य बांध रखा है। यह जीव की परवशता है।

प्रश्न - आनुपूर्वी नाम कर्म के कितने भेद हैं और वह कब उदय में आता है?

उत्तर - आनुपूर्वी नाम कर्म का उदय तब होता है जब जीव नया जन्म लेने के लिए विग्रह गति (मोड़ वाली गति) द्वारा अपने नये जन्म स्थान पर जाता है। इस कर्म का उदय विग्रह गति में ही होता है। अतः इसका अधिक से अधिक उदय काल तीन या चार समय मात्र का है। इसके चार भेद हैं। नरकानुपूर्वी, तिर्यचानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी और देवानुपूर्वी। अपने आयुष्य बांध के अनुसार जीव को ये आनुपूर्वियाँ उस उस गति में ले जाती हैं। इसलिए जीव की नीची और तिरछी गति होती है।

इस कर्म का उदय तब ही होता है जब जीव को नया जन्म लेने के लिए विषम श्रेणी में रहे हुए जन्म स्थान के विग्रह गति - मोड़ वाली गति से गमन करना पड़ता है। समश्रेणि से गमन करते समय आनुपूर्वी नाम कर्म उदय की आवश्यकता ही नहीं है। यह सत्ता में पड़ा रहता है।

प्रश्न - उपयोग कितने हैं और केवली में कितने उपयोग पाये जाते हैं?

उत्तर - उपयोग बारह हैं यथा - ५ ज्ञान, ३ अज्ञान, ४ दर्शन। इनमें से ५ ज्ञान, ३ अज्ञान को साकारोपयोग - विशेषोपयोग कहते हैं। चार दर्शन को अनाकार उपयोग या दर्शनोपयोग - सामान्य उपयोग कहते हैं। इनमें से केवली भगवान् में दो उपयोग पाये जाते हैं अर्थात् केवलज्ञान और केवलदर्शन। यहाँ पर 'सागारोवउत्ते सिज्झइ' पाठ से यह स्पष्ट होता है कि केवली भगवान् के साकारोपयोग (केवलज्ञान) और अनाकारोपयोग (केवलदर्शन) क्रमशः प्रयुक्त होते हैं। आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण भी इसी बात की पुष्टि करते हैं। सन्मति तर्क सरीखे महान् ग्रन्थ के रचयिता महान् तार्किक सिद्धसेन दिवाकर की मान्यता है कि - केवली भगवान् के साकारोपयोग और अनाकारोपयोग - केवलज्ञान, केवलदर्शन दोनों एक साथ प्रयुक्त होते हैं। उनकी तर्क यह है कि - ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय दोनों कर्मों का क्षय एक साथ हो चुका है। अतः उनके क्षय से प्रगट होने वाले केवलज्ञान और केवलदर्शन का प्रयोग भी एक साथ ही होता है।

जीवों के उपयोग का स्वभाव ही ऐसा है कि वह क्रमशः ही होता है। प्रत्येक वस्तु में दो गुणधर्म होते हैं - सामान्य और विशेष। दोनों गुणधर्म क्रम पूर्वक होने पर भी वस्तु में हर समय दो गुणधर्म ही कहे जाते हैं। जैसे - एक पैर को उठाकर एवं दूसरे को नीचे रख कर चलने पर भी दो पांवों से चलना कहा जाता है - वैसे ही यहाँ पर भी केवलज्ञान, केवलदर्शन रूप आत्मा के विशेष एवं सामान्य गुण धर्म साथ में उत्पन्न होने पर भी उनकी प्रवृत्ति क्रमशः होती है। प्रथम समय में केवलज्ञान, दूसरे समय में केवलदर्शन का उपयोग होता है। निष्कर्ष यह है कि तर्क से भी आगम सर्वोपरि है। अतः आगमपक्ष के अनुसार केवलज्ञान केवलदर्शन का प्रयोग क्रमशः ही मानना चाहिये।

उपर्युक्त मूल पाठ में आए हुए 'अफुसमाणगई' शब्द का अर्थ इस प्रकार भी किया जाता है कि - 'एक ही समय में गंतव्य स्थल तक पहुँच जाने से बीच के आकाश प्रदेशों में नहीं रुकते हुए गति करना।' रुकने में कुछ समय लगता है। अन्य (दूसरे) समय का स्पर्श नहीं करते हुए गति करना। आकाश प्रदेशों का स्पर्श होने पर भी उन आकाश प्रदेशों में बिना रुके

उसे अस्पर्शमानगति ही कहा जाता है। जैसे किसी व्यक्ति के द्वारा बीच में नहीं रुकने पर उसके लिए ऐसा कहा जाता है कि - इस व्यक्ति ने अमुक ग्राम या नगर का स्पर्श नहीं किया। उस ग्राम के मार्ग से निकलते हुए भी वहाँ नहीं करने से उसे स्पर्श नहीं माना जाता है।

‘अपनी अवगाहना जितने ही असंख्याता आकाश प्रदेशों का स्पर्श करते हुए आगे-आगे के आकाश प्रदेशों में जाने रूप गति करना अस्पर्शमान गति है।’ - ऐसा अर्थ विशेषावश्यक भाष्य आदि ग्रंथों में किया गया है।

उपसंहार

एस खलु सम्मत्तपरक्कमस्स अज्झयणस्स अट्ठे समणेणं भगवया महावीरेण
आघविए पण्णविए परूविए दंसिए णिदंसिए उवदंसिए॥७४॥ त्ति वेमि॥

कठिन शब्दार्थ -- सम्मत्तपरक्कमस्स - सम्यक्त्व पराक्रम नाम के, अज्झयणस्स - अध्ययन का, आघविए - आख्यायित-प्रतिपादित किया है, पण्णविए - प्रज्ञापित किया है, परूविए - प्ररूपित किया है, दंसिए - दिखलाया है, णिदंसिए - दृष्टान्तों के साथ वर्णित किया है, उवदंसिए - उपदेश दिया है।

भावार्थ - श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन् जम्बू! निश्चय ही इस सम्यक्त्व पराक्रम नाम के अध्ययन का यह अर्थ श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने सामान्य विशेष रूप से कहा है, प्रज्ञापित - विशेष रूप से इसका हेतु-फल आदि बताया है, प्ररूपित - स्वरूप का वर्णन किया है, दर्शित - अनेक भेदों का दिग्दर्शन कराया है, निदर्शित - दृष्टान्त द्वारा समझाया है, उपदर्शित - उपसंहार द्वारा बताया है। ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ इति सम्यक्त्व पराक्रम नामक उन्तीसवां अध्ययन समाप्त ॥

तवमग्गं णामं तीसइमं अज्झयणं

तपोमार्गं नामक तीसवाँ अध्ययन

सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र की तरह सम्यक्तप को भी उत्तराध्ययन सूत्र के २८वें अध्ययन में मोक्ष प्राप्ति का उपाय बतलाया गया है। प्रस्तुत अध्ययन में तप के बारह भेदों का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसकी प्रथम गाथा इस प्रकार है -

तप का प्रयोजन

जहा उ पावगं कम्मं, राग-दोस समज्जियं।

खवेइ तवसा भिक्खू, तमेगगमणो सुण॥१॥

कठिन शब्दार्थ - पावगं कम्मं - पापकर्म को, राग-दोस समज्जियं - रागद्वेष समर्जित-रागद्वेष से उपार्जित किये हुए, खवेइ - क्षय कर देता है, तवसा - तप से, तं - उसे, एगगमणो - एकाग्रचित्त होकर, सुण - सुनो।

भावार्थ - राग-द्वेष से उपार्जित हुए पाप कर्म को साधु जिस प्रकार तप के द्वारा क्षय कर देता है, उसे एकाग्र चित्त से सुनो।

विवेचन - प्रस्तुत गाथा में तपश्चर्या का प्रयोजन बताते हुए कहा गया है कि जितने भी पापकर्म हैं उनके बंध के मुख्य कारण रागद्वेष हैं। रागद्वेष से संचित किये हुए पाप कर्मों का क्षय तप के द्वारा होता है।

पाणिवह-मुसावाया, अदत्तमेहुण-परिगहाविरओ।

राइभोयण-विरओ, जीवो हवइ अणासवो॥२॥

कठिन शब्दार्थ - पाणिवह - प्राणिवध-हिंसा, मुसावाया - मृषावाद, अदत्त - अदत्तादान, मेहुण - मैथुन, परिगहा - परिग्रह, विरओ - विरत, राइभोयण-विरओ - रात्रि भोजन से विरत, अणासवो - अनास्रव - आस्रव रहित।

भावार्थ - प्राणिवध - जीवहिंसा, मृषावाद - झूठ बोलना, अदत्तादान - बिना दी हुई वस्तु लेना, मैथुन - कुशील सेवन, परिग्रह-धन धान्यादि का ममत्व, इन पांच पापों से एवं रात्रिभोजन से विरत (निवृत्त) हुआ जीव आस्रव रहित होता है।

पंचसमिओ तिगुत्तो, अकसाओ जिइंदिओ।

अगारवो य णिस्सलो, जीवो होइ अणासवो ॥३॥

कठिन शब्दार्थ - पंचसमिओ - पांच समितियों से समित, तिगुत्तो - तीन गुप्तियों से गुप्त, अकसाओ - कषाय रहित, जिइंदिओ - जितेन्द्रिय, अगारवो - गौरव (गर्व) से रहित, णिस्सलो - निःशल्य - शल्य रहित।

भावार्थ - पाँच समिति से युक्त, तीन गुप्ति से युक्त कषाय-रहित, जितेन्द्रिय, तीन गारव-रहित और निःशल्य - तीन शल्य-रहित जीव आस्रव-रहित होता है।

विवेचन - तप से पूर्वकृत पाप कर्मों का क्षय करने से पहले पूर्वोक्त साधना से अनास्रव-आस्रव रहित होना आवश्यक है।

कर्मों को क्षय करने की विधि

एसिं तु विवच्चासे, रागदोस-समज्जियं।

खवेइ उ जहा भिक्खू, तमेगगमणो सुण ॥४॥

कठिन शब्दार्थ - एसिं - इन से, विवच्चासे - विपर्यास-विपरीत होने पर।

भावार्थ - ये गुण जो ऊपर बतलाये हैं उनसे विपर्यास - विपरीत होने पर (गुणों के अभाव में) राग-द्वेष से सञ्चित किये हुए कर्मों को जिस प्रकार भिक्षु - साधु क्षय कर देता है उस विधि को एकाग्र चित्त होकर सुनो।

जहा महातलायस्स, सण्णिरुद्धे जलागमे।

उस्सिंचणाए तवणाए, कमेणं सोसणा भवे ॥५॥

एवं तु संजयस्सावि, पावकम्म-णिरासवे।

भवकोडीसंचियं कम्मं, तवसा णिज्जरिज्जइ ॥६॥

कठिन शब्दार्थ - महातलायस्स - किसी बड़े तालाब के, सण्णिरुद्धे - रोक देने पर, जलागमे - जल के आने के मार्ग को, उस्सिंचणाए - उलीचने से, तवणाए - तप से, कमेणं - क्रमशः, सोसणा भवे - सूख जाता है, संजयस्सावि - संयमी साधु के भी, पावकम्मणिरासवे - पाप कर्मों के आस्रव को रोक देने पर, भवकोडीसंचियं - भवकोटिसंचित-करोड़ों भवों के संचित, णिज्जरिज्जइ - क्षय हो जाते हैं।

भावार्थ - जिस प्रकार किसी बड़े तालाब के जल आने के मार्गों को रोक देने पर, उस तालाब का पानी बाहर निकाल देने पर तथा सूर्य के ताप द्वारा क्रम से धीरे-धीरे सूख जाता है इसी प्रकार संयमी साधुओं के भी नवीन पाप-कर्मों को रोक देने पर भवकोटिसंचित - करोड़ों भवों के सञ्चित कर्म तप के द्वारा क्षय हो जाते हैं।

विवेचन - उपरोक्त चौथी-पांचवीं-छठी गाथा में एक रूपक के द्वारा कर्मों का क्षय करने की विधि बतलाई गई है। आशय यह है कि साधक संयम से नवीन कर्मों के आगमन का निरोध और तप से पूर्व-संचित कर्मों का क्षय कर सकता है।

ठाणाङ्ग सूत्र के दसवें ठाणे में दस प्रकार का बल बतलाया गया है - १. स्पर्शनिन्द्रिय बल २. रसनेन्द्रिय बल ३. घ्राणेन्द्रिय बल ४. चक्षुरिन्द्रिय बल ५. श्रोत्रेन्द्रिय बल ६. ज्ञान बल ७. दर्शन बल ८. चारित्र बल ९. तप बल और १०. वीर्य बल।

इनमें से तपबल का महत्त्व बताते हुए नवांगी टीकाकार श्री अभयदेव सूरि ने टीका में लिखा है -

‘तपोबलं यद् अनेक भवार्जितं अनेक दुःख कारणं निकाचित कर्मग्रंथि क्षययति’

अर्थ - तपबल से तपस्वी महापुरुष अनेक भवों में उपार्जित किये हुए और अनेक दुःखों की कारणभूत निकाचित कर्मरूपी ग्रन्थि(गाँठ) को भी खपा देता है (क्षय कर देता है)। ध्यान आभ्यन्तर तप है, अतः ध्यान के द्वारा भी कर्म क्षय किये जाते हैं। जैसा कि - गजसुकुमालजी ने ध्यान रूपी तप के द्वारा थोड़े से समय में ही अनेक भवों के उपार्जित और निकाचित रूप में बंधे हुए कर्मों को क्षय कर दिया। अतः कहा गया है -

कर्मों के बहु भार से, दब गया चेतन राय।

ध्यान अग्नि संयोग से, क्षण एक में सिद्ध थाय॥

यही बात गाथा ६ में बताई गई है कि - करोड़ों भवों का उपार्जन किया हुआ पाप कर्म को तप के द्वारा **‘खणसि मुवके’** अल्प समय में ही क्षय कर देता है।

ग्रन्थों में बतलाया गया है कि - गजसुकुमाल के साथ सोमिल का निम्नयानवें लाख भव पहले का निकाचित बंधा हुआ कर्म था जो अब उदये में आया। गजसुकुमाल मुनि ने अचल और अडोल ध्यान रूपी तप के बल से अल्प समय में ही क्षय कर दिया। इसमें आश्चर्य जैसी कोई बात नहीं है क्योंकि यह तो लाखों भव सम्बन्धी बात है किन्तु शास्त्रकार तो फरमाते हैं कि - करोड़ों भव का पापकर्म भी तप के बल से अल्प समय में ही क्षय किया जा सकता है।

प्रश्न - निकाचित कर्म किसे कहते हैं?

उत्तर - बन्ध के चार भेद बतलाये गये हैं। यथा -

१. **बद्ध** - कर्म प्रायोग्य (कर्म दलिक अथवा कर्मवर्गणा) वर्गणाओं का एक स्थान पर इकट्ठा हो जाना, जैसे बिखरी हुई सूइयों का एक जगह एकत्रित हो जाना। इसी प्रकार कर्मवर्गणाओं का आत्मा के पास एकत्रित हो जाना बद्ध कहलाता है।

२. **स्पृष्ट** - आत्मा के पास एकत्रित हुए कर्मवर्गणों का आत्म-प्रदेशों के साथ चिपक जाना। जैसे कि - एकत्रित हुई सूइयों को धागे (सूतक डोरे) से बांध दिया जाना।

बद्ध स्पृष्ट - आत्म-प्रदेशों का कर्म पुद्गलों के साथ एकमेक हो जाना जैसे दूध व पानी मिल जाने पर एकमेक हो जाते हैं। अथवा सूइयों का मजबूती से बांध कर गट्टा बना देना बद्ध स्पृष्ट कहलाता है।

३. **निधत** - आत्म प्रदेशों का कर्म पुद्गलों के साथ अत्यन्त गाढ (गहरा) सम्बन्ध हो जाना। जैसे - उपरोक्त सूइयों के गट्टे को आग में तपा कर और ऊपर से हथौड़े से पीट कर एकमेक कर देना निधत कर्म कहलाता है।

४. **निकाचित** - जिस रूप में कर्मों का बंध हुआ है उनका फल उसी रूप में अनिवार्य रूप से भोगना निकाचित कर्म कहलाता है। निधत और निकाचित में इतना ही अन्तर है कि - निधत रूप से बंधे हुए कर्मों में उद्वर्तना (कर्मों की स्थिति और रस को बढ़ा देना) और अपवर्तना (बन्धे हुए कर्मों की स्थिति और रस को घटा देना) ये दो करण हो सकते हैं। किन्तु निकाचित बन्धे हुए कर्मों में उद्वर्तना, अपवर्तना, संक्रमण, उदीरणा आदि कोई भी करण नहीं हो सकता है। क्योंकि जिस प्रकार बांधा उसी प्रकार भोगना पड़ता है। इस कर्म को नियति भी कह सकते हैं।

तप के भेद

सो तवो दुविहो वुत्तो, बाहिरब्भंतरो तहा।

बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भंतरो तवो ॥७॥

कठिन शब्दार्थ- तवो - तप, दुविहो - दो प्रकार का, वुत्तो - कहा गया है, बाहिरो- बाह्य, अब्भंतरो - आभ्यंतर, छव्विहो - छह प्रकार का।

भावार्थ - सो वह तप बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का कहा गया है। बाह्य तप छह प्रकार का कहा गया है, इसी प्रकार आभ्यन्तर तप भी छह प्रकार का कहा गया है।

बाह्य तप के भेद

अणसणमूणोयरिया, भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ।

कायकिलेसो संलीणया, य बज्झो तवो होइ ॥८॥

कठिन शब्दार्थ - अणसणं - अनशन, ऊणोयरिया - ऊनोदरिका, भिक्खायरिया - भिक्षाचर्या, रसपरिच्चाओ - रस परित्याग, कायकिलेसो - कायक्लेश, संलीणया - संलीनता, बज्झो - बाह्य।

भावार्थ - अनशन, ऊनोदरिका-ऊनोदरी, भिक्षाचर्या, रसपरित्याग, कायक्लेश तथा संलीनता-प्रतिसंलीनता, ये बाह्य तप के छह भेद होते हैं।

अनशन तप के भेद-प्रभेद

इत्तरिय मरणकाला य, अणसणा दुविहा भवे।

इत्तरिय सावकंखा, णिरवकंखा उ विइज्जिया ॥९॥

कठिन शब्दार्थ - इत्तरिय - इत्वरिक, मरणकाला - मरणकाल, सावकंखा - आकांक्षा सहित, णिरवकंखा - आकांक्षा रहित, विइज्जिया - दूसरा।

भावार्थ - अनशन तप दो प्रकार का होता है, इनमें पहला इत्वरिक (थोड़े काल का) और दूसरा मरणकाल अर्थात् जीवन पर्यन्त। इत्वरिक तप आहार की आकांक्षा-सहित होता है और दूसरा मरणकालिक अनशन आहार की आकांक्षा-रहित होता है।

जो सो इत्तरिय तवो, सो समासेण छव्विहो।

सेदितवो पयर तवो, घणो य तह होइ वग्गो य ॥१०॥

तत्तो य वग्गवग्गो उ, पंचमो छट्ठओ पइण्णतवो।

मणइच्छियचित्तत्थो, णायव्वो होइ इत्तरिओ ॥११॥

कठिन शब्दार्थ - समासेण - संक्षेप से, सेदितवो - श्रेणी तप, पयर तवो - प्रतरतप, घणो - घन, वग्गो- वर्ग, वग्गवग्गो - वर्गवर्ग, पइण्णतवो - प्रकीर्ण तप, मणइच्छियचित्तत्थो- मनईप्सितचित्रार्थ - मनोवांछित विचित्र प्रकार के फल देने वाला।

भावार्थ - जो यह इत्वरिक तप है वह संक्षेप से छह प्रकार का है - १. श्रेणी तप २. प्रतर तप ३. घन तप ४. वर्ग तप। तत्पश्चात् पांचवाँ वर्गवर्ग तप और छठा प्रकीर्ण तप। यह तप अनेक प्रकार के मनवांछित फल (स्वर्गापवर्गादि फल) को देने वाला है ऐसा जानना चाहिए।

विवेचन - इत्वरिक तप के छह भेद हैं -

१. **श्रेणितप** - यहाँ श्रेणि का अर्थ पंक्ति है। यह तप उपवास से शुरू किया जाता है। प्रथम तीर्थंकर के समय इसकी मर्यादा उत्कृष्ट १ वर्ष की है। बीच के बाईस तीर्थंकर के समय आठ महीने का तथा अन्तिम तीर्थंकर के समय उत्कृष्ट छह महीने का होता है।

२. **प्रतर तप** - श्रेणि को श्रेणि से गुणा करने पर अर्थात् श्रेणि का वर्ग 'प्रतर तप' होता है। जैसे कि - उपवास, बेला, तेला, चोला ये चार पदों की श्रेणि है। इसको श्रेणि तप कहते हैं। इसकी स्थापना इस प्रकार है -

१	२	३	४
---	---	---	---

 इस प्रकार एक उपवास से लेकर छह महीने तक के दिनों की पंक्ति बनाकर तप करना श्रेणि तप कहलाता है। यहाँ चार पदात्मक तप की स्थापना बतलाई गयी है।

१	२	३	४
२	३	४	१
३	४	१	२
४	१	२	३

यह प्रतर तप कहलाता है।

३. **घन तप** - उपरोक्त सोलह को चार से गुणा करने पर ६४ पद होते हैं। इस प्रकार यह ६४ पदात्मक घन तप कहलाता है। अर्थात् १६ पद रूप प्रतर तप को चार पद रूप श्रेणि से गुणा करने पर घन तप होता है।

४. **वर्ग तप** - ६४ पद रूप घन तप को ६४ से गुणा करने पर गुणनफल ४०९६ (चार हजार छयानवें) होता है। यह वर्ग तप है।

५. **वर्ग-वर्ग तप** - ४०९६ को ४०९६ से गुणा करने पर १६७७७२१६ (एक करोड़ सड़सठ लाख सतहत्तर हजार दो सौ सोलह) होते हैं। यह वर्ग-वर्ग तप है।

इस प्रकार उपवास आदि चार पदों को लेकर यह श्रेणि तप आदि इत्वरिक तप कहलाता है। यह छह महीने तक का होता है।

६. **प्रकीर्णक तप** - श्रेणि तप आदि की नियत रचना के बिना एवं अपनी शक्ति के

अनुसार जो यथा कथञ्चित तप किया जाता है वह प्रकीर्णक तप कहा जाता है। श्रेणि तप आदि की रचना के बिना उपवास आदि तप यवमध्यचन्द्रप्रतिमा तथा वज्रमध्यचन्द्र प्रतिमा आदि तप ये सब प्रकीर्णक तप हैं। इस प्रकार अनशन विशेष रूप से इत्वरिक तप से जीव मनवाञ्छित मोक्ष रूपी फल को प्राप्त कर लेता है।

जा सा अणसणा मरणे, दुविहा सा वियाहिया।

सवियारमवियारा, कायचिट्ठं पई भवे॥१२॥

कठिन शब्दार्थ - सवियारं - सविचार, अवियारा - अविचार, कायचिट्ठं पई - कायचेष्टा की अपेक्षा।

भावार्थ - वह जो मरणकालिक अनशन है, वह दो प्रकार का कहा गया है। सविचार (कायचेष्टा सहित) और अविचार (कायचेष्टा रहित), ये भेद कायचेष्टा की अपेक्षा होते हैं।

अहवा सपरिकम्मा, अपरिकम्मा य आहिया।

णीहारिमणीहारी, आहारच्छेओ दोसु वि॥१३॥

कठिन शब्दार्थ - सपरिकम्मा - सपरिकर्म, अपरिकम्मा - अपरिकर्म, आहिया - कहे गये हैं, णीहारिं - नीहारी, अणीहारी - अनीहारी, आहारच्छेओ - आहार का त्याग।

भावार्थ - अथवा इसके प्रकारान्तर से दो भेद कहे गये हैं। यथा - सपरिकर्म (स्वयं, उठना, बैठना, करवट बदलना आदि तथा दूसरों से सेवा कराना) और अपरिकर्म (स्वयं हलन चलन न करना तथा दूसरों से सेवा न कराना) अथवा नीहारी और अनीहारी दोनों प्रकार के अनशनों में आहार का त्याग होता है।

विवेचन - ग्रामादि से बाहर किसी पर्वत की गुफा आदि में किया हुआ अनशन-मरण 'अनिहारी' कहलाता है और ग्रामनगरादि में किया हुआ अनशन मरण 'निहारी' कहलाता है। अनिहारी अथवा अनिहारिम का अर्थ है साधु के मृत कलेवर को जंगल आदि में बाहर नहीं ले जाना पड़े। निहारी अथवा निहारिम का अर्थ है कि - साधु के मृत शरीर को ग्रामादि से बाहर जंगल आदि में ले जाना पड़े।

ऊनोदरी तप

ओमोयरणं पंचहा, समासेण वियाहियं।

दव्वओ खेत्तकालेणं, भावेणं पज्जवेहि य॥१४॥

कठिन शब्दार्थ - ओमोद्यरणं - अवमौदर्य-ऊनोदरी, पंचहा - पांच प्रकार का, दब्बओ-द्रव्य से, खेत्तकालेणं - क्षेत्र से काल से, भाव्हेणं - भाव से, पञ्जवेहि - पर्यायों से।

भावार्थ - द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, भाव से और पर्यायों से अवमौदर्य-ऊनोदरी तप संक्षेप से पाँच प्रकार का कहा गया है।

जो जस्स उ आहारो, तत्तो ओमं तु जो करे।

जहण्णेणेगसिस्थाई, एवं दब्बेण उ भवे ॥१५॥

कठिन शब्दार्थ - ओमं - कम, जहण्णेण - जघन्य से, एगसिस्थाई - एकसिक्थ - एक कवल (ग्रास) आदि अन्नकण।

भावार्थ - जिसका जितना आहार है उसमें से जो कम करता है जघन्य से एक सिक्थ आदि - एक कण भी कम करता है तो इस प्रकार वह द्रव्य से ऊनोदरी तप होता है।

विवेचन - पुरुष का आहार बत्तीस कवल परिमाण, स्त्री का २८ और नपुंसक का २४ कवल (ग्रास-कवा) परिमाण है। जिसका जितना आहार है वह ३२ कवल परिमाण कहलाता है। फिर वह व्यक्ति गिनती की दृष्टि से थोड़े अधिक कवल में उस आहार को खावे वह उसके बत्तीस कवल परिमाण कहलाता है। मुख में जो आसानी से आ सके उसे कवल कहते हैं। किन्तु जिसको मुख में डालने पर आँखें तन जाय, गाल फूल जाय उसे कवल नहीं कहते हैं। क्योंकि यह तो जबर्दस्ती मुँह में ठूसना है। कवल का परिमाण औपपातिक सूत्र और भगवती सूत्र शतक ७ उद्देशक १ में इस प्रकार बतलाया है 'कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले' नवांगी टीकाकार श्री अभयदेवसूरि ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है - "पहले कवल का शब्दार्थ करते हुए लिखा है कि - 'कुक्कडी (मुर्गी) के अण्डे के प्रमाण' फिर उसका भावार्थ देते हुए लिखा है कि - उपरोक्त तो केवल शब्दार्थ मात्र है। भावार्थ तो यह है कि - मुख में जो आसानी से समा सके। गाल फूले नहीं, आँखें तणे नहीं किन्तु सुख पूर्वक मुख में रखा जा सके, उसे कवल (ग्रास) कहते हैं।"

गामे णगरे तह रायहाणी, णिगमे य आगरे पल्ली।

खेडे कब्बड-दोणमुह-पट्टण-मडंब संवाहे ॥१६॥

आसमपए विहारे, सण्णिवेसे समाय घोसे य।

थलिसेणाखंधारे, सत्थे संवट्ट-कोट्टे य ॥१७॥

वाडेसु व रत्थासु व, घरेसु वा एवमित्तियं खेत्तं।

कप्पइ उ एवमाई, एवं खेत्तेण उ भवे ॥१८॥

कठिन शब्दार्थ - ग्रामे - ग्राम (जहाँ राज्य की ओर से अठारह प्रकार का कर लिया जाता हो तथा जो छोटी बस्ती हो उसे 'ग्राम' कहते हैं), णगरे - नगर (जहाँ गाय-बैल आदि का कर न लिया जाता हो ऐसी बड़ी आबादी को 'नगर' 'न कर' कहते हैं), रायहाणी - राजधानी (जहाँ राजा स्वयं रहता हो), णिगमे - निगम (जहाँ अधिकतर व्यापार करने वाले महाजनों की बस्ती हो), आगरे - आकर (सोना चाँदी आदि धातुओं की खान), पल्ली - पल्ली (चारों ओर वृक्षों से घिरा हुआ स्थान जहाँ चोरादि रहते हों), खेडे - खेड़ (जिस आबादी के चारों ओर मिट्टी का परकोटा हो), कब्बड - कर्बट (छोटी आबादी वाला गाँव जहाँ व्यापार धन्धा न चलता हो), दोगमुह - द्रोणमुख (समुद्र के किनारे की आबादी, जहाँ जाने के लिए जल व स्थल दोनों प्रकार के मार्ग हों), पट्टण - पत्तन (व्यापार वाणिज्य का बड़ा स्थान, जहाँ चारों दिशाओं से व्यापारी आते जाते हों), मडंब - मडम्ब (जिसके चारों दिशाओं में अढ़ाई-अढ़ाई कोस तक कोई ग्रामादि न हो), संबाहे - संबाध (जो ग्राम पर्वतों के बीच बसा हो, जहाँ चारों वर्ण वाले लोग रहते हों), आसमपए - आश्रमपद (तपस्वियों के रहने का आश्रम), विहारे - विहार (भिक्षुओं के रहने का स्थान), सण्णिवेसे - सन्निवेश (जहाँ यात्रा के लिए लोग इकट्ठे होते हों), समाय - समाज (जहाँ यात्री ठहरते हों), घोसे - घोष (जहाँ ग्वालिये रहते हों-गोकुल), थलसेणाखंधारे - स्थलसेनास्कंधावार (ऊँचे स्थान पर सेना के पड़ाव करने का स्थान), सत्थे - सार्थ (किरियाणा लेकर जाते-आते लोगों के एकत्रित होने का स्थान), संवट्ट - संवर्त्त (भय से डरे हुए लोग जहाँ आकर शरण लेते हों), कोट्टे - कोट वाला नगर, वाडेसु - वाट (जिसके चारों ओर बाड़ लगी हुई हो ऐसा ग्राम), रत्थासु - रथ्या (गली-मोहल्ला), घरेसु - घर, एवमित्तियं - इतने ही, खेत्तं - क्षेत्रों में, कप्पइ - कल्पता है, खेत्तेण - क्षेत्र से।

भावार्थ - क्षेत्र की अपेक्षा ऊनोदरी तप के भेद बतलाये जाते हैं। अतः पहले क्षेत्रों के नाम बतलाये जाते हैं - ग्राम, नगर, राजधानी, निगम, आकर, पल्ली, खेड़, कर्बट, द्रोणमुख, पत्तन, मडम्ब, संबाध, आश्रमपद, विहार, सन्निवेश, समाज, घोष, स्थलसेनास्कंधावार, सार्थ, संवर्त्त, कोट वाला नगर, वाट, रथ्या और घर, इन उपरोक्त क्षेत्रों में से आज मुझे इतने ही क्षेत्रों में गोचरी लेना कल्पता है अर्थात् आज मैं इतने ही क्षेत्रों में गोचरी लूँगा, इस प्रकार

अभिग्रह करके जो साधु गोचरी करता है इस प्रकार उसके क्षेत्र से ऊनोदरी तप होता है क्योंकि अभिग्रह किये हुए क्षेत्रों में यदि आहारादि क्रम मिले या न मिले तो उसी पर जो संतोष करता है, उसके 'क्षेत्र ऊनोदरी' तप होता है।

पेडा य अद्धपेडा, गोमुत्ति-पयंगवीहिया चेव।

संबुक्कावट्टायय गंतुं, पच्चागया छट्टा॥१६॥

कठिन शब्दार्थ - पेडा - पेटा (जिस गोचरी में साधु ग्रामादि को सन्दूक के समान चार कोणों में विभाजित कर बीच के घरों को छोड़ता हुआ चारों दिशाओं में समश्रेणी से गोचरी करता है), अद्धपेडा - अर्द्धपेटा (उपरोक्त प्रकार से क्षेत्र को बांट कर केवल दो दिशाओं के घरों से भिक्षा लेना), गोमुत्ति - गोमूत्रिक के समान टेढ़े मेढ़े आकार में (भूमि पर पड़े हुए गोमूत्र के आकार सरीखी भिक्षा के क्षेत्र की कल्पना करके भिक्षा लेना), पयंगवीहिया - पतंगवीथिका (पतंगिये की गति के समान अनियमित रूप से गोचरी करना), संबुक्कावट्टा - शम्बूकावर्त्ता (शंख के आवर्त्त की तरह वृत्त-गोल गति वाली गोचरी), आययगंतुं पच्चागया - आयतगत्वा प्रत्यागता - लम्बा सीधा जाकर वापस लौटते (जिस गोचरी में साधु एक पंक्ति के घरों से गोचरी करता हुआ अन्त तक जाता है और लौटते समय दूसरी पंक्ति के घरों से गोचरी लेता है, वह आगतप्रत्यागता गोचरी कहलाती है)।

भावार्थ - अब प्रकारान्तर से ऊनोदरी तप के भेद बतलाते हुए गोचरी के भेद बतलाते हैं- पेटा, अर्द्धपेटा, गोमूत्रिका इसमें साधु आमने-सामने के घरों में पहले बायीं पंक्ति में फिर दाहिनी पंक्ति में गोचरी करता है। इस क्रम से दोनों पंक्तियों के घरों से भिक्षा लेना 'गोमूत्रिका' गोचरी है। पतंगवीथिका और शम्बूकावर्त्ता इसके बाह्य और आभ्यन्तर दो भेद हैं, छठी आगतप्रत्यागता, यों छह प्रकार की गोचरी करना क्षेत्र की अपेक्षा ऊनोदरी तप है।

विवेचन - गोमूत्रिका शब्द में गो शब्द दिया है। गो शब्द के दो अर्थ हैं - जब गो शब्द स्त्रीलिंग में चलता है तब गो शब्द का अर्थ होता है गाय। जब गो शब्द पुल्लिंग में चलता है तब अर्थ होता है बैल। यहाँ पर गो शब्द का अर्थ बैल लेना चाहिए। चलते हुए बैल का मूत्र आंड़ा टेढ़ा पड़ता है। इस प्रकार से जो गोचरी की जाती है उसे गोमूत्रिका गोचरी कहते हैं।

दिवसस्स पोरिसीणं, चउण्हं पि उ जत्तिओ भवे कालो।

एवं चरमाणो खलु, कालोमाणं मुण्येयव्वं॥२०॥

कठिन शब्दार्थ - दिवसस्स - दिन के, पोरिसीणं - प्रहरों में, जत्तिओ - जितना,

कालो - काल, चरमाणो - विचरते हुए, खलु - अवश्य, कालोमाणं - काल संबंधी अवमौदर्य, मुणेयव्वं - जानना चाहिये।

भावार्थ - दिन के चार पहरों में जितने समय का अभिग्रह हो अर्थात् 'आज में अमुक पहर में ही गोचरी जाऊंगा' इस प्रकार अभिग्रह करके विचरते हुए साधु के निश्चय ही काल की अपेक्षा ऊनोदरी तप होता है, ऐसा जानना चाहिए।

अहवा तइयाए पोरिसीए, ऊणाइ घासमेसंतो।

चउभागूणाए वा, एवं कालेण उ भवे॥२१॥

कठिन शब्दार्थ - ऊणाइ - कुछ कम, घासमेसंतो - भिक्षा की गवेषणा करना, चउभागूणाए - चौथे भाग कम में।

भावार्थ - अथवा तीसरे पहर में कुछ कम काल तक अथवा चतुर्थ भाग कम में अर्थात् तीसरे पहर के अंतिम चौथे भाग में ही साधु आहार की गवेषणा करने का अभिग्रह करे तो इस प्रकार उसके काल की अपेक्षा ऊनोदरी तप होता है।

इत्थी वा पुरिसो वा अलंकिओ वा णालंकिओ वावि।

अण्णयरवयत्थो वा, अण्णयरेणं व वत्थेणं॥२२॥

अण्णेण विसेसेणं, वण्णेणं भावमणुमुयंते उ।

एवं चरमाणो खलु, भावोमाणं मुणेयव्वं॥२३॥

कठिन शब्दार्थ - इत्थी - स्त्री, पुरिसो - पुरुष, अलंकिओ - अलंकृत, णालंकिओ - अनलंकृत, अण्णयरवयत्थो - अन्यतरवयःस्थ-अमुकवय वाला, अण्णयरेणं वत्थेणं - अमुक वस्त्र वाले, विसेसेणं - विशेष प्रकार के, भावं - भावों को, अणुमुयंते - नहीं छोड़ता हुआ, चरमाणो - चर्या करते हुए, भावोमाणं - भाव से ऊनोदरी।

भावार्थ - स्त्री अथवा पुरुष, अलंकृत अथवा अलंकार-रहित, अन्यतरवयःस्थ-अमुक अवस्था वाला (बालक, युवा अथवा वृद्ध) अथवा अमुक प्रकार के वस्त्र से युक्त अथवा अन्य किसी विशेषता से युक्त (रोता हुआ या हंसता हुआ, कोपयुक्त या हर्ष युक्त) अथवा किसी विशेष वर्ण युक्त अथवा विशिष्ट भावों से युक्त दाता के हाथ से भिक्षा मिलेगी तो ही मैं भिक्षा लूंगा। इस प्रकार अभिग्रह करके विचरने वाले साधु के निश्चय ही भाव ऊनोदरी तप होता है। ऐसा जानना चाहिए।

दव्वे खेत्ते काले, भावम्मि य आहिया उ जे भावा।

एएहिं ओमचरओ, पज्जवचरओ भवे भिक्खू ॥२४॥

कठिन शब्दार्थ - ओमचरओ - अवम-चरक - ऊनोदरी करने वाला, पज्जवचरओ - पर्यवचरक - पर्याय ऊनोदरी तप करने वाला।

भावार्थ - द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में जो भाव कहे गये हैं इनसे अवमचरक - ऊनोदरी करने वाला साधु पर्याय से ऊनोदरी करने वाला होता है।

भिक्षाचर्या तप

अट्टविह-गोयरगं तु, तहा सत्तेव एसणा।

अभिग्गहा य जे अण्णे, भिक्ख्वायरियमाहिया ॥२५॥

कठिन शब्दार्थ - अट्टविह - आठ प्रकार की, गोयरगं - गोचराग्र - प्रधान गोचरी, सत्तेव - सात प्रकार की, एसणा - एषणा, अभिग्गहा - अभिग्रह, जे अण्णे - जो अन्य, भिक्ख्वायरियं - भिक्षाचर्या तप, आहिया - कहे गये हैं।

भावार्थ - आठ प्रकार की गोचराग्र-गोचरी और सात प्रकार की एषणा और इसी प्रकार के जो दूसरे अभिग्रह हैं, वे सब भिक्षाचरी में कहे गये हैं, अर्थात् इन्हें भिक्षाचरी तप कहते हैं। भिक्षाचरी का दूसरा नाम वृत्तिसंक्षेप है अर्थात् प्रतिदिन की जो गोचरी है उसमें अभिग्रह धारण करके कमी करने को वृत्तिसंक्षेप कहते हैं।

विवेचन - गाथा नं० १६ में गोचरी के छह भेद बतलाए गये हैं। उन्हीं छह को विशेष रूप से इस गाथा में आठ भेद कर बतलाये हैं। पेटा, अर्धपेटा, गोमूत्रिका, पतंगवीथिका, बाह्यशंबूकावर्ता, आभ्यन्तर शंबूकावर्ता, गमन (गता) और प्रत्यागमन (प्रत्यागता)।

पिण्डेषणा के सात भेद हैं -

१. संसृष्टा एषणा - भोजन की सामग्री से भरे हुए हाथ एवं पात्र से भिक्षा लेना।
२. असंसृष्टा एषणा - भोजन की सामग्री से नहीं भरे हुए हाथ एवं पात्र से भिक्षा लेना।
३. उद्धृता एषणा - रसोई घर से बाहर लाकर जो थाली आदि में अपने निमित्त भोजन रखा गया हो उसको लेना।
४. अल्प लेपिका एषणा - निलेप भुंजे हुए चना आदि लेना।

५. उद्गृहीता एषणा - भोजन करने के समय भोजन करने वाले व्यक्ति को परोसने के लिए चमचा शकोरा आदि द्वारा जो खाद्य सामग्री बाहर निकाल कर रख ली गयी है उसको लेना।

६. प्रगृहीता एषणा - भोजन की इच्छा वाले को देने के लिए उद्यत हुए दाता ने जो कुछ अपने हाथ में भोजन सामग्री ले रखी हो उसको ही लेना।

७. उज्झितधर्मा एषणा - निस्सार होने के कारण जिसको कोई अन्य वाचक या भिखारी भी नहीं चाहते हैं ऐसे बाहर फेंकने योग्य आहार को लेना। उसे उज्झित धर्मा एषणा कहते हैं।
(आचाराङ्ग २ अध्ययन १)

इस गाथा में गोचराग्र शब्द दिया है जिसका अर्थ इस प्रकार है -

मुनि की वृत्ति को मधुकरीवृत्ति, भ्रमरवृत्ति - भिक्षाचर्या, गोचरी आदि शब्दों से कहा जाता है। इन सब में गोचरी शब्द विशेष प्रचलित है। उसका शब्दार्थ है - 'गौरिव चरति इति गोचरी' अर्थात् गाय के समान जिसकी वृत्ति हो, उसे गोचरी कहते हैं। यहाँ गो शब्द जाति वाचक है अर्थात् पशुओं के चरने (खाने) के समान जिनकी वृत्ति हो। गो शब्द से गाय, बैल, भैंस, गधा आदि सभी शाकाहारी पशुओं का ग्रहण है। गधा भी गायवत् एक जगह से पूरा नहीं उखाड़ कर अनेक जगह से थोड़ा-थोड़ा घास चरता है, गो शब्द से उसका भी समावेश हो जाता है। जैसे सूयगडांग सूत्र उ० १ अ० ६ में 'सीहोमियाणं' कह कर मृग शब्द से सभी पशुओं का ग्रहण किया है। वैसे ही यहाँ पर गो शब्द से सभी शाकाहारी पशुओं का ग्रहण समझना चाहिए। ऐसे 'महुगारसमा' में मधुकर शब्द से मात्र भ्रमर व मधुमक्खी को नहीं समझ कर फूलों से रस लेने वाले सभी कीटों का ग्रहण समझना।

मुनि भी गृहस्थ के घर से उतने ही परिमाण में थोड़ा-थोड़ा आहार लेते हैं जिससे गृहस्थ को दुबारा रसोई बनाना न पड़े। गोचरी शब्द का इतने अर्थ में ही मुनि की वृत्ति के साथ उपमा है क्योंकि गाय तो एषणीय अनेषणीय प्रासुक अप्रासुक समझती नहीं है। यथाकथंचित् रूप से घास खाती रहती है। किन्तु मुनि तो उद्गम के १६, उत्पादन के १६ और एषणा के १०, इन ४२ दोषों को टाल कर प्रासुक और एषणीय आहार को लेते हैं। इसलिए इसको 'गोचराग्र' कहते हैं। यहाँ 'अग्र' शब्द का अर्थ 'प्रधान' है। अर्थात् सब प्रकार की गोचरियों में प्रधान होने से इसे 'गोचराग्र' कहते हैं।

रसपरित्याग

खीर-दहि-सप्पिमाई, पणीयं पाणभोयणं।

परिवज्जणं रसाणं तु, भणियं रसविवज्जणं ॥२६॥

कठिन शब्दार्थ - खीर - क्षीर-दूध, दहि - दधि-दही, सप्पिं - सर्पिष-घी, आई - आदि, पणीयं - प्रणीत-पौष्टिक-बलवर्द्धक, पाणभोयणं - पान-पेयपदार्थ और भोजन, परिवज्जणं - परित्याग करना, रसाणं - रसों का, भणियं - कहा गया है, रसविवज्जणं - रस परित्याग रूप।

भावार्थ - दूध, दही, घी आदि और गरिष्ठ आहार-पानी रूप रसों का परिवर्जन-त्याग करना, रसविवर्जन 'रसपरित्याग' नाम का तप कहा गया है।

विवेचन - रसपरित्याग में प्रणीत तथा रसवर्द्धक पेय और भोजन का त्याग अनिवार्य है। इस तप का मुख्य प्रयोजन स्वाद-विजय है। इस तप से इन्द्रिय निग्रह, कामोत्तेजना की प्रशान्ति, संतोष भावना एवं स्वादिष्ट पदार्थों से विरक्ति होती है।

कायक्लेश

ठाणा वीरासणाइया, जीवस्स उ सुहावहा।

उग्गा जहा धरिज्जंति, कायकिलेसं तमाहियं ॥२७॥

कठिन शब्दार्थ - ठाणा - स्थान, वीरासणाइया - वीरासन आदि आसन और उपलक्षण से लोच आदि, जीवस्स - जीव के, सुहावहा - सुखदायक, उग्गा - उग्र-उत्कट, धरिज्जंति-धारण किए जाते हैं, कायकिलेसं - कायक्लेश, तं - उन्हें, आहियं - कहा गया है।

भावार्थ - जीव के लिए भविष्य में सुखकारी उग्र, कठोर, वीरासन आदि शब्द से केश लोच, गोदोहिक आसन आदि लिये जाते हैं। स्थान जिस प्रकार सेवन किये जाते हैं वह कायक्लेश नाम का तप कहा गया है।

विवेचन - प्रस्तुत गाथा में कायक्लेश का आशय है कि काया को अप्रमत्त रखने, शरीर को साधने, कसने, अनुशासित और संयत रखने के लिए स्वेच्छा से बिना ग्लानि के वीरासन आदि आसनों, कायोत्सर्ग (स्थान) तथा लोच, आतापना आदि का अभ्यास करना। औपपातिक सूत्र में कायक्लेश के १३ भेद इस प्रकार बताये गये हैं।

शास्त्रसम्मत रीति के अनुसार आसन विशेष से बैठना कायक्लेश नाम का तप है। इसके तरह भेद हैं -

१. **ठाण्डिइए (स्थानस्थितिक)** - कायोत्सर्ग करके निश्चल बैठना ठाण्डिइए कहलाता है।

२. **ठाणाइए (स्थानातिग)** - एक स्थान पर निश्चल बैठकर कायोत्सर्ग करना।

३. **उक्कुइइ आसणिए** - उत्कुटुक आसन से बैठना।

४. **पडिमइआई (प्रतिमास्थायी)** - एकमासिकी द्विमासिकी आदि प्रतिमा (पडिमा) अंगीकार करके कायोत्सर्ग करना।

५. **वीरासणिए (वीरासनिक)** - कुर्सी पर बैठ कर दोनों पैरों को नीचे लटका कर बैठे हुए पुरुष के नीचे से कुर्सी निकाल लेने पर जो अवस्था बनती है उस आसन से बैठ कर कायोत्सर्ग करना वीरासनिक कायक्लेश है।

६. **नेसज्जिए (नैषयिक)** - दोनों कूल्हों के बल भूमि पर बैठना।

७. **दंडायए (दण्डायतिक)** - दण्ड की तरह लम्बा लेट कर कायोत्सर्ग करना।

८. **लगण्डशायी** - टेढ़ी लकड़ी की तरह लेट कर कायोत्सर्ग करना। इस आसन में दोनों एड़ियाँ और सिर ही भूमि को छूने चाहिए बाकी सारा शरीर धनुषाकार भूमि से उठा हुआ रहना चाहिए अथवा सिर्फ पीठ ही भूमि पर लगी रहनी चाहिए शेष सारा शरीर भूमि से उठा रहना चाहिए।

९. **आयावए (आतापक)** - शीत आदि की आतापना लेने वाला। निष्पन्न, अनिष्पन्न और ऊर्ध्वस्थित के भेद से आतापना के तीन भेद हैं। निष्पन्न आतापना के भी तीन भेद हैं - अधोमुखशायिता, पार्श्वशायिता, उत्तानशायिता। अनिष्पन्न आतापना के तीन भेद हैं - गोदोहिका, उत्कुटुकासनता, पर्यङ्गासनता। ऊर्ध्वस्थित आतापना के भी तीन भेद हैं - हस्तिशोण्डिका, एकपादिका, समपादिका। इन तीन आतापनाओं के भी उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन-तीन भेद और हो जाते हैं।

१०. **अवाउडए (अप्रावृतक)** - बिना छत के स्थान पर कायोत्सर्ग आदि करने वाला।

११. **अकण्डूयक** - कायोत्सर्ग में खुजली न खुजाने वाला।

१२. **अनिष्ठीयक** - कायोत्सर्ग के समय थूकना आदि क्रिया न करने वाला।

१३. **धुयकेसमंसुलोम (धुतकेशश्मश्रुरोम)** - जिसके दाढ़ी, मूँछ आदि के बाल बढ़े हुए हों अर्थात् जो अपने शरीर के किसी भी अंग की विभूषा न करता हो।

प्रतिसंलीनता

एगंतमणावाए, इत्थीपसुविवज्जिए।

सयणासणसेवणया, विवित्तसयणासणं ॥२८॥

कठिन शब्दार्थ - एगंतं - एकान्त, अणावाए - अनापात-लोगों के आवागमन से रहित स्थान में, इत्थीपसुविवज्जिए - स्त्री पशु आदि से विवर्जित स्थान में, सयणासणसेवणया - शयन और आसन का सेवन करने से, विवित्तसयणासणं - विविक्त शयनासन।

भावार्थ - एकान्त अनापात (जहाँ स्त्री आदि का आना-जाना न हो) तथा जो स्त्री-पशु और नपुंसक से वर्जित - रहित हो ऐसे स्थान में शयन आसन करना, विविक्त शयनासन प्रतिसंलीनता तप है।

विवेचन - प्रतिसंलीनता के चार भेद किये गये हैं, उन में से विविक्त चर्या का वर्णन इस गाथा में किया गया है। शेष तीन अर्थात् इन्द्रियसंलीनता, कषायसंलीनता, योगसंलीनता इनका ग्रहण भी यहाँ कर लेना चाहिए। प्रतिसंलीनता का अर्थ है मनोज्ञ और अमनोज्ञ पदार्थों में राग-द्वेष नहीं करना।

एसो बाहिरगं तवो, समासेण वियाहिओ।

अब्भितरं तवं एत्तो, वुच्छामि अणुपुव्वसो ॥२९॥

कठिन शब्दार्थ - बाहिरगं - बाह्य, अब्भितरं - आभ्यंतर, अणुपुव्वसो - अनुक्रम से।

भावार्थ - यह बाह्य तप संक्षेप से कहा गया है अब इसके आगे अनुक्रम से आभ्यंतर तप का वर्णन करूँगा।

विवेचन - उपवास आदि से शरीर की दुर्बलता आदि रूप लोगों को दिखाई देने वाला तप है इसलिए इसे बाह्य तप कहते हैं। प्रायश्चित्तादि आंतरिक तप हैं। लोगों को दिखाई देने वाला नहीं है इसलिए इसे आभ्यन्तर तप कहते हैं। बाह्य तप की अपेक्षा आभ्यन्तर तप कर्मों की निर्जरा का विशेष कारण बनता है।

आभ्यंतर तप के भेद

पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।

झाणं च विउस्सग्गो, एसो अब्भितरो तवो ॥३०॥

कठिन शब्दार्थ - पायच्छित्तं - प्रायश्चित्त, विणओ - विनय, वेयावच्चं - वैयावृत्य, सज्जाओ - स्वाध्याय, झाणं - ध्यान, विउस्सणो - व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग)।

भावार्थ - प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग), यह छह प्रकार का आभ्यन्तर तप है।

प्रायश्चित्त के भेद

आलोयणारिहाइयं, पायच्छित्तं तु दसविहं।

जं भिक्खू वहइ सम्मं, पायच्छित्तं तमाहियं ॥३१॥

कठिन शब्दार्थ - आलोयणारिह - आलोचनार्ह, वहइ - वहन-सेवा करता है, तं - उसे, आहियं - कहा है।

भावार्थ - आलोचनार्ह - आलोचना करने के योग्य प्रायश्चित्त दस प्रकार का है जिसका साधु सम्यक् प्रकार से वहन (सेवन) करता है, उसे प्रायश्चित्त कहा है।

विनय का स्वरूप

अब्भुट्ठाणं अंजलिकरणं, तहेवासणदायणं।

गुरुभत्ति-भावसुस्सूसा, विणओ एस वियाहिओ ॥३२॥

कठिन शब्दार्थ- अब्भुट्ठाणं - अभ्युत्थान, अंजलिकरणं - अब्जलिकरण, आसणदायणं- आसन देना, गुरुभत्ति भावसुस्सूसा - गुरु के प्रति भक्तिभाव और उनकी शुश्रूषा करना।

भावार्थ - अभ्युत्थान - गुरु महाराज आदि को आते देख कर खड़ा होना, अब्जलिकरण- हाथ जोड़ना, उन्हें आसन देना, गुरुजनों की भक्ति करना और भावपूर्वक (श्रद्धापूर्वक) उनकी सेवा शुश्रूषा करना, यह विनय कहा गया है।

वैयावृत्य

आयरियमाइए, वेयावच्चम्मि दसविहे।

आसेवणं जहाथामं, वेयावच्चं तमाहियं ॥३३॥

कठिन शब्दार्थ - आयरियमाइए - आचार्यादिक, आसेवणं - सेवा-शुश्रूषा करना, जहाथामं - यथास्थाम - यथाशक्ति।

भावार्थ - वेयावच्च-वैयावृत्य करने के योग्य आचार्यादिक अर्थात् आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान, शिष्य, साधर्मिक, कुल; गण और संघ, इन दस स्थानों की यथास्थाम-यथाशक्ति शारीरिक सेवा-भक्ति करना उसे वैयावृत्य कहा है।

स्वाध्याय

वायणा पुच्छणा चेव, तहेव परियट्टणा।

अणुप्पेहा धम्मकहा, सज्झाओ पंचहा भवे ॥३४॥

कठिन शब्दार्थ - वायणा - वाचना, पुच्छणा - पृच्छना, परियट्टणा - परिवर्तना, अणुप्पेहा - अनुप्रेक्षा, धम्मकहा - धर्मकथा।

भावार्थ - वाचना (गुरु से सूत्र-अर्थ की वाचणी लेना) और पृच्छना (संशय की निवृत्ति के लिए पूछना या पहले सीखे हुए सूत्रादि ज्ञान में शंका होने पर प्रश्न करना) इसी प्रकार परिवर्तना (परावर्तना-पढ़े हुए ज्ञान की पुनरावृत्ति करना) अनुप्रेक्षा (बारबार चिन्तन मनन करना) धर्मकथा (धर्मोपदेश देना), ये पाँच भेद स्वाध्याय तप के होते हैं।

ध्यान

अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता, झाएज्जा सुसमाहिए।

धम्म-सुक्काइं झाणाइं, झाणं तं तु बुहा वए ॥३५॥

कठिन शब्दार्थ - अट्टरुद्दाणि - आर्तध्यान और रौद्रध्यान को, वज्जित्ता - छोड़कर, झाएज्जा - ध्यावे, सुसमाहिए - सुसमाधिवंत, धम्म सुक्काइं झाणाइं - धर्मध्यान और शुक्लध्यान, बुहा - बुध - ज्ञानीजन, वए - कहते हैं।

भावार्थ - सुसमाधिवंत साधु, आर्तध्यान और रौद्रध्यान को छोड़ कर धर्मध्यान और शुक्लध्यान, इन दो ध्यानों को ध्यावे, उसे बुध-तत्त्वज्ञ पुरुष ध्यान कहते हैं।

व्युत्सर्ग

सयणासणठाणे वा, जे उ भिक्खू ण वावरे।

कायस्स विउस्सगो, छट्ठो सो परिकित्तिओ ॥३६॥

कठिन शब्दार्थ - सयणासणठाणे - शयन, आसन और स्थान में, ण वावरे - चलनात्मक क्रिया न करे, कायस्स विउस्सग्गो - काया का व्युत्सर्ग-त्याग, परिकित्तिओ - परिकीर्तित-कहा गया है।

भावार्थ - शय्या पर, आसन पर अथवा खड़े-खड़े जो साधु अन्य सब प्रवृत्तियों को छोड़ देता है अर्थात् हिलता-डुलता नहीं, वह कायव्युत्सर्ग नाम का छठा तप कहा गया है।

तपाचरण का फल

एयं तवं तु दुविहं, जे सम्मं आयरे मुणी।

जो खिप्पं सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पंडिए॥३७॥

कठिन शब्दार्थ - आयरे - आचरण करता है, खिप्पं - शीघ्र, सव्वसंसारा - समस्त संसार से, विप्पमुच्चइ - मुक्त हो जाता है, पंडिए - पंडित।

भावार्थ - इन बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के तप का जो मुनि सम्यक् प्रकार से आचरण करता है वह पंडित साधु शीघ्र ही समस्त संसार से विप्रमुक्त-छूट जाता है। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - 'पण्डित' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है -

'पण्डा - हिताहित विवेकिनी बुद्धिः आचारवती च बुद्धिः संजाता यस्य स पण्डितः।'

अर्थात् - हिताहित सोचने की बुद्धि तथा अठारह पाप त्याग रूप आचरण से युक्त बुद्धि जिसे पैदा हो गई है उसे 'पण्डित' कहते हैं। चौथा गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि और पंचम गुणस्थानवर्ती देशविरत सम्यग्दृष्टि पाप से डरते तो हैं किन्तु पापों का सर्वथा त्याग नहीं कर सकते। इन्हें क्रमशः बाल और बाल पण्डित कहते हैं। छठे गुणस्थानवर्ती को पण्डित कहते हैं। उसे सर्व विरति भी कहते हैं। वह पापों से डरता है अतएव पापों का सर्वथा त्याग कर देता है। 'पापों से डरने वाला पण्डित है' यह व्याख्या अधूरी है। क्योंकि चौथा और पांचवाँ गुणस्थानवर्ती भी पापों से डरता तो है किन्तु वह छोड़ नहीं सकता। पण्डित शब्द की पूरी व्याख्या यह है कि - जो पाप कर्मों से डरता है और सभी (अठारह ही) पाप कर्मों का त्याग कर देता है वह पण्डित कहलाता है। ऐसा पण्डित मुनि होता है। सारांश है - "पाप नहीं करे सो पण्डित।"

॥ इति तपोमार्ग गति नामक तीसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

चरणविही णामं एगतीसइमं अज्झयणं चरणविधि नामक इकतीसवाँ अध्ययन

इस अध्ययन में एक से लगाकर ३३ तक की संख्या को माध्यम बना कर श्रमण के चारित्र के विविध गुणों का वर्णन है। चारित्र की विविध विधियों का वर्णन होने से इसका नाम चरणविधि रखा गया है। इसकी प्रथम गाथा इस प्रकार है -

चारित्र विधि का महत्त्व

चरणविहिं पवक्खामि, जीवस्स उ सुहावहं।

जं चरित्ता बहू जीवा, तिण्णा संसार-सागरं ॥१॥

कठिन शब्दार्थ - चरणविहिं - चारित्र विधि को, पवक्खामि - कहता हूं, जीवस्स - जीव के, सुहावहं - सुखकारी, चरित्ता - आचरण करके, तिण्णा - तिर गये, संसार-सागरं-संसार समुद्र।

भावार्थ - अब मैं चारित्र की विधि का वर्णन करूंगा जो कि जीव के लिए सुखकारी एवं शुभकारी है और जिसका आचरण कर के बहुत से जीव संसार-सागर से तिर गये हैं।

विवेचन - ज्ञान, दर्शन, चारित्र यह मोक्ष का मार्ग है। ज्ञान से जीवादि तत्त्वों का बोध होता है और दर्शन से उन पर श्रद्धा दृढ़ होती है। चारित्र से आते हुए कर्म रुकते हैं और चारित्र के भेद स्वरूप तप-से पूर्व बंधे हुए कर्मों की निर्जरा होती है। चारित्र का पालन किस प्रकार करना चाहिए, इसकी विधि को जानना आवश्यक है। इसलिए इस अध्ययन में चारित्र की विधि बताई जाती है।

इस अध्ययन में एक बोल से लेकर ३३ बोल तक का वर्णन दिया गया है। इन सब बोलों का टीका के अनुसार विस्तृत वर्णन श्री अगरचन्द भैरोदान सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था, बीकानेर से प्रकाशित 'जैन सिद्धान्त बोल संग्रह' के ७ भागों में है। यथा - प्रथम भाग में १-५। दूसरे भाग में ६-७। तीसरे भाग में ८-९-१०। चौथे भाग में ११-१२-१३। पांचवें भाग में १४ से १६ तक। छठे भाग में २० से ३० तक और सातवें भाग में ३१ से ५७ तक बोलों का विस्तृत अर्थ दिया गया है। अतः जिज्ञासुओं को उन भागों में देखना चाहिए।

पहला बोल

एगओ विरइं कुज्जा, एगओ य पवत्तणं।

असंजमे णियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं॥२॥

कठिन शब्दार्थ - एगओ - एक से, विरइं - विरति-निवृत्ति, कुज्जा - करे, पवत्तणं- प्रवृत्ति, असंजमे - असंयम से, णियत्तिं - निवृत्ति करे, संजमे - संयम से।

भावार्थ - एक से विरति-निवृत्ति करे और एक ओर प्रवर्तन-प्रवृत्ति करे अर्थात् असंयम से निवृत्ति करे और संयम में प्रवर्तन-प्रवृत्ति करे।

विवेचन - चरणविधि का प्रथम बोल है - असंयम से निवृत्ति और संयम में प्रवृत्ति। हिंसा, असत्य आदि असंयम कारक बातों से निवृत्ति और अहिंसा, सत्य आदि संयम कारक बातों में प्रवृत्ति ही चरणविधि है।

दूसरा बोल

रागदोसे य दो पावे, पावकम्म-पवत्तणे।

जे भिक्खू रुंभइ णिच्चं, से ण अच्छइ मंडले॥३॥

कठिन शब्दार्थ - पावकम्मपवत्तणे - पाप कर्मों के प्रवर्तक होने से, रुंभइ - निरोध करता-रोकता है, णिच्चं - नित्य, से - वह, ण अच्छइ - परिभ्रमण नहीं करता, मंडले - मण्डल-संसार में।

भावार्थ - पाप कर्म में प्रवृत्ति कराने वाले राग और द्वेष ये दो पाप हैं, जो साथ सदा इन्हें रोकता है, वह मण्डल (संसार) में परिभ्रमण नहीं करता है।

विवेचन - पापकर्म बंध के प्रमुख कारण हैं - राग और द्वेष। राग-द्वेष से निवृत्ति और वीतरागता में प्रवृत्ति चारित्रविधि है।

तीसरा बोल

दंडाणं गारवाणं च, सल्लाणं च तियं तियं।

जे भिक्खू चयइ णिच्चं, से ण अच्छइ मंडले॥४॥

कठिन शब्दार्थ - दंडाणं - दण्डों, गारवाणं - गारवों-गौरवों, सल्लाणं - शल्यों, तियं - तीन, चयइ - त्याग करता है।

भावार्थ - जो साधु तीन दण्ड, तीन गौरव तथा तीन शल्य इनको नित्य छोड़ देता है, वह मण्डल-संसार में परिभ्रमण नहीं करता है।

विवेचन - दण्ड तीन प्रकार के कहे हैं - १. मन दण्ड २. वचन दण्ड और ३. काय दण्ड। मन, वचन, काया जब दुष्प्रवृत्ति में लगते हैं तब दण्ड रूप हो जाते हैं।

गौरव तीन कहे गये हैं - १. ऋद्धि गौरव - ऐश्वर्य का गर्व २. रस गौरव - स्वादिष्ट पदार्थों की प्राप्ति का गर्व और ३. साता गौरव - वैषयिक सुखों की प्राप्ति का गर्व।

शल्य तीन प्रकार के हैं - १. माया शल्य - कपटयुक्त प्रवृत्ति २. निदान शल्य - भौतिक सुखों की प्राप्ति के लिए तप त्याग आदि आचरण करना - नियाणा करना ३. मिथ्यादर्शन शल्य - आत्मा की तत्त्वों के प्रति मिथ्या-सिद्धान्त के विपरीत दृष्टि।

दण्ड, गौरव और शल्य से निवृत्त होना चारित्रविधि है।

दिव्ये य जे उवसग्गे, तहा तेरिच्छमाणुसे।

जे भिक्खू सहइ सम्मं, से ण अच्छइ मंडले ॥५॥

कठिन शब्दार्थ - दिव्ये - देव संबंधी, उवसग्गे - उपसर्ग, तेरिच्छमाणुसे - तिर्यच और मनुष्य संबंधी, सहइ - सहन करता है।

भावार्थ - जो साधु देव सम्बन्धी, तिर्यच सम्बन्धी और मनुष्य सम्बन्धी उपसर्गों को सम्यक् प्रकार से (समभाव पूर्वक) सहन करता है, वह मण्डल (संसार) में परिभ्रमण नहीं करता है।

विवेचन - जो दैहिक मानसिक कष्टों का समीप में आकर सर्जन करते हैं, उन्हें उपसर्ग कहते हैं। उपसर्ग तीन प्रकार के कहे गये हैं -

१. देवकृत उपसर्ग वह है जिसमें देवता, द्वेषवश, हास्यवश या परीक्षा के निमित्त कष्ट देते हैं।

२. तिर्यचकृत उपसर्ग वह है जो तिर्यचों द्वारा भय, विद्वेष, आहार, स्वरक्षण या अपने स्थान या संतान की सुरक्षा के निमित्त से कष्ट दिया जाता है।

३. मनुष्यकृत उपसर्ग वह है जो मनुष्यों द्वारा हास्यवश, द्वेषवश या कुशील सेवन आदि के लिए कष्ट दिया जाता है।

चौथा बोल

विगहा-कसाय-सण्णाणं, झाणाणं च दुयं तहा।

जे भिक्खू वज्जइ णिच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥६॥

कठिन शब्दार्थ - विगहा - विकथा, कसाय - कषाय, सण्णाणं - संज्ञा, झाणाणं - ध्यान, दुयं - दो, वज्जइ - वर्जन करता है।

भावार्थ - चार विकथा, चार कषाय, चार संज्ञा तथा दो ध्यान (आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान) इन सब को जो साधु नित्य छोड़ देता है, वह मण्डल (संसार) में परिभ्रमण नहीं करता है।

विवेचन - विकथा - संयमी जीवन के विरुद्ध या विनाशकारी निरर्थक कथा विकथा है। विकथा चार है - १. स्त्रीकथा २. भक्त कथा ३. देश कथा और ४. राज कथा।

कषाय - कष अर्थात् संसार, उसकी जिससे आय - प्राप्ति हो, वृद्धि हो उसे कषाय कहते हैं। कषाय चार हैं - क्रोध, मान, माया और लोभ।

संज्ञा - विकृत अभिलाषा को संज्ञा कहते हैं। संज्ञाएं चार हैं - १. आहार संज्ञा २. भय संज्ञा ३. मैथुन संज्ञा और ४. परिग्रह संज्ञा।

ध्याब्ब - वस्तु पर चित्त को एकाग्र करना ध्यान है। ध्यान के चार प्रकार हैं - १. आर्त्तध्यान २. रौद्रध्यान ३. धर्मध्यान और ४. शुक्लध्यान। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान - दो अशुभ ध्यान हैं।

पांचवां बोल

वएसु इंदियत्थेसु, समिइसु किरियासु य।

जे भिक्खू जयइ णिच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥७॥

कठिन शब्दार्थ - वएसु - व्रतों में, इंदियत्थेसु - इन्द्रियों के विषयों में, समिइसु - समितियों में, किरियासु - क्रियाओं में, जयइ - यत्न (यतना) करता है।

भावार्थ - पाँच महाव्रत, पाँच समितियों के पालन में तथा पाँच इन्द्रियों के विषय और पाँच क्रियाओं के परित्याग में जो साधु सदा यत्न करता है, वह मण्डल (संसार) में परिभ्रमण नहीं करता है।

विवेचन - महाव्रत - जो अपने आप में महान् हों तथा जो महान् आत्माओं द्वारा आचरित हों तथा महान् अर्थ - मोक्ष पुरुषार्थ को सिद्ध करते हैं, वे महाव्रत कहलाते हैं। साधु के लिए अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, ये पाँच महाव्रत हैं।

समिति - विवेकपूर्वक सम्यक् प्रवृत्ति करना समिति है। ये पाँच हैं - १. ईर्या समिति २. भाषा समिति ३. एषणा समिति ४. आदानभाण्डनिक्षेपणा समिति और ५. उच्चारप्रसवण खेल जल्ल परिस्थापना समिति।

इन्द्रिय विषय - श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय, इन पांच इन्द्रियों के क्रमशः शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श, ये पांच विषय हैं।

क्रियाएं - कर्मबंध करने वाली चेष्टा का नाम क्रिया है। मुख्य क्रियाएं पांच हैं - १. कायिकी - काया द्वारा निष्पन्न होने वाली २. आधिकरणिकी - घातक शस्त्रादि अधिकरणों के प्रयोग से लगने वाली क्रिया ३. प्राद्वेषिकी - जीव या अजीव पर द्वेष भाव से लगने वाली क्रिया ४. पारितापनिकी - किसी जीव को परिताप देने से होने वाली ५. प्राणातिपातिकी - स्व-पर के प्राणातिपात से होने वाली क्रिया।

छठा बोल

लेसासु छसु काएसु, छक्के आहार-कारणे।

जे भिक्खू जयइ णिच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥८॥

कठिन शब्दार्थ - लेसासु - लेश्याओं में, छसु काएसु - छह कार्यों में, छक्के आहार-कारणे - आहार ग्रहण करने के छह कारणों में।

भावार्थ - छह लेश्याओं में, छह काय में, छह आहार करने के कारण और आहार त्यागने के छह कारण, इन में जो साधु नित्य उपयोग रखता है, वह संसार में परिभ्रमण नहीं करता है।

विवेचन - लेश्या - जीव का अध्यवसाय या परिणाम विशेष लेश्या है। अथवा आत्मा के जिन शुभाशुभ परिणामों द्वारा शुभाशुभ कार्यों का संश्लेष होता है, उसे लेश्या कहते हैं। लेश्याएं छह हैं - १. कृष्ण लेश्या २. नील लेश्या ३. कापोत लेश्या ४. तेजो लेश्या ५. पद्म लेश्या और ६. शुक्ल लेश्या।

छह काय - जीवनिकाय (संसारी जीव-समूह) छह हैं - १. पृथ्वीकाय २. अप्काय ३. तेजस्काय ४. वायुकाय ५. वनस्पतिकाय और ६. त्रसकाय।

उत्तराध्ययन सूत्र के २६वें अध्ययन में आहार करने के छह कारण बताये गये हैं।

सातवां बोल

पिंडोगहपडिमासु, भयट्टाणेसु सत्तसु।

जे भिक्खू जयइ णिच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥९॥

कठिन शब्दार्थ - पिंडोग्रह पडिमासु - पिण्ड-अवग्रह प्रतिमाओं में; भयद्वाणेषु - भय स्थानों में, सत्तसु - सात, जयइ - यतना (उपयोग) रखता है।

भावार्थ - आहार ग्रहण विषयक सात पडिमाओं में और सात भयस्थानों में जो साधु नित्य उपयोग रखता है, वह मण्डल (संसार) में परिभ्रमण नहीं करता है।

विवेचन - सात पिण्डोग्रह प्रतिमाओं के नाम - संसृष्टा, असंसृष्टा, उद्धता, अल्पलेपिका, उद्गुहीता, प्रगुहीता और उज्झित धर्मा। ये सात पिण्डैषणा कहलाती है। इनका अर्थ उत्तराध्ययन सूत्र के ३० वें अध्ययन की २५ वीं गाथा के विवेचन में दे दिया गया है।

सात भयों के नाम - इहलोक भय, परलोक भय, आदान भय, अकम्हा (अकस्मात्) भय, आजीविका भय, अपयश भय और मरण भय।

आठवां-नौवा-दसवां बोल

मएसु बंभगुत्तीसु, भिक्खुधम्ममि दसविहे।

जे भिक्खू जयइ णिच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥१०॥

कठिन शब्दार्थ - मएसु - मद स्थानों में, बंभगुत्तीसु - ब्रह्मचर्य-गुप्तियों में, भिक्खुधम्ममि - श्रमण धर्म में, दसविहे - दस प्रकार के।

भावार्थ - आठ मदस्थानों के त्याग में नौ ब्रह्मचर्य-गुप्तियों का पालन करने में तथा दस प्रकार के भिक्षु धर्म-यतिधर्म का पालन करने में जो साधु नित्य उपयोग रखता है, वह मण्डल-संसार में परिभ्रमण नहीं करता है।

विवेचन - मद आठ-जातिमद, कुलमद, रूपमद, बलमद, लाभमद, श्रुतमद, ऐश्वर्यमद और तपमद।

ब्रह्मचर्य गुप्तियाँ नौ - १. स्त्री-पशु-नपुंसक रहित स्थान में निवास करना २. स्त्रियों की कथा न करना ३. स्त्री के साथ एक आसन पर न बैठना अथवा जिस आसन एवं स्थान पर स्त्री बैठी हुई थी, उसके उठ जाने पर भी एक मुहूर्त तक उस आसन एवं स्थान पर न बैठना ४. स्त्रियों के मनोहर अंगों को विकार पूर्वक न देखना ५. भित्ति-भीत (दीवार) आदि के अन्तर से स्त्रियों के शब्दों को न सुनना ६. पहले भोगे हुए भोगों को याद न करना ७. गरिष्ठ आहार न करना ८. परिमाण से अधिक आहार न करना और ९. अपने शरीर को विभूषित न करना।

यतिधर्म दस - १. क्षमा २. मुक्ति (निर्लोभता) ३. आर्जव (सरलता) ४. मार्दव (मृदुता) ५. लाघव (लघुता) ६. सत्य ७. संयम ८. तप ९. त्याग और १०. ब्रह्मचर्यवास।

ग्यारहवां-बारहवां बोल

उवासग पडिमासु, भिक्खूणं पडिमासु य।

जे भिक्खू जयइ णिच्चं, से ण अच्छइ मंडले॥११॥

कठिन शब्दार्थ - उवासगपडिमासु - उपासक प्रतिमाओं में, भिक्खुणं पडिमासु - भिक्षु प्रतिमाओं में।

भावार्थ - उपासक प्रतिमा - श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं में और भिक्षुओं - साधुओं की बारह प्रतिमाओं में जो साधु सदा उपयोग रखता है वह मण्डल (संसार) में परिभ्रमण नहीं करता।

विवेचन - श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं के नाम - १. सम्यक्त्व का पालन करना २. व्रत धारण करना ३. काल में - उभयकाल - यथा समय प्रतिक्रमणादि क्रियाएं करना ४. तिथियों में पौषध करना ५. रात्रि में कायोत्सर्ग करना, स्नानादि का त्याग करना और धोती की लांग न बांधना ६. ब्रह्मचर्य धारण करना ७. सचित्ताहार का त्याग करना ८. स्वयं आरम्भ न करना ९. दूसरों से आरम्भ न कराना १०. उद्दिष्ट आहार का त्याग करना ११. साधु के समान आचारण करना।

बारह भिक्खु प्रतिमाओं के नाम - एक मास से लेकर सात मास तक एक-एक मास की सात प्रतिमाएं होती हैं। आठवीं, नौवीं और दसवीं ये तीन प्रतिमाएं सात-सात अहोरात्रि की हैं। ग्यारहवीं प्रतिमा एक अहोरात्रि की है और बारहवीं प्रतिमा केवल एक रात्रि की होती है।

तेरहवां-चौदहवां-पन्द्रहवां बोल

किरियासु भूयगामेसु, परमाहम्मिएसु य।

जे भिक्खू जयइ णिच्चं, से ण अच्छइ मंडले॥१२॥

कठिन शब्दार्थ - किरियासु - क्रियाओं में, भूयगामेसु - भूतग्रामों (जीवसमूहों) में, परमाहम्मिएसु - परमाधार्मिक असुरों (देवों) में।

भावार्थ - तेरह क्रियाओं में, चौदह भूतग्रामों में और पन्द्रह परमाधार्मिकों में जो साधु सदा उपयोग रखता है, वह संसार में परिभ्रमण नहीं करता है।

विवेचन - समवायांग सूत्र समवाय १३, सूत्रकृतांग सूत्र २/२ में तेरह क्रियाओं का, समवायांग सूत्र समवाय १४ में चौदह भूतग्रामों का एवं समवायांग सूत्र समवाय १५ में पन्द्रह परमाधार्मिक देवों का विस्तृत वर्णन किया गया है। जिज्ञासुओं को वहाँ से देखना चाहिए।

सोलहवां-सतरहवां बोल

गाहासोलसएहिं, तहा असंजमम्मि य।

जे भिक्खू जयइ णिच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥१३॥

कठिन शब्दार्थ - गाहासोलसएहिं - गाथा षोडशकों में, असंजमम्मि - असंयम में।

भावार्थ - जो साधु सूर्यगडांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के सोलह अध्ययनों में सदा उपयोग रखता (ज्ञान रखता) है और सतरह प्रकार के असंयम को छोड़ कर पृथ्वीकायादि की रक्षा रूप सतरह प्रकार के संयम का पालन करता है, वह मण्डल (संसार) में परिभ्रमण नहीं करता है।

विवेचन - समवायांग सूत्र समवाय १६ गाथाओं में निबद्ध गाथा नामक अध्ययन सहित सूत्रकृतांग सूत्र प्रथम श्रुतस्कंध के १६ अध्ययनों का नाम निर्देश किया गया है। समवायांग सूत्र समवाय १७ में सतरह प्रकार के असंयम का वर्णन किया गया है।

अठारहवां-उन्नीसवां-बीसवां बोल

बंभम्मि णायज्झयणेसु, ठाणेसु असमाहिए।

जे भिक्खू जयइ णिच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥१४॥

कठिन शब्दार्थ - बंभम्मि - ब्रह्मचर्य में, णायज्झयणेसु - ज्ञाताधर्म कथा के अध्ययनों में, असमाहिए - असमाधि के, ठाणेसु - स्थानों में।

भावार्थ - जो साधु अठारह प्रकार के ब्रह्मचर्य का सदा पालन करता है तथा ज्ञातासूत्र के उन्नीस अध्ययनों का अध्ययन करता है और बीस असमाधि के स्थानों का त्याग कर समाधि स्थानों में प्रवृत्ति करता है, वह मण्डल-संसार में परिभ्रमण नहीं करता है।

विवेचन - औदारिक शरीर संबंधी और वैक्रिय शरीर संबंधी मैथुन का तीन करण (कृत, कारित और अनुमोदन रूप) से तथा तीन योग (मन, वचन, काया) से त्याग करना अठारह प्रकार का ब्रह्मचर्य है। ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र के अध्ययन १ से १६ तक में कथित उदाहरणों के अनुसार संयम साधना में प्रवृत्त होना और असंयम से निवृत्त होना चारित्रविधि है।

दशाश्रुतस्कंध दशा १ एवं समवायांग सूत्र समवाय २० में बीस असमाधि स्थान का वर्णन किया गया है। जिस कार्य के करने से चित्त में अशांति, अस्वस्थता एवं अप्रशस्त भावना पैदा हो, ज्ञानादि रत्नत्रय से आत्मा भ्रष्ट हो, उसे असमाधि स्थान कहते हैं।

इक्कीसवां-बाईसवां बोल

एगवीसाए सबले, बावीसाए परीसहे।

जे भिक्खू जयइ णिच्चं, से ण अच्छइ मंडले॥१५॥

कठिन शब्दार्थ - एगवीसाए - इक्कीस प्रकार के, सबले - शबल दोषों में, बावीसाए-बावीस प्रकार के, परीसहे - परीषहों में।

भावार्थ - इक्कीस शबल दोषों और बाईस परीषहों में जो साधु सदैव उपयोग रखता (दोषों का त्याग करता) है और परीषहों को समभावपूर्वक सहन करता है वह संसार में परिभ्रमण नहीं करता है।

विवेचन - जिस कार्य के करने से या जिस क्रिया विशेष से चारित्र में धब्बा लगता हो अथवा चारित्र मलीन होता हो उसे 'शबल दोष' कहते हैं। दशाश्रुतस्कंध दशा २ एवं समवायांग समवाय २१ में इक्कीस शबल दोषों का वर्णन है। उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २ में बावीस परीषहों का वर्णन किया जा चुका है।

तेईसवां-चौबीसवां बोल

तेवीसाए सूयगडे, रूवाहिएसु सुरेसु य।

जे भिक्खू जयइ णिच्चं, से ण अच्छइ मंडले॥१६॥

कठिन शब्दार्थ - तेवीसाए सूयगडे - सूत्रकृतांग सूत्र के २३ अध्ययनों में, रूवाहिएसु-रूपाधिक, सुरेसु - देवों में।

भावार्थ - सूयगडांग सूत्र के तेईस अध्ययनों में और रूपाधिक अर्थात् २४ प्रकार के देवों में जो साधु सदा उपयोग रखता है, वह मण्डल (संसार) में परिभ्रमण नहीं करता है।

विवेचन - इस गाथा में 'रूवाहिएसु' शब्द दिया है। यहाँ पर 'रूप' शब्द का अर्थ शरीर के गौर वर्ण आदि से नहीं लिया गया है किन्तु यहाँ 'रूप' शब्द संख्यावाची है। अर्थात् 'रूप' का अर्थ है एक। इस गाथा में सूयगडाङ्ग सूत्र के २३ अध्ययन कहे गये हैं। तेईस में एक और मिलाने पर चौबीस होते हैं इसलिए 'रूवाहिएसु सुरेसु' का अर्थ होता है चौबीस प्रकार के देव। चौबीस प्रकार के देव कौन से हैं? समाधान दिया जाता है कि - दस भवनपति, आठ वाणव्यंतर, पांच ज्योतिषी और एक वैमानिक जाति के देव। इस प्रकार इस गाथा में २४ प्रकार के देवों का कथन किया गया है।

पच्चीसवां-छब्बीसवां बोल

पणवीस-भावणासु, उद्देसेसु दसाइणं।

जे भिक्खू जयइ णिच्चं, से ण अच्चइ मंडले॥१७॥

कठिन शब्दार्थ - पणवीस-भावणासु - पच्चीस भावनाओं में, दसाइणं - दशाश्रुतस्कंध आदि के, उद्देसेसु - उद्देशों में।

भावार्थ - जो साधु सदा पाँच महाव्रत की पच्चीस भावनाओं में उपयोग रखता है और दशाश्रुतस्कन्ध आदि के छब्बीस उद्देशों का (दशाश्रुतस्कन्ध के दस, बृहत्कल्प के छह और व्यवहार सूत्र के दस कुल मिला कर छब्बीस अध्ययनों का) सम्यक् अध्ययन कर के प्ररूपणा करता है, वह मण्डल (संसार) में परिभ्रमण नहीं करता है।

विवेचन - प्रत्येक महाव्रत की ५-५ के हिसाब से पाँच महाव्रतों की पच्चीस भावनाएं होती हैं। आचारांग सूत्र २/१५, समवायांग सूत्र समवाय २५ और प्रश्नव्याकरण सूत्र के पाँच संवर द्वार में इन भावनाओं का विशद वर्णन है।

दशाश्रुतस्कंध के १०, बृहत्कल्प के ६ और व्यवहार सूत्र के १० उद्देशक, ये सब मिला कर २६ उद्देशक होते हैं।

सत्ताईसवां-अट्ठाईसवां बोल

अणगार-गुणेहिं च, पगप्पम्मि तहेव य।

जे भिक्खू जयइ णिच्चं, से ण अच्चइ मंडले॥१८॥

कठिन शब्दार्थ - अणगार-गुणेहिं - अनगार गुणों में, पगप्पम्मि - प्रकल्प में।

भावार्थ - जो साधु सदा साधु के सत्ताईस गुणों को धारण करता है और अट्ठाईस प्रकार के आचारप्रकल्पों में [आचारांग सूत्र के दोनों श्रुतस्कन्धों के 'सत्थपरिण्णा' आदि पच्चीस अध्ययन और निशीथ सूत्र के तीन १. उद्घातिक (लघुमासिक, लघु चौमासी, लघु छहमासी) २. अनुद्घातिक (गुरुमासिक, गुरु चौमासी, गुरु छहमासी) ३. आरोपणा इन २८ अध्ययनों में] सदा उपयोग रखता है, वह मण्डल (संसार) में परिभ्रमण नहीं करता है।

विवेचन - आचार-चारित्राचार तथा प्रकल्प-मर्यादा। जिस शास्त्र में साधु के चारित्र पालन की मर्यादा बतलाई गई हो, उसे आचार-प्रकल्प कहते हैं। साधु के चारित्राचार पालन की

मर्यादा आचाराङ्ग सूत्र में बतलाई गई है। इसलिए इसके २८ भेद ऊपर बतला दिये गये हैं। निशीथ सूत्र आचारांग सूत्र की चूलिका मात्र है।

समवायाङ्ग सूत्र के २८ वें समवाय में आचार-प्रकल्प के २८ भेद दूसरे प्रकार से दिये गये हैं। वे इस प्रकार हैं -

१ एक मास, २ एक मास पांच दिन, ३ एक मास दस दिन, ४ एक मास पन्द्रह दिन, ५ एक मास बीस दिन, ६ एक मास पच्चीस दिन। ये एकमास के छह भेद हुए। इसी प्रकार दूसरे मास के छह, तीसरे मास के छह, चौथे मास के छह भेद कर देने से चौबीस भेद हुए। २५ उद्घातिक, २६ अनुद्घातिक, २७ कृत्स्ना (सम्पूर्ण) आरोपणा, २८ अकृत्स्ना आरोपणा।

उनतीसवां-तीसवां बोल

पावसुयप्पसंगेसु, मोहठाणेसु चेव य।

जे भिक्खू जयइ णिच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥१६॥

कठिन शब्दार्थ - पावसुयप्पसंगेसु - पापश्रुत के प्रसंगों में, मोहठाणेसु - मोह स्थानों में।

भावार्थ - जो साधु उनतीस प्रकार के पापसूत्रों में सदा उपयोग रखता है (पापसूत्रों का कथन नहीं करता) और मोहनीय-कर्म बाँधने के तीस स्थानों का त्याग करता है, वह मण्डल (संसार) में परिभ्रमण नहीं करता है।

विवेचन - जिसके पढ़ने सुनने से जीव की पापकर्म में रुचि उत्पन्न हो, उसे पापश्रुत कहते हैं। समवायांग सूत्र समवाय २६ में उनतीस पापश्रुतों का वर्णन है।

महामोहनीय कर्म का बन्ध तीव्र दुरध्यवसाय, क्रूरता आदि के कारण होता है। यद्यपि इसके कारणों की कोई सीमा नहीं बांधी जा सकती है फिर भी आगमकार ने इसके मुख्य ३० कारण बताये हैं जिनका विस्तृत वर्णन समवायांग सूत्र समवाय ३० में तथा दशाश्रुतस्कन्ध की नौवीं दशा में है।

इकतीस-बत्तीस-तेतीसवां बोल

सिद्धाङ्गुणजोगेसु, तेतीसासायणासु य।

जे भिक्खू जयइ णिच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥२०॥

कठिन शब्दार्थ - सिद्धाङ्गुण - सिद्धों के गुणों में, जोगेसु - योग संग्रहों में, तेत्तीसासायणासु - तेतीस प्रकार की आशातनाओं में।

भावार्थ - जो साधु सिद्ध भगवान् के इकतीस आदि - गुण और बत्तीस प्रकार के योगसंग्रहों में सदा उपयोग रखता है और तेतीस आशातनाओं का त्याग करता है, वह मण्डल (संसार) में परिभ्रमण नहीं करता है।

विवेचन - गाथा में 'सिद्धाङ्गुण' शब्द दिया है - सिद्ध-'आदि गुण' यहाँ आदि शब्द का अर्थ है - 'प्रारम्भ'। इसलिए यह अर्थ निकलता है कि - जो जीव आठ कर्म खपा कर मोक्ष में जाता है। उसके सिद्ध अवस्था की प्राप्ति के प्रारम्भ बेला में ही ये ३१ गुण प्रकट हो जाते हैं। ये युगपद (एक साथ) स्थायी गुण हैं, क्रम भावी नहीं। इसलिए शास्त्रकार ने 'आदि गुण' शब्द दिया है। जिसका अर्थ हुआ - सिद्ध अवस्था के प्रारम्भ में ही प्रगट होने वाले गुण तथा बत्तीस योग संग्रहों का वर्णन समवायाङ्ग सूत्र के ३२ वें समवाय में किया गया है और तेतीस आशातनाओं का वर्णन समवायाङ्ग सूत्र के ३३ वें समवाय में तथा दशाश्रुतस्कन्ध की तीसरी दशा में किया गया है।

उपसंहार

इय एएसु ठाणेसु, जे भिक्खू जयइ सया।

खिप्पं सो सब्बसंसारा, विप्पमुच्चइ पंडिओ॥२१॥ त्ति बेमि॥

कठिन शब्दार्थ - एएसु ठाणेसु - इन स्थानों में, विप्पमुच्चइ - विमुक्त हो जाता है, सब्बसंसारा - समग्र संसार से।

भावार्थ - इस प्रकार इन ऊपर कहे गये स्थानों में जो भिक्षु-साधु सदा उपयोग रखता है (छोड़ने योग्य स्थानों का त्याग करता है और जानने योग्य स्थानों के स्वरूप को जानता है और ग्रहण करने योग्य स्थानों को ग्रहण करता है) वह पंडित पुरुष क्षिप्र-शीघ्र ही समस्त सांसारिक बन्धनों से विप्रमुक्त हो जाता है अर्थात् छूट जाता है। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - अठारह पापों का तीन करण तीन योग से सर्वथा त्याग करने वाला पण्डित कहलाता है।

॥ इति चरणविधि नामक इकतीसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

पमायद्वाणं णामं बत्तीसडमं अज्झयणं प्रमादस्थान नामक बत्तीसवां अध्ययन

प्रमाद, कर्म का मूल है। प्रमादस्थान नामक इस बत्तीसवें अध्ययन में विविध पहलुओं से प्रमाद के स्थलों का निर्देश करके उनसे बचने तथा अप्रमत्त वीतरागी साधक बनने की प्रेरणा की गयी है। इस अध्ययन में १११ गाथाएं हैं। उसमें से प्रथम गाथा इस प्रकार है -

अच्चंतकालस्स समूलगस्स, सब्बस्स दुक्खस्स उ जो पमोक्खो।

तं भासउ मे पडिपुण्णचित्ता, सुणेह एगंतहियं हियत्थं ॥१॥

कठिन शब्दार्थ - अच्चंतकालस्स - अत्यन्तकाल - अनादिकालिक, समूलगस्स - मूल सहित, सब्बस्स दुक्खस्स - सभी दुःखों से, पमोक्खो - प्रमोक्ष - मुक्ति का उपाय, भासउ - कहता हूं, पडिपुण्णचित्ता - प्रतिपूर्णचित्त - पूर्ण एकाग्रचित्त होकर, सुणेह - सुनो, एगंतहियं - एकान्त हितकारी, हियत्थं - हितार्थ - कल्याण के लिए।

भावार्थ - गुरु महाराज फरमाते हैं कि हे शिष्यो! अत्यन्तकाल - अनादिकाल से मिथ्यात्वादि मूल सहित रहे हुए सभी दुःखों से प्रमोक्ष - छुड़ा कर मोक्ष देने वाला जो एकान्त हितकारी और हितार्थ - कल्याणकारी उपाय है, उसका मैं कथन करता हूँ। अतः प्रतिपूर्णचित्त - एकाग्रचित्त हो कर सुनो।

विवेचन - वादीवेतालशांतिसूरि ने इस गाथा में प्रयुक्त 'अच्चंतकालस्स' शब्द की टीका करते हुए लिखा है "अन्तमतिक्रान्तोऽत्यन्तो, वस्तुनश्च द्वावन्ती-आरम्भक्षणः समाप्तिक्षणश्च, तथा च अन्यैः अपि उच्यते 'उभयान्तापरिच्छिन्ना वस्तुसत्ता नित्या इति' तत्र इह आरम्भक्षणः अन्तः परिगृह्यते तथा च अत्यन्तः- अनादि कालो यस्य सः अयम् अत्यन्तकालः।"

अर्थ - वस्तु के दो प्रकार के अन्त होते हैं, यथा - आरम्भक्षण (वस्तु का प्रारम्भ) और समाप्तिक्षण। दूसरे आचार्यों ने भी ऐसा कहा है, जिस वस्तु में आरम्भक्षण और समाप्तिक्षण न पाये जाते हों अर्थात् जिसका आदि और अन्त न हो, उस वस्तु को नित्य कहते हैं। इस गाथा में प्रयुक्त अन्त शब्द का अर्थ आरम्भ क्षण लिया जाता है अर्थात् जिस वस्तु का आरम्भ (प्रारम्भ) आदि न पाया जाता हो उसे अनादि कहते हैं। इसीलिए यहाँ अनादि काल को

अत्यन्तकाल कहा है। तात्पर्य यह है कि आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध कब हुआ है उसका आदि काल नहीं पाया जाने के कारण कर्मों का सम्बन्ध कब हुआ है, उसका आदि काल नहीं पाया जाने के कारण कर्मों का सम्बन्ध आत्मा के साथ अनादि काल से है।

सर्वज्ञ सर्वदर्शी केवली भगवान् “सर्व द्रव्य, सर्व क्षेत्र, सर्व काल, सर्व भाव जानते देखते हैं” इसका आशय यह समझना कि केवलज्ञान व केवलदर्शन के पर्याय-सर्वाधिक स्तर के (सभी अनन्त के प्रकारों में सबसे ऊँचा दर्जा अर्थात् मध्यम अनंतानंत आठवें अनन्त का बहुत ऊँचा दर्जा) होते हैं। उस ज्ञान, दर्शन के द्वारा-सभी ज्ञेय पदार्थ (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव) के सभी अविभाज्य अंश-सम्पूर्ण रूप से ‘संख्या’ आदि सभी दृष्टि से जाने देखे जाते हैं अतः केवलियों के लिए कोई भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, अनजाना अनदेखा नहीं होता है अतः उसका आदि अन्त भी जानते देखते हैं। केवलज्ञान दर्शन-ज्ञाता दृष्टा होने से भाजन के समान आधार भूत है-सभी द्रव्यादि उसके विषय रूप (ज्ञेय रूप) होने से आधेय गिने जाते हैं। आधार हमेशा बड़ा ही होता है। थाली के समान केवलज्ञान, केवलदर्शन और कटोरियों के समान द्रव्यादि। अनादि अनन्त शब्दों का व्यवहार-छद्मस्थों को समझाने के लिए किया है। केवलियों के लिए कोई भी द्रव्यादि ‘अनादि अनन्त’ नहीं होते हैं। केवलज्ञानी मित अमित सभी को जानते देखते हैं। भगवती सूत्र शतक २५ में बताई हुई लोक, अलोक के पूर्वादि दिशाओं की श्रेणियों से यह स्पष्ट हो जाता है।

दुःख मुक्ति व सुख प्राप्ति का उपाय

णाणस्स सव्वस्स पगासणाए, अण्णाणमोहस्स विवज्जणाए।

रागस्स दोसस्स य संखएणं, एगंतसोक्खं समुवेइ मोक्खं ॥२॥

कठिन शब्दार्थ - णाणस्स - ज्ञान के, पगासणाए - प्रकाशन से, अण्णाणमोहस्स - अज्ञान और मोह के, विवज्जणाए - विवर्जन-परिहार से, रागस्स - राग के, दोसस्स - द्वेष के, संखएणं - सर्वथा क्षय से, एगंतसोक्खं - एकान्त सुख रूप, समुवेइ - प्राप्त करता है, मोक्खं - मोक्ष को।

भावार्थ - सम्पूर्ण ज्ञान के प्रकाश से, अज्ञान और मोह के विवर्जन-त्याग से तथा राग और द्वेष के क्षय से एकान्त सुखकारी मोक्ष की प्राप्ति होती है।

विवेचन - प्रस्तुत गाथा में समग्र दुःखों से मुक्ति एवं एकान्त सुख प्राप्ति का उपाय

ज्ञान-दर्शन-चारित्र को बताया गया है। अर्थात् सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र ये तीनों मिल कर मोक्ष प्राप्त कराते हैं और मोक्ष के बिना दुःखों का सर्वथा अन्त नहीं होगा।

तस्सेसमग्गो गुरु-विद्ध-सेवा, विवज्जणा बाल-जणस्स दूरा।

सज्झाय-एंगंतणिसेवणा य, सुत्तत्थ-संचितणया धिई य॥३॥

कठिन शब्दार्थ - तस्स - उसका, एस - यह, मग्गो - मार्ग, गुरु-विद्ध-सेवा - गुरुजनों और वृद्धों की सेवा, विवज्जणा - विवर्जन - त्याग करना, बालजणस्स - बालजन का, दूरा- दूर से ही, सज्झाय - स्वाध्याय, एंगंतणिसेवणा - एकांत सेवन, सुत्तत्थसंचितणया- सूत्र और उसके अर्थ पर सम्यक् चिंतन करना, धिई - धृति-धैर्य रखना।

भाषार्थ - गुरु महाराज और वृद्ध मुनियों की सेवा करना, बाल-जनों अज्ञानियों के संग को दूर से ही विवर्जन त्याग देना, एकान्त में रह कर स्वाध्याय करना, सूत्र और अर्थ का चिन्तन करना तथा धैर्यपूर्वक संयम का पालन करना, यह उस मोक्ष का मार्ग (उपाय) है।

आहारमिच्छे मियमेसणिज्जं, सहायमिच्छे णिउणत्थ-बुद्धिं।

णिकेयमिच्छेज्ज विवेगजोगं, समाहिकामे समणे तवस्सी॥४॥

कठिन शब्दार्थ - आहारं - आहार की, इच्छे - इच्छा करे, मियं - परिमित, एसणिज्जं - एषणीय-निर्दोष, सहायमिच्छे - सहायक की इच्छा करे, णिउणत्थ-बुद्धिं - निपुणार्थ बुद्धि वाले, णिकेय - निकेत - योग्य स्थान, विवेगजोगं - विविक्त योग - स्त्री-पशु-नपुंसक रहित, समाहिकामे - समाधि की इच्छा रखने वाला, समणे - श्रमण, तवस्सी - तपस्वी।

भाषार्थ - समाधि को चाहने वाला, श्रमण, तपस्वी, परिमित और एषणीय-निर्दोष आहार आदि की इच्छा करे। जीवादि पदार्थों में निपुण बुद्धि वाले सहायक (शिष्यादि) की इच्छा करे और स्त्री-पशु-नपुंसक रहित योग्य स्थान की इच्छा करे।

ण वा लभेज्जा णिउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणओ समं वा।

एक्को वि पावाइं विवज्जयंतो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो॥५॥

कठिन शब्दार्थ - ण वा लभेज्जा - यदि नहीं मिले, णिउणं - निपुण, सहायं - सहायक, गुणाहियं - अधिक गुणों वाला, समं - समान, गुणओ - गुण वाला, एक्को वि- अकेला ही, पावाइं - पापों को, विवज्जयंतो - वर्जता हुआ, कामेसु - कामभोगों में, असज्जमाणो - आसक्त न होता हुआ।

भावार्थ - यदि अपने से अधिक गुण वाला अथवा अपने समान गुण वाला निपुण सहायक नहीं मिले तो अकेला ही पाप-कर्मों को वर्जता हुआ और काम-भोगों में आसक्त न होता हुआ विचरे किन्तु दुर्गुणी का संग नहीं करे।

विवेचन - इस गाथा में परिस्थिति वश एकलविहार का वर्णन किया है। यह सर्व साधारण की अपेक्षा नहीं समझना चाहिए। किन्तु गीतार्थ की अपेक्षा समझना चाहिए। जैसा कि ठाणाङ्ग सूत्र के आठवें ठाणे उद्देशक ३ में कहा है - आचार्य या गुरुदेव की आज्ञा लेकर जिनकल्प प्रतिमा या मासिकी प्रतिमा आदि अंगीकार करके साधु के अकेले विचरने रूप अभिग्रह को एकल विहार प्रतिमा कहते हैं। समर्थ और श्रद्धा तथा चारित्र आदि में दृढ़ साधु ही इसे अंगीकार कर सकता है। उसमें नीची लिखी आठ बातें होनी चाहिए -

१. सही पुरिस जाए - श्रद्धावान् - वह साधु जिनमार्ग में प्रतिपादित तत्त्व तथा आचार में दृढ़ श्रद्धा वाला हो। कोई देव तथा देवेन्द्र भी उसे सम्यक्त्व तथा चारित्र से विचलित न कर सके। ऐसा पुरुषार्थी उद्यमशील तथा हिम्मत वाला होना चाहिए।

२. सद्ये पुरिसजाए - सत्य पुरुषजात - सत्यवादी और दूसरों के लिए हित वचन बोलने वाला।

३. मेहावी पुरिसजाए - मेधावी पुरुषजात - शास्त्रों को ग्रहण करने की शक्ति वाला अथवा मर्यादा में रहने वाला।

४. बहुस्सुए - बहुश्रुत अर्थात् बहुत शास्त्रों को जानने वाला हो। सूत्र, अर्थ और तदुभय रूप आगम उत्कृष्ट कुछ कम दस पूर्व तथा जघन्य नवमें पूर्व की तीसरी आचार वस्तु को जानने वाला होना चाहिए।

५. सत्तिमं - शक्तिमान् अर्थात् समर्थ होना चाहिए। तप, सत्त्व, सूत्र, एकत्व और बल इन पांचों के लिए अपने बल की तुलना कर चुका हो।

६. अप्पाहिकरणे - अल्पाधिकरण - थोड़े वस्त्र पात्रादि वाला तथा कलह रहित हो।

७. धिइमं - धैर्यवान्चित्त की स्वस्थता वाला अर्थात् रति, अरति तथा अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों को समभाव पूर्वक सहन करने वाला हो।

८. वीरियसम्पण्णे - वीर्य सम्पन्न - परम उत्साह वाला हो।

अभी इस पंचम काल में पूर्वों का ज्ञान विच्छिन्न हो चुका है। इसलिए आगमानुसार कोई भी एकलविहारी नहीं हो सकता। यदि कोई स्वच्छन्दाचारी बनकर गुरु आज्ञा के बिना अकेला

विहार करता है तो आचारांग सूत्र के पहले श्रुतस्कन्ध के ५ वें अध्ययन के पहले उद्देशक में - अवगुण वाला बतलाया है।

१. बहुक्रीहे - बहुत क्रोधी २. बहुमाणे - बहुत मानी ३. बहुमाए - बहुत मायी (कपटी) ४. बहुलोभे - बहुत लोभी ५. बहुरणे - पाप कर्म में बहुत रत रहने वाला अथवा बहुत पाप रूपी रज वाला ६. बहुण्डे - जगत् को ठगने के लिए नट की तरह अनेक रूप धारण करने वाला ७. बहुसढे - बहुत शठ अर्थात् अत्यन्त धूर्त ८. बहुसंकप्ये - बहुत संकल्प-विकल्प करने वाला।

इस प्रकार हिंसादि आस्रवों में आसक्त और भारी कर्मा जीव एकलविहारी बन जाता है। इसके लिए हिन्दी कवि ने ऐसा कहा है -

चार कषायी लोलुपी ज्ञान नहीं गर्विष्ठ।

आप छन्दी गुरु द्रोही, आठों अवगुण अनिष्ट॥

इसलिए किसी संत को एकल विहारी नहीं होना चाहिए। अकेला विचरने वाला साधु अपनी इच्छानुसार चाहे जितनी तपश्चर्या कर ले वह सब अज्ञान तप है। एकलविहारी साधु भगवान् की आज्ञा का आराधक नहीं, किन्तु विराधक है।

दुःख का मूल

जहा य अंडप्पभवा बलागा, अंडं बलागप्पभवं जहा य।

एमेव मोहाययणं खु तण्हा, मोहं च तण्हाययणं वयंति ॥६॥

कठिन शब्दार्थ - जहा य - जिस प्रकार, अंडप्पभवा - अण्डे से उत्पन्न होती है, बलागा - बलाका-बगुली, अंडं - अण्डा, बलागप्पभवं - बलाका से उत्पन्न होता है, एमेव - इसी प्रकार, मोहाययणं - मोह का आयतन, तण्हा - तृष्णा, तण्हाययणं - तृष्णा का आयतन-जन्मस्थान।

भावार्थ - जिस प्रकार बगुला पक्षी अण्डे से उत्पन्न होता है और जिस प्रकार अण्डा बलाका (बगुला पक्षिणी) से उत्पन्न होता है इसी प्रकार निश्चय ही तृष्णा मोह का आयतन स्थान है और मोह तृष्णा का आयतन स्थान है (तृष्णा से मोह उत्पन्न होता है)। मोह और तृष्णा का पारस्परिक हेतु-हेतु-मद्भाव सम्बन्ध है, ऐसा ज्ञानी पुरुष फरमाते हैं।

विवेचन - जन्म मरण का कारण मोह है। मोह की उत्पत्ति तृष्णा से होती है और तृष्णा की उत्पत्ति मोह से, दोनों का परस्पर कार्य-कारण-भाव संबंध है।

रागो य दोसो वि य कम्मबीयं, कम्मं च मोहप्पभवं वयंति।

कम्मं च जाइमरणस्स मूलं, दुक्खं च जाइमरणं वयंति॥७॥

कठिन शब्दार्थ - रागो य दोसो - राग और द्वेष, कम्मबीयं - कर्मों के बीज, कम्म-कर्म, मोहप्पभवं - मोह से उत्पन्न होते हैं, वयंति - कहते हैं, जाइमरणस्स - जाति (जन्म) मरण का।

भावार्थ - राग और द्वेष, ये दोनों ही कर्मों के बीज रूप हैं। कर्म मोह से उत्पन्न होते हैं ऐसा ज्ञानी पुरुष कहते हैं। कर्म ही जाति (जन्म) मरण का मूल कारण है और जन्म-मरण ही दुःख है, ऐसा ज्ञानी पुरुष कहते हैं।

विवेचन - जन्म मरण ही दुःख है, यही बात १९ वें अध्ययन में भी कही गयी है यथा-

जम्म दुवस्यं जरा दुवस्यं, रोगाणि मरणाणि य।

अहो दुवस्यो हु संसारो, जत्थ कीसंति जंतवो॥१६॥

जन्म दुःख है, बुढ़ापा दुःख है, रोग दुःख है और मरण दुःख है। संसार के सभी प्राणी इन दुःखों से दुःखी हो रहे हैं। वास्तव में इन सब दुःखों का मूल कारण जन्म है। जिसका जन्म होता है उसी को मरण, रोग और व्याधि होती है। अतः ज्ञानी पुरुष फरमाते हैं कि - जन्म की ही जड़ उखाड़ देनी चाहिए। इसी जिनवाणी का अनुसरण करते हुए किसी ने कहा है -

मृत्यु मे वयों उम्ता है, मृत्यु छोड़त नाय।

अ जन्मा मरता नहीं, कर यत्त नहीं जन्माय॥

दुक्खं हयं जस्स ण होइ मोहो, मोहो हओ जस्स ण होइ तणहा।

तणहा हया जस्स ण होइ लोहो, लोहो हओ जस्स ण किंघणाइं॥८॥

कठि शब्दार्थ - दुक्खं - दुःख, हयं - हत-नष्ट हो गया, लोहो - लोभ, ण किंघणाइं-आसक्ति आदि नहीं होती।

भावार्थ - जिसके मोह नहीं है उसका दुःख हत-नष्ट हो गया। जिसका मोह हत-नष्ट हो गया उसके तृष्णा नहीं होती, जिसकी तृष्णा हत-नष्ट हो गई उसे लोभ नहीं होता और जिसका लोभ हत-नष्ट हो गया, उसके लिए आसक्ति आदि कुछ नहीं होती (उसके लिए सब पाप नष्ट हो गये) ऐसा समझना चाहिए।

मोह-उन्मूलन के उपाय

रागं च दोसं च तहेव मोहं, उद्धतुकामेण समूलजालं ।

जे जे उवाया पडिवज्जियव्वा, ते कित्तइस्सामि अहाणुपुव्विं ॥६॥

कठिन शब्दार्थ - उद्धतुकामेण - उखाड़ना चाहता है, समूलजालं - मूल सहित जाल को, उवाया - उपाय, पडिवज्जियव्वा - अपनाने चाहिये, कित्तइस्सामि - वर्णन करूंगा, अहाणुपुव्विं - अनुक्रम से।

भावार्थ - गुरु महाराज फरमाते हैं कि हे शिष्यो! राग-द्वेष और मोह के जाल को मूल सहित उखाड़ फेंकने की इच्छा वाले पुरुष को जो-जो उपाय अंगीकार करने चाहिये उनका यथानुपूर्वी - क्रमपूर्वक मैं कीर्तन - वर्णन करूंगा। उसे ध्यानपूर्वक सुनो।

रसा पगामं ण णिसेवियव्वा, पायं रसा दित्तिकरा णराणं ।

दित्तं च कामा समभिद्वंति, दुमं जहा साउफलं व पक्खी ॥१०॥

कठिन शब्दार्थ - रसा - रसों का, पगामं - प्रकाम (अत्यधिक), ण णिसेवियव्वा-सेवन नहीं करना चाहिये, पायं - प्रायः, दित्तिकरा - दीप्तिकर या दृप्तिकर (उन्माद बढ़ाने वाले), समभिद्वंति - उत्पीड़ित करते हैं, साउफलं - स्वादिष्ट फल वाले, दुमं - वृक्ष को, पक्खी - पक्षी।

भावार्थ - दूध-घृत आदि रसों का अधिक मात्रा में सेवन नहीं करना चाहिए क्योंकि प्रायः रस मनुष्यों में दीप्तिकर-कामाग्नि को दीप्त करते हैं और उद्दीप्त मनुष्य की ओर कामवासनाएँ ठीक वैसे ही दौड़ी जाती है जिस प्रकार स्वादुफल - स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष की ओर पक्षी दौड़े आते हैं।

जहा दवग्गी पउरिंधणे वणे, समारुओ णोवसमं उवेइ ।

एविंदियग्गी वि पगामभोइणो, ण बंभयारिस्स हियाय कस्सइ ॥११॥

कठिन शब्दार्थ - दवग्गी - दावाग्नि, पउरिंधणे - प्रचुर ईन्धन वाले, वणे - वन में, समारुओ - समारुत-वायु के साथ, ण उवसमं उवेइ - उपशांत नहीं होती, एवं - इसी प्रकार, इंदियग्गी - इन्द्रियरूप अग्नि, पगामभोइणो - प्रकामभोजी, बंभयारिस्स - ब्रह्मचारी की, ण हियाय - हितकर नहीं होता।

भावार्थ - जिस प्रकार प्रचुर ईन्धन-बहुत ईन्धन वाले वन में लगी हुई वायु-सहित दावामि (दावानल जंगल में लगी हुई अग्नि) उपशम-शान्त नहीं होती है इसी प्रकार प्रकामभोजी (विविध प्रकार के रसयुक्त पदार्थों को खूब भोगने वाले) किसी भी ब्रह्मचारी की इन्द्रिय रूप अग्नि शान्त नहीं होती और वह उसके लिए हितकारी भी नहीं होती है।

विविक्तसेज्जासण जंतियाणं, ओमासणाणं दमिइंदियाणं।

ण रागसत्तू धरिसेइ चित्तं, पराइओ वाहिरिवोसहेहिं॥१२॥

कठिन शब्दार्थ - विविक्तसेज्जासण - विविक्त शय्या और आसन से, जंतियाणं - यंत्रित (नियमबद्ध), ओमासणाणं - अल्पाहारी - ऊनोदरी तप करने वाले, दमिइंदियाणं - दमित इन्द्रिय, रागसत्तू - रागरूपी शत्रु, ण धरिसेइ - पराभूत नहीं कर पाते, चित्तं - चित्त को, पराइओ - पराजित, वाहिरिव - व्याधि इव - व्याधि के समान, ओसहेहिं - औषधियों से।

भावार्थ - औषधियों से पराजित दबाई हुई व्याधि के समान (जिस प्रकार उत्तम औषधियों से पराजित की हुई व्याधि फिर आक्रमण नहीं करती उसी प्रकार), स्त्री-पशु-नपुंसक रहित एकान्त शय्या-आसनादि का यंत्रित अर्थात् सेवन करने वाले, अवम अशन - कम आहार करने वाले, दमित इन्द्रिय - इन्द्रियों का दमन करने वाले पुरुषों के चित्त को राग रूपी शत्रु दबा नहीं सकता है।

जहा विरालावसहस्स मूले, ण मूसगाणं वसही पसत्था।

एमेव इत्थीणिलयस्स मज्झे, ण वंभयारिस्स खमो णिवासो॥१३॥

कठिन शब्दार्थ - विरालावसहस्स - बिल्ली के निवास स्थान के, मूले - मूल-निकट, मूसगाणं - चूहों की, वसही - आवास, ण पसत्था - प्रशस्त नहीं है, इत्थीणिलयस्स - स्त्री के मकान के, मज्झे - मध्य, ण खमो - क्षम्य (उचित) नहीं है, णिवासो - निवास।

भावार्थ - जिस प्रकार बिल्ली के रहने के स्थान के निकट मूषक-चूहों का वसति - रहना प्रशस्त नहीं है। इसी प्रकार स्त्रियों के स्थान के मध्य में ब्रह्मचारी पुरुष का निवास-रहना ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ रहने से उसके ब्रह्मचर्य में हानि पहुँचने की सम्भावना रहती है।

विवेचन - जहाँ बिल्ली रहती हो वहाँ चूहों का रहना ठीक नहीं है क्योंकि चाहे कितनी ही सावधानी रखें किन्तु किसी न किसी समय उनके मारे जाने का भय रहता ही है। इसी प्रकार स्त्री, पशु और नपुंसक युक्त मकान में ब्रह्मचारी का रहना उचित नहीं क्योंकि वह कितनी ही

सावधानी रखे तो भी कभी न कभी उसके ब्रह्मचर्य के विनाश की संभावना रहती ही है। अतः ऐसे स्थान को छोड़ देना चाहिए।

ण रूव-लावण्य-विलास-हासं, ण जंपियं इंगियपेहियं वा।

इत्थीण चित्तंसि णिवेसइत्ता, दडुं ववस्से समणे तवस्सी॥१४॥

कठिन शब्दार्थ - रूव-लावण्य-विलास-हासं - रूप, लावण्य, विलास और हास्य, जंपियं - प्रियभाषण, इंगियपेहियं - इंगित अंगचेष्टा या कटाक्ष विक्षेपादि को - कटाक्ष पूर्वक अवलोकन को, णिवेसइत्ता - स्थापित करके, दडुं - देखने का, ण ववस्से - व्यवसाय (अध्यवसाय) न करे।

भावार्थ - श्रमण, तपस्वी स्त्रियों के रूप, लावण्य, विलास और हास्य को तथा जल्पित (मधुर वचनों को) और इंगित (संकेत) एवं विविध प्रकार की शारीरिक चेष्टा तथा प्रेक्षित (कटाक्षविक्षेपादि) को अपने चित्त में स्थापित करके उन्हें रागपूर्वक देखने का प्रयत्न न करे।

अदंसणं च्चव अपत्थणं च, अचित्तणं च्चव अकित्तणं च।

इत्थीजणस्सारियझाणं-जुगं, हियं सया बंभवए रयाणं॥१५॥

कठिन शब्दार्थ - अदंसणं - अवलोकन न करना, अपत्थणं - प्रार्थना न करना, अचित्तणं - चिंतन न करना, अकित्तणं - कीर्तन न करना, इत्थीजणस्स - नारीजन का, आरियझाणं-जुगं - आर्यध्यान योग्य, बंभवए - ब्रह्मचर्य व्रत में, रयाणं - रत।

भावार्थ - सदा ब्रह्मचर्य व्रत में अनुरक्त रहने वाले और आर्यध्यानयोग्य - आर्यध्यान (धर्मध्यान, शुक्लध्यान) में तल्लीन साधुओं को स्त्रियों के अंगोपांगादि रागपूर्वक नहीं देखना, उनकी इच्छा नहीं करना, उनका चिन्तन नहीं करना और आसक्ति पूर्वक उनके रूपादि का गुणकीर्तन नहीं करना, यही उनके लिए हितकारी है।

कामं तु देवीहिं विभूसियाहिं, ण चाइया खोभइउं तिगुत्ता।

तहा वि एगंत हियं ति णच्चा, विवित्तवासो मुणीणं पसत्थो॥१६॥

कठिन शब्दार्थ - कामं तु - माना कि, देवीहिं - देवांगनाएं, विभूसियाहिं - विभूषित, ण चाइया - समर्थ नहीं है, खोभइउं - विक्षुब्ध करने में, तिगुत्ता - तीन गुणियों से गुप्त, एगंतहियं - एकान्त हितकर, विवित्तवासो - विविक्त वास, मुणीणं - मुनियों के लिए, पसत्थो - प्रशस्त।

भावाथ - भले ही मन-वचन-काया रूप तीन गुप्तियों से गुप्त ऐसे समर्थ मुनि जो वस्त्राभूषणों से सुशोभित एवं मनोहर देवांगनाओं द्वारा भी अलंकृत और क्षोभित अर्थात् ब्रह्मचर्य व्रत से डिगाये न जा सकते हों, तो भी एकान्त हितकारी ऐसा जान कर मुनियों के लिए विविक्त वास (स्त्री, पशु, नपुंसक से रहित स्थान) का सेवन करना ही प्रशस्त बतलाया गया है।

मोक्खाभिकंखिस्स उ माणवस्स, संसार-भीरुस्स ठियस्स धम्मे।

ण्यारिसं दुत्तरमत्थि लोए, जहित्थिओ बालमणोहराओ ॥१७॥

कठिन शब्दार्थ - मोक्खाभिकंखिस्स - मोक्षाभिलाषी, माणवस्स - मानव के, संसार भीरुस्स - संसार से भीरु, ठियस्स धम्मे - धर्म में स्थित, ए्यारिसं - इसके समान, दुत्तरं - दुस्तर, जह - जितनी कि, इत्थिओ - स्त्रियाँ, बालमणोहराओ - अज्ञानियों के मन को हरण करने वाली।

भावाथ - मोक्ष की इच्छा रखने वाले, संसार से डरने वाले और धर्म में स्थित पुरुष के लिये इस लोक में एतादृश - ऐसा दुस्तर - कठिन कार्य कोई नहीं जितना अज्ञानी जीवों के मन को हरण करने वाली स्त्रियों को त्यागना कठिन है।

ए ए संगे समइक्कमित्ता, सुहुत्तरा चेव भवंति सेसां।

जहा महासागरमुत्तरित्ता, णई भवे अवि गंगा समाणा ॥१८॥

कठिन शब्दार्थ - संगे - संगों का, समइक्कमित्ता - सम्यक् अतिक्रमण करने पर, सुहुत्तरा - सुखोत्तर - सुख से पार करने योग्य, महासागरं - महासागर को, उत्तरित्ता - पार करने पर, णई - नदी, गंगा समाणा - गंगा के समान।

भावाथ - जैसे महासागर को तिर कर पार हो जाने के बाद गंगा सरीखी नदी को पार करना सरल है वैसे ही इन संगों (स्त्रियों की आसक्ति) को छोड़ देने के बाद दूसरे प्रकार की सभी आसक्तियाँ सुख से पार करने योग्य होती हैं।

विवेचन - प्रस्तुत ६ गाथाओं (क्रं. १० से १८ तक) में चारित्र मोह को जड़ से उखाड़ने के उपाय बतलाए गये हैं। चारित्र मोह को बढ़ाने में सबसे प्रबल कारण काम विकार हैं और काम विकार का प्रबल निमित्त स्त्री है। इसलिये इन गाथाओं में प्रमुख रूप से स्त्री संग से एवं ऐसे निमित्तों से दूर रहने पर बल दिया गया है।

कामभोगों की भयंकरता

कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं, सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स।

जं काइयं माणसियं च किंचि, तस्संतगं गच्छइ वीयरामो ॥१६॥

कठिन शब्दार्थ - कामाणुगिद्धिप्पभवं - कामानुगृद्धिप्रभव - कामासक्ति से उत्पन्न, सदेवगस्स - देवों सहित, काइयं - कायिक, माणसियं - मानसिक, तस्संतगं - उन का अन्त, वीयरामो - वीतराग।

भावार्थ - देवलोक सहित समग्र लोक में जो कुछ भी कायिक - शारीरिक और मानसिक दुःख हैं, वे सब वास्तव में कामभोगों की आसक्ति से ही उत्पन्न हुए हैं। वीतराग पुरुष ही उन दुःखों का पार पा सकता है।

जहा य किंपागफला मणोरमा, रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा।

ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा, एओवमा कामगुणा विवागे ॥२०॥

कठिन शब्दार्थ - किंपागफला - किम्पाक फल, मणोरमा - मनोरम, रसेण वण्णेण य - रस और वर्ण (रंग रूप) से, भुज्जमाणा - खाने पर, खुड्डए - विनाश कर देते हैं, जीविय - जीवन का, पच्चमाणा - परिपाक में, एओवमा - इन्हीं के समान, कामगुणा - कामभोगों के, विवागे - विपाक।

भावार्थ - जैसे किंपाक वृक्ष के फल रस से मधुर और खाने में भी स्वादिष्ट लगते हैं किन्तु परिपाक के समय (खाने के थोड़े समय बाद ही) वे सोपक्रम आयु वाले प्राणियों के जीवन को नष्ट कर देते हैं। यही उपमा कामभोगों के विपाक (परिणामों) की होती है अर्थात् ये भोगते समय तो अच्छे लगते हैं किन्तु इनका परिणाम महा दुःखदायी होता है।

इन्द्रिय विषयों के प्रति वीतरागता

जे इंदियाणं विसया मणुण्णा, ण तेसु भावं णिसिरे कयाइ।

ण यामणुण्णोसु मणं पि कुज्जा, समाहिकामे समणे तवस्सी ॥२१॥

कठिन शब्दार्थ - इंदियाणं - इन्द्रियों के, विसया - विषय, मणुण्णा - मनोः, भावं - भाव, ण णिसिरे - न करे, अमणुण्णोसु - अमनोः में।

भावार्थ - समाधि को चाहने वाला श्रमण, तपस्वी इन्द्रियों के जो मनोज्ञ विषय हैं उनमें कभी भी रागभाव न करे और अमनोज्ञ विषयों में मन से भी द्वेष भाव न करे।

चक्षुस्स रूवं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुण्णमाहु।

तं दोसहेउं अमणुण्णमाहु, समो य जो तेसु स वीयरारो ॥२२॥

कठिन शब्दार्थ - चक्षुस्स - चक्षु का, रूवं - रूप, गहणं - ग्रहण - ग्राह्य विषय, वयंति - कहा जाता है, रागहेउं - राग का हेतु (कारण), मणुण्णं - मनोज्ञ, आहु - कहा है, दोसहेउं - दोष हेतु, अमणुण्णं - अमनोज्ञ, समो - सम रहता है, वीयरारो - वीतराग।

भावार्थ - रूप, चक्षु इन्द्रिय का ग्रहण (विषय) कहते हैं और जो रूप मनोज्ञ है उसे रागहेतु - राग का कारण कहते हैं और जो रूप अमनोज्ञ है उसे द्वेष हेतु - द्वेष का कारण कहते हैं किन्तु जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूपों में समभाव रखता है, वह वीतराग है।

रूवस्स चक्षुं गहणं वयंति, चक्षुस्स रूवं गहणं वयंति।

रागस्स हेउं समणुण्णमाहु, दोसस्स हेउं अमणुण्णमाहु ॥२३॥

भावार्थ - चक्षु को रूप का ग्राहक कहते हैं और रूप को चक्षु का ग्राह्य (ग्रहण करने योग्य) कहते हैं। ज्ञानी पुरुष मनोज्ञ रूप को राग का हेतु - कारण कहते हैं और अमनोज्ञ रूप को द्वेष का हेतु - कारण कहते हैं।

रूवेषु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं।

रागाउरे से जह वा पयंगे, आलोयलोले समुवेइ मच्चुं ॥२४॥

कठिन शब्दार्थ - रूवेषु - रूपों में, गिद्धि - गृद्धि-आसक्ति, उवेइ - रखता है, तिव्वं - तीव्र, अकालियं - अकाल में ही, पावइ - पाता है, विणासं - विनाश को, रागाउरे - रागातुर, पयंगे - पतंगा, आलोयलोले - प्रकाश लोलुप, समुवेइ - प्राप्त होता है, मच्चुं - मृत्यु को।

भावार्थ - जैसे आलोक लोक - दीपक के प्रकाश का लोलुपी रागातुर - राग से विद्वल पतंगिया दीपक की लौ पर गिर कर मृत्यु को प्राप्त होता है वैसे ही जो पुरुष रूप में तीव्र गृद्धि (आसक्ति) भाव को रखता है वह अकाल में ही विनाश को अर्थात् मृत्यु को प्राप्त होता है।

जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं, तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं।

दुदंतदोसेण सएण जंतु, ण किंचि रूवं अवरुज्जइ से ॥२५॥

कठिन शब्दार्थ - जे - जो, दोसं - द्वेष, तंसि क्खणे - उसी क्षण, दुदंतदोसेण - दुर्दान्त दोष से, सएण - अपने-स्वयं के ही, जंतू - प्राणी, किंचि - कुछ भी, ण अवरुज्झइ- अपराध नहीं करता है।

भावार्थ - जो जीव अमनोज्ञ रूप में तीव्र द्वेष को प्राप्त होता है वह प्राणी अपने ही दुर्दान्त दोष - तीव्र दोष से उसी क्षण में दुःख को प्राप्त होता है इसमें रूप का कुछ भी अपराध (दोष) नहीं है, किन्तु वह जीव अपने ही दोष से स्वयं दुःखी होता है।

एगंतरत्ते रुइरंसि रूवे, अतालिसे से कुणइ पओसं।

दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले, ण लिप्पइ तेण मुणी विरागो॥२६॥

कठिन शब्दार्थ - एगंतरत्ते - एकान्तरक्त - अत्यंत आसक्त-अनुरक्त, रुइरंसि - रुचिर (सुंदर), रूवे - रूप में, अतालिसे - अतादृश - कुरूप में, कुणइ - करता है, पओसं - प्रद्वेष, दुक्खस्स - दुःख की, संपीलमुवेइ - पीड़ा को प्राप्त होता है, बाले - अज्ञानी, ण लिप्पइ - लिप्त नहीं होता, विरागो - विरक्त - वीतराग।

भावार्थ - जो जीव सुन्दर रूप में अत्यन्त अनुरक्त होता है और असुन्दर रूप में द्वेष करता है, वह बाल (अज्ञानी) जीव अत्यन्त दुःख एवं पीड़ा को प्राप्त होता है किन्तु वीतराग मुनि उस दुःख से लिप्त नहीं होता अर्थात् वीतराग मुनि को वह दुःख प्राप्त नहीं होता है।

रूवाणुगासाणुगए य जीवे, चराचरे हिंसइ षेगरूवे।

चित्तेहि ते परितावेइ बाले, पीलेइ अतट्टगुरु किलिट्ठे॥२७॥

कठिन शब्दार्थ - रूवाणुगासाणुगए - रूपानुगाशानुगत - रूप की आशा का अनुगमन करने वाला, चराचरे - चर-अचर (त्रस और स्थावर), हिंसइ - हिंसा करता है, षेगरूवे - अनेक प्रकार के, चित्तेहि - चित्र - विभिन्न प्रकार के, परितावेइ - परिताप उपजाता है, पीलेइ - पीड़ित करता है, अतट्टगुरु - आत्मार्थ गुरु - एक मात्र अपने ही स्वार्थ को महत्त्व देने वाला, किलिट्ठे - क्लिष्ट कुटिल।

भावार्थ - रूप की आशा से उसका अनुसरण करने वाला अर्थात् रूप की आसक्ति में फँसा हुआ जीव अनेक प्रकार के चराचर (त्रस और स्थावर) प्राणियों की हिंसा करता है और वह बाल (अज्ञानी जीव) उन जीवों को अनेक प्रकार के शस्त्रों से परिताप उपजाता है और अपने ही स्वार्थ में तल्लीन बना हुआ वह कुटिल जीव अनेक जीवों को पीड़ित करता है।

रूवाणुवाण परिग्रहेण, उप्पायणे रक्खण-सण्णियोगे।

वए वियोगे य कहं सुहं से, संभोग काले य अतित्तिलाभे ॥२८॥

कठिन शब्दार्थ - रूवाणुवाण - रूपानुपात - रूप में अनुपात-अनुपात, परिग्रहेण - परिग्रह के कारण, उप्पायणे - उत्पादन में, रक्खण-सण्णियोगे - संरक्षण और सन्मियोग (व्यापार-विनिमय) में, वए - व्यय, वियोगे - वियोग, कहं - कैसे, सुहं - सुख को, संभोग काले - उपभोग काल में, अतित्तिलाभे - अतृप्ति ही प्राप्त होती है।

भावार्थ - रूप में आसक्त, परिग्रह में मूर्च्छित बने हुए को उस रूपवान् पदार्थ को उत्पन्न करने में, उसकी रक्षा करने में, सम्यक् प्रकार से उपयोग करने में और उसका विनाश हो जाने पर तथा वियोग हो जाने पर कैसे सुख को प्राप्त हो सकता है अर्थात् सुख प्राप्त नहीं हो सकता, प्रत्युत दुःख ही होता है और उसका उपभोग करने के समय में भी उसे तृप्ति न होने के कारण दुःख ही होता है।

रूवे अतित्ते य परिग्रहम्मि, सत्तोवसत्तो ण उवेइ तुट्ठिं।

अतुट्ठि-दोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययइ अदत्तं ॥२९॥

कठिन शब्दार्थ - रूवे - रूप में, अतित्ते - अतृप्त, परिग्रहम्मि - परिग्रह में, सत्तोवसत्तो - सक्त उपसक्त - आसक्त और अत्यंत आसक्त, तुट्ठिं - संतुष्टि, अतुट्ठि-दोसेण - असंतोष के दोष से, दुही - दुःखी, परस्स - दूसरों की, आययइ - ग्रहण करता है, अदत्तं - बिना दिये, लोभाविले - लोभ से आविल (व्याकुल) व्यक्ति।

भावार्थ - रूप में अतृप्त बना हुआ और रूप विषयक परिग्रह में आसक्त एवं विशेष आसक्त बना हुआ जीव संतोष को प्राप्त नहीं होता। अतुष्टिदोष - असंतोष रूपी दोष से दुःखी बना हुआ तथा लोभ से मलिन चित्त वाला जीव दूसरों की अदत्त-बिना दी हुई वस्तुओं को ग्रहण करता है (अपनी इष्ट वस्तु को प्राप्त करने के लिए चोरी भी करता है)।

तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो, रूवे अतित्तस्स परिग्रहे य।

मायामुसं वट्ठइ लोभदोसा, तत्था वि दुक्खा ण विमुच्चइ से ॥३०॥

कठिन शब्दार्थ - तण्हाभिभूयस्स - तृष्णा से अभिभूत, अदत्तहारिणो - दूसरों की वस्तुएं हरने (चुराने) वाले, मायामुसं - कपट और झूठ (माया मृषावाद), वट्ठइ - बढ़ जाता है, लोभदोसा - लोभ के दोष से।

भावार्थ - तृष्णा के वशीभूत बने हुए बिना दी हुई रूपवान् वस्तु को चुरा कर लेने वाले और रूप विषयक परिग्रह में अतृप्त प्राणी के लोभ रूपी दोष से माया मृषावाद (कपट पूर्वक असत्य भाषण) की वृद्धि होती है तो भी (कपट पूर्वक झूठ बोलने पर भी) वह दुःख से विप्रमुक्त नहीं होता है अर्थात् नहीं छूटता है।

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य, पओग-काले य दुही दुंते।

एवं अदत्ताणि समाययंतो, रूवे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥३१॥

कठिन शब्दार्थ - मोसस्स - मृषा - झूठ बोलने के, पच्छा - बाद में, पुरत्थओ - पहले, पओग-काले - प्रयोगकाल, दुंते - अंत दुःख रूप, अदत्ताणि समाययंतो - चोरी करके दूसरों की वस्तुओं का अपहरण करने वाला, अतित्तो - अतृप्त होकर, दुहिओ - दुःखित, अणिस्सो- अनिश्र - आश्रयहीन।

भावार्थ - झूठ बोलने के पहले और पीछे तथा प्रयोगकाल अर्थात् झूठ बोलते समय भी दुरन्त (दुष्ट हृदय वाला वह) जीव दुःखी ही रहता है। इसी प्रकार रूप में अतृप्त जीव बिना दी हुई रूपवान् वस्तुओं को सम आददान - ग्रहण करता हुआ सहाय रहित और दुःखी होता है।

रूवाणुरत्तस्स णरस्स एवं, कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि।

तत्थोवभोगे वि किलेस-दुक्खं, णिव्वत्तइ जस्स कएण दुक्खं ॥३२॥

कठिन शब्दार्थ - रूवाणुरत्तस्स णरस्स - रूप में अनुरक्त मनुष्य को, कत्तो - कहां से, सुहं - सुख, होज्ज - हो सकता है, कयाइ - कब, किंचि - किंचिन्मात्र, तत्थोवभोगे वि - उसके उपभोग में भी, किलेस-दुक्खं - क्लेश और दुःख ही, णिव्वत्तइ - प्राप्त करता है, जस्स कएण - जिसे पाने के लिए।

भावार्थ - इस प्रकार रूप में आसक्त बने हुए मनुष्यों को सुख कहाँ हो सकता है अर्थात् उसे कभी भी किञ्चिन्मात्र सुख प्राप्त नहीं हो सकता। जिस रूपवान् वस्तु को प्राप्त करने के लिए जीव ने दुःख - अपार कष्ट उठाया था, उस रूपवान् पदार्थ के उपभोग में भी वह अत्यन्त क्लेश और दुःख पाता है अर्थात् तृप्ति न होने के कारण उसे दुःख होता है।

एमेव रूवम्मि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोह-परंपराओ।

पदुद्धित्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥३३॥

कठिन शब्दार्थ - रूवम्भि - रूप में, पओसं गओ - प्रद्वेष करने वाला, दुक्खोह परंपराओ - दुःख ओघपरम्परा - दुःखों की परम्पराएं, पदुद्धचित्तो - द्वेष युक्त चित्त वाला, चिणाइ - संचय करता है, कम्मं - कर्मों का, पुणो - पुनः, दुहं - दुःख रूप, विवागे - विपाक में।

भावार्थ - इसी प्रकार अमनोज्ञ रूप में द्वेष करने वाला जीव उत्तरोत्तर दुःख समूह की परंपरा को प्राप्त होता है और अतिशय द्वेष से दूषित चित्त वाला वह जीव अशुभ कर्म को बांधता है। जिससे उसे फिर विपाक के समय, कर्मों का फल भोगते समय दुःख होता है।

रूवे विरत्तो मणुओ विसोगो, एण दुक्खोह परंपरेण।

ण लिप्पइ भवमज्जे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणी-पलासं ॥३४॥

कठिन शब्दार्थ - रूवे - रूप में, विरत्तो - विरक्त, मणुओ - मनुष्य, विसोगो - शोक-रहित, दुक्खोह परंपरेण - दुःखों की परंपरा से, भवमज्जे - संसार में, संतो वि - रहता हुआ भी, जलेण - जल से, पोक्खरिणी-पलासं - पुष्करिणी (कमलिनी) का पत्ता।

भावार्थ - जिस प्रकार पुष्करिणी पलाश - जल में उत्पन्न हुआ कमल का पत्ता जल में रहता हुआ भी जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार रूप में विरक्त (रागद्वेष रहित) मनुष्य शोक-रहित होता है और संसार में रहता हुआ भी इस रूपविषयक दुःखौघपरम्परा - दुःख समूह की परम्परा से लिप्त नहीं होता।

विवेचन - प्रस्तुत गाथाओं (क्रं. २१ से ३४ तक) में रूप से संबंधित राग द्वेष का त्याग करने का उपाय बताया गया है। रूप को चक्षु का ग्राह्य विषय और चक्षु को रूप का ग्राहक बताया है। इस प्रकार दोनों में ग्राह्य-ग्राहक भाव है। रूप प्रिय है तो राग का और अप्रिय है तो द्वेष का कारण बन जाता है। वीतरागी साधक दोनों पर समभाव रखता है। वह प्रिय पर राग और अप्रिय पर द्वेष नहीं करता। जो मनोज्ञ रूप पर अनुरक्त और आसक्त होता है, वह प्रकाश लोभी पतंगे की तरह अकाल में ही विनष्ट हो जाता है इसी प्रकार जो अमनोज्ञ रूप पर द्वेष करता है वह तत्काल दुःख पाता है। अच्छे बुरे रूप का इसमें कोई अपराध नहीं, यह व्यक्ति की दृष्टि और मनोभावों पर निर्भर है। इस प्रकार इन गाथाओं में चक्षुरिन्द्रिय और रूप दोनों पर नियन्त्रण रखने की प्रेरणा दी गई है। जो रूपवान् वस्तुओं के बीच रहते हुए भी जल कमलवत् निर्लिप्त रहता है, वह शांति और समाधि को प्राप्त करता है।

शब्द के प्रति रागद्वेष से मुक्त होने का उपाय

सोयस्स सहं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुण्णमाहु।

तं दोसहेउं अमणुण्णमाहु, समो य जो तेसु स वीयरगो ॥३५॥

कठिन शब्दार्थ - सोयस्स - श्रोत्रेन्द्रिय का, सहं - शब्द को, गहणं - ग्राह्य-विषय।

भावार्थ - शब्द को श्रोत्रेन्द्रिय का ग्राह्य - विषय कहते हैं और जो मनोज्ञ शब्द है उसे रागहेतु - राग का कारण कहते हैं और जो अमनोज्ञ शब्द है उसे द्वेष का हेतु - कारण कहते हैं। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दों में समभाव रखता है वह वीतरागी है, उसे किसी प्रकार का दुःख नहीं होता है।

सहस्स सोयं गहणं वयंति, सोयस्स सहं गहणं वयंति।

रागस्स हेउं समणुण्णमाहु, दोसस्स हेउं अमणुण्णमाहु ॥३६॥

कठिन शब्दार्थ - सहस्स - शब्द का, सोयं - श्रोत्रेन्द्रिय को।

भावार्थ - श्रोत्रेन्द्रिय को शब्द का ग्राहक कहते हैं और शब्द को श्रोत्रेन्द्रिय का ग्राह्य कहते हैं। ज्ञानी पुरुष समनोज्ञ - मनोज्ञ शब्द को राग का हेतु कहते हैं और अमनोज्ञ शब्द को द्वेष का हेतु कहते हैं।

सहेसु जो गिद्धि-मुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं।

रागाउरे हरिणमिगे व मुद्धे, सहे अतित्ते समुवेइ मच्चुं ॥३७॥

कठिन शब्दार्थ - सहेसु - शब्दों में, अकालियं - अकाल में ही, रागाउरे - रागातुर, हरिण - हरिण, मिगे - मृग।

भावार्थ - जिस प्रकार रागातुर - संगीत के राग में आसक्त एवं मुग्ध बना हुआ भोला-अज्ञानी हरिण शब्द में अतृप्त रहता हुआ मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार जो जीव शब्दों में तीव्र गृद्धि-आसक्ति भाव को रखता है वह अकाल में ही विनाश-मृत्यु को प्राप्त होता है।

जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं, तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं।

जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं, तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं।

दुहंत-दोसेण सएण जंतू, ण किंचि सहं अवरुज्झइ से ॥३८॥

भावार्थ - जो जीव अमनोज्ञ शब्द में तीव्र द्वेष करता है वह प्राणी अपने ही दुर्दान्तदोष-

तीव्र दोष से उसी क्षण में दुःख को प्राप्त होता है। इसमें शब्द का कुछ भी अपराध नहीं है, वह जीव अपने ही दोष से स्वयं दुःखी होता है।

एगंतरत्ते रुइरंसि सद्दे, अतालिसे से कुणइ पओसं।

दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले, ण लिप्पइ तेण मुणी विरागो ॥३६॥

भावार्थ - जो जीव प्रिय शब्द में अत्यन्त अनुरक्त होता है तथा अप्रिय शब्द में द्वेष करता है वह बाल-अज्ञानी जीव अत्यन्त दुःख एवं पीड़ा को प्राप्त होता है, किन्तु वीतराग मुनि उस दुःख से लिप्त नहीं होता है (दुःखी नहीं होता है)।

सद्दाणुगासाणुगए य जीवे, चराचरे हिंसइ णेगरूवे।

चित्तेहि ते परितावेइ बाले, पीलेइ अत्तइगुरू किलिट्ठे ॥४०॥

कठिन शब्दार्थ - सद्दाणुगासाणुगए - शब्दानुगाशानुगत।

भावार्थ - शब्दानुगाशानुगत-शब्द की आशा से उसका अनुसरण करने वाला अर्थात् शब्द की आसक्ति में फँसा हुआ जीव अनेक प्रकार के चराचर-त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है और वह बाल (अज्ञानी) जीव उन प्राणियों को अनेक प्रकार के शस्त्रों से परिताप उपजाता है और अपने ही स्वार्थ में तल्लीन बना हुआ वह क्लिष्ट-कुटिल जीव अनेक जीवों को पीड़ित करता है।

सद्दाणुवाएण परिग्गहेण, उप्पायणे रक्खण-सण्णियोगे।

वए वियोगे य क्कहं सुहं से, संभोगे-काले य अतित्तिलाभे ॥४१॥

कठिन शब्दार्थ - सद्दाणुवाएण - शब्दानुपात।

भावार्थ - शब्दानुपात - शब्द के विषय में आसक्त एवं परिगृहीत-मूर्छित बने हुए जीव को प्रिय शब्दादि द्रव्यों को उत्पन्न करने में, उनकी रक्षा करने में, सम्यक् प्रकार से उपयोग करने में, उसका विनाश हो जाने पर और उसका वियोग हो जाने पर कैसे सुख प्राप्त हो सकता है, प्रत्युत दुःख ही होता है। उसका उपभोग करने के समय में भी उसे तृप्ति न होने के कारण दुःख ही होता है।

सद्दे अतित्ते य परिग्गहम्मि, सत्तोवसत्तो ण उवेइ तुट्ठिं।

अतुट्ठि-दोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययइ अदत्तं ॥४२॥

भावार्थ - शब्द में अतृप्त बना हुआ और शब्द विषयक परिग्रह में आसक्त एवं विशेष आसक्त बना हुआ जीव संतोष को प्राप्त नहीं होता। असंतोष रूपी दोष से दुःखी बना हुआ तथा लोभ से मलिन चित्त वाला जीव दूसरों की अदत्त - बिना दी हुई वस्तुओं को ग्रहण (चोरी) करता है।

तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो, सद्दे अतित्तस्स परिग्गहे य।

मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा, तत्थावि दुक्खा ण विमुच्चइ से ॥४३॥

कठिन शब्दार्थ - तण्हाभिभूयस्स - तृष्णाभिभूत, लोभदोसा - लोभ रूपी दोष से।

भावार्थ - तृष्णाभिभूत - तृष्णा के वशीभूत बने हुए, बिना दिये ही प्रिय शब्द वाले द्रव्यों को चुरा कर लेने वाले और शब्द विषयक परिग्रह में अतृप्त प्राणी के लोभ रूपी दोष से मायामृषावाद की वृद्धि होती है तथापि वह दुःख से नहीं छूटता है।

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य, पओग-काले य दुही दुरंते।

एवं अदत्ताणि समाययंतो, सद्दे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥४४॥

भावार्थ - झूठ बोलने से पहले और पीछे तथा प्रयोगकाल - झूठ बोलते समय भी दुरन्त (दुष्ट हृदय वाला) जीव दुःखी ही रहता है, इसी प्रकार शब्द में अतृप्त जीव बिना दिये हुए प्रिय शब्दादि द्रव्यों को ग्रहण करता हुआ अनिश्र - सहाय रहित और दुःखी होता है।

सद्दाणुरत्तस्स णरस्स एवं, कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि।

तत्थोवभोगे वि किलेस-दुक्खं, णिव्वत्तइ जस्स कएण दुक्खं ॥४५॥

कठिन शब्दार्थ - सद्दाणुरत्तस्स - शब्द में आसक्त बने हुए।

भावार्थ - इस प्रकार शब्द में आसक्त बने हुए मनुष्य को सुख कहाँ से हो सकता है? अर्थात् उसे कभी भी किञ्चिन्मात्र सुख प्राप्त नहीं हो सकता। जिन प्रिय शब्दादि द्रव्यों को प्राप्त करने के लिये जीव ने अपार कष्ट उठाया था उनके उपभोग में भी वह अत्यन्त क्लेश और दुःख पाता है (तृप्ति न होने के कारण उसे दुःख होता है)।

एमेव सद्दम्मि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोह-परंपराओ।

पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥४६॥

भावार्थ - इसी प्रकार अप्रिय शब्द में द्वेष करने वाला जीव दुःखीपरम्परा - उत्तरोत्तर

दुःख समूह की परम्परा को प्राप्त होता है और प्रद्विष्ट चित्त - अतिशय द्वेष से दूषित चित्त वाला वह जीव अशुभ कर्म को चय करता है अर्थात् बांधता है जिससे उसे फिर विपाक (कर्म-भोग) के समय दुःख होता है।

सद्दे विरक्तो मणुओ विसोगो, एणण दुक्खोह-परंपरेण।

ण लिप्पइ भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणी-पलासं ॥४७॥

भावार्थ - जिस प्रकार पुष्करिणी पलाश - जल में उत्पन्न हुए कमल का पत्ता जल में रहता हुआ भी जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार शब्द में विरक्त मनुष्य शोक रहित होता है और संसार में रहता हुआ भी इस शब्द विषयक दुःखौघपरम्परा - उत्तरोत्तर दुःख-समूह की परम्परा से लिप्त नहीं होता है।

विवेचन - प्रस्तुत गाथाओं (क्रं. ३५ से ४७ तक) में श्रोत्रेन्द्रिय के विषय, शब्द से रागद्वेष विमुक्त होने की प्रेरणा प्रदान की गयी है। जो श्रोत्रेन्द्रिय विषय में तीव्र आसक्ति रखता है वह शब्द मुग्ध हरिण के समान अकाल में मृत्यु को प्राप्त कर अपनी दुःख परंपरा को बढ़ा लेता है। जो शब्द में आसक्त नहीं होता, प्रिय शब्द में राग और अप्रिय में द्वेष नहीं करता, वही वीतराग कहलाता है।

हरिण-मृगे - स्पष्टीकरण - यद्यपि 'हरिण' और 'मृग' दोनों शब्द समानार्थक हैं, तथापि मृग-शब्द अनेकार्थक (पशु, मृगशिरा नक्षत्र, हाथी की एक जाति और हरिण आदि अनेक अर्थों का वाचक) होने से यहाँ केवल 'हरिण' शब्द के अर्थ में द्योतित करने हेतु 'हरिण-मृग' (हरिण-वाचक मृग) शब्द प्रयुक्त किया गया है।

गंध के प्रति राग-द्वेष से मुक्त होने का उपाय

घाणस्स गंधं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुण्णमाहु।

तं दोस-हेउं अमणुण्णमाहु, समो य जो तेसु स वीयरगो ॥४८॥

कठिन शब्दार्थ - घाणस्स - घ्राणेन्द्रिय का, गंधं - गंध को।

भावार्थ - गन्ध को घ्राणेन्द्रिय का ग्रहण (विषय) कहते हैं। जो गन्ध मनोज्ञ है उस सुगन्ध को राग का कारण कहते हैं और जो गन्ध अमनोज्ञ है उस दुर्गन्ध को द्वेष का हेतु-कारण कहते हैं किन्तु जो उन सुगन्ध और दुर्गन्ध में समभाव रखता है, वह वीतराग है।

गंधस्स घाणं गहणं वयंति, घाणस्स गंधं गहणं वयंति ।

रागस्स हेउं समणुण्णमाहु, दोसस्स हेउं अमणुण्णमाहु ॥४६ ॥

कठिन शब्दार्थ - गंधस्स - गंध का, घाणं - घ्राणेन्द्रिय को ।

भावार्थ - घ्राणेन्द्रिय को गन्ध का ग्राहक (ग्रहण करने वाला) कहते हैं और गन्ध को घ्राणेन्द्रिय का ग्राह्य (ग्रहण करने योग्य) कहते हैं। ज्ञानी पुरुष समनोज्ञ गन्ध को राग का हेतु-कारण कहते हैं और अमनोज्ञ गन्ध को द्वेष का हेतु-कारण कहते हैं।

गंधेसु जो गिद्धिमुवेइ तिब्बं, अकालियं पावइ से विणासं ।

रागाउरे ओसहिगंधगिद्धे, सप्पे बिलाओ विव णिक्खमंते ॥५० ॥

कठिन शब्दार्थ - गंधेसु - गंध में, ओसहिगंधगिद्धे - औषधि के गन्ध में आसक्त, सप्पे - सर्प, बिलाओ - बिल से, णिक्खमंते - निकल कर।

भावार्थ - जो जीव गन्ध में तीव्र गृद्धि-आसक्ति रखता है वह चन्दनादि औषधियों की सुगन्ध में गृद्ध-आसक्त एवं रागातुर होकर अपने बिल से बाहर निकले हुए सर्प के समान अकाल में ही विनाश को अर्थात् मृत्यु को प्राप्त होता है।

ये यावि दोसं समुवेइ तिब्बं, तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं ।

दुदंतदोसेण सएण जंतू, ण किंचि गंधं अवरुज्जइ से ॥५१ ॥

भावार्थ - जो जीव दुर्गन्ध में तीव्र द्वेष को प्राप्त होता है वह प्राणी अपने ही दुर्दान्त (तीव्र) दोष से उसी क्षण में दुःख को प्राप्त होता है, इसमें गन्ध का कुछ भी अपराध नहीं है किन्तु वह जीव अपने ही दोष से स्वयं दुःखी होता है।

एगंतरत्ते रुइरंसि गंधे, अतालिसे से कुणइ पओसं ।

दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले, ण लिप्पइ तेण मुणी विरागो ॥५२ ॥

भावार्थ - जो जीव रुचिर-श्रेष्ठ गन्ध में अत्यन्त अनुरक्त होता है और दुर्गन्ध से द्वेष करता है वह बाल-अज्ञानी जीव अत्यन्त दुःख एवं पीड़ा को प्राप्त होता है किन्तु बीतराग मुनि उस दुःख से लिप्त नहीं होता है।

गंधाणुगासाणुगए य जीवे, चराचरे हिंसइ णेगरूवे ।

चित्तेहि ते परितावेइ बाले, पीलेइ अतट्टगुरू किलिट्ठे ॥५३ ॥

कठिन शब्दार्थ - गंधाणुगासानुगत - गंधानुगाशानुगत - गंध की आशा के पीछे भागता हुआ।

भावार्थ - गंधानुगाशानुगत - गन्ध की आशा से उसका अनुसरण करने वाला अर्थात् गन्ध की आसक्ति में फँसा हुआ जीव अनेक प्रकार के चराचर - त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है और वह बाल-अज्ञानी जीव उन जीवों को अनेक चित्रों से अर्थात् उपायों से परिताप उपजाता है और अपने ही स्वार्थ में तल्लीन बना हुआ वह क्लिष्ट-कुटिल जीव अनेक जीवों को पीड़ित करता है।

गंधाणुवाएण परिग्गहेण, उप्पायणे रक्खण-सण्णियोगे।

वए वियोगे य क्हं सुहं से, संभोग-काले य अतित्तिलाभे॥१४॥

कठिन शब्दार्थ - गंधाणुवाएण - गंधानुपात - गंध में आसक्त।

भावार्थ - गन्ध में आसक्त एवं परिग्रह से मूर्छित बने हुए जीव को उसे उत्पन्न करने में, उसकी रक्षा करने में, सम्यक् प्रकार से उपयोग करने में, उसका विनाश तथा वियोग हो जाने पर कैसे सुख प्राप्त हो सकता है अर्थात् कभी सुख प्राप्त नहीं हो सकता, प्रत्युत दुःख ही होता है और उसका उपभोग करने के समय में भी उसे तृप्ति न होने के कारण दुःख ही होता है।

गंधे अतित्ते य परिग्गहम्मि, सत्तोवसत्तो ण उवेइ तुट्ठिं।

अतुट्ठि-दोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययइ अदत्तं॥१५॥

कठिन शब्दार्थ - गंधे - गंध में।

भावार्थ - गन्ध में अतृप्त बना हुआ और गन्ध विषयक परिग्रह में आसक्त एवं विशेष आसक्त बना हुआ जीव संतोष को प्राप्त नहीं होता है, अतुष्टि दोष - असंतोष रूपी दोष से दुःखी बना हुआ तथा लोभ से मलिन चित्त वाला जीव दूसरों की अदत्त - बिना दी हुई चीजों को ग्रहण करता है अर्थात् अपनी इष्ट वस्तु को प्राप्त करने के लिए चोरी करता है।

तण्हाभिभूयस्स अदत्त-हारिणो, गंधे अतित्तस्स परिग्गहे य।

मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा, तत्था वि दुक्खा ण विमुच्चइ से॥१६॥

भावार्थ - तृष्णाभिभूत - तृष्णा के वशीभूत बने हुए बिना दी हुई सुगन्धित वस्तु को चुरा कर लेने वाले और गंध विषयक परिग्रह में अतृप्त प्राणी के लोभ रूपी दोष से माया मृषावाद

(छल पूर्वक असत्य भाषण) की वृद्धि होती है तथापि वह दुःख से विमुक्त नहीं होता है अर्थात् नहीं छूटता है।

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य, पओग-काले य दुही दुंते।

एवं अदत्ताणि समाययंतो, गंधे अत्तित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥५७॥

भावार्थ - झूठ बोलने के पहले और पीछे तथा झूठ बोलते समय भी दुरंत-दुष्ट हृदय वाला वह जीव दुःखी ही रहता है इसी प्रकार गंध में अतृप्त जीव बिना दी हुई सुगन्धित वस्तुओं को समाददान-ग्रहण करता हुआ अनिश्र - सहाय रहित और दुःखी होता है।

गंधाणुरत्तस्स णरस्स एवं, कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि।

तत्थोवभोगे वि किलेस-दुक्खं, णिव्वत्तइ जस्स कएण दुक्खं ॥५८॥

कठिन शब्दार्थ - गंधाणुरत्तस्स - गन्धानुरक्त - गंध में आसक्त बने हुए।

भावार्थ - इस प्रकार गन्ध में आसक्त बने हुए मनुष्य को सुख कहाँ हो सकता है अर्थात् उसे कभी भी किञ्चिन्मात्र सुख प्राप्त नहीं हो सकता। जिस सुगन्धित वस्तु को प्राप्त करने के लिए जीव ने अपार कष्ट उठाया था उस सुगन्धित पदार्थ के उपभोग में भी वह अत्यन्त क्लेश और दुःख पाता है अर्थात् तृप्ति न होने के कारण उसे दुःख होता है।

एमेव गंधम्मि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोह-परंपराओ।

पदुट्ठ चित्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥५९॥

भावार्थ - इसी प्रकार दुर्गन्धित द्रव्यों से द्वेष करने वाला जीव उत्तरोत्तर दुःख-समूह की परम्परा को प्राप्त होता है और अतिशय द्वेष से दूषित चित्त वाला वह जीव अशुभ कर्म को चय करता है अर्थात् बांधता है जिससे उसे फिर विपाक के समय कर्मों का फल दुःख होता है।

गंधे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोह-परंपरेण।

ण लिप्पइ भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणी-पलासं ॥६०॥

भावार्थ - जिस प्रकार पुष्करिणी पलाश - जल में उत्पन्न हुए कमल का पत्ता जल में रहता हुआ भी जल से लिप्त नहीं होता है, उसी प्रकार गन्ध में विरक्त मनुष्य शोक रहित होता है और संसार में रहता हुआ भी इस गन्ध विषयक दुःखौघपरम्परा - उत्तरोत्तर दुःख-समूह की परम्परा से लिप्त नहीं होता है।

विवेचन - प्रस्तुत गाथाओं (क्रं. ४८ से ६० तक) में सूत्रकार ने गंध के प्रति रागद्वेष मुक्ति का उपाय बतलाया है।

रस के प्रति राग-द्वेष से मुक्त होने का उपाय

जिब्भाए रसं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुण्णमाहु।

तं दोसहेउं अमणुण्णमाहु, समो य जो तेसु स वीयरगो ॥६१॥

कठिन शब्दार्थ - जिब्भाए - जिह्वा इन्द्रिय का, रसं - रस को।

भावार्थ - रस को, जिह्वा इन्द्रिय का ग्राह्य (विषय) कहते हैं और जो रस मनोज्ञ है उसे राग का हेतु-कारण कहते हैं और जो रस अमनोज्ञ है उसे द्वेष का हेतु-कारण कहते हैं किन्तु जो उन रसों में समभाव रखता है, वह वीतराग है।

रसस्स जिब्भं गहणं वयंति, जिब्भाए रसं गहणं वयंति।

रागस्स हेउं समणुण्णमाहु, दोसस्स हेउं अमणुण्णमाहु ॥६२॥

कठिन शब्दार्थ - जिब्भं - जिह्वा को, रसस्स - रस का।

भावार्थ - जिह्वा को रस का ग्रहण करने वाली कहते हैं और रस को जिह्वा इन्द्रिय का ग्राह्य कहते हैं। ज्ञानी पुरुष मनोज्ञ रस को राग का हेतु-कारण कहते हैं और अमनोज्ञ रस को द्वेष का हेतु-कारण कहते हैं।

रसेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं।

रागाउरे बडिस-विभिण्णकाए, मच्छे जहां आमिसभोग-गिद्धे ॥६३॥

कठिन शब्दार्थ - रसेसु - रसों में, आमिसभोगगिद्धे - मांस भोजन में आसक्त, मच्छे - मत्स्य का, बडिस-विभिण्णकाए - लोह के काटे (वडिश) से शरीर बिंध जाता है।

भावार्थ - जैसे रागातुर आमिषभोग गृद्ध - मांस खाने में गृद्ध बना हुआ मच्छ विभिन्न काय - मांस लगे हुए लोह के काटे से विभिन्न शरीर वाला होकर मृत्यु को प्राप्त करता है, वैसे ही जो मनुष्य रसों में तीव्र गृद्धि रखता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है।

जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं, तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं।

दुहंत-दोसेण सएण जंतु, ण किंचि रसं अवरुज्झइ से ॥६४॥

भावार्थ - जो जीव अमनोज्ञ रस में तीव्र - द्वेष को प्राप्त होता है, वह प्राणी अपने ही

दुर्दान्त दोष से उसी क्षण में दुःख को प्राप्त होता है किन्तु इसमें रस का कुछ भी अपराध नहीं है किन्तु वह जीव अपने ही दोष से स्वयं दुःखी होता है।

एगंतरत्ते रुद्रे रसम्मि, अताल्लिसे से कुणइ पओसं।

दुक्खस्स संपील-मुवेइ बाले, ण लिप्पइ तेण मुणी विरागो ॥६५॥

भावार्थ - जो जीव मनोज्ञ रस में एकान्तरक्त - अत्यन्त अनुरक्त होता है और अमनोज्ञ रस में द्वेष करता है वह बाल अज्ञानी जीव अत्यन्त दुःख और पीड़ा को प्राप्त होता है किन्तु वीतराग मुनि उस दुःख से लिप्त नहीं होता है।

रसाणुगासाणुगए य जीवे, चराचरे हिंसइ णेरूवे।

चित्तेहि ते परितावेइ बाले, पीलेइ अत्तट्टगुरू किलिट्ठे ॥६६॥

कठिन शब्दार्थ - रसाणुगासाणुगए - रसानुगाशानुगत।

भावार्थ - रसानुगाशानुगत - रस की आशा से उसका अनुसरण करने वाला अर्थात् रस की आसक्ति में फँसा हुआ जीव अनेक प्रकार के चराचर - व्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है और वह बाल अज्ञानी जीव उन जीवों को अनेक उपायों से परिताप उपजाता है तथा अपने ही स्वार्थ में तल्लीन बना हुआ वह क्लिष्ट-कुटिल जीव अनेक जीवों को पीड़ित करता है।

रसाणुवाएण परिग्गहेण, उप्पायणे रक्खणसण्णिओगे।

वए विओगे य कहं सुहं से, संभोगकाले य अत्तित्तिलाभे ॥६७॥

कठिन शब्दार्थ - रसाणुवाएण - रसानुपात।

भावार्थ - रसानुपात - रस में आसक्त एवं परिग्रह से मूर्छित बने हुए जीव को उस पदार्थ को उत्पन्न करने में, उसकी रक्षा करने में, सम्यक् प्रकार से उपयोग करने में और उसका विनाश हो जाने पर तथा वियोग हो जाने पर कैसे सुख प्राप्त हो सकता है? उसका उपभोग करने के समय में भी उसे तृप्ति न होने के कारण दुःख ही होता है।

रसे अत्तित्ते य परिग्गहम्मि, सत्तोवसत्तो ण उवेइ तुट्ठिं।

अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययइ अदत्तं ॥६८॥

भावार्थ - रस में अतृप्त बना हुआ और रस के परिग्रह में आसक्त एवं विशेष आसक्त बने हुए जीव को संतोष नहीं होता है। असंतोष रूपी दोष से दुःखी बना हुआ तथा लोभ से मलिन चित्त वाला जीव दूसरों की बिना दी हुई चीजों को ग्रहण करता है (चोरी करता है)।

तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो, रसे अतित्तस्स परिग्गहे य।

मायामुसं वहइ लोभदोसा, तत्थावि दुक्खा ण विमुच्चइ से॥६६॥

भावार्थ - तृष्णाभिभूत - तृष्णा के वशीभूत बने हुए बिना दी हुई रसादि युक्त वस्तु को चुरा कर लेने वाले और रस विषयक परिग्रह में अतृप्त प्राणी के लोभ रूपी दोष से मायामृषा-कपटपूर्वक असत्य भाषण की वृद्धि होती है तथापि (कपटपूर्वक झूठ बोलने पर भी) वह दुःख से विमुक्त नहीं होता है अर्थात् नहीं छूटता है।

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य, पओगकाले य दुही दुरंते।

एवं अदत्ताणि समाययंतो, रसे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो॥७०॥

भावार्थ - मृषा-झूठ बोलने के पहले और पीछे तथा प्रयोगकाल - झूठ बोलते समय भी दुरन्त - दुष्ट हृदय वाला वह जीव दुःखी ही रहता है इसी प्रकार रस से अतृप्त जीव बिना दी हुई रसादि युक्त वस्तुओं को ग्रहण करता हुआ अनिश्र-सहाय रहित और दुःखी होता है।

रसानुरत्तस्स णरस्स एवं, कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि?

तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं, णिव्वत्तइ जस्स कएण दुक्खं॥७१॥

कठिन शब्दार्थ - रसानुरत्तस्स - रसानुरक्त - रस में आसक्त बने हुए को।

भावार्थ - इस प्रकार रस में आसक्त बने हुए मनुष्य को सुख कहाँ हो सकता है उसे कभी भी किञ्चिन्मात्र सुख प्राप्त नहीं हो सकता। जिस रसादि युक्त पदार्थ को प्राप्त करने के लिए जीव ने अपार कष्ट उठाया था, उस रसादि युक्त पदार्थ के उपभोग में भी वह अत्यन्त क्लेश और दुःख पाता है (तृप्ति न होने के कारण उसे दुःख होता है)।

एमेव रसम्मि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोह परंपराओ।

पदुद्धचित्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवागे॥७२॥

भावार्थ - इसी प्रकार अमनोज्ञ रस में प्रद्वेष को प्राप्त हुआ जीव दुःखौघपरम्परा - उत्तरोत्तरं दुःख-समूह की परम्परा को प्राप्त होता है और अतिशय द्वेष से दूषित चित्त वाला वह जीव अशुभ कर्मों को बाँधता है जिससे उसे फिर विपाक में अर्थात् उन कर्मों का फल भोगने के समय दुःख होता है।

रसे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोह-परंपरेण।

ण लिप्पइ भवमज्जे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणी-पलासं॥७३॥

भावार्थ - जिस प्रकार पुष्करिणी पलाश - जल में उत्पन्न हुए कमल का पत्ता जल में रहता हुआ भी जल से लिप्त नहीं होता है, उसी प्रकार रस में विरक्त - रागद्वेष रहित मनुष्य विशोक - शोक रहित होता है और संसार में रहता हुआ भी इस रस विषयक दुःखौघपरम्परा-उत्तरोत्तर दुःख-समूह की परम्परा से लिप्त नहीं होता अर्थात् उसे दुःख नहीं होता।

विवेचन - प्रस्तुत गाथाओं (क्रं. ६१ से ७३ तक) में रसों के प्रति रागद्वेष मुक्ति का उपदेश दिया गया है।

स्पर्श के प्रति राग-द्वेष से मुक्त होने का उपाय

कायस्स फासं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुण्णमाहु।

तं दोसहेउं अमणुण्णमाहु, समो य जो तेसु स वीयरारो ॥७४॥

कठिन शब्दार्थ - कायस्स - काया का, फासं - स्पर्श को।

भावार्थ - स्पर्श को काया (स्पर्शनिन्द्रिय) का ग्राह्य (विषय) कहते हैं। जो स्पर्श मनोज्ञ है उसे राग का हेतु-कारण कहते हैं और जो स्पर्श अमनोज्ञ है उसे द्वेष का हेतु-कारण कहते हैं किन्तु जो उन मनोज्ञ और अमनोज्ञ (प्रिय और अप्रिय) स्पर्शों में समभाव रखता है, वह वीतराग है।

फासस्स कायं गहणं वयंति, कायस्स फासं गहणं वयंति।

रागस्स हेउं समणुण्णमाहु, दोसस्स हेउं अमणुण्णमाहु ॥७५॥

कठिन शब्दार्थ - फासस्स - स्पर्श का, कायं - काया को।

भावार्थ - काया को स्पर्श का ग्राहक (ग्रहण करने वाला) कहते हैं और स्पर्श को काया का ग्राह्य (ग्रहण करने के योग्य) कहते हैं। ज्ञानी पुरुष मनोज्ञ स्पर्श को राग का हेतु-कारण कहते हैं और अमनोज्ञ स्पर्श को द्वेष का हेतु-कारण कहते हैं।

फासेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं।

रागाउरे सीय-जलावसण्णे, गाहग्गाहीए महिसे व रण्णे ॥७६॥

कठिन शब्दार्थ - फासेसु - स्पर्शों में, सीय-जलावसण्णे - शीत जलावसन्न, गाहग्गाहीए-ग्राहगृहीत - ग्राह के द्वारा पकड़ा जाने पर, महिसे - महिष - भैंसा, रण्णे - अरण्य - वन में।

भावार्थ - जैसे वन में स्थित शीतजलावसन्न तालाब के ठण्डे जल के स्पर्श में रागातुर बना हुआ भैंसा ग्राह के द्वारा पकड़ा जाने पर विनाश को प्राप्त होता है वैसे ही जो मनुष्य

अनेक प्रकार के स्पर्शों में तीव्र गृद्धि-आसक्ति रखता है वह अकाल में ही विनाश-मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

जो यावि दोसं समुवेइ तिव्वं, तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं।

दुइंतदोसेण सएण जंतु, ण किंचि फासं अवरुज्झइ से ॥७७॥

भावार्थ - जो जीव अमनोज्ञ स्पर्श में तीव्र द्वेष को प्राप्त होता है, वह प्राणी अपने ही महान् - दुर्दान्त दोष से उसी क्षण में दुःख को प्राप्त होता है। इसमें स्पर्श का कुछ भी अपराध नहीं है किन्तु वह जीव अपने ही दोष से स्वयं दुःखी होता है।

एगंतरत्ते रुइरंसि फासे, अतालसे से कुणइ पओसं।

दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले, ण लिप्पइ तेण मुणी विरागो ॥७८॥

भावार्थ - जो जीव मनोज्ञ स्पर्श में अत्यन्त अनुरक्त होता है और अमनोज्ञ स्पर्श में प्रद्वेष करता है, वह बाल-अज्ञानी जीव अत्यन्त दुःख एवं पीड़ा को प्राप्त होता है किन्तु वीतराग मुनि उस दुःख से लिप्त नहीं होता है।

फासाणुगासाणुगए य जीवे, चराचरे हिंसइ णेगरूवे।

चित्तेहि ते परितावेइ बाले, पीलेइ अत्तडुगुरु किलिट्ठे ॥७९॥

कठिन शब्दार्थ - फासाणुगासाणुगए - स्पर्शानुगाशानुगत - स्पर्श की आशा से उसका अनुसरण करने वाला।

भावार्थ - स्पर्शानुगाशानुगत - स्पर्श की आशा से उसका अनुसरण करने वाला अर्थात् स्पर्श की असक्ति में फंसा हुआ जीव अनेक प्रकार के चराचर - त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है और वह बाल-अज्ञानी जीव उन जीवों को अनेक प्रकार से परिताप उपजाता है। अपने ही स्वार्थ में तल्लीन बना हुआ वह क्लिष्ट-कुटिल जीव अनेक जीवों को पीड़ित करता है।

फासाणुवाएण परिग्गहेण, उप्पायणे रक्खण-सण्णियोगे।

वए वियोगे य कहं सुहं से, संभोग-काले य अतित्थिलाभे ॥८०॥

कठिन शब्दार्थ - फासाणुवाएण - स्पर्शानुपात।

भावार्थ - स्पर्शानुपात - स्पर्श के विषय में आसक्त एवं परिग्रह से मूर्छित बने हुए जीव को उस स्पर्शादि युक्त पदार्थ को उत्पन्न करने में और उसकी रक्षा करने में सम्यक् प्रकार से

उपयोग करने में और उसका विनाश हो जाने पर तथा वियोग हो जाने पर कैसे सुख प्राप्त हो सकता है? अर्थात् सुख प्राप्त नहीं हो सकता, प्रत्युत दुःख ही होता है और उसका उपभोग करने के समय भी उसे तृप्ति न होने के कारण दुःख ही होता है।

फासे अतित्ते य परिग्गहम्मि, सत्तोवसत्तो ण उवेइ तुट्ठिं।

अतुट्ठि दोसेण दुही परस्स, लोभावित्ते आययइ अदत्तं ॥८१॥

कठिन शब्दार्थ - फासे - स्पर्श में।

भावार्थ - स्पर्श में अतृप्त बना हुआ और स्पर्श विषयक परिग्रह में सक्त उपसक्त-आसक्त एवं विशेष आसक्त बना हुआ जीव संतोष को प्राप्त नहीं होता है। असंतोष रूपी दोष से दुःखी बना हुआ तथा लोभ से मलिन चित्त वाला जीव दूसरों की बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण करता है (चोरी करता है)।

तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो, फासे अतित्तस्स परिग्गहे य।

मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा, तत्था वि दुक्खा ण विमुच्चइ से ॥८२॥

भावार्थ - तृष्णाभिभूत - तृष्णा के वशीभूत बने हुए बिना दी हुई स्पर्शादि युक्त वस्तु को चुरा कर लेने वाले और स्पर्श विषयक परिग्रह में अतृप्त प्राणी के लोभ रूपी दोष से मायामृषा-कपट पूर्वक असत्य भाषण की वृद्धि होती है तथापि वह दुःख से विप्रमुक्त नहीं होता अर्थात् नहीं छूटता है।

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य, पओग-काले य दुही दुरंते।

एवं अदत्ताणि समाययंतो, फासे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥८३॥

भावार्थ - मृषा-झूठ बोलने के पहले और पीछे तथा प्रयोगकाल - बोलते समय भी दुरन्त - दुष्ट हृदय वाला वह जीव दुःखी ही रहता है, इसी प्रकार स्पर्श में अतृप्त जीव बिना दी हुई स्पर्शादि युक्त वस्तुओं को ग्रहण करता हुआ अनिश्र-सहाय रहित और दुःखी होता है।

फासाणुरत्तस्स णरस्स एवं, कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि।

तत्थोवभोगे वि किलेस-दुक्खं, णिव्वत्तइ जस्स कएण दुक्खं ॥८४॥

कठिन शब्दार्थ - फासाणुरत्तस्स - स्पर्शानुरक्त - स्पर्श में आसक्त बना हुआ।

भावार्थ - इस प्रकार स्पर्श में आसक्त बने हुए मनुष्य को सुख कहां हो सकता है? उसे कभी भी किंचित् मात्र भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता। जिस स्पर्शादि युक्त वस्तु को प्राप्त करने

के लिए जीव ने अपार कष्ट उठाया था, उस स्पर्शादि युक्त पदार्थ के उपभोग में भी वह अत्यन्त क्लेश और दुःख पाता है अर्थात् तृप्ति न होने के कारण उसे दुःख होता है।

एमेव फासम्मि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोह-परंपराओ।

पदुट्टचित्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥८५॥

भावार्थ - इसी प्रकार अप्रिय स्पर्श के विषय में द्वेष करने वाला जीव उत्तरोत्तर दुःख-समूह की परम्परा को प्राप्त होता है और अतिशय द्वेष से दूषित चित्त वाला वह जीव अशुभ कर्म चय करता है अर्थात् बांधता है, जिससे उसे फिर, विपाक में अर्थात् उन कर्मों का फल भोगने के समय दुःख होता है।

फासे विरत्तो मणुओ विसोगो, एणण दुक्खोह-परंपरेण।

ण लिप्पइ भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥८६॥

भावार्थ - जिस प्रकार जल में उत्पन्न हुआ कमल का पत्ता जल में रहता हुआ भी जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार स्पर्श में विरक्त मनुष्य शोक-रहित होता है और संसार में रहता हुआ भी इस स्पर्श विषयक उत्तरोत्तर दुःख समूह की परम्परा से लिप्त नहीं होता।

विवेचन - प्रस्तुत गाथाओं (क्रं. ७४ से ८७ तक) में स्पर्शों के प्रति रागद्वेष से मुक्त होने की प्रेरणा की गयी है।

मनोभावों के प्रति राग-द्वेष से मुक्त होने का उपाय

मणस्स भावं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुण्णमाहु।

तं दोसहेउं अमणुण्णमाहु, समो य जो तेसु स वीयरारो ॥८७॥

कठिन शब्दार्थ - मणस्स - मन को, भावं - भाव को।

भावार्थ - भाव को मन का ग्राह्य (ग्रहण करने योग्य) कहते हैं। जो भाव मनोज्ञ है, उसे राग का कारण कहते हैं और जो भाव अमनोज्ञ है, उसे द्वेष का कारण कहते हैं किन्तु जो उनमें अर्थात् मनोज्ञ और अमनोज्ञ दोनों प्रकार के भावों में समभाव रखता है, वह वीतराग है।

भावस्स मणं गहणं वयंति, मणस्स भावं गहणं वयंति।

रागस्स हेउं समणुण्णमाहु, दोसस्स हेउं अमणुण्णमाहु ॥८८॥

कठिन शब्दार्थ - भावस्स - भाव का, मणं - मन को।

भावार्थ - मन को भाव का ग्राहक (ग्रहण करने वाला) कहते हैं और भाव को मन का ग्राह्य (ग्रहण करने योग्य) कहते हैं। ज्ञानी पुरुष मनोज्ञ भाव को राग का हेतु-कारण कहते हैं और अमनोज्ञ भाव को द्वेष का हेतु-कारण कहते हैं।

भावेसु जो गिद्धिमुवेइ तिब्बं, अकालियं पावइ से विणासं।

रागाउरे कामगुणेसु गिद्धे, करेणु-मग्गावहिए व णागे ॥६६॥

कठिन शब्दार्थ - भावेसु - भावों में, कामगुणेसु - कामगुणों में, करेणु-मग्गावहिए-हथिनी के प्रति मार्ग में आकृष्ट, णागे - नाग - हाथी।

भावार्थ - जिस प्रकार कामगुणों में गृद्ध-मूर्च्छित बना हुआ, रागातुर हाथी, हथिनी के पीछे दौड़ता हुआ पथभ्रष्ट हो कर शिकारियों द्वारा पकड़ा जाने पर दुःख पाता है, उसी प्रकार जो पुरुष भावों में तीव्र गृद्धि-आसक्ति रखता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है।

जे यावि दोसं समुवेइ तिब्बं, तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं।

दुइंतदोसेण सएण जंतू, ण किंचि भावं अवरुज्झइ से ॥६७॥

भावार्थ - जो जीव अमनोज्ञ भाव में तीव्र द्वेष को प्राप्त होता है, वह प्राणी अपने ही दुर्दान्त(तीव्र) दोष से उसी क्षण में दुःख को प्राप्त होता है, इसमें भाव का कुछ भी अपराध-दोष नहीं है, किन्तु वह जीव अपने ही दोष से स्वयं दुःखी होता है।

एणंतरत्ते रुइरंसि भावे, अतालिसे से कुणइ पओसं।

दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले, ण लिप्पइ तेण मुणी विरागो ॥६९॥

भावार्थ - जो जीव रुचिर - मनोज्ञ भाव में एकान्तरक्त - अत्यन्त अनुरक्त होता है और अमनोज्ञ भाव में प्रद्वेष करता है, वह बाल-अज्ञानी जीव अत्यन्त दुःख एवं पीड़ा को प्राप्त होता है किन्तु विराग-वीतराग मुनि उस दुःख से लिप्त नहीं होता है।

भावाणुगासाणुगए य जीवे, चराचरे हिंसइ णेगरूवे।

चित्तेहि ते परितावेइ बाले, पीलेइ अत्तडुगुरू किलिद्धे ॥६२॥

कठिन शब्दार्थ - भावाणुगासाणुगए - भावानुगाशानुगत - भावों की आशा के पीछे चलने वाला।

भावार्थ - भावों की आशा से उसका अनुसरण करने वाला अर्थात् भावों की आसक्ति में फंसा हुआ जीव अनेक प्रकार के चराचर - त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है

और वह बाल-अज्ञानी जीव उन जीवों को अनेक प्रकार से परिताप उत्पन्न करता है, अपने ही स्वार्थ में तल्लीन बना हुआ वह क्लिष्ट - कुटिल जीव अनेक जीवों को पीड़ित करता है।

भावाणुवाएण परिग्गहेण, उप्पायणे रक्खणसण्णियोगे।

वए वियोगे य क्हं सुहं से, संभोग काले य अतित्तिलाभे ॥६३॥

कठिन शब्दार्थ - भावाणुवाएण - भावानुपात - भावों के प्रति अनुराग।

भावार्थ - भावों के विषय में आसक्त एवं मूर्च्छित बने हुए जीव को उत्पादन-अपने भावानुकूल पदार्थ को उत्पन्न करने में, उसकी रक्षा करने में, सम्यक् प्रकार से उपयोग करने में, उसका विनाश हो जाने पर तथा वियोग हो जाने पर कैसे सुख प्राप्त हो सकता है? और उसका उपभोग करने के समय भी उसे तृप्ति न होने के कारण दुःख ही होता है।

भावे अतित्ते य परिग्गहम्मि, सत्तोवसत्तो ण उवेइ तुट्ठिं।

अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययइ अदत्तं ॥६४॥

भावार्थ - भाव में अतृप्त बना हुआ और भाव विषयक परिग्रह में आसक्त एवं विशेष आसक्त बना हुआ जीव तुष्टि संतोष को प्राप्त नहीं होता, असंतोष रूपी दोष से दुःखी बना हुआ तथा लोभ से मलिन चित्त वाला जीव दूसरों की बिना दी हुई वस्तुओं को ग्रहण करता है।

तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो, भावे अतित्तस्स परिग्गहे य।

मायामुसं वट्ठइ लोभदोसा, तत्थावि दुक्खा ण विमुच्चइ से ॥६५॥

भावार्थ - तृष्णाभिभूत - तृष्णा के वशीभूत बने हुए बिना दी हुई अपने भावानुकूल वस्तु को चुरा कर लेने वाले और भाव विषयक परिग्रह में अतृप्त प्राणी के लोभ रूपी दोष से, माया मृषावाद की वृद्धि होती है, तथापि वह दुःख से विमुक्त नहीं होता है अर्थात् नहीं छूटता है।

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य, पओग काले य दुही दुरंते।

एवं अदत्ताणि समाययंतो, भावे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥६६॥

भावार्थ - मृषा - झूठ बोलने के पहले और पीछे तथा प्रयोगकाल बोलते समय भी दुरंत - दुष्ट हृदय वाला वह जीव दुःखी ही रहता है, इसी प्रकार भाव में अतृप्त जीव बिना दी हुई अपने भावानुकूल वस्तुओं को ग्रहण करता हुआ, अनिश्र-सहाय रहित और दुःखी होता है।

भावाणुरत्तस्स णरस्स एवं, कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि।

तत्थोवभोगे वि किलेस-दुक्खं, णिव्वत्तइ जस्स कएण दुक्खं ॥६७॥

कठिन शब्दार्थ - भावाणुरक्तस्स - भावानुरक्त-भाव में आसक्त।

भावार्थ - इस प्रकार भावानुरक्त - भाव में आसक्त बने हुए मनुष्य को सुख कहां प्राप्त हो सकता है? अर्थात् उसे कभी भी किंचिन्मात्र सुख प्राप्त नहीं हो सकता। अपने भावानुकूल जिस वस्तु को प्राप्त करने के लिए जीव ने दुःख-अपार कष्ट उठाया था, उस वस्तु के उपभोग में भी वह अत्यन्त क्लेश और दुःख पाता है।

एमेव भावम्मि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोह-परंपराओ।

पदुइ चित्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥६८॥

भावार्थ - इसी प्रकार अमनोज्ञ भाव में प्रद्वेष को प्राप्त हुआ जीव दुःखौघपरम्परा-उत्तरोत्तर दुःख-समूह की परम्परा को प्राप्त होता है और अतिशय द्वेष युक्त चित्त वाला जीव अशुभ कर्म चय करता है अर्थात् बांधता है, जिससे उसे फिर विपाक-कर्म भोगने के समय दुःख होता है।

भावे विरत्तो मणुओ विसोगो, एणण दुक्खोह-परंपरेण।

ण लिप्पइ भवमज्जे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणी पलासं ॥६९॥

भावार्थ - जिस प्रकार पुष्करिणी पलाश - जल में उत्पन्न हुए कमल का पत्ता जल में रहता हुआ भी जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार भाव में विरक्त मनुष्य विशोक - शोक रहित होता है और संसार में रहता हुआ भी इस भाव विषयक दुःखौघपरम्परा - उत्तरोत्तर दुःख-समूह की परम्परा से लिप्त नहीं होता ॥६९॥

विवेचन - प्रस्तुत गाथाओं (क्रं. ८७ से ९९ तक) में मनोज्ञ-अमनोज्ञ भावों में रागद्वेष मुक्ति की प्रेरणा दी गई है।

कोई मतवाला हाथी किसी हस्तिनी को देखता है तो वह कामासक्ति भाव के वशीभूत होकर अपने मार्ग को छोड़कर उसके पीछे लग जाता है। उस मार्ग भ्रष्ट हाथी को शिकारी लोग गड्ढे में रखी कागज की हथिनी से आकृष्ट करके उस गड्ढे में डाल देते हैं, फिर उसे पकड़ लेते हैं अथवा मार देते हैं। इसी प्रकार मनोज्ञ भावों में आसक्त मनुष्य को अकाल में ही मृत्यु का ग्रास बनना पड़ता है। हाथी, हथिनी को केवल देख कर उसकी ओर आकृष्ट नहीं होता किंतु मन में उठे हुए कामभाव को उसके साथ जोड़ता है तभी वह उसकी ओर दौड़ता है। इस प्रकार भावों के प्रति राग और द्वेष दुःखदायी हैं। जो राग-द्वेष से विमुक्त होता है, वही वीतराग कहलाता है।

रागी के लिए दुःख के हेतु

एविंदियत्था य मणस्स अत्था, दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो।

ते चेव थोवं वि कयाइ दुक्खं, ण वीयरागस्स करेति किंचि॥१००॥

कठिन शब्दार्थ - एवं - इस प्रकार, इंदियत्था - इन्द्रियों के विषय, मणस्स अत्था - मन के विषय, दुक्खस्स हेउं - दुःख के हेतु, रागिणो - रागी, थोवं - थोड़े, वीयरागस्स - वीतरागी के।

भावार्थ - इस प्रकार इन्द्रियों के विषय और मन के विषय (मानसिक संकल्प विकल्प) रागी मनुष्य के लिए दुःख के हेतु-कारण होते हैं किन्तु वे ही इन्द्रिय और मन के विषय वीतराग पुरुष के लिए थोड़ा-सा किंचिमात्र भी कभी दुःख के कारण नहीं होते।

ण कामभोगा समयं उवेति, ण यावि भोगा विगइं उवेति।

जे तप्पओसी य परिग्गही य, सो तेसु मोहा विगइं उवेइ॥१०१॥

कठिन शब्दार्थ - समयं - समता को, विगइं - विकृति को, तप्पओसी - तत्प्रद्वेषी-उनके प्रति प्रद्वेष, परिग्गही - परिग्रही।

भावार्थ - कामभोग स्वतः न तो समता को प्राप्त कराते हैं और न कामभोग विकृति-विकार-भाव को प्राप्त कराते हैं किन्तु जो परिग्रही-मनोज्ञ विषयों को ग्रहण करता है (उन पर राग करता है) और तत्प्रद्वेषी-अमनोज्ञ विषयों पर द्वेष करता है, वह उनमें मोह से विकृति-विकार भाव को प्राप्त होता है।

कोहं च माणं च तहेव मायं, लोभं दुगुच्छं अरइं रइं च।

हासं भयं सोग-पुमित्थिवेयं, णपुंसवेयं विविहे य भावे॥१०२॥

आवज्जइ एवमणेगरूवे, एवंविहे कामगुणेसु सत्तो।

अण्णे य एयप्पभवे विसेसे, कारुण्ण-दीणे हिरिमे वइस्से॥१०३॥

कठिन शब्दार्थ - दुगुच्छं - जुगुप्सा, अरइं - अरति, रइं - रति, हासं - हास्य, भयं-भय, सोग - शोक, पुमित्थिवेयं - पुरुषवेद-स्त्रीवेद, णपुंसवेयं - नपुंसकवेद, विविहभावे - विविधभावों को, आवज्जइ - प्राप्त होता है, अणेगरूवे - अनेक रूपों को, अण्णे एयप्पभवे-अन्य इनसे उत्पन्न होने वाले, विसेसे - विशेष, कारुण्णदीणे - करुणास्पद दीन, हिरिमे - लज्जालु, वइस्से - द्वेष का पात्र।

भाषार्थ - काम-गुणों में आसक्त जीव क्रोध, मान, माया, लोभ, जुगुप्सा (घृणा), अरति, रति, हास्य, भय, शोक, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद और विविध भाव - नाना प्रकार के हर्ष - विषादादि भावों को और वैसे ही इस प्रकार के अनेक रूपों को तथा क्रोधादि से उत्पन्न होने वाले अन्य अनेक दुर्गतिदायक संताप विशेषों को प्राप्त होता है। इसी कारण वह कामासक्त जीव करुणापात्र, अत्यन्त दीन, हीमान्-लज्जित और अप्रीतिपात्र बन जाता है।

विवेचन - प्रस्तुत चार गाथाओं (क्रं. १०० से १०३) में स्पष्ट किया गया है कि इन्द्रियों और मन के विषयों के विद्यमान रहते तथा कामभोगों तथा क्रोधादि कषायों एवं हास्यादि नोकषायों के रहते हुए भी वीतरागी पुरुष को न तो वे किंचित् भी दुःख दे सकते हैं और न ही मन, वचन, काया में विकार उत्पन्न कर सकते हैं। वे उसी को दुःखी करते हैं जो रागी और द्वेषी हो तथा उसी के मन, वचन, काया में विकार उत्पन्न कर सकते हैं।

वीतरागता में बाधक प्रयत्न से सावधान

कप्पं ण इच्छिज्ज सहायलिच्छू, पच्छाणुतावे ण तवप्पभावं।

एवं वियारे अमियप्पयारे, आवज्जइ इंदिय-चोर-वस्से ॥१०४॥

कठिन शब्दार्थ - इच्छिज्ज - इच्छा न करे, कप्पं - कल्प-शिष्य की, सहायलिच्छू-सहायता की लिप्सा से, पच्छाणुतावे ण - दीक्षा लेने के पश्चात् अनुताप-पश्चात्ताप नहीं करके, तवप्पभावं - तप के प्रभाव की भी, अमियप्पयारे - अपरिमित प्रकार के, वियारे - विकारों को, इंदिय-चोर-वस्से - इन्द्रिय रूपी चोरों के वशीभूत होकर।

भाषार्थ - अपनी सेवादि कराने के लिए सहायक को चाहने वाला होकर, कल्प-शिष्य की भी इच्छा न करे। व्रत तथा तप अंगीकार करने के बाद अनुपात (पश्चात्ताप) नहीं करे और न तप के प्रभाव की इच्छा करे क्योंकि इस प्रकार इन्द्रियाँ रूपी चोरों के वशीभूत बना हुआ जीव अमित प्रकार - अनेक प्रकार के विकारों को प्राप्त होता है।

तओ से जायंति पओयणाइं, णिमज्जिउं मोहमहण्णवम्मि।

सुहेसिणो दुक्ख-विणोयणट्ठा, तप्पच्चयं उज्जमए य रागी ॥१०५॥

कठिन शब्दार्थ - जायंति - उत्पन्न होते हैं, पओयणाइं - अनेक प्रयोजन, णिमज्जिउं-डूबाने के लिये, मोहमहण्णवम्मि - मोह रूपी सागर में, सुहेसिणो - सुखाभिलाषी, दुक्ख-विणोयणट्ठा - दुःखों के विनोदन - निवारण के लिए, तप्पच्चयं - उनके निमित्त से, उज्जमए-उद्यम करता है।

भावार्थ - विकारोत्पत्ति के बाद उसे मोह महार्णव - महामोह रूपी सागर में डुबा देने के लिए विषय सेवनादि प्रयोजन उत्पन्न होते हैं तथा सुख को चाहने वाला राग द्वेष वाला वह जीव दुःखों को दूर करने के लिए तत्प्रत्यय-विषय-संयोगों में ही उद्यम-उद्योग करता है।

विवेचन - उपरोक्त दो गाथाओं में साधक को वीतरागता में बाधक प्रयत्नों से सावधान रहते हुए प्रेरणा की गयी है कि वह इन्द्रिय रूपी ठाणों के चक्कर में आकर कामभोग, सुखसुविधाओं के लिए प्रयत्न न करे तथा त्याग व्रत नियम से घबराए नहीं।

विरक्तात्मा का पुरुषार्थ और संकल्प

विरज्जमाणस्स य इंदियत्था, सद्दाइया तावइयप्पगारा।

ण तस्स सव्वे वि मणुण्णयं वा, णिव्वत्तयंति अमणुण्णयं वा॥१०६॥

कठिन शब्दार्थ - विरज्जमाणस्स - विरक्त जीव के, सद्दाइया - शब्द आदि विषय, तावइयप्पगारा - जितने भी प्रकार के, मणुण्णयं - मनोज्ञता, ण णिव्वत्तयंति - उत्पन्न नहीं करते, अमणुण्णयं - अमनोज्ञता।

भावार्थ - इन्द्रियार्थ - पांच इन्द्रियों के अर्थ, शब्दादि विषय जितने भी प्रकार के इस लोक में हैं वे सभी उस विरक्त जीव के लिए मनोज्ञता अथवा अमनोज्ञता उत्पन्न नहीं कर सकते हैं।

एवं ससंकप्प-विकप्पणासुं, संजायइ समयमुवट्टियस्स।

अत्थे य संकप्पयओ तओ से, पहीयए कामगुणेसु तण्हा॥१०७॥

कठिन शब्दार्थ - ससंकप्प-विकप्पणासुं - संकल्प विकल्पों में, संजायइ - प्राप्ति होती है, समयं - समता, उवट्टियस्स - उपस्थित - उद्यत होते हुए को, संकप्पयओ - संकल्प करने में, पहीयए - प्रक्षीण हो जाती है, तण्हा - तृष्णा।

भावार्थ - इस प्रकार संकल्प-विकल्पों में अर्थात् ये संकल्प-विकल्प अनर्थ के कारण हैं इस प्रकार विचार करने वाले को समता-समभाव की प्राप्ति होती है इसके पश्चात् पदार्थों में सम्यक् विचार करते हुए उस जीव की कामगुणों (कामभोगों) की तृष्णा नष्ट हो जाती है।

विवेचन - प्रस्तुत गाथाओं में स्पष्ट किया गया है कि जितने भी इन्द्रिय विषय हैं वे रागद्वेष आदि युक्त जीव पर ही प्रभाव डालते हैं, विरक्त - वीतरागी आत्मा पर उनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। रागद्वेष जन्य संकल्प विकल्प ही अनर्थ के मूल हैं, ऐसा चिंतन करने वाला समत्वी साधक ही रागद्वेष एवं विषय विकारों की भावना को क्षीण कर सकता है।

वीतरागता का फल

स वीथरागी कथ-सव्वकिच्चो, खवेइ णाणावरणं खणेणं।

तहेव जं दंसणमावरेइ, जं चंतरायं पकरेइ कम्मं॥१०८॥

कठिन शब्दार्थ - कथ-सव्वकिच्चो - कृतसर्व-कृत्य - कृतकृत्य बना हुआ, खवेइ - क्षय करता है, णाणावरणं - ज्ञानावरणीय कर्म को, खणेणं - क्षण भर में, दंसणं आवरेइ - दर्शन को आवृत करता है, अंतरायं पकरेइ - अंतराय करता है।

भावार्थ - कृतसर्वकृत्य - जिसने सभी कार्य कर लिए हैं अर्थात् जिसे अब संसार में कोई कार्य करना शेष नहीं रहता है ऐसा कृतकृत्य, वह वीतराग बना हुआ जीव ज्ञानावरणीय कर्म को और जो दर्शन को ढकता है उस कर्म (दर्शनावरणीय) को और जो दानादि में अन्तराय करता है उस अन्तराय कर्म को एक क्षण में क्षय कर देता है अर्थात् मोहनीय कर्म का क्षय हो जाने के बाद जीव ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय को अन्तर्मुहूर्त में एक साथ क्षय कर डालता है।

सव्वं तओ जाणइ पासइ य, अमोहणे होइ णिरंतराए।

अणासवे झाणसमाहि-जुत्ते, आउक्खए मोक्ख मुवेइ सुद्धे॥१०९॥

कठिन शब्दार्थ - जाणइ - जानता है, पासइ - देखता है, अमोहणे - मोह रहित, णिरंतराए - अंतराय रहित, अणासवे - आसव रहित, झाणसमाहि-जुत्ते - ध्यान और समाधि से युक्त, आउक्खए - आयु कर्म के क्षय होते ही, मोक्खं - मोक्ष को, उवेइ - प्राप्त हो जाता है, सुद्धे - शुद्ध।

भावार्थ - चार घाती - कर्मों के क्षय हो जाने के बाद वह जीव सभी को जानने लग जाता है और देखने लग जाता है तथा मोह - रहित और अन्तराय - रहित हो जाता है, आसव रहित और शुक्ल-ध्यान की समाधि से युक्त होकर आयु के क्षय होने पर कर्ममल से शुद्ध होकर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।

सो तस्स सव्वस्स दुहस्स मुक्को, जं बाहइ सययं जंतुमेयं।

दीहामयं विप्पमुक्को पसत्थो, तो होइ अच्चंतसुही कयत्थो॥११०॥

कठिन शब्दार्थ - तस्स सव्वस्स दुहस्स - उन सभी दुःखों से, मुक्को- मुक्त, बाहइ- बाधित (पीडित) करता है, सययं - सतत, जंतुमेयं - इस जीव को, दीहामयं - दीर्घ

आमय-दीर्घकालिक, विषममुक्तो - विमुक्त, पसत्थो - प्रशस्त, अच्चंतसुही - अत्यंत सुखी, कचत्थो - कृतार्थ।

भावार्थ - जो दुःख इस जीव को सतत-निरन्तर बाधित-पीड़ित कर रहा है, उस सभी दुःख से वह जीव मुक्त हो जाता है और ऐसा प्रशस्त जीव दीर्घ आमय - दीर्घकालीन स्थिति वाले कर्म रूपी रोग से मुक्त हो जाता है। इसके बाद कृतार्थ बना हुआ वह जीव अत्यन्त सुखी हो जाता है।

विवेचन - इन्द्रिय विषयों एवं कषायों की विरक्ति से जब वीतरागता की प्राप्ति होती है तब मोहनीय कर्म के क्षय होते ही ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अंतराय कर्म का क्षय हो जाता है। चारों घनघाति कर्मों का क्षय होने पर आत्मा शुद्ध, कृतकृत्य, अनाश्रव, निर्मोह, अंतराय रहित तथा केवलज्ञानी-केवलदर्शनी हो जाती है। तदनन्तर वह शुक्लध्यान से मुक्त होकर आयुष्य का क्षय करने के साथ ही चारों अघाति कर्मों का भी क्षय कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त बन जाती है, सर्व दुःखों से रहित परमात्मा बन जाती है।

उपसंहार

अणाइकालप्पभवस्स एसो, सव्वस्स दुक्खस्स पमोक्खमग्गो।

वियाहिओ जं समुविच्च सत्ता, कमेण अच्चंतसुही भवंति॥१११॥ त्ति वेमि॥

कठिन शब्दार्थ - अणाइकालप्पभवस्स - अनादिकालप्रभव - अनादिकाल से उत्पन्न होते आये, पमोक्खमग्गो - प्रमोक्ष (मुक्ति) का मार्ग, समुविच्च - सम्यक् प्रकार से अपना कर, कमेण - क्रमशः, अच्चंतसुही - अत्यंत सुखी - अनंत सुख संपन्न।

भावार्थ - यह अनादि काल से उत्पन्न हुए समस्त दुःखों से छुटकारा पाने का मार्ग कहा गया है, जिस मार्ग को सम्यक् रूप से अंगीकार करके सत्त्व जीव क्रम से अत्यन्त सुखी हो जाता है (अनन्त आत्मिक सुख सम्पन्न मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं)। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - प्रस्तुत अध्ययन के प्रारंभ में सूत्रकार ने अनादिकालीन दुःखों से सर्वथा मुक्ति का उपाय बताने की प्रतिज्ञा की थी तदनुसार अध्ययन के अंत में स्मरण कराया है कि यही अनादिकालीन सर्व दुःख मुक्ति का उपाय है जिसे अपना कर प्रत्येक व्यक्ति एकांत सुख स्थान-मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

॥ इति प्रमादस्थान नामक बत्तीसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

कम्मपयडी णामं तेत्तीसडमं अज्झयणं कर्मप्रकृतिं नामकं तेत्तीसवां अध्ययन

इस अध्ययन का नाम कर्मप्रकृति है। इसमें कर्मों की मूल एवं उत्तर प्रकृतियों का वर्णन किया गया है।

बत्तीसवें अध्ययन में कर्म का मूल बता कर सूत्रकार इस अध्ययन में कर्मों का स्वरूप समझा कर अंत में कर्म क्षय की प्रेरणा देते हैं। प्रस्तुत अध्ययन की २५ गाथाओं में से प्रथम गाथा इस प्रकार है -

आठ कर्म

अट्ठ कम्माइं वोच्छामि, आणुपुब्बिं जहक्कमं।

जेहिं बद्धो अयं जीवो, संसारे परिवट्ठइ ॥१॥

कठिन शब्दार्थ - अट्ठ कम्माइं - आठ कर्मों का, वोच्छामि - वर्णन करूंगा, आणुपुब्बिं- आनुपूर्वी से, जहक्कमं - क्रमशः, जेहिं बद्धो - जिनसे बंधा हुआ, संसारे - संसार में, परिवट्ठइ - पर्यटन करता है।

भावार्थ - श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन् जम्बू! मैं आठ कर्मों का आनुपूर्वी एवं यथाक्रम से वर्णन करूंगा जिनसे बंधा हुआ यह जीव संसार में परिभ्रमण करता रहता है।

विवेचन - मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगों के द्वारा जीव जिनको करता है उन्हें कर्म कहते हैं। वे ज्ञानावरणीयादि आठ हैं। इनका उदय आने पर जीव नरक, निगोद आदि के दुःखों का उपभोग करता है।

णाणस्सावरणिज्जं, दंसणावरणं तहा।

वेयणिज्जं तहा मोहं, आउकम्मं तहेव य ॥२॥

णामकम्मं च गोयं च, अंतरायं तहेव य।

एवमेयाइं कम्माइं, अट्ठेव उ समासओ ॥३॥

कठिन शब्दार्थ - णाणस्सावरणिज्जं - ज्ञान का आवरण करने वाला ज्ञानावरणीय कर्म,

दंसणावरणं - दर्शनावरणीय, वेद्यणिज्जं - वेदनीय, तथा - तथा, मोहं - मोहनीय कर्म, आउकम्मं - आयुष्य कर्म, णामकम्मं - नाम कर्म, गोयं - गोत्र, अंतरायं - अंतराय, एवं - इस प्रकार, एयाइं - ये, कम्माइं - कर्म, अट्टेव - आठ ही हैं, समासओ - संक्षेप में।

भावार्थ - ज्ञान को आवृत्त करने वाला ज्ञानावरणीय, दर्शन को आवृत्त करने वाला दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु कर्म, नाम कर्म, गोत्र और अन्तराय, इस प्रकार ये संक्षेप से आठ ही कर्म कहे गये हैं।

ज्ञानावरणीय की उत्तर प्रकृतियां

णाणावरणं पंचविहं, सुयं आभिणिबोहियं।

ओहिणाणं च तइयं, मणणाणं च केवलं ॥४॥

कठिन शब्दार्थ - णाणावरणं - ज्ञानावरणीय कर्म, पंचविहं - पांच प्रकार का है, सुयं - श्रुत, आभिणिबोहियं - आभिनिबोधिक, ओहिणाणं - अवधिज्ञान, मणणाणं - मनः (पर्याय) ज्ञान, केवलं - केवल (ज्ञानावरण)।

भावार्थ - ज्ञानावरणीय कर्म पांच प्रकार का है - श्रुत-ज्ञानावरणीय, आभिनिबोधिक (मति) ज्ञानावरणीय, तीसरा अवधिज्ञानावरणीय, मनःपर्यव-ज्ञानावरणीय और केवल ज्ञानावरणीय।

विवेचन - इनमें से पहले के चार ज्ञान क्षायोपशमिक भाव में जाते हैं और केवल ज्ञान क्षायिक भाव में है। मनः पर्यवज्ञान के दो पर्यायवाची शब्द हैं - मन पर्याय और मन पर्यव। इनमें से तीन ज्ञान तो चारों गति के जीवों को हो सकते हैं। मनपर्यव और केवलज्ञान मनुष्य को ही होते हैं।

यद्यपि व्याख्या प्रज्ञप्ति, स्थानांग और अनुयोगद्वार तथा नदी एवं प्रज्ञापना आदि आगमों में पहले मतिज्ञान का (जिसका दूसरा नाम आभिनिबोधिक ज्ञान है) उल्लेख किया गया है, तथापि श्रुतज्ञान की प्रधानता दिखाने के लिए ही यहाँ पर इसका प्रथम उल्लेख किया गया है, इसलिए विरोध की कोई आशंका नहीं करनी चाहिए।

दर्शनावरणीय की उत्तर प्रकृतियां

णिहा तहेव पयला, णिहाणिहा पयलपयला य।

तत्तो य थीणगिद्धी उ, पंचमा होइ णायव्वा ॥५॥

चक्षुमचक्षु-ओहिस्स, दंसणे केवले य आवरणे।

एवं तु णव-विगप्पं, णायब्बं दंसणावरणं॥६॥

कठिन शब्दार्थ - णिद्दा - निद्रा, तहेव - और, पयला - प्रचला, पयलपयला - प्रचला प्रचला, थीणगिद्धी - स्त्यानगृद्धि, पंचमा - पांचवीं, चक्षु - चक्षुदर्शनावरणीय, अचक्षु - अचक्षुदर्शनावरणीय, ओहिस्स - अवधिज्ञानावरणीय, केवले दंसणे आवरणे - केवलदर्शनावरणीय, णव-विगप्पं - नौ प्रकार का, णायब्बं - जानना चाहिये।

भावार्थ - निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और इसके बाद पांचवीं स्त्यानगृद्धि हैं। ये पांच निद्राएँ जाननी चाहिए। चक्षुदर्शनावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय और केवलदर्शनावरणीय, ये चार और उपरोक्त पांच निद्राएं इस प्रकार दर्शनावरणीय नौ प्रकार का जानना चाहिए।

वेदनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ

वेयणीयं पि य दुविहं, सायमसायं च आहियं।

सायस्स उ बहू भेया, एमेव असायस्स वि॥७॥

कठिन शब्दार्थ - वेयणीयं - वेदनीय, दुविहं - दो प्रकार का, सायं - साता, असायं - असाता, आहियं - कहा गया है, सायस्स - साता वेदनीय के, बहू भेया - बहुत भेद, एमेव - इसी प्रकार, असायस्स वि - असाता वेदनीय के।

भावार्थ - वेदनीय कर्म साता और असाता रूप से दो प्रकार का कहा गया है। साता वेदनीय के बहुत भेद हैं और इसी प्रकार असातावेदनीय के भी बहुत भेद हैं।

मोहनीय की उत्तर प्रकृतियाँ

मोहणिज्जं पि दुविहं, दंसणे चरणे तथा।

दंसणे तिविहं वुत्तं, चरणे दुविहं भवे॥८॥

कठिन शब्दार्थ - दंसणे - दर्शन मोहनीय, चरणे - चारित्र मोहनीय, दुविहं - दो प्रकार का, तिविहं - तीन प्रकार का, वुत्तं - कहा गया है।

भावार्थ - मोहनीय कर्म भी दो प्रकार का है - दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीय, दर्शनमोहनीय तीन प्रकार का कहा गया है और चारित्र-मोहनीय दो प्रकार का होता है।

सम्पत्तं चेव मिच्छत्तं, सम्मामिच्छत्तमेव य।

एयाओ तिण्णि पयडीओ, मोहणिज्जस्स दंसणे ॥६॥

कठिन शब्दार्थ - सम्पत्तं - सम्यक्त्व मोहनीय, मिच्छत्तं - मिथ्यात्व मोहनीय, सम्मामिच्छत्तमेव - सम्यक्त्व-मिथ्यात्व (मिश्र मोहनीय), पयडीओ - प्रकृतियां, मोहणिज्जस्स-मोहनीय की।

भावार्थ - सम्यक्त्व मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय और सम्यक्त्वमिथ्यात्व (मिश्र) मोहनीय, ये तीन प्रकृतियां दर्शन मोहनीय कर्म की हैं।

चरित्तमोहणं कम्मं, दुविहं तु वियाहियं।

कसाय-मोहणिज्जं तु, णोकसायं तहेव य ॥१०॥

कठिन शब्दार्थ - चरित्तमोहणं - चारित्र मोहनीय, कसायमोहणिज्जं - कषाय मोहनीय, णोकसायं - नोकषाय।

भावार्थ - चारित्र-मोहनीय कर्म दो प्रकार का कहा गया है। यथा - कषाय-मोहनीय और नोकषाय-मोहनीय।

विवेचन - 'कष्यन्ते, पीड्यन्ते प्राणिनो अस्मिन् इति कषः-संसारः तस्य आयः लाभः इति कषायः।'

अर्थात् - जिसमें प्राणी दुःख को प्राप्त करते हैं, उसे कष यानी संसार की प्राप्ति जिससे हो उसे 'कषाय' कहते हैं।

क्रोधादि प्रधान कषायों के साथ ही जो मानसिक विकार उत्पन्न करते हैं तथा उन्हीं के साथ फल देते हैं, उन्हें 'नोकषाय' कहते हैं।

सोलसविहभेएणं, कम्मं तु कसायजं।

सत्तविहं णवविहं वा, कम्मं च णोकसायजं ॥११॥

कठिन शब्दार्थ - सोलसविहभेएणं - सोलह प्रकार का, कसायजं - कषायज-कषाय मोहनीय, सत्तविहं - सात प्रकार का, णवविहं - नौ प्रकार का, णोकसायजं - नोकषाय मोहनीय।

भावार्थ - कषाय-मोहनीय कर्म सोलह प्रकार का है और नोकषाय-मोहनीय कर्म सात प्रकार का अथवा नौ प्रकार का है।

विवेचन - क्रोध, मान, माया और लाभ ये चार कषाय हैं। इनमें से प्रत्येक के अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन ये चार-चार भेद होते हैं। ये सब मिला कर १६ भेद हो जाते हैं। हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा और वेद, इस प्रकार सात अथवा हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद, इस प्रकार नौ भेद नोकषाय-मोहनीय के हैं। ये नौ भेद क्रोध आदि कषाय को उत्पन्न करने में निमित्त कारण बनते हैं।

आयुर्कर्म की उत्तर प्रकृतियां

गेरइय-तिरिक्खाउं, मणुस्साउं तहेव च।

देवाउयं चउत्थं तु, आउं कम्मं च चउव्विहं॥१२॥

कठिन शब्दार्थ - गेरइय-तिरिक्खाउं - नरकायु-तिर्यचायु, मणुस्साउं - मनुष्यायु, देवाउयं - देव आयुष्य।

भावार्थ - आयु-कर्म, चार प्रकार का है। यथा - नरक-आयु, तिर्यच-आयु, मनुष्य-आयु और चौथी देव-आयु।

विवेचन - चार गति के आयुष्य बंध के चार-चार कारण ठाणाञ्ज सूत्र के चौथे ठाणे में बतलाये गये हैं। जो इस प्रकार हैं -

नरक आयु बन्ध के चार कारण -

१. महारम्भ - बहुत प्राणियों की हिंसा हो, इस प्रकार तीव्र परिणामों से कषायपूर्वक प्रवृत्ति करना महारम्भ है।

२. महापरिग्रह - वस्तुओं पर अत्यन्त मूर्छा, महापरिग्रह है।

३. पंचेन्द्रिय वध - पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा करना पंचेन्द्रिय वध है।

४. कुणिमाहार - कुणिम अर्थात् मांस का आहार करना।

इन चार कारणों से जीव नरकायु का बंध करता है।

तिर्यच आयु बन्ध के चार कारण -

१. माया - अर्थात् कुटिल परिणामों वाला - जिसके मन में कुछ हो और बाहर कुछ हो। विषकुम्भ-पयोमुख की तरह ऊपर से मीठा हो, दिल से अनिष्ट चाहने वाला हो।

२. निकृति वाला - ढोंग करके दूसरों को ठगने की चेष्टा करने वाला।

३. झूठ बोलने वाला।

४. झूठे तोल, झूठे माप वाला। अर्थात् खरीदने के लिए बड़े और बेचने के लिए छोटे तोल और माप रखने वाला जीव तिर्यच गतियोग्य कर्म बान्धता है।

मनुष्य आयु बन्ध के चार कारण -

१. भद्र प्रकृति वाला।

२. स्वभाव से विनीत।

३. दया और अनुकम्पा के परिणामों वाला।

४. मत्सर अर्थात् ईर्ष्या - डाह न करने वाला जीव मनुष्य आयु योग्य कर्म बांधता है।

देव आयु बन्ध के चार कारण -

१. सराग संयम वाला।

२. देश विरति श्रावक।

३. अकाम निर्जरा अर्थात् अनिच्छापूर्वक पराधीनता आदि कारणों से कर्मों की निर्जरा करने वाला।

४. बालभाव से, विवेक के बिना, अज्ञान पूर्वक काया-क्लेश आदि तप करने वाला जीव देवायु के योग्य कर्म बांधता है।

नामकर्म की उत्तर प्रकृतियां

णामकम्मं तु दुविहं, सुहमसुहं च आहियं।

सुहस्स उ बहूभेया, एमेव असुहस्स वि॥१३॥

कठिन शब्दार्थ - सुहं - शुभ, असुहं - अशुभ, सुहस्स - शुभ नाम कर्म के, असुहस्स - अशुभ नामकर्म के।

भावार्थ - नाम-कर्म शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार का कहा गया है। शुभ नाम-कर्म के बहुत-से भेद हैं और इसी प्रकार अशुभ नाम-कर्म के भी बहुत-से भेद हैं।

गोत्रकर्म की उत्तर प्रकृतियां

गोयं कम्मं दुविहं, उच्चं णीयं च आहियं।

उच्चं अट्टविहं होइ, एवं णीयं पि आहियं॥१४॥

कठिन शब्दार्थ - उच्चं - उच्च, णीयं - नीच।

भावार्थ - गोत्र-कर्म, उच्च और नीच के भेद से दो प्रकार का कहा गया है। उच्च-गोत्र के आठ भेद हैं इसी प्रकार नीच-गोत्र भी आठ प्रकार का कहा गया है अर्थात् जाति, कुल, बल, तप, ऐश्वर्य, श्रुत, लाभ और रूप, ये आठ भेद उच्च गोत्र के हैं और ये ही आठ भेद नीच-गोत्र के हैं। इन आठ बातों का मद नहीं करने से उच्च गोत्र का बंध होता है और आठ बातों का मद करने से नीच गोत्र का बंध होता है।

अंतराय कर्म की उत्तर प्रकृतियां

दाणे लाभे य भोगे य, उवभोगे वीरिए तहा।

पंचविहमंतरायं, समासेण वियाहियं ॥१५॥

कठिन शब्दार्थ - दाणे - दानान्तराय, लाभे - लाभान्तराय, भोगे - भोगान्तराय, उवभोगे - उपभोगान्तराय, वीरिए - वीर्यान्तराय।

भावार्थ - अन्तराय कर्म संक्षेप से पांच प्रकार का कहा गया है। यथा - दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय, ये पांच भेद हैं।

एयाओ मूलपयडीओ, उत्तराओ य आहिया।

पएसगं खित्त-काले य, भावं च उत्तरं सुण ॥१६॥

कठिन शब्दार्थ - एयाओ - ये, मूलपयडीओ - मूल प्रकृतियां, उत्तराओ - उत्तर प्रकृतियां, पएसगं - प्रदेशाग्र, खित्त - क्षेत्र, काले - काल, भावं - भाव, उत्तरं - आगे, सुण - सुनो।

भावार्थ - ये मूल प्रकृतियाँ हैं और उत्तर प्रकृतियाँ अर्थात् आठ कर्म और उनके भेद कहे गये हैं, अब आगे इनके प्रदेशाग्र, क्षेत्र, काल और भाव के स्वरूप का वर्णन किया जाएगा, जिसको ध्यान पूर्वक सुनो।

कर्मों के प्रदेशाग्र

सव्वेसिं चेव कम्माणं, पएसग्गमणंतगं।

गंठिय-सत्ताइयं, अंतो सिद्धाण आहियं ॥१७॥

कठिन शब्दार्थ - सव्वेसिं - सभी, कम्माणं - कर्मों के, पएसग्गं - प्रदेशाग्र - कर्म परमाणु पुद्गल दलिक, अणंतगं - अनन्त, गंठिय सत्ताइयं - ग्रन्थिक सत्त्वातीत अर्थात्

जिन्होंने ग्रंथिभेद नहीं किया है उन अभव्य जीवों से, अंतो - अन्तवर्ती - अनंतवें भाग जितने, सिद्धाण - सिद्धों के।

भावार्थ - एक समय में तथा अनेक समयों में बंधने वाले ज्ञानावरणीय आदि सभी कर्मों के प्रदेशाग्र (परमाणु) अनन्त हैं, वे अभव्य जीवों की अपेक्षा अनन्तगुणा अधिक हैं और सिद्ध भगवान् का अनन्तवाँ भाग कहे गये हैं अर्थात् वे सिद्ध भगवान् से अनन्तगुण कम हैं।

विवेचन - इस गाथा में यह बतलाया गया है कि ज्ञानावरणीय आदि आठों कर्मों के प्रदेशाग्र अर्थात् परमाणु-कर्म दलिक अनन्त हैं।

प्रश्न - अनन्त के अनन्त भेद हैं यहाँ पर कौनसा अनन्त समझना चाहिए?

उत्तर - शास्त्रकार इसी गाथा में उत्तर फरमाते हैं कि 'गंठियसत्ताइयं' - ग्रन्थिकसत्त्वातीत इसका अर्थ यह है कि - रागद्वेष अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ के वशीभूत बना हुआ यह जीव संसार में परिभ्रमण करता हुआ दुःख उठा रहा है। प्रत्येक कषाय की चार चौकड़ी है अर्थात् अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन। अनन्तानुबंधी चौकड़ी समकित को रोकती है, अप्रत्याख्यानी चौकड़ी सर्वज्ञ कथित किसी भी प्रकार के प्रत्याख्यान को नहीं आने देती है।

प्रत्याख्यानावरण चौकड़ी सर्व विरति रूप श्रमणता (साधुता) अर्थात् मुनिपने को रोकती है और संज्वलन चौकड़ी वीतरागता को रोकती है। इन चारों चौकड़ियों में अनन्तानुबंधी चौकड़ी को समाप्त करना सबसे बड़ा कठिन है। इसका उपशम, क्षय या क्षयोपशम हुए बिना सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती है। यह सब से बड़ी गांठ है इसलिए शास्त्रकार ने शब्द दिया है - ग्रन्थि (गांठ)। यह गांठ (अनन्तानुबंधी चौकड़ी) जिन जीवों के कभी समाप्त नहीं होती किन्तु हमेशा सत्ता में बनी रहती है ऐसे जीव अभव्य जीव होते हैं। अभव्य (अभवी-अभव सिद्धिक) जीव अनन्त हैं। कितने अनन्त हैं? इसकी स्पष्टता करते हुए पत्रवणा सूत्र के तीसरे पद में महादण्डक में अर्थात् ६८ बोल के अल्पबहुत्व में बतलाया गया है कि अभवी जीवों की संख्या ७४ वें बोल में आती है, वे अनन्त हैं। इसके आगे ७६ वें बोल में सिद्ध भगवन्तों की संख्या अनन्त बतलाई गयी है। यहाँ पर इस गाथा में बतलाया गया है कि ग्रन्थि सत्ता वाले अभवी जीवों से अतीत अर्थात् अभवी जीवों की संख्या का उल्लंघन कर के और सिद्ध भगवन्तों के अनन्तवें भाग जितने सब कर्मों के प्रदेशाग्र (परमाणु-कर्मदलिक) होते हैं।

सव्व-जीवाण कम्मं तु, संगहे छद्दिसागयं।

सव्वेसु वि पएसेसु, सव्वं सव्वेण बद्धं ॥१८॥

कठिन शब्दार्थ - सव्वजीवाण - सभी जीवों के, संगहे - संग्रह की अपेक्षा, छद्दिशागयं- छह दिशाओं में रहे हुए, सव्वेसु वि पएसेसु - सभी प्रदेशों के साथ, सव्वेण - सर्व प्रकार से, बद्धगं - बद्ध हो जाते हैं।

भावार्थ - सभी जीवों के सभी ज्ञानावरणीयादि कर्म, संग्रह की अपेक्षा षट्दिशागत - पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर और नीचे, इन छहों दिशाओं में स्थित हैं वे सभी आत्मप्रदेशों के साथ प्रकृति, स्थिति आदि सभी प्रकार से बंधे हुए हैं।

विवेचन - इस गाथा में यह बतलाया गया है कि - संसारी समस्त जीव कषाय और योग के निमित्त से प्रतिसमय ज्ञानावरणीयादि आठ कर्म प्रकृति रूप कर्म पुद्गलों का ग्रहण करते रहते हैं। ये जीव आकाश के जितने प्रदेशों को रोकते हुए हैं वहीं से कर्म पुद्गलों को खींचता है और दस ही दिशाओं से व्यवस्थित रूप से खींचता है। यद्यपि गाथा में छह दिशाओं का ही कथन किया है तथापि दिशा शब्द से विदिशा का भी ग्रहण कर लेना चाहिए।

गाथा में 'सव्वं सव्वेण बद्धगं' शब्द दिया है। इसका अर्थ दिया है कि - एक आत्मा के असंख्यात प्रदेश होते हैं। वे असंख्यात प्रदेश ही उन कर्म पुद्गलों को खींचते हैं और वे कर्म पुद्गल भी आत्मा के असंख्यात प्रदेशों पर ही चिपक जाते हैं और चिपक कर क्षीर-नीर की तरह एकमेक हो जाते हैं।

जम्बूद्वीप का मेरु पर्वत सम्पूर्ण तिरछा लोक के मध्य में है। वह धरती पर १० हजार योजन का चौड़ा है। उसके ठीक बीचोबीच में आठ रुचक प्रदेश हैं वे गोस्तनाकार हैं। चार ऊपर की तरफ और चार नीचे की तरफ हैं इन्हीं से चार दिशा, चार विदिशा और अधोदिशा और ऊर्ध्व दिशा ये दस दिशाएँ निकलती हैं। इन रुचक प्रदेशों की उपमा से असंख्य प्रदेशात्मक प्रत्येक आत्मा के ठीक बीचोबीच (प्रायः नाभि प्रदेश के समीप) आठ रुचक प्रदेश हैं। कितनेक आचार्यों की मान्यता है कि - ये आठ रुचक प्रदेश कर्मों के लेप से रहित हैं। परन्तु यह मान्यता शास्त्र सम्मत नहीं है। यह बात इस गाथा में दिये हुए 'सव्वं सव्वेण बद्धगं' पाठ से स्पष्ट हो जाती है कि - आत्मा के सभी प्रदेश सभी कर्म परमाणुओं से लिप्त हैं अर्थात् आत्मा का कोई भी प्रदेश कर्म लेप से रहित नहीं है। यही बात भगवती सूत्र शतक ६ उद्देशक ३ से स्पष्ट होती है।

कर्मों की स्थितियाँ

उदहीसरिसणामाणं, तीसई कोडिकोडीओ।

उक्कोसिया ठिई होइ, अंतोमुहत्तं जहण्णिया॥१६॥

आवरणिज्जाण दुण्हं पि, वेयणिज्जे तहेव य।

अंतराए य कम्मम्मि, ठिई एसा वियाहिया॥२०॥

कठिन शब्दार्थ - उदहीसरिसणामाणं - उदधि सदृश नाम - सागरोपम की, तीसई - तीस, कोडिकोडीओ - कोड़ाकोड़ी, उक्कोसिया - उत्कृष्ट, ठिई - स्थिति, अंतोमुहुत्तं - अन्तर्मुहूर्त, जहणिया - जघन्य, आवरणिज्जाण - आवरणीय, दुण्हं पि - दोनों।

भावार्थ - दोनों आवरणीय (ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय) कर्मों की तथा वेदनीय की और अन्तराय-कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त होती है और इनकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ोकोड़ी सागरोपम की कही गई है।

विवेचन - पल्योपम और सागरोपम किसे कहते हैं?

उत्तर - एक करोड़ पूर्व वर्ष की आयुष्य से अधिक हो, उसे असंख्यात वर्ष की आयुष्य कहते हैं। उसको बतलाने के लिए उपमा से बतलाया जाता है। पल्य (छबड़ा अथवा गहरा खड्डा) की उपमा से बतलाया जाय वह पल्योपम और सागर (समुद्र) की उपमा से जो बताया जाय, उसे सागरोपम कहते हैं। पल्योपम की व्याख्या पहले की जाती है -

उत्सेधांगुल से एक योजन लंबा, एक योजन चौड़ा और एक योजन गहरा कोई कुआं हो उसमें एक दिन से लेकर सात दिन तक के देवगुरु-उत्तरकुरु के युगलिक के केशों को दूंस-दूंस कर भरा जाय। केशों के असंख्यात टुकड़े किये जाय जो कि छद्मस्थ के दृष्टिगोचर न हों। उनमें से प्रत्येक बालाग्र खंड को सौ-सौ वर्ष में निकाला जाय। इस प्रकार निकालते-निकालते वह कुआं जितने काल में खाली हो जाय, उसे सूक्ष्म अद्वा पल्योपम कहते हैं। इसमें असंख्यात वर्ष कोटी परिमाण काल होता है। ऐसे दस कोड़ाकोड़ी सूक्ष्म अद्वा पल्योपम का एक सूक्ष्म अद्वा सागरोपम होता है। जीवों की कर्म स्थिति, कायस्थिति, भव स्थिति, सूक्ष्म अद्वा पल्योपम और सूक्ष्म अद्वा सागरोपम से मापी जाती है।

(दस करोड़ को एक करोड़ से गुणा करना दस कोड़ा कोड़ी कहलाता है जैसे कि - मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सित्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम है - यहाँ सित्तर करोड़ को एक करोड़ से गुणा करना चाहिए किन्तु सित्तर को सित्तर करोड़ से गुणा नहीं करना चाहिए। किन्तु एक करोड़ से ही गुणा करना चाहिए।) अनुयोगद्वार सूत्र में पल्योपम और सागरोपम के तीन-तीन भेद बतलाये गये हैं, यथा - उद्धार, अद्वा और क्षेत्र।

उद्धार पत्त्योपम और सागरोपम से द्वीप समुद्रों की गिनती की जाती है। सूक्ष्म क्षेत्र पत्त्योपम और सागरोपम से दृष्टिवाद में द्रव्य मापे जाते हैं। सूक्ष्म क्षेत्र सागरोपम से पांच स्थावर और त्रस जीवों की गिनती की जाती है।

‘समुद्र’ शब्द के अनेक पर्यायवाची शब्द हैं यथा - सागर, उदधि, तोयधि, नीरधि, पयोधि आदि। इनमें से इन गाथाओं में उदधि शब्द का प्रयोग किया है। जिसका प्राकृत में ‘उदही’ शब्द बनता है। इन गाथाओं में शास्त्रकार ने ‘उदही’ शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु दूसरी जगह प्रायः बहुलता से सागरोपम शब्द का प्रयोग आता है।

यहाँ पर जीवों की कर्म स्थिति का वर्णन किया गया है इसलिए अद्धा पत्त्योपम और अद्धा सागरोपम का ग्रहण करना चाहिए क्योंकि यहाँ पर यही प्रकरण संगत है।

नोट - गाथा नं० २० में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की कही है, वह यथार्थ है। किन्तु इसके साथ ही वेदनीय कर्म की भी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की कह दी है। इस विषय में टीकाकार श्री शान्ताचार्य ने तो लिख दिया है कि - शास्त्रकार ने वेदनीय कर्म की भी जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की कह दी है इसका क्या अभिप्राय है, यह हमारी समझ में नहीं आया है। प्रज्ञापना सूत्र तेइसर्वे पद में सातावेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त्त की बताई है। यही बात तत्त्वार्थ सूत्र के आठवें अध्यायन में भी कही है -

‘अपरा द्वादशमुहूर्त्ता वेदनीयस्य ॥६६॥’

असातावेदनीय की जघन्य स्थिति एक सागरोपम के सात भागों में से तीन भाग उनमें भी पत्त्योपम के असंख्यातवें भाग कम होती है।

शास्त्रकारों ने ईर्यापथिकी की सातावेदनीय की अपेक्षा वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त (दो समय) की बताई है। दो समय को जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त कहा जाता है। उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त ४८ मिनट में एक समय कम का होता है।

उदही-सरिस-णामाण, सत्तरिं कोडिकोडीओ।

मोहणिज्जस्स उक्कोसा, अंतोमुहूर्त्तं जहणिया ॥२१॥

कठिन शब्दार्थ - सत्तरिं - सत्तर, मोहणिज्जस्स - मोहनीय की।

भावार्थ - मोहनीय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त है और उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम की होती है।

तेतीस-सागरोपमा, उक्कोसेण वियाहिधा।

ठिई उ आउकम्मस्स, अंतोमुहुत्तं जहणिया ॥२२॥

भावार्थ - आयु कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम कही गई है।

उदही-सरिस-णामाण, बीसई कोडिकोडीओ।

णामगोत्ताण उक्कोसा, अट्ट मुहुत्तं जहणिया ॥२३॥

भावार्थ - नाम कर्म और गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की होती है।

कर्मों के अनुभाग

सिद्धाणणंतभागो य अणुभागा हवंति उ।

सव्वेसु वि पएसगं, सव्व जीवेसु अइच्छियं ॥२४॥

कठिन शब्दार्थ - सिद्धाणं - सिद्धों के, अणंतभागो - अनंतवें भाग, अणुभागा - अनुभाग (कर्मों के रस विशेष) सव्व जीवेसु वि - सभी जीवों से भी, अइच्छियं - अधिक।

भावार्थ - सभी कर्म स्कन्धों के अनुभाग अर्थात् रस विशेष सिद्ध भगवन्तों के अनन्तवाँ भाग हैं और सब कर्मों के प्रदेशाग्र (परमाणु) सब जीवों से अनन्तगुणा अधिक हैं।

विवेचन - सभी कर्मों के अनुभाग (रस विशेष) सिद्ध भगवान् के अनन्तवें भाग हैं किन्तु यह अनन्तवाँ भाग भी अनंत संख्या वाला ही समझना चाहिए। इन अनुभागों के प्रदेशाग्र (परमाणु) भवी, अभवी सभी जीवों से अनन्त गुणा अधिक हैं।

हर एक जीव प्रतिसमय में अभव्यों से अनंतगुणा व सिद्धों के अनंतवें भाग जितने परमाणुओं से निष्पन्न स्कन्धों को ग्रहण करता है। प्रत्येक समय में ग्रहण होने वाले स्कन्धों की संख्या भी अभव्य से अनंतगुणी और सिद्धों के अनंतवें भाग जितनी होती है। इन स्कन्धों में प्रत्येक परमाणु (प्रदेश) में जो सुख दुःख देने की शक्ति होती है, उसे 'अनुभाग' कहते हैं और ये अनुभाग सिद्धों के अनंतवें भाग और अभव्यों से अनंतगुणे होते हैं। क्योंकि प्रतिसमय में ग्रहण होने वाले सब स्कन्धों के परमाणु (प्रदेश) इतने ही होते हैं। अतः अनुभागों की संख्या इतनी ही बताई है। यथा - 'सिद्धाणणंतभागो उ, अणुभागा हवंति य' अब इस गाथा के उत्तरार्द्ध के द्वारा - (सव्वेसु वि पएसगं, सव्व जीवेसु अइच्छियं ॥२४॥) एक अनुभाग (रसयुक्त परमाणु प्रदेश) में कितने प्रदेश अर्थात् सुख दुःख देने की

शक्ति का छोटे से छोटा अंश (जिसका केवली प्रज्ञा से भी विभाग नहीं हो सके) कितने हैं? इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार से किया गया है - 'प्रत्येक अनुभाग में सब जीवों से अनंतगुणा प्रदेश है - अर्थात् प्रत्येक परमाणु (रसयुक्त प्रदेश) में रस में अविभागी प्रतिच्छेद (रसांश) सब जीवों से अनंतगुणे हैं। अर्थात् - गाथा के उत्तरार्द्ध में आये हुए 'प्रदेशाग्र' शब्द का अर्थ - 'रस अनुभाग के अविभागी प्रतिच्छेद' समझना चाहिए। इस प्रकार उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३३ गाथा २४ वीं का भावार्थ समझना चाहिए।

उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३३ की गाथा २४ वीं का आशय इस प्रकार ध्यान में आया है - 'यद्यपि अनुभाग बंध के अध्यवसाय तो असंख्यात ही होते हैं, तथापि अनुभाग के रस स्पर्द्धक सिद्धों के अनंतवें भाग होते हैं, उन्हीं का इस गाथा में उल्लेख हुआ है। उन रस स्पर्द्धकों में एक गुण से अनंत गुण पर्यन्त रस स्पर्द्धक अंश होते हैं। (जिन्हें इस गाथा में भाव प्रदेश के रूप में बताया है) उनकी संख्या सब जीवों से अनंत गुणी होती है। १७ वीं गाथा में द्रव्य प्रदेशों का और २४ वीं गाथा में भाव-(रस) प्रदेशों का वर्णन समझना चाहिए।

उपसंहार

तम्हा एएसिं कम्माणं, अणुभागा वियाणिया।

एएसिं संवरे चेष, खवणे य जए बुहो ॥२५॥ ति वेमि ॥

कठिन शब्दार्थ - वियाणिया - जान कर, संवरे - संवर - आस्रव - निरोध में, खवणे - क्षय करने में, जए - यत्न करे, बुहो - बुध-बुद्धिमान् तत्त्वज्ञ।

भावार्थ - इसलिए इन कर्मों के अनुभाग बन्ध - प्रकृति बंध, स्थिति बंध, रस बंध और प्रदेश बन्ध को जान कर बुध-पण्डित पुरुष इनका संवर करने (आते हुए कर्मों को रोकने) में और पूर्व संचित कर्मों का क्षय करने में यत्न करे। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - अध्ययन का उपसंहार करते हुए आगमकार ने कर्म का निरोध या क्षय करने से पूर्व यह जान लेना अनिवार्य बताया है कि वह कर्म किस मूल प्रकृति का है; किस मार्ग के द्वारा यह कर्माणु आ रहा है? कितने तीव्र, मंद या मध्यम परिणाम से बांधा गया है? इत्यादि तदनन्तर साधक, उसका संवर - आते हुए कर्म का निरोध तथा क्षय करे।

इस प्रकार प्रस्तुत गाथा में कर्मों के विपाक शुभाशुभ अथवा कुछ परिणामों को जान कर प्रबुद्ध साधु वर्ग को उसके निरोध और क्षय के लिए प्रयत्नशील रहने का उपदेश दिया गया है।

॥ इति कर्मप्रकृति नामक तेतीसवां अध्ययन समाप्त ॥

लेसज्झयणं णामं चउतीसइमं अज्झयणं

लेश्या नामक चौतीसवां अध्ययन

प्रस्तुत अध्ययन में छह लेश्याओं का ११ द्वारों के माध्यम से व्यवस्थित रूप से निरूपण किया गया है।

लेश्या एक ऐसा पारिभाषिक शब्द है जिससे जीव की मनोगत एवं विचार वर्णगत तरतमता का पता चलता है। यह एक प्रकार का धर्मामीटर है। लेश्याओं का यह वर्णन आधुनिक मनोविश्लेषकों के लिए बहुत ही उपयोगी है। इस अध्ययन की प्रथम गाथा इस प्रकार है -

लेश्या-स्वरूप

लेसज्झयणं पवक्खामि, आणुपुब्बिं जहक्कमं।

छण्हं पि कम्म-लेसाणं, अणुभावे सुणेह मे॥१॥

कठिन शब्दार्थ - लेसज्झयणं - लेश्या अध्ययन का, पवक्खामि - वर्णन करूंगा, आणुपुब्बिं - अनुक्रम से, जहक्कमं - यथाक्रम से, छण्हं पि - छहों, कम्म-लेसाणं - कर्म लेश्याओं के, अणुभावे - अनुभाव को, मे - मुझसे, सुणेह - सुनो।

भावार्थ - श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि - हे आयुष्मन् जम्बू! मैं आनुपूर्वी-अनुक्रम एवं यथाक्रम से लेश्या अध्ययन का वर्णन करूंगा। इसलिए छहों कर्म लेश्याओं के अनुभाव (तीव्र-मंद आदि रस) को, मुझ से सुनो।

विवेचन - प्रश्न - लेश्या किसे कहते हैं?

उत्तर - कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात्, परिणामो य आत्मनः।

स्फटिकस्येव तत्रायं, लेश्याशब्दः प्रवर्तते॥१॥

स्फटिक मणि सफेद होती है, उसमें जिस रंग का डोरा पिरोया जाय वह उसी रंग की दिखाई देती है। इसी प्रकार शुद्ध आत्मा के साथ जिससे कर्मों का संबंध हो, उसे लेश्या कहते हैं। द्रव्य और भाव की अपेक्षा लेश्या दो प्रकार की है। द्रव्य लेश्या कर्म वर्णना रूप तथा कर्म निब्यन्द रूप एवं योग परिणाम रूप हैं। तत्त्वार्थ सूत्र में तो बतलाया गया है कि - 'कषायानुरञ्जित योग परिणामो लेश्या' आत्मा में रहे हुए क्रोधादि कषाय को लेश्या बढ़ाती है। योगान्तर्गत

पुद्गलों में कषाय को बढ़ाने की शक्ति रहती है। जैसे पित्त के प्रकोप से क्रोध की वृद्धि होती है। द्रव्य लेश्या के छह भेद हैं। क्योंकि इन लेश्याओं के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि का विस्तार पूर्वक वर्णन इस अध्ययन में दिया गया है। मनुष्य और तिर्यच में द्रव्यलेश्या का परिवर्तन होता है। देवता और नैरयिक में द्रव्य लेश्या अवस्थित होती है।

भावलेश्या - योगान्तर्गत कृष्णादि द्रव्य लेश्या के संयोग से होने वाला आत्मा का परिणाम विशेष भाव लेश्या कहलाती है। इसके दो भेद हैं - १. विशुद्ध भावलेश्या और २. अविशुद्ध भावलेश्या। अकलुषित द्रव्य लेश्या के सम्बन्ध होने पर कषाय के क्षय, उपशम का क्षयोपशम से होने वाला आत्मा का शुभ परिणाम अविशुद्ध भाव लेश्या है। इनके छह भेद हैं। इनमें से कृष्ण, नील और कापोत अविशुद्ध भाव लेश्या है और तेजो, पद्म और शुक्ल यह विशुद्ध भाव लेश्या है।

विषयानुक्रम

णामाङ् वण्ण-रस-गंध-फास-परिणामलक्खणं।

ठाणं ठिङ् गङ् चाउं, लेसाणं तु सुणेह मे॥२॥

कठिन शब्दार्थ - णामाङ् - नाम, वण्ण - वर्ण, रस - रस, गंध - गंध, फास - स्पर्श, परिणाम - परिणाम, लक्खणं - लक्षण, ठाणं - स्थान, ठिङ् - स्थिति, गङ् - गति, च - और, आउं - आयु, लेसाणं - लेश्याओं के।

भावार्थ - लेश्याओं के नाम, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, परिणाम, लक्षण, स्थान, स्थिति, गति और आयु, इन ग्यारह द्वारों से लेश्याओं का वर्णन किया जायगा। अतः मुझ से सुनो।

१. नाम द्वार - लेश्याओं के नाम

किण्हा णीला य काऊ य, तेऊ पम्हा तहेव य।

सुक्कलेसा य छट्ठा य, णामाङ् तु जहक्कमं॥३॥

कठिन शब्दार्थ - किण्हा - कृष्ण, णीला - नील, काऊ - कापोत, तेऊ - तेजो, पम्हा - पद्म, सुक्कलेसा - शुक्ललेश्या, णामाङ् - नाम।

भावार्थ - छहों लेश्याओं के नाम यथाक्रम इस प्रकार हैं। यथा - कृष्ण-लेश्या, नील-लेश्या, कापोत-लेश्या, तेजो-लेश्या, पद्म-लेश्या और छठी शुक्ल-लेश्या है।

२. वर्ण द्वार - लेश्याओं के वर्ण

जीमूय-णिद्धसंकासा, गवलरिद्रुग-सण्णिभा ।

खंजांजणयणणिभा, किण्ह-लेसा उ वण्णओ ॥४॥

कठिन शब्दार्थ - जीमूय-णिद्धसंकासा - जीमूतस्निग्धसंकाशा - सजल काले मेघ के समान, गवलरिद्रुग-सण्णिभा - गवलरिष्टकसंनिभा - भैंस के सींग एवं अरिष्टक (कौए या अरीठे के फल) के सदृश, खंजांजणयणणिभा - खञ्जन-अंजन-नयन निभा - खंजन-गाड़ी के आँगन कीट, अंजन - काजल और आँख की कीकी के समान काली।

भावार्थ - वर्ण (रूप) की अपेक्षा कृष्ण-लेश्या जल से भरे मेघ के समान, भैंसे के सींग रिष्ट-द्रोणकाक तथा अरीठा नाम का फल विशेष के रंग के समान और गाड़ी के आँघण, काजल और आँख की पुतली के समान काली होती है।

णीलासोग-संकासा, चासपिच्छ-समप्पभा ।

वेरुलियणिद्धसंकासा, णीललेसा उ वण्णओ ॥५॥

कठिन शब्दार्थ - णीलासोग-संकासा - नील अशोक संकाशा - नीले अशोक वृक्ष के समान, चासपिच्छ-समप्पभा - चासपिच्छसमप्रभा - चाष पक्षी के पंख जैसी प्रभा वाली, वेरुलियणिद्धसंकासा - वैडूर्य स्निग्ध संकाशा - स्निग्ध वैडूर्य रत्न के सदृश।

भावार्थ - नीले अशोक वृक्ष के समान, चाष पक्षी की पंख की कान्ति के समान और दीप्त वैडूर्य मणि के समान, नील-लेश्या का वर्ण (रंग) होता है।

अयसीपुप्फ-संकासा, कोइलच्छद-सण्णिभा ।

पारेवयगीवणिभा, काऊलेसा उ वण्णओ ॥६॥

कठिन शब्दार्थ - अयसीपुप्फ-संकासा - अतसीपुष्पसंकाशा - अलसी के फूल जैसी, कोइलच्छद सण्णिभा - कोकिलच्छद संनिभा - कोयल की पंख सी, पारेवयगीवणिभा - पारावतग्रीवनीभा - कबूतर की गर्दन के समान।

भावार्थ - अलसी के फूल के समान, कोयल के पांख के समान और कबूतर की गर्दन के समान, कापोत लेश्या का वर्ण होता है।

हिङ्गुलयधाउ-संकासा, तरुणाइच्चसण्णिभा।

सुयतुंडपईवणिभा, तेऊलेसा उ वण्णओ॥७॥

कठिन शब्दार्थ - हिङ्गुलयधाउसंकासा - हिङ्गुलक धातु संकाशा - हिङ्गुलु तथा धातु-गेरु के सदृश, तरुणाइच्चसण्णिभा - तरुण (उदय होते हुए) सूर्य के समान, सुयतुंडपईवणिभा - शुकतुण्डप्रदीपनिभा - तोंते की चोंच या जलते हुए दीपक के समान।

भावार्थ - हिङ्गुल तथा गैरिक धातु के समान, उगते हुए तरुण सूर्य के समान और तोते की चोंच के समान तथा दीपक की शिखा के समान तेजो-लेश्या का वर्णन होता है।

हरियालभेयसंकासा, हलिद्दाभेयसमप्पभा।

सणासण-कुसुमणिभा, पम्हलेसा उ वण्णओ॥८॥

कठिन शब्दार्थ - हरियालभेयसंकासा - हरितालभेदसंकाशा - हरिताल के टुकड़े जैसी, हलिद्दाभेयसमप्पभा - हरिद्राभेदसमप्रभा - हरिद्रा (हल्दी) के टुकड़े के समान, सणासण-कुसुमणिभा - सण और असन (बीजक) के फूल के समान।

भावार्थ - हरिताल के टुकड़े के समान, हल्दी के टुकड़े के समान तथा सण और असन नामक वनस्पति के फूल के समान पद्म-लेश्या का वर्णन होता है।

संखंककुंद-संकासा, खीरपूरसमप्पभा।

रययहारसंकासा, सुक्कलेसा उ वण्णओ॥९॥

कठिन शब्दार्थ - संखंककुंद-संकासा - शंखकुन्दसंकाशा - शंख, अंकरत्न-स्फटिक तुल्य श्वेत रत्न विशेष एवं कुन्द के फूल के सदृश, खीरपूरसमप्पभा - क्षीरपूरसमप्रभा - दूध की धारा के समान प्रभावाली, रययहारसंकासा - रजतहार संकाशा - रजत (चांदी) एवं हार (मोती की माला) के समान।

भावार्थ - शंख और अंक नामक रत्न विशेष तथा कुन्द-फूल के समान, दूध की धारा की प्रभा के समान और चांदी के हार के समान शुक्ल-लेश्या का वर्णन होता है।

विवेचन - छह लेश्याओं के रंग प्रधानता के आधार पर इस प्रकार हैं - कृष्ण लेश्या का रंग काला, नील लेश्या का नीला, कापोत लेश्या का कुछ काला कुछ लाल, तेजोलेश्या का लाल, पद्मलेश्या का पीला और शुक्ललेश्या का श्वेत होता है। भगवती सूत्र शतक ७ उद्देशक ३ के अनुसार प्रत्येक लेश्या में एक वर्ण मुख्य रूप से और शेष चार वर्ण गौण रूप से पाए जाते हैं।

३. रस छार

जह कडुय-तुम्बरसो, णिंबरसो कडुयरोहिणिरसो वा।

एत्तो वि अणंतगुणो, रसो य किण्हाए णायव्वो ॥१०॥

कठिन शब्दार्थ - कडुय-तुम्बरसो - कड़वे तुम्बे का रस, णिंबरसो - नीम का रस, कडुयरोहिणिरसो - कड़वी रोहिणी (नीमगिलोय) का रस, एत्तो वि - इससे भी, अणंतगुणो-अनन्तगुणा, रसो - रस, किण्हाए - कृष्ण लेश्या का, णायव्वो - जानना चाहिए।

भावार्थ - जैसा कड़वे तुम्बे का रस, नीम का रस अथवा कटु-रोहिणी का रस होता है, उससे भी अनन्त गुण कडुआ कृष्ण-लेश्या का रस जानना चाहिए।

जह तिगडुयस्स य रसो, तिक्खो जह हत्थिपिप्पलीए वा।

एत्तो वि अणंतगुणो, रसो उ णीलाए णायव्वो ॥११॥

कठिन शब्दार्थ - तिगडुयस्स - त्रिकटुक (सोंठ, पिप्पल और कालीमिर्च) का, तिक्खो-तिक्त-तीखा, हत्थिपिप्पलीए - हस्ती (गज) पीपल का, णीलाए - नीललेश्या का।

भावार्थ - जैसा त्रिकटुक (सोंठ, मिर्च और पीपर) का और जिस प्रकार हस्तीपीपल (गज-पीपल) का रस तीक्ष्ण होता है, इससे भी अनन्त गुण तीक्ष्ण नील लेश्या का रस जानना चाहिए।

जह तरुण-अंबगरसो, तुवर-कविट्टस्स वावि जारिसओ।

एत्तो वि अणंतगुणो, रसो उ काऊए णायव्वो ॥१२॥

कठिन शब्दार्थ - तरुण-अंबगरसो - कच्चे (अपक्व) आम का रस, तुवर-कविट्टस्स-कच्चे कसैल कपित्थ फल (कवीठे) का, जारिसओ - जैसा, काऊए - कापोत लेश्या का।

भावार्थ - जैसा कच्चे आम का रस अथवा जैसा कच्चे तुवर का और कच्चे कविठ का रस होता है उससे भी अनन्त गुण खट्टा, कापोत-लेश्या का रस जानना चाहिए।

जह परिणयंबग रसो, पक्ककविट्टस्स वावि जारिसओ।

एत्तो वि अणंतगुणो, रसो उ तेऊए णायव्वो ॥१३॥

कठिन शब्दार्थ - परिणयंबग - पके हुए आम का, पक्ककविट्टस्स - पके हुए कपित्थफल का, तेऊए - तेज्रो लेश्या का।

भावार्थ - जैसा परिणत आम्रक रस - पके हुए आम का रस होता है अथवा जैसा पक्ककपित्थ - पके हुए कविठ का रस (खटमीठा) होता है, उससे भी अनन्त गुण खट-मीठा तेजो लेश्या का रस जानना चाहिए।

वरवारुणीए व रसो, विविहाण व आसवाण जारिसओ।

महुमेरयस्स व रसो, एत्तो पम्हाए परएणं॥१४॥

कठिन शब्दार्थ - वरवारुणीए - वरवारुणी रस - उत्तम मदिरा, विविहाण व आसवाण-विविध आसवों का, महुमेरयस्स - मधु (मद्य विशेष या शहद) मैरयक (सरके) का, परएणं-बढ़ कर-अनंतगुणा, पम्हाए - पद्मलेश्या का।

भावार्थ - वरवारुणी रस-उच्च कोटि की मदिरा अथवा अनेक प्रकार के आसवों का अथवा मधु और मेरक का जैसा रस होता है, उससे भी बढ़कर, पद्म-लेश्या का रस होता है।

खज्जूर-मुद्दियरसो, खीररसो खंड सक्कररसो वा।

एत्तो वि अणंतगुणो, रसो उ सुक्काए णायव्वो॥१५॥

कठिन शब्दार्थ - खज्जूर-मुद्दियरसो - खजूर और द्राक्षां (किशमिश) का रस, खीररसो-क्षीर का रस, खंड सक्कररसो - खांड और शक्कर का रस, सुक्काए - शुक्ललेश्या का।

भावार्थ - जैसा पिंडखजूर और मुद्दिका अर्थात् दाख का रस, दूध अथवा खांड और मिश्री का रस मधुर होता है, उससे भी अनन्त गुण मधुर रस शुक्ल लेश्या का जानना चाहिए।

विवेचन - कृष्णलेश्या का कटु, नीललेश्या का तीखा (चरपरा), कापोत लेश्या का कषैला, तेजोलेश्या का खटमीठा, पद्मलेश्या का अम्ल कषैला और शुक्ललेश्या का मधुर रस होता है।

४ गंध द्वार

जह गोमडस्स गंधो, सुणगमडस्स व जहा अहिमडस्स।

एत्तो वि अणंतगुणो, लेसाणं अप्पसत्थाणं॥१६॥

कठिन शब्दार्थ - गोमडस्स - गोमृत - मृत गाय की, गंधो - गंध, सुणगमडस्स - शुनकमृत - मरे हुए कुत्ते की, अहिमडस्स - अहिमृत - मरे हुए सर्प की, लेसाणं - लेश्याओं की, अप्पसत्थाणं - अप्रशस्त।

भावार्थ - जिस प्रकार गोमृत-गाय के मृतक-कलेवर की अथवा जैसी कुत्ते के मृतक-शरीर की और सांप के मृतक-शरीर की दुर्गन्ध अप्रशस्त, लेश्याओं (क्रमशः कृष्ण लेश्या, नील लेश्या और कापोत लेश्या) की होती है।

जह सुरहिकुसुमगंधो, गंधवासाण पिस्समाणाणं।

एत्तो वि अणंतगुणो, पसत्थ-लेसाण तिण्हं पि॥१७॥

कठिन शब्दार्थ - सुरहिकुसुमगंधो - सुगंधित पुष्पों की गन्ध, गंधवासाण - सुवासित गंध द्रव्यों की, पिस्समाणाणं - पीसे जाते हुए, तिण्हपिं - तीनों ही, पसत्थ - प्रशस्त।

भावार्थ - जैसी सुगन्धित फूलों की सुगन्ध होती है अथवा पीसे जाते हुए चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थों की जैसी सुगन्ध होती है, उससे भी अनन्त गुण सुगन्ध तीनों प्रशस्त लेश्याओं (तेजो लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या) की होती है।

विवेचन - तीन अप्रशस्त लेश्याओं (कृष्ण, नील और कापोत लेश्या) की गंध गो, कुक्कुट, सर्प आदि के मृत कलेवर से भी अनंतगुणी दुर्गंध वाली होती है जबकि तीनों प्रशस्त लेश्याओं (तेजो, पद्म और शुक्ल लेश्या) की गंध सुगंधित पुष्पों एवं पीसे जा रहे सुवासित द्रव्यों की सुगंध से भी अनंतगुणी अधिक सुगंध वाली होती है।

५ स्पर्शद्वार

जह करगयस्स फासो, गोजिब्भाए व सागपत्ताणं।

एत्तो वि अणंतगुणो, लेसाणं अप्पसत्थाणं॥१८॥

कठिन शब्दार्थ - करगयस्स - करवत (करौत) का, फासो - स्पर्श, गोजिब्भाए - गाय की जीभ का, सागपत्ताणं - शाक नामक वनस्पति के पत्तों का।

भावार्थ - जिस प्रकार करवत नामक शस्त्र का अथवा गाय की जिह्वा का और शाक नाम की वस्पति के पत्तों का स्पर्श कर्कश (खुरदरा) होता है उससे भी अनन्त गुण कर्कश स्पर्श अप्रशस्त लेश्याओं (कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या) का होता है।

जह बूरस्स व फासो, णवणीयस्स व सिरीसकुसुमाणं।

एत्तो वि अणंतगुणो, पमत्थ-लेसाण तिण्हं पि॥१९॥

कठिन शब्दार्थ - बूरस्स - बूर नामक वनस्पति विशेष का, णवणीयस्स - नवनीत का, सिरीसकुसुमाणं - शिरीष के फूलों का।

भावार्थ - जैसा बूर नामक वस्पति का अथवा नवनीत (मक्खन) का अथवा शिरीष के फूलों का कोमल स्पर्श होता है, उससे भी अनन्तगुण कोमल स्पर्श, तीनों प्रशस्त लेश्याओं (तेजो लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या) का होता है।

विवेचन - तीन अप्रशस्त लेश्याओं का स्पर्श करवत, गाय की जीभ और शाक के पत्तों से भी अनन्तगुणा कर्कश होता है जबकि तीन प्रशस्त लेश्याओं का स्पर्श बूर, नवनीत और शिरीष के फूलों से भी अनन्तगुणा कोमल होता है।

६. परिणाम-द्वार

तिविहो व णवविहो वा, सत्तावीसइविहेक्कसिओ वा।

दुसओ तेयालो वा, लेसाणं होइ परिणामो ॥२०॥

कठिन शब्दार्थ - सत्तावीसइविह - सत्ताईस प्रकार का, इक्कसिओ - इक्यासी, दुसओ तेयालो - दो सौ तयालीस, परिणामो - परिणाम।

भावार्थ - इन छहों लेश्याओं के तीन अथवा नव अथवा सत्ताईस अथवा इक्यासी अथवा दो सौ तयालीस प्रकार के परिणाम होते हैं।

विवेचन - इस गाथा में लेश्याओं का परिणाम बतलाया गया है। प्रत्येक लेश्या के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ऐसे तीन भेद होते हैं। इन तीन भेदों में भी अपने-अपने स्थानों में जब तरतमता का विचार किया जाता है तब यह जघन्य आदि प्रत्येक भी अपने-अपने में जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद वाले हो जाते हैं। इस प्रकार तीन को तीन से गुणा करने पर ९ भेद हो जाते हैं। इन नौ में फिर जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद करने पर २७ भेद हो जाते हैं। इन २७ को फिर जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट तीन से गुणा करने पर ८१ भेद हो जाते हैं और इन ८१ को फिर इन जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट से गुणा करने पर २४३ भेद हो जाते हैं। इसीलिए पणवणा सूत्र में कहा है -

'तिविहं वा नवविहं वा सत्तावीसइविहं वा इक्कासीइविहं वावि तेयालदुसयविहं वा बहुं वा बहुविहं वा परिणामं परिणमइ, एवं कण्हेत्तेसा जाव सुवकत्तेसा।'

इस प्रकार प्रत्येक लेश्या के परिणाम बहुत भेदों वाले हो जाते हैं।

७ लक्षण छार

पंचासवप्पवत्तो, तीहिं अगुत्तो छसु अविरओ य।

तिव्वारंभपरिणओ, खुदो साहस्सिओ णरो ॥२१॥

णिद्धंस परिणामो, णिस्संसो अजिइंदिओ।

एयजोगसमाउत्तो, किण्हलेसं तु परिणमे ॥२२॥

कठिन शब्दार्थ - पंचासवप्पवत्तो - पांच आस्रवों में प्रवृत्त, तीहिं अगुत्तो - तीण गुप्तियों से अगुप्त, छसु अविरओ - छह काय जीवों के प्रति अविरत, तिव्वारंभपरिणओ - तीव्र आरम्भ में परिणत-रचा पचा, खुदो - क्षुद्र, साहस्सिओ - साहसिक, णिद्धंस परिणामो- निःशंक परिणाम वाला, णिस्संसो - नृशंस, अजिइंदिओ - अजितेन्द्रिय, एयजोगसमाउत्तो - इन योगों से समायुक्त, किण्हलेसं - कृष्णलेश्या के, परिणमे - परिणाम वाला।

भावार्थ - पांच आस्रवों में प्रवृत्ति करने वाला, तीन गुप्तियों से अगुप्त (आत्मा का गोपन न करने वाला), छह काय में अविरत (छह काया की विराधना करने वाला), तीव्र भावों से आरम्भादि करने वाला क्षुद्र (तुच्छ), साहसिक (बिना विचारे काम करने वाला), निर्दयता के परिणाम वाला, नृशंस (क्रूर), अजितेन्द्रिय (इन्द्रियों को वश में न करने वाला) इन उपरोक्त परिणामों से युक्त मनुष्य कृष्णलेश्या के परिणाम वाला होता है।

इस्सा अमरिस अतवो, अविज्जमाया अहीरिया।

गेही पओसे य सढे, पमत्ते रस-लोलुए सायगवेसए य ॥२३॥

आरंभाओ अविरओ, खुदो साहस्सिओ णरो।

एयजोग-समाउत्तो, णील-लेसं तु परिणमे ॥२४॥

कठिन शब्दार्थ - इस्सा-अमरिस-अतवो - ईर्ष्यालु, अमर्ष और अतपस्वी, अविज्जमाया अहीरिया - अविद्या युक्त, मायी और अह्नीक (निर्लज्ज) गेही - विषयों में गृद्ध, पओसे - द्वेषी, सढे - शढ (धूर्त) पमत्ते - प्रमादी, रस-लोलुए - रसलोलुप, सायगवेसए - सुख का गवेषक, आरंभाओ अविरओ - आरम्भ से अविरत।

भावार्थ - ईर्ष्यालु, अमर्ष-कदाग्रही, तपस्या न करने वाला, अविद्या वाला (अज्ञानी),

मायावी, अहीकता-निर्लज्ज, विषय-कषाय में गृद्धि भाव रखने वाला, प्रद्वेष करने वाला, शठ-धूर्त ठग, प्रमादी, रसलोलुपी, सातगवेषक - सुख की गवेषणा करने वाला, आरम्भ से निवृत्त न होने वाला और क्षुद्र (तुच्छ) तथा साहसिक (बिना विचारे काम करने वाला), इन उपरोक्त परिणामों से युक्त मनुष्य नील लेश्या के परिणाम वाला होता है।

वंके वंकसमायरे, णियडिल्ले अणुज्जुए।

पलिउंचग ओवहिए, मिच्छदिट्ठी अणारिए॥२५॥

उप्फालग दुट्ठवाई य, तेणे यावि य मच्छरी।

एयजोगसमाउत्तो, काऊलेसं तु परिणमे॥२६॥

कठिन शब्दार्थ - वंके - वक्र, वंकसमायारे - आचार से वक्र, णियडिल्ले - निकृतिमान्-कपटी (कुटिल); अणुज्जुए - अन् ऋजुक-सरल नहीं, पलिउंचग - प्रतिकुञ्चक, ओवहिए - औपधिक, मिच्छदिट्ठी - मिथ्यादृष्टि, अणारिए - अनार्य, उप्फालग दुट्ठवाई - उत्प्रासक दुष्टवादी, तेणे - स्तेन-चोर, मच्छरी - मत्सरी।

भावार्थ - वक्र कुटिल-वचन बोलने वाला, वक्र आचरण करने वाला मायावी(मन की अपेक्षा वक्र); सरलता से रहित, प्रतिकुञ्चक-अपने दोषों को छिपाने वाला, औपधिक-छल-पूर्वक बर्ताव करने वाला, मिथ्यादृष्टि, अनार्य, उत्प्रासक-दुष्टवादी - मर्म-भेदी वचन बोलने वाला, चोर और मत्सरी (दूसरों की उन्नति को सहन न करने वाला) उपरोक्त परिणामों से युक्त प्राणी कापोत-लेश्या के परिणाम वाला होता है।

णीयावित्ती अचवले, अमाई अकुऊहले।

विणीयविणए दंते, जोगवं उवहाणवं॥२७॥

पियधम्मे दढधम्मे, अवज्ज-भीरू हिएसए।

एयजोग-समाउत्तो, तेऊलेसं तु परिणमे॥२८॥

कठिन शब्दार्थ - णीयावित्ती - नीचैर्वृत्ति-नम्रवृत्ति, अचवले - अचपल, अमाई - अमायी, अकुऊहले - अकुतूहल, विणीयविणए - विनीत विनय, दंते - दान्त, जोगवं - योगवान्, उवहाणवं - उपधानवान्, पियधम्मे - प्रियधर्मा, दढधम्मे - दृढधर्मा, अवज्जभीरू - अवद्यभीरू - पाप से डरने वाला, हिएसए - हितैषक।

भावार्थ - नम्र वृत्ति वाला (अहंकार रहित), चपलता-रहित, माया-रहित, कुतूहल आदि

न करने वाला, विनीतविनय - परम विनय भक्ति करने वाला, दान्त - इन्द्रियों का दमन करने वाला, योगवान् - स्वाध्यायादि में रत रहने वाला, उपधानवान् - उपधानादि तप करने वाला, प्रियधर्मा - धर्म में प्रेम रखने वाला, दृढधर्मा - धर्म में दृढ़ रहने वाला, पाप से डरने वाला, हितैषक - सभी प्राणियों का हित चाहने वाला, इन उपरोक्त परिमाणों से युक्त प्राणी तेजोलेश्या के परिणाम वाला होता है।

पयणुकोहमाणे य, मायालोभे य पयणुए।

पसंतचित्ते दंतप्पा, जोगवं उवहाणवं ॥२६॥

तहा पयणुवाई य, उवसंते जिइंदिए।

एयजोग समाउत्तो, पम्हलेसं तु परिणमे ॥३०॥

कठिन शब्दार्थ - पयणुकोहमाणे - प्रतनुक्रोधमान, पयणुए - प्रतनु - अत्यंत पतले, पसंतचित्ते - प्रशान्तचित्त, दंतप्पा - दान्तात्मा, पयणुवाई - प्रतनुवादी, उवसंते - उपशान्त, जिइंदिए - जितेन्द्रिय।

भावार्थ - प्रतनु क्रोध मान - अल्प क्रोध वाला, अल्प मान वाला और प्रतनु माया लोभ - अल्प माया वाला, अल्प लोभ वाला, प्रशान्तचित्त - शान्त चित्त वाला, दान्तात्मा - अपनी आत्मा का दमन करने वाला, योगवान् - स्वाध्यायादि करने वाला, उपधानादि तप करने वाला, प्रतनुवादी - परिमित बोलने वाला, उपशांत और जितेन्द्रिय, इन उपरोक्त गुणों से युक्त प्राणी पद्म लेश्या के परिणाम वाला होता है।

अट्ट-रुद्दाणि वज्जित्ता, धम्म-सुक्काणि झायए।

पसंतचित्ते दंतप्पा, समिए गुत्ते य गुत्तिसु ॥३१॥

सरागे वीयरगे वा, उवसंते जिइंदिए।

एयजोग समाउत्तो, सुक्कलेसं तु परिणमे ॥३२॥

कठिन शब्दार्थ - अट्ट-रुद्दाणि - आर्तध्यान और रौद्रध्यान, वज्जित्ता - छोड़कर, धम्म-सुक्काणि - धर्मध्यान और शुक्लध्यान, झायए - ध्याता है, समिए - समित, सरागे-सराग-अल्प राग वाला, वीयरगे - वीतरागी।

भावार्थ - जो पुरुष आर्तध्यान और रौद्रध्यान छोड़ कर, धर्मध्यान और शुक्ल-ध्यान ध्याता है, प्रशान्त चित्त वाला, दान्तात्मा-अपनी आत्मा को दमन करने वाला, पांच समितियों से

युक्त, तीन गुप्तियों से गुप्त, सराग - अल्प राग वाला अथवा वीतरागी, उपशांत और जितेन्द्रिय इन परिणामों से युक्त जीव विशिष्ट शुक्ललेश्या के परिणाम वाला होता है (ये सब लक्षण विशिष्ट शुक्ल लेश्या वाले मनुष्य में पाये जाते हैं)।

विवेचन - प्रस्तुत १२ गाथाओं में छह लेश्या वाले जीवों को पहचानने के पृथक्-पृथक् लक्षण बताये गये हैं।

८. स्थान द्वार

असंखिज्जाणोसप्पिणीण, उस्सप्पिणीण जे समयया।

संखाईया लोगा, लेसाण हवंति ठाणाइं॥३३॥

कठिन शब्दार्थ - असंखिज्जाण - असंख्यात, ओसप्पिणीण - अवसर्पिणी काल के, उस्सप्पिणीण - उत्सर्पिणी काल के, जे - जो, समयया - समय हैं, संखाईया लोगा - संख्यातीत-असंख्य लोक, ठाणाइं - स्थान।

भावार्थ - असंख्यात अवसर्पिणी काल के और उत्सर्पिणी काल के जितने समय हैं और संख्यातीत (असंख्य) लोक के जितने प्रदेश हैं उतने लेश्याओं के स्थान होते हैं।

विवेचन - दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम का एक अवसर्पिणी काल होता है। इसी तरह दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम का एक उत्सर्पिणी काल होता है। दोनों मिलाकर २० कोड़ाकोड़ी सागरोपम का एक कालचक्र होता है। असंख्यात उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी काल के जितने समय होते हैं शुभ और अशुभ दोनों लेश्याओं के उतने स्थान होते हैं। यह काल की अपेक्षा परिणाम कहा गया है। इसी तरह असंख्यात लोकों के जितने प्रदेश होते हैं उतने ही लेश्याओं के स्थान होते हैं। यह क्षेत्र की अपेक्षा लेश्याओं के स्थान का परिमाण जानना चाहिए।

९. स्थिति द्वार

मुहुत्तद्धं तु जहण्णा, तेत्तीसा सागरो मुहुत्तऽहिया।

उक्कोसा होइ ठिई, णायव्वा किण्हलेसाए॥३४॥

कठिन शब्दार्थ - मुहुत्तद्धं - अन्तर्मुहूर्त, जहण्णा - जघन्य, ठिई - स्थिति, उक्कोसा-उत्कृष्ट, मुहुत्तऽहिया - अंतर्मुहूर्त अधिक, सागरा - सागरोपम।

भावार्थ - कृष्ण-लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त अधिक तेतीस सागरोपम की होती है, ऐसा जानना चाहिए।

विवेचन - गाथा में 'मुहुत्तद्धं' शब्द दिया है जिसका शब्दार्थ होता है, आधा मुहूर्त किन्तु शास्त्र में आधा मुहूर्त की विवक्षा नहीं की गयी है। इसलिए टीकाकर ने 'मुहुत्तद्धं' का अर्थ अन्तर्मुहूर्त किया है, वह यथार्थ है। उत्कृष्ट स्थिति में 'तेतीसा सागरा मुहुत्तऽहिया' का अर्थ - तेतीस सागर और मुहूर्त अधिक। यहाँ और आगे सब जगह मुहूर्त शब्द से मुहूर्त का एक देश समझना चाहिए। जिसका अर्थ - शास्त्रीय भाषा में अन्तर्मुहूर्त होता है। अन्तर्मुहूर्त के भी असंख्यात भेद होते हैं इसलिए यहाँ पर तथा आगे भी यथा स्थान पूर्वभव सम्बन्धी एक अन्तर्मुहूर्त तथा अगले भव का जन्म के समय का अन्तर्मुहूर्त, इस प्रकार दो अन्तर्मुहूर्त लेना चाहिए। परन्तु दोनों अन्तर्मुहूर्तों को मिलाकर भी एक अन्तर्मुहूर्त ही समझना चाहिए। अन्तर्मुहूर्त अधिक ३३ सागर की कृष्णलेश्या की उत्कृष्ट स्थिति सातवीं नरक सम्बन्धी समझनी चाहिए। क्योंकि कृष्ण लेश्या की इतनी लम्बी स्थिति सातवीं नरक में ही पायी जाती है, दूसरी जगह नहीं।

मुहुत्तद्धं तु जहण्णा, दस उदहि पलियमसंखभागमब्भहिया।

उक्कोसा होइ ठिई, णायव्वा णीललेसाए॥३५॥

कठिन शब्दार्थ - पलियमसंखभागमब्भहिया दस उदहि - पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दस सागरोपम की।

भावार्थ - नील लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दस उदधि-सागरोपम की होती है, ऐसा जानना चाहिए।

मुहुत्तद्धं तु जहण्णा, तिण्णुदही पलियमसंखभाग मब्भहिया।

उक्कोसा होइ ठिई, णायव्वा काउलेसाए॥३६॥

कठिन शब्दार्थ - तिण्णुदही - तीन सागरोपम की, पलियमसंखभागमब्भहिया - पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक।

भावार्थ - कापोत-लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक तीन सागरोपम की होती है, ऐसा जानना चाहिए।

मुहुत्तद्धं तु जहण्णा, दोण्णुदही पलियमसंखभाग मब्भहिया।

उक्कोसा होइ ठिई, णायव्वा तेउलेसाए॥३७॥

कठिन शब्दार्थ - दोण्णुदही - दो सागरोपम की।

भावार्थ - तेजो-लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दो सागरोपम की होती है, ऐसा जानना चाहिए।

मुहुत्तद्धं तु जहण्णा, दस उदही होइ मुहुत्तमब्भहिया।

उक्कोसा होइ ठिई, णायव्वा पम्हलेसाए॥३८॥

कठिन शब्दार्थ - दस उदही - दस सागरोपम, मुहुत्तमब्भहिया - अंतर्मुहूर्त अधिक।

भावार्थ - पद्म-लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त होती है और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त अधिक दस सागरोपम की होती है, ऐसा जानना चाहिए।

मुहुत्तद्धं तु जहण्णा, तेत्तीसं सागरा मुहुत्तहिया।

उक्कोसा होइ ठिई, णायव्वा सुक्कलेसाए॥३९॥

कठिन शब्दार्थ - तेत्तीसं - तेतीस, सागरा - सागरोपम, मुहुत्तहिया - अंतर्मुहूर्त अधिक।

भावार्थ - शुक्ल-लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त अधिक तेतीस सागरोपम की होती है, ऐसा जानना चाहिए।

विवेचन - यहाँ पर शुक्ल लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त अधिक तेतीस सागरोपम की कही है। वह पांच अनुत्तर विमान सम्बन्धी समझनी चाहिए क्योंकि शुक्ल लेश्या की इतनी लम्बी स्थिति अनुत्तर विमानों में ही पाई जा सकती है, दूसरी जगह नहीं।

एसा खलु लेसाणं, ओहेण ठिई वण्णिया होइ।

चउसु वि गइसु एत्तो, लेसाण ठिइं तु वोच्छामि॥४०॥

कठिन शब्दार्थ - ओहेण - ओघ अर्थात् सामान्य रूप से, वण्णिया होइ - कही गई है, गइसु - गतियों में, वोच्छामि - कहूँगा।

भावार्थ - सामान्य रूप से लेश्याओं की यह स्थिति कही गई है, यहाँ से आगे चारों गतियों में लेश्याओं की स्थिति कहूँगा।

चारों गतियों में लेश्याओं की स्थिति

दसवाससं महस्साइं, काऊए ठिई जहण्णिया होइ।

तिण्णुदही पलिओवम, असंखभागं च उक्कोसा॥४१॥

कठिन शब्दार्थ - दसवास सहस्त्राङ्ग - दस हजार वर्षों की, पलिओवम असंखभाग-पत्योपम का असंख्यातवां भाग।

भावार्थ - कापोत-लेश्या की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट तीन सागरोपम और पत्योपम का असंख्यातवां भाग अधिक होती है।

तिण्णुदही पलिओवम, असंखभागो जहण्णेण णीलठिई।

दस उदही पलिओवम, असंखभागं च उक्कोसा॥४२॥

कठिन शब्दार्थ - दस उदही - दस सागरोपम, पलिओवम असंखभागो - पत्योपम का असंख्यातवां भाग।

भावार्थ - नील-लेश्या की स्थिति जघन्य तीन सागरोपम और पत्योपम का असंख्यातवां भाग अधिक और उत्कृष्ट दस सागरोपम और पत्योपम का असंख्यातवां भाग अधिक होती है।

दस-उदही-पलिओवम, असंखभागं जहण्णिया होइ।

तेत्तीस-सागराङ्ग, उक्कोसा होइ किण्हाए॥४३॥

भावार्थ - कृष्ण-लेश्या की जघन्य स्थिति, दस सागरोपम और पत्योपम का असंख्यातवां भाग अधिक होती है और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की होती है।

एसा णेरइयाणं, लेसाण ठिई उ वण्णिया होइ।

तेण परं वुच्छामि, तिरिय-मणुस्साण देवाणं॥४४॥

कठिन शब्दार्थ - तिरिय-मणुस्साण देवाणं - तिर्यच, मनुष्य और देवों की।

भावार्थ - यह नैरयिक जीवों की लेश्याओं की स्थिति वर्णन की गई है। इसके आगे तिर्यच, मनुष्य और देवों की लेश्याओं को स्थिति का वर्णन करूंगा।

अंतोमुहुत्तमद्धं, लेसाण ठिई जहिं जहिं जा उ।

तिरियाण णराणं वा, वज्जित्ता केवलं लेसं॥४५॥

कठिन शब्दार्थ - अंतोमुहुत्तमद्धं - अंतर्मुहूर्त काल की, जहिं जहिं - जहां जहां, केवलं लेसं - केवली की लेश्या को, वज्जित्ता - छोड़ कर।

भावार्थ - केवली की शुक्ल-लेश्या को छोड़ कर तिर्यच और मनुष्यों में जहाँ जहाँ जो-जो लेश्या हैं उन लेश्याओं की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त है।

मुहुत्तद्धं तु जहण्णा, उक्कोसा होइ पुव्वकोडी उ।

णवहिं वरिसेहिं ऊणा, णायव्वा सुक्कलेसाए॥४६॥

कठिन शब्दार्थ - पुव्वकोडी - करोड़ पूर्व, णवहिं - नौ, वरिसेहिं - वर्ष, ऊणा - कम।
भावार्थ - केवली की शुक्ल-लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति नौ वर्ष कम, एक करोड़ पूर्व की होती है, ऐसा जानना चाहिए।

विवेचन - एक करोड़ पूर्व वर्ष की उम्र वाला कोई व्यक्ति नौ वर्ष की उम्र में दीक्षा ले और उसी दिन उसे केवलज्ञान हो जाय उस अपेक्षा से शुक्ललेश्या की यह स्थिति समझनी चाहिए।

एसा तिरिय-णराणं, लेसाण ठिई उ वण्णिया होइ।

तेण परं वोच्छामि, लेसाण ठिई उ देवाणं ॥४७॥

भावार्थ - यह तिर्यंच और मनुष्यों की लेश्याओं की स्थिति का वर्णन हुआ। इसके आगे देवताओं की लेश्याओं की स्थिति का वर्णन करूँगा।

दसवास-सहस्साइं, किण्हाए ठिई जहण्णिया होइ।

पलियमसंखिज्जइमो, उक्कोसा होइ किण्हाए ॥४८॥

भावार्थ - कृष्णलेश्या की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की होती है और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग होती है।

जा किण्हाए ठिई खलु, उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया।

जहण्णेणं णीलाए, पलियमसंखं च उक्कोसा ॥४९॥

कठिन शब्दार्थ - समयमब्भहिया - एक समय अधिक, पलियमसंखं - पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग अधिक।

भावार्थ - कृष्णलेश्या की जो उत्कृष्ट स्थिति है उससे एक समय अधिक नील-लेश्या की जघन्य स्थिति है और पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग अधिक उत्कृष्ट स्थिति है।

जा णीलाए ठिई खलु, उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया।

जहण्णेणं काऊए, पलियमसंखं च उक्कोसा ॥५०॥

भावार्थ - नील लेश्या की जो उत्कृष्ट स्थिति है उससे एक समय अधिक कापोत-लेश्या की जघन्य स्थिति है और पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग अधिक उत्कृष्ट स्थिति है।

तेण परं वोच्छामि, तेऊ लेसा जहा सुरगणाणं।

भवणवइ-वाणमंतरं, जोइस-वेमाणियाणं च ॥५१॥

कठिन शब्दार्थ - तेण परं - इसके आगे, सुरगणाणं - देवों के समूह में, भवणवइ-वाणमंतरं - भवनपति वाणव्यंतरं, जोइस - ज्योतिषी, वेमाणियाणं - वैमानिक।

भावार्थ - इसके आगे भवनपति, वाणव्यंतर, ज्योतिषी और वैमानिक देवताओं के समूह में तेजो-लेश्या की स्थिति जिस प्रकार होती है उसे कहूँगा।

पलिओवमं जहण्णा, उक्कोसा सागरा उ दुण्णहिया।

पलियमसंखेज्जेणं, होइ भागेण तेऊए॥५२॥

कठिन शब्दार्थ - दुण्णहिया = द्विअधिक, पलियमसंखेज्जेणं - पत्योपम के असंख्यातर्वे, भागेण - भाग सहित।

भावार्थ - तेजो-लेश्या की जघन्य स्थिति एक पत्योपम और उत्कृष्ट स्थिति पत्योपम के असंख्यातर्वे भाग सहित द्वि अधिक-दो सागरोपम है।

विवेचन - यह स्थिति वैमानिक देवों में समझनी चाहिए। क्योंकि सौधर्म देवलोक के देवों की जघन्य स्थिति एक पत्योपम की तथा ईशान देवलोक के देवों की जघन्य स्थिति एक पत्योपम से कुछ अधिक है तथा पहले और दूसरे इन दोनों देवलोकों के देवों में क्रमशः उत्कृष्ट स्थिति दो सागरोपम तथा दो सागरोपम से कुछ अधिक की होती है।

इस प्रकार वैमानिक देवों की अपेक्षा ही तेजो लेश्या की यह स्थिति घटित हो सकती है।

दसवास-सहस्साइं, तेउए ठिई जहण्णिया होइ।

दुण्णुदही पलिओवम, असंखभागं च उक्कोसा॥५३॥

भावार्थ - भवनपति और वाणव्यंतर देवों की अपेक्षा से तेजो-लेश्या की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है और ईशान देवलोक की अपेक्षा से उत्कृष्ट स्थिति पत्योपम के असंख्यातर्वे भाग सहित दो सागरोपम की है।

जा तेऊए ठिईं खलु, उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया।

जहण्णेणं पम्हाए, दस उ मुहुत्ताहियाइ उक्कोसा॥५४॥

कठिन शब्दार्थ - मुहुत्ताहियाइ - एक मुहूर्त अधिक।

भावार्थ - तेजो-लेश्या की जो उत्कृष्ट स्थिति है उससे एक समय अधिक पद्मलेश्या की जघन्य स्थिति जाननी चाहिए और उत्कृष्ट स्थिति एक मुहूर्त अधिक दस सागरोपम है।

जा पम्हाए ठिईं खलु, उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया।

जहण्णेणं सुक्काए, तेत्तीस-मुहुत्तमब्भहिया॥५५॥

भावार्थ - जो पद्मलेश्या की उत्कृष्ट स्थिति है उससे एक समय अधिक शुक्तलेश्या की जघन्य स्थिति होती है और उत्कृष्ट स्थिति एक मुहूर्त अधिक तेतीस सागरोपम की है।

विवेचन - नारक एवं देवों में लेश्याओं की स्थिति बताते हुए पूर्व पूर्व की लेश्याओं की उत्कृष्ट स्थिति से आगे की लेश्याओं की जघन्य स्थिति एक समय अधिक बताई है। जबकि जीवाभिगम आदि सूत्रों में नारक देवों की स्थिति को बताते हुए एक समय अधिक नहीं कहा गया है। वास्तव में तो लेश्याओं की स्थिति के अनुसार ही नारक देवों की भवस्थिति को भी समझना चाहिए। जीवाभिगम आदि सूत्रों में एक समय का काल अल्प होने से उसे गौण कर दिया गया है। यहाँ पर उस एक समय की भी विवक्षा कर दी गयी है। अतः दोनों में विरोध नहीं समझना चाहिए। प्रथम देवलोक में तेजोलेश्या की उत्कृष्ट स्थिति से एक समय अधिक जघन्य स्थिति तीसरे देवलोक के देवों की समझनी चाहिए। दूसरे देवलोक में तेजोलेश्या की उत्कृष्ट स्थिति से एक समय अधिक जघन्य स्थिति चौथे देवलोक के देवों की समझनी चाहिए। ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा से समसंधि में आये हुए ऊपरवर्ती देवलोक की अपेक्षा यहाँ पर तेजोलेश्या एवं पद्मलेश्या की स्थिति समझने से आगम पाठ की संगति हो जाती है। ऐसा बहुश्रुत भगवन्त फरमाते हैं।

१०. गति द्वार

किण्हा णीला काऊ, तिण्णि वि एयाओ अहम्मलेस्साओ।

एयाहि तिहि वि जीवो, दुगाइं उववज्जइ *॥५६॥

कदिन शब्दार्थ - अहम्मलेस्साओ - अधर्म लेश्याएं, दुगाइं - दुर्गति में, उववज्जइ - उत्पन्न होता है।

भावार्थ - कृष्ण लेश्या, नील लेश्या और कापोत लेश्या ये तीन अधर्म (अप्रशस्त) लेश्याएं हैं, इन तीन लेश्याओं से जीव दुर्गति में उत्पन्न होता है।

तेऊ पम्हा सुक्का, तिण्णि वि एयाओ धम्मलेसाओ।

एयाहि तिहि वि जीवो, सुगाइं उववज्जइ *॥५७॥

भावार्थ - तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या ये तीनों धर्म (प्रशस्त) लेश्याएं हैं, इन तीनों लेश्याओं से जीव सुगति में उत्पन्न होता है।

* टिप्पणी - कुछ प्रतियों में 'उववज्जइ' पाठ के बाद 'बहुसो' शब्द भी मिलता है।

विवेचन - कृष्ण, नील, कापोत ये तीन लेश्याएं अधर्मलेश्याएं इसलिये कही गई हैं कि इनके प्रभाव से जीव अशुभगति - दुर्गति का ही बंध करता है और प्रायः नरक, तिर्यच आदि दुर्गतियों में ही उत्पन्न होता है क्योंकि अधर्म का फल दुर्गति है। इससे विपरीत तेजो, पद्म, शुक्ल ये तीन लेश्याएं पुण्य या धर्म का हेतु होने से धर्म लेश्याएं कही गई हैं। इन लेश्याओं वाला जीव देव, मनुष्य आदि सुगतियों में उत्पन्न होता है।

११. आयुष्यद्वार

लेस्साहिं सव्वाहिं, पढमे समयम्मि परिणयाहिं तु।

ण हु कस्सइ उववत्ति, परे भवे अत्थि जीवस्स ॥५८॥

कठिन शब्दार्थ - पढमे समयम्मि - पहले समय में, परिणयाहिं - परिणत हुई, कस्सइ - किसी भी, उववत्ति - उत्पत्ति, परे भवे - परभव में, ण अत्थि - नहीं होती, जीवस्स - जीव की।

भावार्थ - मरण समय के पहले समय में परिणत हुई सभी लेश्याओं से निश्चय ही किसी भी जीव की पर-भव में उत्पत्ति नहीं होती है (ऊहों लेश्याओं में से किसी भी लेश्या को आये हुए केवल एक समय हुआ हो तो उस समय कोई भी जीव मृत्यु को प्राप्त नहीं होता है)।

लेस्साहिं सव्वाहिं, चरिमे समयम्मि परिणयाहिं तु।

ण हु कस्सइ उववत्ति, परे भव अत्थि जीवस्स ॥५९॥

कठिन शब्दार्थ - चरिमे समयम्मि - चरम (अंतिम) समय में।

भावार्थ - मरण काल के अन्तिम समय में परिणत हुई सभी लेश्याओं से निश्चय ही किसी भी जीव की पर-भव में उत्पत्ति नहीं होती।

विवेचन - मृत्यु के समय पर आगामी जन्म के लिए जब इस आत्मा का लेश्याओं में परिवर्तन होता है उस समय किसी भी लेश्या के प्रथम और अन्तिम समय में किसी भी जीव की उत्पत्ति नहीं होती है।

अंतमुहुत्तम्मि गए, अंतमुहुत्तम्मि सेसए चेव।

लेस्साहिं परिणयाहिं, जीवा गच्छंति परलोयं ॥६०॥

कठिन शब्दार्थ - अंतमुहुत्तम्भि - अंतमुहूर्त्त, गए - बीत जाने पर, सेसए - शेष रहने पर, परलोचं - परलोक में।

भावार्थ - अन्तमुहूर्त्त बीत जाने पर और अन्तमुहूर्त्त शेष रहने पर परिणत हुई लेश्याओं से रहित हो कर जीव परलोक में जाते हैं।

विवेचन - जब जीव की अन्तमुहूर्त्त परिमाण आयु शेष रह जाती है तब आगामी जन्म में प्राप्त होने वाली लेश्या का परिणाम उस जीव में अवश्य आ जाता है, फिर उसी लेश्या के साथ जीव परभव में उत्पन्न होता है और उत्पन्न होने के अन्तमुहूर्त्त तक उसी लेश्या के परिणाम रहते हैं।

उपसंहार

तम्हा एयासिं लेसाणं, आणुभावेः* वियाणिया।

अप्पसत्थाओ वज्जित्ता, पसत्थाओऽहिट्टिए मुणी॥त्ति बेमि॥

कठिन शब्दार्थ - आणुभावेः* - अनुभावों (रस विशेष को), वियाणिया - जान कर, अप्पसत्थाओ - अप्रशस्त, पसत्थाओ - प्रशस्त, अहिट्टिए - धारण करे।

भावार्थ - इसलिए इन लेश्याओं के अनुभावों (रस विशेष) को जान कर मुनि-साधु अप्रशस्त लेश्याओं को छोड़ कर, प्रशस्त लेश्याओं को धारण करे। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - कृष्ण लेश्या, नील लेश्या और कापोत लेश्या, ये तीन अप्रशस्त लेश्याएं हैं क्योंकि ये दुर्गति का कारण हैं। तेजोलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या, ये तीन शुभ लेश्याएं हैं क्योंकि ये सुगति का कारण हैं। इन लेश्याओं के उक्त स्वरूप को जान कर अप्रशस्त (अधर्म) लेश्याओं का त्याग करें और प्रशस्त (धर्म) लेश्याओं को धारण करे।

॥ इति लेश्या नामक चौतीसवां अध्ययन समाप्त ॥

* पाठान्तर - अणुभागे।

अणगार मग्गइं णामं पणतीसइमं अज्झयणं

अनगार मार्गगति नामक पैतीसवां अध्ययन

प्रस्तुत अध्ययन की २१ गाथाओं में गृहत्यागी श्रमण-अनगार के आचार का विशद वर्णन करते हुए अध्यात्म मार्ग में तीव्रता से गति-प्रगति करने की प्रेरणा की गई है। इस अध्ययन की प्रथम गाथा इस प्रकार है -

अनगार मार्ग के आचरण का फल

सुणेह मे एगगमणा, मग्गं बुद्धेहिं देसियं।

जमायरंतो भिक्खू, दुक्खाणंतकरे भवे ॥१॥

कठिन शब्दार्थ - एगगमणा - एकाग्रचित्त होकर, मग्गं - मार्ग को, बुद्धेहिं - बुद्धों-तीर्थंकरों के द्वारा, देसियं - उपदिष्ट, जं - जिसका, आयरंतो - आचरण करता हुआ, दुक्खाणं - दुःखों का, अंतकरे - अन्त करने वाला, भवे - होता है।

भावार्थ - सर्वज्ञ भगवान् द्वारा देशित - कहे हुए मार्ग को मुझ से एकाग्र चित्त हो कर सुनो, जिसका आचरण करता हुआ भिक्षु-साधु दुःखों का अन्त करने वाला होता है।

विवेचन - इस अध्ययन का नाम 'अनगार मार्ग गति' है। इस में 'अनगार' शब्द की टीका करते हुए लिखा है कि - अनगार शब्द को जानने के लिए पहले 'अगार' शब्द को जानना आवश्यक है।

'अगैरुमदषदादिभिर्निर्वृत्तमगारम् (अगारं-गृहं) अगारं द्विविधं द्रव्यभावभेदात्। द्रव्यागारं पूर्वोक्तम्, भावागारं पुनः अगैः विपाक कालेऽपि जीवविपाकितया शरीर पुद्गलादिषु बहिः प्रवृत्तिरहितैः अनन्तानुबंधादिभिर्निर्वृत्तं कषायमोहनीयम्।'

अर्थात् - चूना, ईट, पत्थर, लकड़ी आदि से बनाया हुआ घर द्रव्य अगार कहलाता है। अनन्तानुबंधी आदि कषाय मोहनीय को भाव अगार कहते हैं।

जिसने द्रव्य अगार (घर) और भाव अगार दोनों को छोड़ दिया है और दोनों की लालसा का भी त्याग कर दिया है, उसे अनगार कहते हैं। मुनिवृत्ति अंगीकार करने के बाद भी घरों की

लालसा बनी रहे कि - 'अमुक गांव में, अमुक नगर में, अमुक शहर में मेरी मान्यता के इतने घर हैं' तो एक कवि ने कहा है -

घर एक को छोड़ कर, घर घेरे चहुँ ओर।

उठ्यो थो हरि भजन को, कीधी नरक में तोर॥

गृहस्थ में तो अपने एक घर की ही चिन्ता थी, मुनि बनने के बाद अनेक घरों की चिन्ता मोल ले ली। अनेक घरों पर ममता और मूर्च्छा होना महापरिग्रह है। महापरिग्रह नरक का कारण है। मुनि को इस प्रकार चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

ठाणाङ्ग सूत्र के दूसरे ठाणे में दो प्रकार का धर्म कहा है - 'अगार धम्मे चेव अणगार धम्मे चेव।' अगार अर्थात् घर में रहते हुए श्रावक व्रतों का पालन करना अगार धर्म है। कुछ लोग इसे 'आगार' धर्म कह देते हैं वह आगमानुकूल नहीं है इसलिए 'अगार धर्म' ही कहना चाहिए तब ही अनगार शब्द शुद्ध बन सकता है। जिन्होंने द्रव्य अगार और भाव अगार दोनों का त्याग कर दिया है वे अनगार कहलाते हैं। अर्थात् पांच महाव्रत, पांच समिति तीन गुप्ति रूप तेरह प्रकार के चारित्र का पालन करने वाले मुनि महात्मा 'अनगार' कहलाते हैं।

सर्व संग परित्याग

गिहवासं परिच्चज्ज, पव्वज्जामस्सिए मुणी।

इमे संगे वियाणिज्जा, जेहिं सज्जंति माणवा॥२॥

कठिन शब्दार्थ - गिहवासं - गृहवास का, परिच्चज्ज - परित्याग करके, पव्वज्जामस्सिए - प्रव्रज्या के आश्रित हुआ, इमे - इन, संगे - संगों को, वियाणिज्जा - जानकर, सज्जंति - आसक्त होते हैं, माणवा - मनुष्य।

भावार्थ - गृहस्थवास का त्याग कर के प्रव्रज्या का आश्रित - आश्रय लेने वाला मुनि इन माता-पिता, पुत्र-कलत्र (स्त्री) आदि के संगों की, जिनसे मनुष्य आसक्तियों में फंस कर कर्म-बन्धन को प्राप्त होते हैं उन्हें जान कर छोड़ देवे।

विवेचन - मूल में 'गिहवास' शब्द दिया है जिसकी संस्कृत छाया 'गृहवास' करके अर्थ ऊपर दिया है। किन्तु टीकाकार ने 'गिहवास' की संस्कृत छाया 'गृहपाश' भी की है। पाश का अर्थ है - जाल, बन्धन। जाल या बंधन में पड़ा हुआ व्यक्ति परवश हो जाता है, इसी प्रकार गृहस्थावास में रहा हुआ जीव भी परवश हो जाता है। इसलिए गृहस्थ अवस्था को 'पाश' कहा गया है।

पापास्रवों का त्याग

तहेव हिंसं अलियं, चोज्जं अबंभ-सेवणं।

इच्छाकामं च लोभं च, संजओ परिवज्जए॥३॥

कठिन शब्दार्थ - हिंसं - हिंसा, अलियं - अलीक-झूठ, चोज्जं - चौर्य, अबंभ-सेवणं - अब्रह्मचर्य-कुशील सेवन, इच्छाकामं - इच्छा काम, लोभं - लोभ का, परिवज्जए-त्याग करे।

भावार्थ - हिंसा, अलीक - झूठ, चौर्य - चोरी, अब्रह्मचर्य (मैथुन) सेवन अप्राप्त वस्तु की इच्छा और लोभ इन सभी का संयत पुरुष त्याग कर देवे।

विवेचन - इच्छा काम और लोभ का परिग्रह में समावेश होने से हिंसा आदि पांचों पापास्रवों का परित्याग करना संयमी के लिये अनिवार्य है क्योंकि इनके द्वारा जीव पाप कर्मों का संचय करता है जिनसे मोक्ष प्राप्ति अशक्य हो जाती है।

निवास-स्थान विवेक

मणोहरं चित्तघरं, मल्लधूवेण वासियं।

सकवाडं पंडुरुल्लोयं, मणसा वि ण पत्थए॥४॥

इंदियाणि उ भिक्खुस्स, तारिसम्मि उवस्सए।

दुक्कराइं णिवारेउं, कामराग-विवट्टणे॥५॥

कठिन शब्दार्थ - मणोहरं - मनोहर-चित्ताकर्षक, चित्तघरं - चित्रों से युक्त मकान, मल्लधूवेण वासियं - पुष्पमालाओं से और धूप से सुवासित, सकवाडं - कपाट सहित, पंडुरुल्लोयं - श्वेत चंदोवा से सुसज्जित, मणसा वि - मन से भी, ण पत्थए - इच्छा न करे।

इंदियाणि उ - इन्द्रियों का, तारिसम्मि - तादृश-उपरोक्त प्रकार के, उवस्सए - उपाश्रय में, दुक्कराइं - दुष्कर, णिवारेउं - निरोध करना-रोकना, कामराग-विवट्टणे - काम राग को बढ़ाने वाले।

भावार्थ - मनोहर (चित्त को आकर्षित करने वाला), माल्य और अगर-चन्दनादि धूप से वासित (सुगन्धित), कपाट युक्त, श्वेत वस्त्रों से विभूषित या चन्दवा आदि लगा कर सुसज्जित किये हुए, चित्रों से युक्त मकान की साधु मन से भी इच्छा न करे क्योंकि काम-राग को बढ़ाने

वाले तादृश-उपरोक्त प्रकार के उपाश्रय में साधु के लिए इन्द्रियों को निवारण करना अर्थात् रोकना बड़ा कठिन है।

विवेचन - मनोहर चित्रों से सुशोभित, पुष्प और अगरचन्दनादि सुगन्धित पदार्थों से सुवासित, सुन्दर श्वेत वस्त्रों तथा चन्दवों द्वारा सुसज्जित स्थान में साधु न रहे, क्योंकि उपरोक्त प्रकार से सुसज्जित मकान में साधु को अपना इन्द्रिय-संयम रखना कठिन हो जाता है, क्योंकि उपरोक्त प्रकार का स्थान काम-राग को बढ़ाने वाला होता है। इसलिए साधु को ऐसे घर में न रहना चाहिए। कामराग की वृद्धि का कारण होने से ऐसे स्थान में रहने का साधु के लिए निषेध किया गया है, किन्तु किंवाड़ खोलने और बंद करने का निषेध नहीं किया गया है।

बृहत्कल्प सूत्र के पहले और दूसरे उद्देशक में बतलाया गया है कि - कपाट सहित मकान न मिलने पर साधु तो खुले मकान में अथवा खुली जगह में भी रात्रि निवास कर सकता है। किन्तु साध्वियों को तो कपाट सहित बंद मकान में ही ठहरना चाहिये। बंद मकान में ठहरने पर रात्रि में लघुनीत आदि परठने के लिए किंवाड़ खोलने और बंद करने ही पड़ते हैं इसलिए किसी एक जैन सम्प्रदाय विशेष का यह कहना कि - 'जैन साधु साध्वियों को किंवाड़ खोलना और बंद करना नहीं कल्पता है' यह कहना आगम विरुद्ध है तथा इस गाथा में किंवाड़ सहित मकान में उतरने का और किंवाड़ को खोलने और बंद करने का निषेध नहीं किया गया है।

सुसाणे सुण्णगारे वा, रुक्खमूले व इक्कओ।

पड़रिक्के परकडे वा, वासं तत्थाभिरोयए॥६॥

कठिन शब्दार्थ - सुसाणे - श्मशान में, सुण्णगारे - सूने (निर्जन) घर में, रुक्खमूले- वृक्ष के मूल में, इक्कओ - एकाकी होकर, पड़रिक्के - प्रतिरिक्त-एकान्त या खाली, परकडे - परकृत, वासं - निवास करने की, अभिरोयए - इच्छा करे।

भावार्थ - श्मशान में अथवा सूने घर में अथवा वृक्ष के नीचे अथवा परकृत (गृहस्थ ने जो अपने निज के लिए बनाया है) ऐसे प्रतिरिक्त - स्त्री, पशु और नपुंसक से रहित एकान्त स्थान में एकाकी - राग-द्वेष रहित हो कर साधु रहने की इच्छा करे अर्थात् रहे।

फासुयम्मि अणावाहे, इत्थीहिं अणभिद्दुए।

तत्थ संकप्पए वासं, भिक्खू परमसंजए॥७॥

कठिन शब्दार्थ - फासुयम्मि - प्रासुक, अणावाहे - बाधा रहित, इत्थीहिं - स्त्रियों के, अणभिद्दुए - अनभिद्दुत - उपद्रव से रहित, संकप्पए - संकल्प करे, परमसंजए - परम संयत।

भावार्थ - प्रासुक अर्थात् जीव रहित बाधा-रहित (जहाँ अपने संयम में और दूसरे लोगों को किसी प्रकार की बाधा न हो) और जो स्त्री आदि के उपद्रव से रहित हो ऐसे स्थान में परम संयत - श्रेष्ठ संयम वाला भिक्षु - साधु रहने का संकल्प करे (ऐसे स्थान में साधु रहे)।

विवेचन - प्रस्तुत दोनों गाथाओं में साधु के लिए निवास योग्य स्थानों का विधान किया गया है।

गृहकर्म समारंभ-निषेध

ण सयं गिहाइं कुव्विज्जा, णेव अण्णेहिं कारणे।

गिह कम्मसमारंभे, भूयाणं दिस्सए वहो ॥८॥

कठिन शब्दार्थ - सयं - स्वयं, गिहाइं - गृह, ण कुव्विज्जा - न करे, णेव - न, अण्णेहिं - दूसरों से, कारणे - बनवावे, गिह कम्मसमारंभे - गृह कर्म के समारंभ में, भूयाणं - भूतों-जीवों का, दिस्सए - देखा जाता है, वहो - वध (हिंसा)।

भावार्थ - साधु स्वयं घर न बनावे, न दूसरों से बनवावे और बनाने वालों की अनुमोदना भी न करे क्योंकि घर बनाने के समारंभ में भूत-प्राणियों का वध (हिंसा) दिखाई देता है।

तसाणं थावराणं च, सुहुमाणं बादराण य।

तम्हा गिहसमारंभं, संजओ परिवज्जए ॥९॥

कठिन शब्दार्थ - तसाणं थावराणं च - त्रस और स्थावर जीवों का, सुहुमाणं बादराण य - सूक्ष्म और बादर जीवों का, संजओ - संयमी, परिवज्जए - त्याग कर दे।

भावार्थ - घर बनाने में त्रस और स्थावर, सूक्ष्म और बादर जीवों की हिंसा होती है, इसलिए संयमी साधु घर बनाने के समारंभ को त्याग दे।

विवेचन - गाथा में सूक्ष्म जीवों की हिंसा का भी कथन किया है किन्तु सूक्ष्म नामकर्म के उदय से जो जीव सूक्ष्म हैं उनकी हिंसा होती नहीं है इसलिए जिनका शरीर अत्यन्त छोटा है ऐसे कुंथुआ, लालचींटी आदि की हिंसा समझनी चाहिए अथवा भाव की अपेक्षा उन सूक्ष्म नामकर्म वाले जीवों की हिंसा समझनी चाहिए। द्रव्य से तो उन जीवों की हिंसा नहीं होती है किन्तु भाव से तो उनकी भी हिंसा हो सकती है।

आहार पचन-पाचन निषेध

तहेव भक्तपाणेसु, पयणे पयावणेसु य।

पाणभूयदयद्वाए, ण पए ण पयावए॥१०॥

कठिन शब्दार्थ - भक्तपाणेसु - भक्त और पान के, पयणे - पकाने में, पयावणेसु - पकवाने-बनवाने में, पाणभूयदयद्वाए - प्राणी और भूतों की दया के लिए, ण पए - न स्वयं पकावे, ण पयावए - न दूसरों से पकावए।

भावार्थ - इसी प्रकार भक्तपान - आहार-पानी को स्वयं पकाने में और दूसरों से पकवाने में प्राणियों की हिंसा होती है इसलिए प्राणी (द्वीन्द्रियादि) भूत (पृथिव्यादि जीवों की रक्षा के लिए) साधु न स्वयं पकावे, न दूसरों से पकावावे और पकाने वालों की अनुमोदना भी न करे।

विवेचन - गाथा में प्राण, भूत ये दो शब्द दिये हैं। ये उपलक्षण हैं। इससे प्राण, भूत, जीव, सत्त्व इन चारों का ग्रहण को जाता है अर्थात् यहाँ एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी जीवों का ग्रहण किया गया है।

जलधण्णणिस्सिया जीवा, पुढवी-कट्टणिस्सिया।

हम्मंति भक्तपाणेसु, तम्हा भिक्खू ण पयावए॥११॥

कठिन शब्दार्थ - जलधण्णणिस्सिया - जल और धान्य के आश्रित, पुढवी-कट्टणिस्सिया - पृथ्वी और काष्ठ के आश्रित, हम्मंति - मारे जाते हैं।

भावार्थ - भक्तपान - आहार पानी को स्वयं पकाने और पकवाने में जल और धान्य के आश्रित, पृथ्वी और काष्ठ (ईधन) के आश्रित अनेक जीव मारे जाते हैं इसलिए साधु स्वयं न पकावे, न दूसरों से पकावावे और पकवाने वालों की अनुमोदना भी न करे।

विसप्पे सव्वओ धारे, बहुपाणि-विणासणे।

णत्थि जोइसमे सत्थे, तम्हा जोइं ण दीवए॥१२॥

कठिन शब्दार्थ - विसप्पे - फैल जाता है, सव्वओ - चारों ओर, धारे - धार वाला, बहुपाणि-विणासणे - अनेक प्राणियों का विनाशक, जोइसमे - ज्योतिसम-अग्नि के समान, सत्थे - शस्त्र, जोइं - ज्योति - अग्नि को, ण दीवए - न जलावे।

भावार्थ - सब दिशाओं में शस्त्र की धारा के समान फैलने वाली और बहुत प्राणियों का नाश करने वाली अग्नि के समान शस्त्र दूसरा कोई नहीं है, इसलिए साधु कभी भी अग्नि को न जलावे, न दूसरों से जलवावे और जलाने वालों की अनुमोदना भी न करे।

विवेचन - प्रस्तुत तीन गाथाओं में साधु के लिए स्वयं आहार पानी पकाने-तैयार करने व दूसरों से करवाने का निषेध किया गया है क्योंकि आहार आदि तैयार करने में त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा होती है। जीवदया के लिए साधु रसोई बनाने और बनवाने के प्रपंच में न पड़े। रसोई बनाने में अग्नि जलाना अनिवार्य है और अग्नि से बढ़ कर कोई दूसरा तीक्ष्ण शस्त्र नहीं है। अतः शास्त्रकार ने अग्नि जलाने का निषेध किया है।

क्रय विक्रय वृत्ति का निषेध

हिरणं जायरूवं च, मणसा वि ण पत्थए।

समलेट्टु कंचणे भिक्खू, विरए कय-विक्कए॥१३॥

कठिन शब्दार्थ - हिरणं - हिरण्य-सोना, जायरूवं - जातरूप-चांदी, ण पत्थए - न चाहे, समलेट्टु कंचणे - समलोष्ट-काञ्चन - सोने और मिट्टी के ढेले को समान समझने वाला, विरए - विरत, कय-विक्कए - क्रय-विक्रय से।

भावार्थ - मिट्टी के ढेले को और सोने को समान समझने वाला, क्रयविक्रय (खरीदने और बेचने) की क्रियाओं से विरक्त (निवृत्त) हुआ भिक्षु सोना, चांदी और धनधान्यादि परिग्रह को मन से भी न चाहे।

किणंतो कइओ होइ, विक्किणंतो य वाणिओ।

कयविक्कयम्मि वट्टंतो, भिक्खू ण भवइ तारिसो॥१४॥

कठिन शब्दार्थ - किणंतो - खरीदता हुआ, कइओ - क्रयिक, विक्किणंतो - बेचता हुआ, वाणिओ - वणिक्, कयविक्कयम्मि - क्रय-विक्रय - खरीदने बेचने में, वट्टंतो - प्रवृत्त होता हुआ, तारिसो - तादृश-वैसा।

भावार्थ - खरीदता हुआ खरीदने वाला (ग्राहक) होता है और बेचता हुआ वणिक् होता है। खरीदने और बेचने के कार्य में प्रवृत्ति करता हुआ साधु तादृश अर्थात् जैसा सूत्र में कहा है

वैसा साधु नहीं होता यानी क्रयविक्रय करने वाला साधु भाव-साधु नहीं हो सकता, वह गृहस्थ के समान हो जाता है।

भिक्षिखयव्वं ण केयव्वं, भिक्षुणा भिक्षवित्तिणा।

कयविककओ महादोसो, भिक्षावित्ती सुहावहा ॥१५॥

कठिन शब्दार्थ - भिक्षिखयव्वं - भिक्षा करनी चाहिये, ण केयव्वं - क्रय नहीं, भिक्षवित्तिणा - भिक्षावृत्ति से, महादोसो - महादोष, सुहावहा - सुखावह।

भावार्थ - भिक्षावृत्ति से निर्वाह करने वाले, भिक्षु को भिक्षा मांग कर ही अपना निर्वाह करना चाहिए किन्तु खरीद कर कोई वस्तु न लेनी चाहिए क्योंकि क्रयविक्रय करना महादोष है और भिक्षावृत्ति इस लोक और परलोक में सुखकारी (कल्याणकारी) है।

विवेचन - क्रय विक्रय करने में संयम की विराधना और तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा की विराधना रूप महादोष लगता है।

भिक्षावृत्ति का विधान

समुयाणं उच्छमेसिज्जा, जहासुत्तमणिंदियं।

लाभालाभम्मि संतुट्ठे, पिंडवायं चरे मुणी ॥१६॥

कठिन शब्दार्थ - समुयाणं - सामुदायिक, उच्छं - थोड़ा-थोड़ा आहार लेते हुए, एसिज्जा-एषणा करे, जहासुत्तं - यथा सूत्र, अणिंदियं - अनिन्दित, लाभालाभम्मि - लाभ और अलाभ में, संतुट्ठे - संतुष्ट रह कर, पिंडवायं - पिण्डपात-भिक्षार्थ, चरे - विचरे।

भावार्थ - यथासूत्र - सूत्र के अनुसार अनिन्दित घरों से थोड़ा-थोड़ा आहार लेते हुए समुदायी भिक्षा की एषणा करे तथा लाभ और अलाभ में संतुष्ट रहता हुआ मुनि पिण्डपात-आहार के लिए विचरे।

विवेचन - प्रस्तुत गाथाओं में साधु के लिए किसी भी वस्तु के क्रय विक्रय से निर्वाह करने का निषेध तथा भिक्षा वृत्ति से निर्वाह करने का विधान किया गया है। आहारादि का लाभ होने पर हर्षित न होवे और आहारादि की प्राप्ति न होने पर खेद भी न करें। दोनों स्थितियों में समभाव पूर्वक संतोष करे।

स्वादवृत्ति-निषेध

अलोलोले ण रसे गिद्धे, जिब्भादंते अमुच्छिए।

ण रसद्वाए भुंजिज्जा, जवणद्वाए महामुणी॥१७॥

कठिन शब्दार्थ - अलोलोले - अलोलुप, रसे - रस-स्वाद में, ण गिद्धे - गृद्ध - आसक्त न हो, जिब्भादंते - जिह्वा को वश में रखने वाला, अमुच्छिए- अमूर्च्छित, रसद्वाए- रस के लिए, ण भुंजिज्जा - भोजन न करे, जवणद्वाए - यापनार्थ - संयम यात्रा के निर्वाहार्थ।

भावार्थ - सरस भोजन में लोलुपता-रहित, रसों में गृद्धि-रहित, जिह्वाइन्द्रिय को वश में रखने वाला और मूर्च्छा (आसक्ति) रहित महामुनि रसार्थ-स्वाद के लिए अथवा शारीरिक धातुओं की वृद्धि के लिए आहार न करे किन्तु संयम रूप यात्रा के निर्वाह के लिए ही आहार करे।

विवेचन - प्रस्तुत गाथा में स्पष्ट किया गया है कि साधु साध्वी जीवन निर्वाह के लिए आहार करे, स्वाद के लिए नहीं। अतः साधक को निम्न चार बातों का ध्यान रखना आवश्यक है - १. वह जिह्वालोलुप न हो २. अपनी जीभ को वश में रखे ३. किसी भी खाद्य पदार्थ में मूर्च्छित न हो ४. रस (स्वाद) में गृद्ध न हो। प्रस्तुत गाथा में आए हुए 'रसद्वाए' शब्द का वृत्तिकार ने वैकल्पिक अर्थ - धातु विशेष किया है। शरीर की प्रधान धातुएँ सात हैं - रस, रक्त, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा और शुक्र। इन धातुओं के उपचय के लिए रस का यह अर्थ भी हो सकता है।

मान-सम्मान निषेध

अच्चणं रयणं चैव, वंदणं पूयणं तथा।

इद्धिसक्कार-सम्माणं, मणसा वि ण पत्थए॥१८॥

कठिन शब्दार्थ - अच्चणं - अर्चा, रयणं - रचना, वंदणं - वन्दना, पूयणं - पूजा, इद्धिसक्कार-सम्माणं - ऋद्धि, सत्कार और सम्मान की।

भावार्थ - अर्चा (चन्दनादि से पूजा) और रचना (स्वस्तिकादि की रचना) वन्दना तथा विशिष्ट वस्त्रादि देने रूप पूजा, आमर्श औषधि आदि लब्धियों की ऋद्धि, सत्कार और सम्मान

को साधु मन से भी न चाहे अर्थात् मन, वचन और काया तीनों योगों से सत्कारादि की प्रार्थना (चाहना) नहीं करे।

विवेचन - साधु साध्वी ऐसा मनोरथ कदापि न करे कि - “लोग मेरा चन्दन और पुष्पादि से अर्चन करे, मेरे सम्मुख मोतियों के स्वास्तिक आदि की रचना करें, मुझे विधिपूर्वक चंदना करें, वस्त्रादि विशिष्ट सामग्री देकर मेरी पूजा करें, मुझे श्रावकों से उपकरणादि की उपलब्धि हो अथवा मुझे आमर्षोषधि आदि लब्धियां प्राप्त हो, लोग मुझे या मेरे द्वारा स्थापित संस्था को अर्थ प्रदान आदि करके मेरा सत्कार करे एवं अभ्युत्थान आदि से मेरा सम्मान करें, किसी भी तरह से मेरी प्रसिद्धि और पूजा प्रतिष्ठा हो, मेरी कीर्ति बढ़ें।”

अनगार के लिए मुख्य चार मार्ग

सुक्कज्झाणं झियाएज्जा, अणियाणे अकिंचणे।

वोसट्टकाए विहरेज्जा, जाव कालस्स पज्जओ ॥१६॥

कठिन शब्दार्थ - सुक्कज्झाणं - शुक्लध्यान, झियाएज्जा - ध्यावे, अणियाणे - अनिदान - निदान रहित, अकिंचणे - अकिञ्चन, वोसट्टकाए - व्युत्सृष्टकाय - शरीर का व्युत्सर्ग करके, जाव- जब तक, कालस्स - काल का, पज्जओ - पर्याय।

भावार्थ - जब तक मृत्यु का पर्याय-अवसर-समय प्राप्त हो तब तक (यावज्जीवन) अनिदान - नियाना रहित, अकिञ्चन - परिग्रह-रहित तथा शरीर के ममत्व भाव से भी रहित हो कर शुक्ल-ध्यान ध्यावे और अप्रतिबद्ध विहार करे।

विवेचन - साधु जीवन पर्यंत - १. शुक्लध्यान में लीन रहे २. इहलौकिक-पारलौकिक सुख भोग आदि वांछा रूप निदान नहीं करे ३. द्रव्य-भाव परिग्रह को छोड़ कर अकिंचन वृत्ति को अपनाएं और ४. काया के ममत्व का त्याग करके अप्रतिबद्ध होकर विचरे।

अनगारमार्ग आचरण का फल - उपसंहार

णिज्जूहिऊण आहारं, कालधम्मो उवट्ठिए।

जहिऊण माणुसं षोडिं, पहू दुक्खा विमुच्चइ ॥२०॥

कठिन शब्दार्थ - णिज्जूहिऊण - परित्याग कर, आहारं - आहार का, कालधम्म - कालधर्म, उवट्टिए - उपस्थित होने पर, ज्हिऊण - छोड़ कर, माणुसं बोदिं - मनुष्य शरीर को, प्हू - प्रभु-समर्थ, दुक्खा - दुःख से, विमुच्चइ - विमुक्त हो जाता है।

भावार्थ - कालधर्म अर्थात् मृत्यु का समय उपस्थित होने पर चारों प्रकार के आहार का त्याग कर के इस मनुष्य सम्बन्धी बोदि - औदारिक शरीर को छोड़ कर प्रभु अर्थात् समर्थ मुनि सब दुःखों से विमुक्त हो जाता है अर्थात् छूट जाता है।

णिम्ममे णिरहंकारे, वीयरगो अणासवो।

संपत्तो केवलं णाणं, सासयं परिणिव्वुए॥२१॥

कठिन शब्दार्थ - णिम्ममे - निर्मम-ममकार रहित, णिरहंकारे - निरहंकार-अहंकार रहित, वीयरगो - वीतराग, अणासवो - अनास्रव-आस्रव रहित, संपत्तो - संप्राप्त कर, केवलणाणं - केवलज्ञान को, सासयं - शाश्वत, परिणिव्वुए - परिनिर्वृत - परम शांति पाता है।

भावार्थ - ममत्व-रहित, अहंकार-रहित, वीतराग और आस्रव रहित बना हुआ मुनि केवलज्ञान को प्राप्त कर के सदा के लिए परिनिर्वृत-सुखी हो जाता (मोक्ष सुख को प्राप्त कर लेता) है। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - अनगार मार्ग का प्रभु आज्ञानुसार पालन करने वाला शारीरिक और मानसिक सभी दुःखों से मुक्त होकर शाश्वत सुख स्थान - मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। गाथा में सिर्फ केवलज्ञान शब्द दिया है किन्तु केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों एक साथ उत्पन्न होते हैं। इसलिए यहाँ 'केवलज्ञान' शब्द से केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों का ग्रहण कर लिया गया है।

॥ इति अनगार मार्ग गति नामक पैंतीसवाँ अध्ययन समाप्त ॥



जीवाजीव विभक्ती णामं छत्तीसइमं अज्झयणं जीवाजीव विभक्ति नामक छत्तीसवां अध्ययन

उत्तराध्ययन सूत्र का यह अंतिम अध्ययन हैं। इसमें जीव और अजीव की विभक्ति (पृथक्करण) करके सम्यक् रूप से निरूपण किया गया है। संसार में जीव और अजीव ये दो ही तत्त्व मूल हैं। इन दोनों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके ही साधक संयम को समझ सकता है। दशवैकालिक सूत्र के चौथे अध्ययन में यही बात कही है -

जो जीवे वि वियाणेइ, अजीवे वि वियाणेइ।

जीवाजीवे वियाणंतो, सो हु णाहीइ संजमं॥

अध्ययन के अंत में संलेखना-संधारा आदि का विवेचन तथा समाधिमरण की सुंदर व्याख्या की गई है। प्रस्तुत अध्ययन की पहली गाथा इस प्रकार है -

विषय निर्देश और प्रयोजन

जीवाजीवविभक्तिं, सुणेह मे एगमणा इओ।

जं जाणिऊण भिक्खू, सम्मं जयइ संजमे॥१॥

कठिन शब्दार्थ - जीवाजीवविभक्तिं - जीवाजीवविभक्ति - जीव और अजीव के भेदों को, सुणेह - सुनो, मे - मुझे, एगमणा - एकाग्रमना होकर, जं - जिसे, जाणिऊण - जान कर, भिक्खू - भिक्षु - साधु, सम्मं - सम्यक् प्रकार से, जयइ - यतनावान् होता है, संजमे - संयम में।

भावार्थ - श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन् जम्बू! अब इसके आगे जीवाजीवविभक्ति - जीव और अजीव के भेदों को मुझ से एकाग्र चित्त हो कर सुनो, जिसे जान कर भिक्षु सम्यक् प्रकार से संयम में यतना करता है।

लोकालोक का स्वरूप

जीवा चेव अजीवा य, एस लोए वियाहिए।

अजीव देसमागासे, अलोए से वियाहिए॥२॥

कठिन शब्दार्थ - जीवा - जीव, अजीवा - अजीव, एस - यह, लोए - लोक, वियाहिए - कहा गया है, अजीव देसं - अजीव का देश, आगासे - आकाशरूप, अलोए-अलोक।

भावार्थ - जीव और अजीव रूप यह लोक कहा गया है। अजीव का एक देश आकाश (जहाँ केवल आकाश ही हो) वह अलोक कहा गया है।

विवेचन - अजीव का अंश, अजीव देश कहलाता है और यह अजीव देश धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों से रहित सिर्फ आकाश रूप है। इसी को ज्ञानी पुरुष अलोक कहते हैं। क्योंकि अलोक में सिर्फ आकाश द्रव्य ही है।

दव्वओ खेत्तओ चेव, कालओ भावओ तहा।

परूवणा तेसिं भवे, जीवाणमजीवाण य॥३॥

कठिन शब्दार्थ - दव्वओ - द्रव्य से, खेत्तओ - क्षेत्र से, कालओ - काल से, भावओ - भाव से।

भावार्थ - उन जीव और अजीवों की परूवणा द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से होती है।

विवेचन - जिसमें चैतन्य लक्षण हो वह जीव और जो चेतन से रहित हो, वह अजीव कहलाता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव - इन चार प्रकारों से जीव और अजीव द्रव्य का निरूपण किया जाता है।

अजीव का स्वरूप

रूविणो चेव अरूवी य, अजीवा दुविहा भवे।

अरूवी दसहा वुत्ता, रूविणो य चउव्विहा॥४॥

कठिन शब्दार्थ - रूविणो - रूपी, चेव - और, अरूवी - अरूपी, चउव्विहा - चार प्रकार का।

भावार्थ - अजीव के दो भेद हैं - रूपी और अरूपी। अरूपी दस प्रकार का कहा गया है और रूपी चार प्रकार का कहा गया है।

विवेचन - जिनमें वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श पाये जाते हैं, उन्हें 'रूपी' कहा जाता है और जिनमें वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श नहीं पाये जाते, उनको 'अरूपी' कहा जाता है।

अरूपी अजीव निरूपण

धम्मत्थिकाए तद्देसे, तप्पएसे य आहिए।

अहम्मए तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए॥५॥

आगासे तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए।

अद्दासमए चेव, अरूवी दसहा भवे॥६॥

कठिन शब्दार्थ - धम्मत्थिकाए - धर्मास्तिकाय, तद्देसे - उसका देश, तप्पएसे - उसका प्रदेश, आहिए - कहा गया है, अहम्मए - अधर्मास्तिकाय, आगासे - आकाशास्तिकाय, अद्दासमए - अद्दासमय-काल।

भावार्थ - धर्मास्तिकाय का स्कन्ध, उसका देश और उसका प्रदेश (ये तीन भेद धर्मास्तिकाय के) कहे गये हैं। अधर्मास्तिकाय का स्कन्ध, उसका देश और उसका प्रदेश (ये तीन भेद अधर्मास्तिकाय के) कहे गये हैं। आकाशास्तिकाय का स्कन्ध, उसका देश और उसका प्रदेश (ये तीन भेद आकाशास्तिकाय के) कहे गये हैं और अद्दा समय-काल, इस प्रकार अरूपी के दस भेद होते हैं।

विवेचन - १. पुद्गल और जीवों की गति में सहायक हो, उसे धर्मास्तिकाय कहते हैं। जैसे मछली की गति करने में पानी सहायक होता है और रेलगाड़ी के चलने में पट्टी सहायक होती है। इसी तरह जीव और पुद्गल दोनों धर्मास्तिकाय के (सहायता) आधार से चलते हैं।

२. जो जीव और पुद्गलों को ठहरने में सहायक हो, उसे अधर्मास्तिकाय कहते हैं। जैसे - थके हुए मुसाफिर को छाया सहायक होती है।

३. जो जीव और पुद्गलों को स्थान देता है, उसे आकाशास्तिकाय कहते हैं। जैसे आकाश में विकास, भीत में खूँटी, दूध में पताशा का दृष्टान्त।

४. जो जीव और पुद्गलों में नवीन-नवीन पर्यायों की प्राप्ति रूप परिणमन करता है, उसे काल द्रव्य कहते हैं। नये को पुराना करना और पुराने को नष्ट करना, यह काल का गुण है।

५. जिसमें ज्ञान, दर्शन रूप उपयोग हो, उसे जीव द्रव्य कहते हैं। 'जीवो उवओग लक्खणो' 'उपयोगः जीवस्य लक्षणम्'।

६. जिसमें वर्ण (रूप), रस, गंध और स्पर्श पाये जाते हों, उसे पुद्गल द्रव्य कहते हैं।

ये छह द्रव्य शाश्वत हैं। अनादि अनन्त हैं। इनमें से पांच अजीव हैं और एक जीव है। जीव द्रव्य का लक्षण चेतना है, वह उपादेय है। बाकी के पाँचों अजीव द्रव्य हेय-छोड़ने योग्य हैं।

धम्माधम्मे य दो चेव, लोगमित्ता वियाहिया।

लोगालोगे य आगासे, समए समयखेत्तिए॥७॥

कठिन शब्दार्थ - लोगमित्ता - लोक-प्रमाण, समयखेत्तिए - समयक्षेत्र, लोगालोगे - लोकालोक।

भावार्थ - धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय ये दोनों लोक-परिमाण कहे गये हैं। आकाशास्तिकाय लोकालोक (लोक और अलोक) परिमाण है और समय-कालद्रव्य, समयक्षेत्र (ढाई द्वीप) परिमाण है।

विवेचन - जम्बूद्वीप, धातकीखण्डद्वीप और पुष्करवरद्वीप का आधा भाग, इन को अढ़ाई द्वीप कहते हैं। जम्बूद्वीप को चारों तरफ घेरे हुए लवण समुद्र है। धातकीखण्ड को चारों तरफ से घेरा हुआ कालोदधि समुद्र है। इस प्रकार दो समुद्र और अढ़ाई द्वीप में समय की प्रवृत्ति होती है इसलिए इसे 'समय क्षेत्र' कहते हैं। पुष्करवरद्वीप १६ लाख योजन का लम्बा और चौड़ा है। उसके ठीक बीचोंबीच में एक पर्वत है, जिसको मानुष्योत्तर पर्वत कहते हैं। वह चारों तरफ घिरा हुआ है। उससे पुष्करवर द्वीप के दो विभाग हो गये हैं। इस प्रकार अढ़ाई द्वीप हो गये हैं। वहीं तक मनुष्य है। मानुष्योत्तर पर्वत के आगे मनुष्य नहीं है। इसलिए दो समुद्र और अढ़ाई द्वीप को मनुष्य क्षेत्र भी कहते हैं। इसके आगे न समय है, न मनुष्य है।

धम्माधम्मागासा, तिण्णि वि एए अणाइया।

अपज्जवसिया चेव, सव्वद्धं तु वियाहिया॥८॥

कठिन शब्दार्थ - धम्माधम्मागासा - धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय, अणाइया - अनादि, अपज्जवसिया - अपर्यवसित, सव्वद्धं - सर्वकाल में (स्थायी-नित्य)।

भावार्थ - धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय ये तीनों अनादि और अपर्यवसित - अनन्त हैं और सब काल में रहने वाले (शाश्वत) कहे गये हैं (काल की अपेक्षा ये तीनों अनादि अनन्त हैं)।

विवेचन - जिसकी आदि (प्रारम्भ) नहीं, उसे अनादि कहते हैं और जिनका कभी अन्त (समाप्ति) नहीं, उन्हें अनन्त कहते हैं।

समए वि संतइं पप्प, एवमेव वियाहिए।

आएसं पप्प साइए, सपज्जवसिए वि य॥९॥

कठिन शब्दार्थ - संतडं - संतति (प्रवाह) की, पप्प - अपेक्षा, आएसं - आदेश (प्रतिनियत व्यक्तिरूप एक-एक समय), साइए - सादि, सपज्जवसिए - सपर्यवसित।

भावार्थ - समय-काल-द्रव्य भी सन्तति (प्रवाह) की अपेक्षा इसी प्रकार (अनादि अनन्त) कहा गया है और आदेश (किसी अमुक कार्य) की अपेक्षा सादि और सपर्यवसित (सान्त) भी है।

विवेचन - जिसकी आदि (प्रारम्भ) हो, उसको 'सादि' कहते हैं और जिसका अन्त समाप्ति भी हो, उसे 'सान्त' कहते हैं।

रूपी अजीव का निरूपण

खंधा य खंधदेसा य, तप्पएसा तहेव य।

परमाणुणो य बोद्धव्वा, रूविणो य चउव्विहा॥१०॥

कठिन शब्दार्थ - खंधा - स्कन्ध, खंधदेसा - स्कंध देश, परमाणुणो - परमाणु, बोद्धव्वा - जानने चाहिये।

भावार्थ - स्कन्ध, स्कन्ध का देश, स्कन्ध का प्रदेश और परमाणु पुद्गल, ये चार भेद रूपी द्रव्य के जानने चाहिए।

विवेचन - किसी भी सम्पूर्ण द्रव्य के पूर्ण रूप का नाम 'स्कंध' है। स्कंध के किसी एक कल्पित विभाग को 'देश' कहते हैं तथा स्कंध का एक अतिसूक्ष्म अविभाज्य अंश 'प्रदेश' या परमाणु कहलाता है। परमाणु जब तक स्कंध से जुड़ा रहता है तब उसे 'प्रदेश' कहते हैं जब वह स्कंध से पृथक् रहता है तब 'परमाणु' कहलाता है।

एगत्तेण पुहुत्तेण, खंधा य परमाणु य।

लोएगदेसे लोए य, भइयव्वा ते उ खेतओ॥११॥

कठिन शब्दार्थ - एगत्तेण - एकत्व रूप होने से, पुहुत्तेण - पृथक् रूप होने से, भइयव्वा - भजना समझनी चाहिये।

भावार्थ - एकत्व - परमाणुओं के परस्पर मिलने से स्कन्ध बनता है और पृथक्-पृथक् रहने पर परमाणु कहलाता है। क्षेत्र की अपेक्षा वे लोक के एक देश में हैं और समस्त लोकव्यापी हैं, यहाँ भजना समझनी चाहिए।

विवेचन - प्रश्न - परमाणु किसे कहते हैं?

उत्तर - सत्थेण सुतिवस्सेण वि, छित्तुं भेतुं य जं किर न सवक्का।

तं परमाणुं सिद्धा वयांति आइम पमाण्णाणं॥१॥ (अनुयोगद्वार)

- अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्र से भी जिसका छेदन-भेदन नहीं किया जा सके उसको सिद्ध (केवलज्ञानी) परमाणु कहते हैं। वह सब प्रमाणों का आदि (प्रारम्भ) कारण है। जैसा कि कहा है-
कारणमेव तदन्त्यं, सूक्ष्म नित्यश्च भवति परमाणुः।

एकरसवर्णगन्धो, द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च॥१॥

अर्थ - परमाणु सब स्कन्धों का अन्तिम कारण है। यह सूक्ष्म और नित्य है। इसमें एक रस, एक वर्ण, एक गंध एवं दो स्पर्श पाये जाते हैं। परमाणुओं से स्कन्ध बनते हैं। परमाणु स्कन्धों का कारण है और स्कन्ध परमाणुओं का कार्य है। इस स्कन्ध रूप कार्य से परमाणु का ज्ञान होता है। इसलिए सब स्कन्धों का अन्तिम कारण परमाणु है।

सुहृमा सव्वलोगम्मि, लोगदेसे य बायरा।

इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं॥१२॥

कठिन शब्दार्थ - सुहृमा - सूक्ष्म, सव्वलोगम्मि - समस्त लोक में, लोगदेसे - लोक के एक देश में, बायरा - बादर, कालविभागं - कालविभाग, वुच्छं - कहूंगा।

भावार्थ - सूक्ष्म समस्त लोक में है और बादर लोक के एक देश में हैं, इसके आगे उनका चार प्रकार का कालविभाग कहूंगा।

विवेचन - टीकावाली प्रति में तथा जम्बूविजयजी वाली प्रति में ग्यारहवीं गाथा के छह चरण दिये हैं अर्थात् डेढ गाथा दी है, वह इस प्रकार है -

एगत्तेण पुहुत्तेणं, स्वंधा य परमाणु य।

लोएगदेसे लोए य, भइयव्वा ते उ खित्तओ।

एत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं॥११॥

स्वाध्याय माला में -

'सुहृमा सव्वलोगम्मि, लोगदेसे य बायरा।'

लिखा है किन्तु इतना अंश उपरोक्त दोनों प्रतियों में तथा श्री मधुकर जी वाली तथा पूज्य घासीलालजी म. सा. वाली प्रति में भी उपरोक्त पाठ नहीं है तथा टीकाकार ने भी इसका अर्थ नहीं किया क्योंकि जब मूल ही नहीं दिया है तो अर्थ देवे ही कैसे?

संतइं पण्य तेऽणाइ, अपज्जवसिया वि य।

ठिइं पडुच्च साइया, सपज्जवसिया वि य॥१३॥

कठिन शब्दार्थ - ठिइं - स्थिति, पडुच्च - प्रतीत्य-अपेक्षा, सपज्जवसिया - सपर्यवसित।

भावार्थ - वे स्कन्ध और परमाणु सन्तति (प्रवाह) की अपेक्षा अनादि और अपर्यवसित (अनन्त) हैं और स्थिति की प्रतीत्य - अपेक्षा सादि - आदि सहित और सपर्यवसित (सान्त-अनन्त सहित) हैं।

असंखकालमुक्कोसं, इक्कं समयं जहण्णयं।

अजीवाण य रूवीणं, ठिई एसा वियाहिया ॥१४॥

कठिन शब्दार्थ - असंखकालं - असंख्यातकाल, उक्कोसं - उत्कृष्ट, इक्कं समयं - एक समय।

भावार्थ - रूपी अजीवों की जघन्य स्थिति एक समय और उत्कृष्ट असंख्यात काल है यह स्थिति कही गई है।

अणंतकालमुक्कोसं, इक्कं समयं जहण्णयं।

अजीवाण य रूवीणं, अंतरेयं वियाहियं ॥१५॥

कठिन शब्दार्थ - अणंतकालं - अनन्तकाल, अंतरेयं - अंतर।

भावार्थ - रूपी अजीवों का जघन्य अन्तर एक समय है और उत्कृष्ट अनन्त काल कहा गया है।

वण्णओ गंधओ चेव, रसओ फासओ तथा।

संठाणओ य विण्णेओ, परिणामो तेसिं पंचहा ॥१६॥

कठिन शब्दार्थ - वण्णओ - वर्ण से, गंधओ - गंध से, रसओ - रस से, फासओ - स्पर्श से, संठाणओ - संस्थान से, विण्णेओ - जानना चाहिये, परिणामो - परिणाम, तेसिं - उनका, पंचहा - पांच प्रकार का।

भावार्थ - वर्ण से, गन्ध से, रस से, स्पर्श से और संस्थान की अपेक्षा से उन रूपी अजीव द्रव्यों के पांच प्रकार का परिणाम जानना चाहिए ॥१६॥

वण्णओ परिणया जे उ, पंचहा ते पक्कित्थिया।

किण्हा णीला य लोहिया, हालिदा सुक्किला तथा ॥१७॥

कठिन शब्दार्थ - परिणया - परिणत, पक्कित्थिया - कहे गये हैं, किण्हा - कृष्ण, णीला - नीला, लोहिया - लोहित, हालिदा - हरिद्रा, सुक्किला - शुक्ल।

भावार्थ - वर्ण से परिणत हुए, जो रूपी अजीव हैं वे पांच प्रकार के कहे गये हैं कृष्ण-काला, नीला, लोहित - लाल, हरिद्रा - पीला और शुक्ल - श्वेत।

विवेचन - कृष्ण - काला - काजल की तरह। नीला - मोर की गर्दन की तरह। लोहित - लाल - हिंगलु की तरह। पीत - पीला-हल्दी के समान। शुक्ल - सफेद-शंख की तरह।

गंधओ परिणया जे उ, दुविहा ते वियाहिया।

सुब्धिगंध परिणामा, दुब्धिगंधा तहेव य॥१८॥

कठिन शब्दार्थ - सुब्धिगंध परिणामा - सुरभिगंध परिणाम वाले, दुब्धिगंधा - दुरभिगंध। भावार्थ - गन्ध रूप से परिणत हुए जो रूपी अजीव हैं वे दो प्रकार के कहे गये हैं, सुरभिगन्ध परिणाम वाले (सुगन्ध रूप) और दुरभिगन्ध परिणाम वाले (दुर्गन्ध रूप)।

विवेचन - सुरभिगन्ध - चन्दन की तरह। दुरभिगन्ध - दुर्गन्ध लहसुन, कांटे की तरह।

रसओ परिणया जे उ, पंचहा ते पकित्तिया।

तित्त-कडुय-कसाया, अंबिला महुरा तहा॥१९॥

कठिन शब्दार्थ - तित्त - तीखा, कडुय - कडुआ, कसाया - कषैला, अंबिला - आम्ल, महुरा - मधुर।

भावार्थ - रस रूप से परिणत हुए जो रूपी अजीव हैं, वे पांच प्रकार के कहे गये हैं, तीखा, कडुआ, कषैला, आम्ल (खट्टा) और मधुर (मीठा)।

विवेचन - तीखा - जैसे त्रिकटुक (सुंठ, पीपर और कालीमिर्च)। कटुक - कडुआ-कडुआ तुम्बा, रोहिणी की कडवी छाल। कसाया - कषैला - आंवला, कच्चा आम, कविठ। आम्ल - खट्टा - इमली आदि। मधुर - मीठा - गुड़, शक्कर आदि की तरह। देश विशेष की अपेक्षा इन रसों के उदाहरणों में फरक भी हो जाता है। जैसे कि - आयुर्वेद में काली मिर्च आदि को कटु तथा नीम आदि रस को तीखा कहा है।

फासओ परिणया जे उ, अड्डहा ते पकित्तिया।

कक्खडा मउया चेव, गुरुया लहुया तहा॥२०॥

सीया उण्हा य णिद्धा य, तहा लुक्खा य आहिया।

इय फास-परिणया एए, पुग्गला समुदाहिया॥२१॥

कठिन शब्दार्थ - कक्खडा - कर्कश, मउया - मृदु, गुरुया - गुरु, लहुया - लघु, सीया - शीत, उण्हा - उष्ण, णिद्धा - स्निग्ध, लुक्खा - रूक्ष, फास-परिणया - स्पर्श रूप से परिणत, पुग्गला - पुद्गल, समुदाहिया - कहे गये हैं।

भावार्थ - स्पर्श रूप से परिणत हुए जो रूपी अजीव हैं, वे आठ प्रकार के कहे गये हैं, कर्कश (खुरदरा), मृदु - कोमल (सुंआला), गुरु - भारी, लघु - हलका, शीत - ठंडा, उष्ण- गरम, स्निग्ध (चिकना) और रूक्ष (रूखा) इस प्रकार स्पर्श रूप से परिणत हुए ये पुद्गल कहे गये हैं।

विवेचन - कर्कश - वज्र (हीरे) की तरह कठोर। मृदु - फूल की तरह कोमल। गुरु - लोहे, पारद की तरह भारी। लघु - आकडा की रई (अर्कतूल) की तरह हलका। शीत - पानी या बर्फ की तरह ठण्डा। उष्ण - अग्नि की तरह गरम। स्निग्ध - घी और तैल की तरह चिकना। रूक्ष - राख की तरह लुखा।

संठाणओ परिणया जे उ, पंचहा ते पकित्तिया।

परिमंडला य वट्टा य, तंसा चउरंसमायया॥२२॥

कठिन शब्दार्थ - परिमंडला - परिमंडल, वट्टा - वृत्त, तंसा - त्र्यस्र, चउरसं - चतुरस्र, आयया - आयत।

भावार्थ - संस्थान रूप से परिणत हुए जो रूपी अजीव हैं, वे पांच प्रकार के कहे गये हैं। यथा परिमंडल, वृत्त, त्र्यस्र, चतुरस्र और आयत (लम्बा) संस्थान वाले।

विवेचन - अजीव के पांच संस्थान कहे गये हैं। यथा - परिमंडल - चूड़ी की तरह गोल जिसके बीच में छेद हो। वृत्त - लड्डु या झालर की तरह गोल। त्र्यस्र - सिंघाडे की तरह तीन कोने वाला। चतुरस्र - चार कोने वाला बाजोट की तरह। आयत - दण्डे की तरह लम्बा। ये अजीव के पांच संस्थान हैं। जीव के तो छह संस्थान होते हैं वे इनसे भिन्न हैं।

वण्णओ जे भवे किण्हे, भइए से उ गंधओ।

रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओ वि य॥२३॥

कठिन शब्दार्थ - किण्हे - कृष्ण, भइए - भजना।

भावार्थ - वर्ण की अपेक्षा जो कृष्ण - काला होता है, उसकी गंध की अपेक्षा भजना समझनी चाहिए और इसी प्रकार रस की अपेक्षा, स्पर्श की अपेक्षा और संस्थान की अपेक्षा भी भजना समझनी चाहिए।

विवेचन - जहाँ वर्ण है वहाँ गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की भजना है अर्थात् समुच्चय रूप से कृष्ण वर्ण के पुद्गल स्कन्ध में - २ गन्ध, ५ रस, ८ स्पर्श और ५ संस्थान, इस प्रकार २० बोलों की भजना (अपेक्षित स्थिति) समझनी चाहिए।

वण्णओ जे भवे णीले, भइए से उ गंधओ।

रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओ वि य॥२४॥

भावार्थ - वर्ण की अपेक्षा जो पुद्गल नीला होता है, उसकी गन्ध से, रस से, स्पर्श से और संस्थान से भी भजना समझनी चाहिए (उसमें २ गन्ध, ५ रस, ८ स्पर्श और ५ संस्थान इस प्रकार २० बोलों की भजना समझनी चाहिए)।

वण्णओ लोहिए जे उ, भइए से उ गंधओ।

रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओ वि य॥२५॥

भावार्थ - वर्ण की अपेक्षा जो पुद्गल लोहित - लाल है, उसकी गन्ध से, रस से, स्पर्श से और संस्थान से भी भजना समझनी चाहिए।

वण्णओ पीयए जे उ, भइए से उ गंधओ।

रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओ वि य॥२६॥

भावार्थ - वर्ण की अपेक्षा जो पुद्गल पीला है, उसकी गन्ध से, रस से, स्पर्श से और संस्थान से भी भजना समझनी चाहिए।

वण्णओ सुक्किले जे उ, भइए से उ गंधओ।

रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओ वि य॥२७॥

भावार्थ - वर्ण की अपेक्षा जो पुद्गल शुक्ल (श्वेत) है, उसकी गन्ध से, रस से, स्पर्श से और संस्थान से भी भजना समझनी चाहिए।

गंधओ जे भवे सुब्भी, भइए से उ वण्णओ।

रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओ वि य॥२८॥

भावार्थ - गन्ध की अपेक्षा जो पुद्गल सुरभि - सुगन्ध वाला होता है उसकी वर्ण से, रस से, स्पर्श से और संस्थान से भी भजना समझनी चाहिए अर्थात् सुगन्ध वाले पुद्गल में पांच वर्ण, पांच रस, आठ स्पर्श और पांच संस्थान, इन २३ बोलों की भजना है।

गंधओ जे भवे दुब्भी, भइए से उ वण्णओ।

रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओ वि य॥२९॥

भावार्थ - गन्ध की अपेक्षा जो पुद्गल दुरभि - दुर्गन्ध वाला होता है, उसकी वर्ण से, रस, स्पर्श और संस्थान से भी भजना समझनी चाहिए अर्थात् दुर्गन्ध वाले पुद्गल में पांच वर्ण, पांच रस, आठ स्पर्श और पांच संस्थान, इन २३ बोलों की भजना है।

रसओ तित्तए जे उ, भइए से उ वण्णओ।

गंधओ फासओ चेव, भइए संठाणओ वि य॥३०॥

भावार्थ - रस की अपेक्षा जो पुद्गल तिक्त - तीखा है, उसकी वर्ण से, गन्ध से, स्पर्श से और संस्थान से भी भजना समझनी चाहिए अर्थात् पांच वर्ण, दो गंध, आठ स्पर्श और पांच संस्थान, इन २० बोलों की भजना है।

रसओ कडुए जे उ, भइए से उ वण्णओ।

गंधओ फासओ चेव, भइए संठाणओ वि य॥३१॥

भावार्थ - रस की अपेक्षा जो पुद्गल कटुक - कडुआ है, उसकी वर्ण से, गंध से, स्पर्श से और संस्थान से भी भजना समझनी चाहिए।

रसओ कसाए जे उ, भइए से उ वण्णओ।

गंधओ फासओ चेव, भइए संठाणओ वि य॥३२॥

भावार्थ - रस की अपेक्षा जो पुद्गल कषैला है, उसकी वर्ण से, गन्ध से, स्पर्श से और संस्थान से भजना समझनी चाहिए।

रसओ अंबिले जे उ, भइए से उ वण्णओ।

गंधओ फासओ चेव, भइए संठाणओ वि य॥३३॥

भावार्थ - रस की अपेक्षा जो पुद्गल अम्ल (खट्टा) है, उसकी वर्ण से, गन्ध से, स्पर्श से और संस्थान से भी भजना समझनी चाहिए।

रसओ महरए जे उ, भइए से उ वण्णओ।

गंधओ फासओ चेव, भइए संठाणओ वि य॥३४॥

भावार्थ - रस की अपेक्षा जो पुद्गल मधुर है, उसकी वर्ण से, गन्ध से, स्पर्श से और संस्थान से भी भजना समझनी चाहिए।

फासओ कक्खडे जे उ, भइए से उ वण्णओ।

गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओ वि य॥३५॥

भावार्थ - स्पर्श की अपेक्षा जो पुद्गल कर्कश (कठोर) स्पर्श वाला है, उसकी वर्ण से, गन्ध से, रस से और संस्थान से भी भजना समझनी चाहिए अर्थात् पांच वर्ण, दो गंध, पांच रस और पांच संस्थान, इन १७ बोलों की भजना समझनी चाहिए। जहाँ ६ स्पर्शों की विवक्षा की गई है वहाँ २३ बोलों की भजना समझनी चाहिए।

फासओ मउए जे उ, भइए से उ वण्णओ।

गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओ वि य॥३६॥

भावार्थ - स्पर्श की अपेक्षा जो पुद्गल मृदु (कोमल) स्पर्श वाला है, उसकी वर्ण से, गंध से, रस से और संस्थान से भी भजना समझनी चाहिए।

फासओ गुरुए जे उ, भइए सै उ वण्णओ।

गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओ वि य॥३७॥

भावार्थ - स्पर्श की अपेक्षा जो पुद्गल गुरु (भारी) स्पर्श वाला है, उसकी वर्ण से गन्ध से, रस से और संस्थान से भी भजना समझनी चाहिए।

फासओ लहुए जे उ, भइए से उ वण्णओ।

गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओ वि य॥३८॥

भावार्थ - स्पर्श की अपेक्षा जो पुद्गल लघु - हलका है, उसकी वर्ण से, गंध से, रस से और संस्थान से भी भजना समझनी चाहिए।

फासओ सीयए जे उ, भइए से उ वण्णओ।

गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओ वि य॥३९॥

भावार्थ - स्पर्श की अपेक्षा जो पुद्गल शीतल है, उसकी वर्ण से, गंध से, रस और संस्थान से भी भजना समझनी चाहिए।

फासओ उण्हए जे उ, भइए से उ वण्णओ।

गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओ वि य॥४०॥

भावार्थ - स्पर्श की अपेक्षा जो पुद्गल उष्ण है, उसकी वर्ण से, गन्ध से, रस से और संस्थान से भी भजना समझनी चाहिए।

फासओ णिद्धए जे उ, भइए से उ वण्णओ।

गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओ वि य॥४१॥

भावार्थ - स्पर्श की अपेक्षा जो पुद्गल स्निग्ध (चिकना) है, उसकी वर्ण से, गन्ध से, रस से और संस्थान से भी भजना समझनी चाहिए।

फासओ लुक्खए जे उ, भइए से उ वण्णओ।

गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओ वि य॥४२॥

भावार्थ - स्पर्श की अपेक्षा जो पुद्गल रूक्ष स्पर्श वाला है, उसकी वर्ण से, गन्ध से, रस से और संस्थान से भी भजना समझनी चाहिए, इस प्रकार स्पर्श के कुल १३६ भेद होते हैं।

विवेचन - यहाँ पर स्पर्श के १३६ भेद ही दिये हैं किन्तु आठ स्पर्श में से दो स्पर्श ही विरोधी होते हैं। इस अपेक्षा से एक स्पर्श के २३ भेद लेना चाहिये। वैसा लेने से स्पर्श के $२३ \times ८ = १८४$ भेद होते हैं।

परिमंडल-संठाणे, भइए से उ वण्णओ।

गंधओ रसओ चेव, भइए फासओ वि य॥४३॥

भावार्थ - परिमंडल संस्थान वाले पुद्गल स्कन्ध में वर्ण से, गन्ध से, रस से और स्पर्श से भी भजना समझनी चाहिए अर्थात् पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस और आठ स्पर्श, इन बीस बोलों की भजना होती है।

संठाणओ भवे वट्टे, भइए से उ वण्णओ।

गंधओ रसओ चेव, भइए फासओ वि य॥४४॥

भावार्थ - संस्थान की अपेक्षा जो पुद्गल वृत्ताकार (गोलाकार) होता है, उसकी वर्ण से, गन्ध से, रस से और स्पर्श से भी भजना समझनी चाहिए।

संठाणओ भवे तंसे, भइए से उ वण्णओ।

गंधओ रसओ चेव, भइए फासओ वि य॥४५॥

भावार्थ - संस्थान की अपेक्षा जो पुद्गल त्र्यस्र (त्रिकोण) होता है, उसकी वर्ण से, गंध से, रस से और स्पर्श से भी भजना समझनी चाहिए।

संठाणओ जे चउरंसे, भइए से उ वण्णओ।

गंधओ रसओ चेव, भइए फासओ वि य॥४६॥

भावार्थ - संस्थान की अपेक्षा जो पुद्गल चतुरस्र (चतुष्कोण) होता है, उसकी वर्ण से, गन्ध से, रस से और स्पर्श से भी भजना समझनी चाहिए।

जे आययसंठाणे, भइए से उ वण्णओ।

गंधओ रसओ चेव, भइए फासओ वि य॥४७॥

भावार्थ - जो पुद्गल-स्कन्ध आयत संस्थान वाला है, उसकी वर्ण से, गन्ध से, रस से और स्पर्श से भी भजना समझनी चाहिए।

विवेचन - वर्ण के १००, गन्ध के ४६, रस के १००, स्पर्श के १३६ और संस्थान के १००, कुल मिलाकर ४८२ भेद होते हैं। किन्तु पन्नवणा सूत्र की वृत्ति में ५३० भेद बतलाये हैं। वहाँ पर प्रत्येक स्पर्श के २३ भेद माने गये हैं, तब आठ स्पर्शों के १८४ भेद होते हैं। इस प्रकार ५३० भेद बन जाते हैं।

एसा अजीव-विभत्ती, समासेण वियाहिया।

इत्तो जीवविभत्तिं, वुच्छामि अणुपुव्वसो ॥४८॥

कठिन शब्दार्थ - एसा - यह, अजीव-विभत्ती - अजीव विभक्ति, समासेण - संक्षेप से, जीवविभत्तिं - जीव विभक्ति को, वुच्छामि - कहूँगा, अणुपुव्वसो - अनुक्रम से।

भावार्थ - यह अजीव-विभक्ति (विभाग) संक्षेप से कहा गया है, इसके आगे अनुपूर्व-क्रमपूर्वक जीव विभक्ति (जीव द्रव्य का विभाग) कहूँगा।

जीव का स्वरूप

संसारत्था य सिद्धा य, दुविहा जीवा वियाहिया।

सिद्धा णेगविहा वुत्ता, तं मे कित्तयओ सुण ॥४९॥

कठिन शब्दार्थ - संसारत्था - संसारस्थ - संसारी, सिद्धा - सिद्ध, अणेगविहा - अनेक प्रकार के, वुत्ता - कहे गये हैं, तं - उनका, कित्तयओ - कीर्तन - वर्णन करता हूँ, सुण - सुनो।

भावार्थ - जीव दो प्रकार के कहे गये हैं, संसारस्थ - संसारी और सिद्ध। सिद्ध अनेक प्रकार के कहे गये हैं। उनका कीर्तन - वर्णन किया जाता है, अतः तुम मुझ से सुनो।

विवेचन - जीव के दो भेद हैं - १. संसारस्थ - संसारी और २. सिद्ध। जो चतुर्गति रूप या कर्मों के कारण जन्म-मरण रूप संसार में स्थित हैं, वे संसारी कहलाते हैं। जो जन्म-मरण से रहित होते हैं, जिनमें कर्म बीज (राग-द्वेष) और कर्म फलस्वरूप चार गति, शरीर आदि नहीं होते जो सभी दुःखों से रहित होकर सिद्धि गति में विराजमान होते हैं, वे सिद्ध कहलाते हैं।

सिद्ध जीवों का स्वरूप

इत्थी-पुरिस-सिद्धा य, तहेव य णपुंसगा।

सल्लिंगे अण्णल्लिंगे य, गिहिल्लिंगे तहेव य ॥५०॥

कठिन शब्दार्थ - इत्थी - स्त्रीलिंग, पुरिस - पुरुषलिंग, सिद्धा - सिद्ध, णपुंसगा - नपुंसकलिंग, सलिंगे - स्वलिंग, अण्णलिंगे - अन्यलिंग, गिहिलिंगे - गृहस्थ लिंग।

भावार्थ - स्त्रीलिंग-सिद्ध, पुरुषलिंग-सिद्ध, नपुंसकलिंग-सिद्ध, स्वलिंग-सिद्ध, अन्यलिंग-सिद्ध, गृहस्थलिंग-सिद्ध और तीर्थसिद्ध, अतीर्थसिद्ध आदि सिद्धों के भेद हैं।

विवेचन - दिग्म्बर सम्प्रदाय स्त्री की मुक्ति नहीं मानती किन्तु श्वेताम्बर आगमों में स्त्री की मुक्ति होने का स्पष्ट वर्णन है। जैसा कि यहाँ बतलाया गया है। गृहस्थ वेश में रहते हुए या अन्य मतावलम्बियों के वेश में रहते हुए किसी साधु-साध्वी का सम्पर्क होने पर या जातिस्मरण ज्ञान होने से पूर्वभव को देखने पर केवली प्ररूपित धर्म पर श्रद्धा दृढ़ होकर भाव चारित्र की प्राप्ति हो जाय और क्षपक श्रेणि पर चढ़ कर केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाय और उसी समय आयुष्य भी समाप्त हो जाय, वेश परिवर्तन करने जितना समय न रहे तो उसी वेश में सिद्ध हो सकता है। जैसे कि - मरुदेवी माता तथा वत्कल चीरी (अन्यलिंग सिद्ध)। गृहस्थ लिंग या अन्य लिंग में केवलज्ञान हो जाय और आयुष्य शेष रहे तो उस वेश को छोड़ कर स्वलिंग अवश्य धारण करते हैं जैसे - भरत चक्रवर्ती।

उक्कोसोगाहणाए य, जहण्णमज्झिमाइ य।

उहं अहे य तिरियं च, समुद्दम्मि जलम्मि य॥५१॥

कठिन शब्दार्थ - उक्कोसोगाहणाए - उत्कृष्ट अवगाहना में, जहण्ण - जघन्य, मज्झिमाइ - मध्यम, उहं - ऊर्ध्वलोक, अहे - अधोलोक, तिरियं - तिर्यग्लोक, समुद्दम्मि-समुद्र में, जलम्मि - जलाशय में।

भावार्थ - जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट प्रकार की अवगाहना में सिद्ध हो सकते हैं। ऊर्ध्वलोक में (मेरु चूलिका आदि पर) अधोलोक और तिर्यग्लोक में तथा समुद्र में और जलाशय में सिद्ध हो सकते हैं।

विवेचन - प्रतिक्रमण की पुस्तक में सिद्धों के पन्द्रह भेद और चौदह प्रकार का कथन आता है। पन्द्रह भेदों के नाम तो (तीर्थसिद्ध आदि) गिना दिये हैं किन्तु वहाँ १४ प्रकार नहीं बताये गये हैं। वे चौदह प्रकार यहाँ दो गाथाओं में बतलाये गये हैं।

छह प्रकार पचासवीं गाथा में बतलाये गये हैं, शेष आठ प्रकार ५१ वीं गाथा में बतलाये गये हैं - व्यक्तिशः विभाग को भेद कहते हैं। तरीका, रीति को प्रकार कहते हैं।

दस य णपुंसएसुं, बीसं इत्थियासु य।

पुरिसेसु य अट्टसयं, समएणेगेण सिज्झइ ॥५२॥

कठिन शब्दार्थ - णपुंसएसुं - नपुंसक लिंग में, इत्थियासु - स्त्रीलिंग में, पुरिसेसु - पुरुषलिंग में, अट्टसयं - एक सौ आठ, समएण - समय में, एणेण - एक, सिज्झइ - सिद्ध होते हैं।

भावार्थ - नपुंसक-लिंग में दस, स्त्रीलिंग में बीस और पुरुषलिंग में एक सौ आठ एक समय में सिद्ध हो सकते हैं।

चत्तारि य गिहिलिंगे, अण्णलिंगे दसेव य।

सलिंगेण अट्टसयं, समएणेगेण सिज्झइ ॥५३॥

कठिन शब्दार्थ - गिहिलिंगे - गृहस्थलिंग में, अण्णलिंगे - अन्य लिंग में, सलिंगेण-स्वलिंग से।

भावार्थ - गृहस्थ-लिंग में चार, अन्यलिंग में दस और स्वलिंग से एक सौ आठ एक समय में सिद्ध हो सकते हैं।

उक्कोस्सोगाहणाए य, सिज्झंते जुगवं दुवे।

चत्तारि जहण्णाए, जवमज्झुत्तरं सयं ॥५४॥

कठिन शब्दार्थ - सिज्झंते - सिद्ध हो सकते हैं, जुगवं - एक साथ, दुवे - दो, जहण्णाए - जघन्य से, जवमज्झ - जवमध्य - मध्यम अवगाहना में, अहुत्तरं सयं - एक सौ आठ।

भावार्थ - उत्कृष्ट अवगाहना से दो, जघन्य अवगाहना से चार और जवमध्य (मध्यम) अवगाहना में एक सौ आठ युगपत् - एक समय में एक साथ सिद्ध हो सकते हैं।

चउरुह्लोए य दुवे समुद्दे, तओ जले वीसमहे तहेव य।

सयं च अहुत्तरं तिरिय लोए, समएणेगेण सिज्झइ धुवं ॥५५॥

कठिन शब्दार्थ - चउरुह्लोए - ऊर्ध्वलोक में चार, जले - जलाशयो में, वीसं - बीस, अहे - अधोलोक में, तिरिय लोए - तिर्यग्लोक में।

भावार्थ - ऊर्ध्वलोक में (मेरु चूलिका आदि पर) चार, समुद्र से दो, नदी जलाशय आदि के जल में तीन, अधोलोक में बीस और तिर्यग्लोक में एक सौ आठ एक समय में निश्चय ही सिद्ध हो सकते हैं।

कहिं पडिहया सिद्धा, कहिं सिद्धा पइडिया।

कहिं बौदिं चइत्ताणं, कत्थ गंतूण सिज्झइ॥५६॥

कठिन शब्दार्थ - कहिं - कहां, पडिहया - प्रतिहत, सिद्धा - सिद्ध, पइडिया - प्रतिष्ठित, बौदिं - शरीर को, चइत्ताणं - छोड़ कर, कत्थ - कहां, गंतूण - जा कर।

भावार्थ - सिद्ध ऊपर जा कर कहाँ प्रतिहत - रुके हैं? सिद्ध कहाँ प्रतिष्ठित - स्थित हैं और कहाँ शरीर को छोड़कर, कहाँ जा कर सिद्ध होते हैं?

विवेचन - प्रस्तुते गाथा में सिद्धों के गति निरोध, उनकी अवस्थिति, उनके शरीर त्याग तथा उनके सिद्धिस्थान से संबंधित चार प्रश्न किये गये हैं। यथा - १. सिद्ध परमात्मा कहां जा कर सकते हैं? २. कहां ठहरते हैं? ३. अंतिम शरीर त्याग कहां करते हैं? ४. सिद्धि गति कहां है?

अलोए पडिहया सिद्धा, लोयगगे थ पइडिया।

इहं बौदिं चइत्ताणं, तत्थ गंतूण सिज्झइ॥५७॥

कठिन शब्दार्थ - अलोए - अलोक में, लोयगगे - लोक के अग्रभाग में।

भावार्थ - सिद्ध, अलोक में (लोक के अन्त तक) पहुँच कर प्रतिहत - रुके हैं और लोक के अग्रभाग में प्रतिष्ठित - स्थित हैं। इस तिर्यग्लोक में शरीर को छोड़ कर लोक के अग्रभाग में जा कर सिद्ध होते हैं।

विवेचन - अलोक में सिर्फ आकाशास्तिकाय है। गति सहायक धर्मास्तिकाय नहीं है। इसलिए सिद्ध भगवन्तों की गति अलोक में नहीं हो सकती है।

बारसहिं जोयणेहिं, सव्वट्टस्सुवरिं भवे।

ईसिपब्भार-णामा उ, पुढवी छत्त-संठिया॥५८॥

कठिन शब्दार्थ - बारसहिं - बारह, जोयणेहिं - योजन, सव्वट्टस्स - सर्वार्थसिद्ध विमान के, उवरिं - ऊपर, ईसिपब्भार-णामा - ईषत् प्राग्भार नाम वाली, पुढवी - पृथ्वी, छत्त-संठिया - छत्र के आकार की।

भावार्थ - सर्वार्थसिद्ध विमान के बारह योजन, ऊपर उत्तान छत्र के आकार की ईषत्प्राग्भारा नाम वाली पृथ्वी है।

विवेचन - प्रस्तुत गाथा में आए हुए 'छत्त-संठिया' शब्द का आशय 'उत्तान किए हुए (ऊपर को उल्टे ताने हुए) छत्र के आकार में अर्थात् - "☺" इस आकार में।'

पणयालसयसहस्सा, जोयणाणं तु आयया।

तावइयं चैव वित्थिण्णा, तिगुणो साहिय परिरओ ॥५६॥

कठिन शब्दार्थ - पणयालसयसहस्सा - पैंतालीस लाख, जोयणाणं - योजन, आयया-लम्बी, तावइयं - उतनी ही, वित्थिण्णा - विस्तीर्ण, तिगुणा - तीन गुणी, साहिय - कुछ अधिक, परिरओ - परिधि।

भावार्थ - वह ईषत्प्राभारा पृथ्वी पैंतालीस लाख योजन लम्बी है और उतनी ही अर्थात् पैंतालीस लाख योजन ही विस्तीर्ण (चौड़ी) है और उसकी परिधि कुछ अधिक तीन गुणी है अर्थात् एक करोड़ बयालीस लाख तीस हजार दो सौ उनपचास (१४२३०२४६) योजन की परिधि है। जैसा कि कहा है -

एगा जोयण कोडी, बायालीसं भवे सयसहस्सा।

तीसा चैव सहस्सा, दो चैव सया अउणपन्ना ॥१॥

थोकड़े वाले प्रश्न करते हैं कि 'चार पैंताला और चार लक्खा कौन से हैं?'

उत्तर - इस लोक में चार वस्तुएं पैंतालीस लाख योजन लम्बी और ४५ लाख योजन चौड़ी हैं। यथा - १. पहली नरक का पहला पाथरा (प्रस्तट) सीमन्तक नाम वाला। २. समय क्षेत्र (मनुष्य लोक, ढाई द्वीप, दो समुद्र) ३. पहले सुधर्म देवलोक का उड्ड विमान ४. ईषत्प्राभारा पृथ्वी (सिद्ध शिला)। इस लोक में एक लाख लम्बा और एक लाख ही चौड़ा ऐसे चार पदार्थ हैं यथा - १. सातवीं नरक का अप्रतिष्ठान नामक नरकावास २. जम्बूद्वीप ३. पहले सुधर्मनामक देवलोक का पालक यान विमान ४. सर्वार्थसिद्ध देवलोक।

अट्टजोयण-बाहल्ला, सा मज्झम्मि वियाहिया।

परिहायंती चरिमंते, मच्छिपत्ताउ तणुयरी ॥६०॥

कठिन शब्दार्थ - अट्टजोयण - आठ योजन, बाहल्ला - स्थूल (मोटी), मज्झम्मि - मध्य में, परिहायंती - चारों ओर से कम होती हुई, चरिमंते - चरमान्त में, मच्छिपत्ताउ - मक्खी की पांख से भी, तणुयरी - पतली (तनुतरी)।

भावार्थ - वह सिद्धशिला मध्य में आठ योजन मोटी कही गई है और चारों ओर से कम होती हुई अन्त में मक्खी के पंख से भी तनुतरी-पतली हो गई है।

अज्जुणसुवण्णगमई, सा पुढवी णिम्मला सहावेणं।

उत्ताणगच्छत्तयसंठिया य, भणिया जिणवरेहिं ॥६१॥

कठिन शब्दार्थ - अज्जुणसुवण्णगमई - अर्जुन सुवर्णकमयी-श्वेत स्वर्णमयी, गिम्मला-निर्मल, सहावेणं - स्वभाव से, उत्ताणगच्छत्तयसंठिया - उत्तान (उलटे) छत्र के आकार की, भणिया - कही गई है, जिणवरेहिं - जिनेन्द्र देवों ने।

भावार्थ - वह ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी - अर्जुनसुवर्णकमयी - श्वेत सोनेमयी है और स्वभाव से ही निर्मल हैं और उत्तान (ऊपर मुख वाले) छत्र के समान है। इस प्रकार जिनेन्द्रों द्वारा कही गई है।

विवेचन - सोने का रंग प्रायः पीला होता है किन्तु अर्जुन सोना चांदी से भी विशेष सफेद और चमकदार होता है। वह पीले सोने की अपेक्षा दुगुनी तिगुनी कीमत वाला होता है। उसके आभूषणों में हीरा, पन्ना, माणक आदि जड़े जाते हैं। वर्तमान में सफेद सोने को प्लेटिनम के रूप में कहा जाता है।

संखंककुंदसंकासा, पंडुरा गिम्मला सुहा।

सीयाए जोयणे तत्तो, लोयंतो उ वियाहिओ ॥६२॥

कठिन शब्दार्थ - संखंककुंदसंकासा - शंख, अंकरत्न और कुन्द पुष्प के समान, पंडुरा - श्वेत, सुहा - शुभ, सीयाए - सीता से, लोयंतो उ - लोक का अंत।

भावार्थ - वह शंख, अंकरत्न और कुन्द फूल के समान, पाण्डुरा - श्वेत, निर्मल और शुभ है। उस सीता (ईषत्प्राग्भारा) पृथ्वी से एक योजन ऊपर लोक का अन्त कहा गया है।

विवेचन - ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के बारह पर्यायवाची नाम हैं यथा - १. ईषत् २. ईषत्प्राग्भारा ३. तन्वी ४. तनुतरा ५. सिद्धि ६. सिद्धालय ७. मुक्ति ८. मुक्तालय ९. ब्रह्म १०. ब्रह्मावतंसक ११. लोक प्रतिपूर्ण १२. लोकाग्र चूलिका (समवायाङ्ग १२)। आवश्यक निर्युक्ति की गाथा ९६० में - 'सीयाए जोयणम्मि लोयंतो' - इसमें आये हुए 'सीयाए' शब्द का अर्थ - इसकी वृत्ति में आचार्य हरिभद्र एवं आचार्य मलयगिरि ने - 'ईषत्प्राग्भारा' का दूसरा नाम 'सीता' किया है। जबकि प्रज्ञापना पद २ की टीका (पत्रांक १०७) में आचार्य मलयगिरिजी - 'सीयाए' का अर्थ 'निःश्रेणिगत्या' कर रहे हैं। ('सीयाए' इति निःश्रेणिगत्या योजेने लोकान्तो भवति।) यही अर्थ उचित प्रतीत होता है। क्योंकि भगवती सूत्र के शतक १४ के उद्देशक ८ में सिद्धशिला से अलोक की दूरी देशोन योजन बताई है। जो निःश्रेणि गति (कुछ तिछें से) एक योजन हो जाती है। इसलिए - उत्तराध्ययन सूत्र (अ. ३६ गाथा ६२ वीं) आदि में आए हुए 'सीयाए' का अर्थ 'निःश्रेणि गति' करना ही आगम सम्मत है। समवायाङ्ग (१२वां समवाय) उववाईय और पण्णवणा सूत्र (पद २) में - सिद्धशिला के बारह (१२) नाम दिए हैं। उसमें 'सीयाए' इस प्रकार का नाम उपलब्ध नहीं होता है। अतः इस नामान्तर की कल्पना करना उचित प्रतीत नहीं होता है।

जोयणस्स उ जो तत्थ, कोसो उवरिमो भवे।

तस्स कोसस्स छब्भाए, सिद्धाणोगाहणा भवे ॥६३॥

कठिन शब्दार्थ - जोयणस्स - योजन के, कोसो - कोस, उवरिमो - ऊपर वाला, कोसस्स - कोस के, छब्भाए - छठे भाग में, सिद्धाणोगाहणा - सिद्धों की अवगाहना।

भावार्थ - वहाँ योजन का जो ऊपर वाला कोस है, उस कोस के छठे भाग में सिद्धों की अवगाहना (अवस्थिति) है।

विवेचन - सब शाश्वत वस्तुओं का परिमाण प्रमाण अंगुल से बतलाया गया है। किन्तु जो यहाँ पर बतलाया गया है कि - ईषतप्राग्भारा पृथ्वी से एक योजन ऊपर लोक का अन्त होता है। यह ऊपर का एक योजन उत्सेधांगुल से लेना चाहिए। उस योजन के (चार कोस का एक योजन) ऊपर के कोस के छठे भाग में सिद्ध भगवन्तों का अवस्थान है। चार गति के जीवों की अवगाहना उत्सेधांगुल से बताई गई है। मनुष्यों की उत्कृष्ट अवगाहना वाले अर्थात् ५०० धनुष वाले सिद्ध हो सकते हैं। उन ५०० धनुष वालों की अवगाहना सिद्ध अवस्था में ३३३ धनुष और ३२ अङ्गुल (एक हाथ आठ अङ्गुल) ही होती है। यह सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना है। इसलिए ऊपर के एक योजन का परिमाण उत्सेध अङ्गुल से लेने पर यह सिद्धों की अवगाहना ठीक बैठ सकती है। उत्सेध अङ्गुल से प्रमाण अङ्गुल १००० गुणा बड़ा होता है। चौबीस अंगुलों का एक हाथ होता है। चार हाथ का एक धनुष होता है। दो हजार धनुष का एक कोस होता है। इसका छठा भाग ३२ अंगुल युक्त ३३३ धनुष होता है। इतनी जगह में सिद्धों का निवास है।

तत्थ सिद्धा महाभागा, लोगगम्मि पइट्ठिया।

भवप्पपंचओ मुक्का, सिद्धिं वरगइं गया ॥६४॥

कठिन शब्दार्थ - महाभागा - महाभाग्यशाली, लोगगम्मि - लोक के अग्रभाग पर, भवप्पपंचओ - संसार के प्रपंच से, मुक्का - मुक्त, वरगइं - वर गति - श्रेष्ठगति को, गया- प्राप्त।

भावार्थ - संसार के प्रपंच से मुक्त सिद्धिरूप वरगति - श्रेष्ठ गति को प्राप्त हुए महा भाग्यशाली सिद्ध भगवान् वहाँ लोक के अग्रभाग पर प्रतिष्ठित - विराजमान हैं।

उस्सेहो जस्स जो होइ, भवम्मि चरिमम्मि उ।

तिभागहीणा तत्तो य, सिद्धाणोगाहणा भवे ॥६५॥

कठिन शब्दार्थ - उस्सेहो - उत्सेध-ऊँचाई, भवम्मि - भव में, चरिमम्मि - चरम, तिभागहीणा - तीन भाग हीन (कम), सिद्धाणोगाहणा - सिद्धों की अवगाहना,।

भावार्थ - जिन जीवों की चरम-अन्तिम भव में जितनी उत्सेध-ऊँचाई होती है, उससे तीन भाग कम सिद्धों की अवगाहना होती है।

विवेचन - यहाँ पर गाथा ५० में एवं उववाई सूत्र, प्रज्ञापना सूत्र पद २ में सिद्धों की अवगाहना के तीन भेद 'जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट' बताये हैं। अन्यत्र आगमों में भगवती सूत्र आदि में (शतक ६ उद्देशक ३१ - 'सोच्चा, असोच्चा केवली' के वर्णन में) सिद्धों की अवगाहना के दो भेद - 'जघन्य, उत्कृष्ट' किये हैं। अतः अपेक्षा से अवगाहना के तीन भेद एवं दो भेद दोनों प्रकार कहे जा सकते हैं। दोनों तरह से कहना अनुचित नहीं है। तीन भेद कहते समय उसका स्पष्टीकरण कर देना चाहिए। जैसे - जघन्य अवगाहना - १ हाथ, ८ अंगुल - सामान्य केवली (२ हाथ वालों) की अपेक्षा समझना। मध्यम अवगाहना - '४ हाथ, १६ अंगुल' - सामान्य केवली की अपेक्षा मध्यम व तीर्थकर केवली की अपेक्षा जघन्य अवगाहना समझना। उत्कृष्ट अवगाहना - ३३३ धनुष ३२ अंगुल - सभी केवलियों (सामान्य केवली व तीर्थकर केवली) की अपेक्षा उत्कृष्ट अवगाहना समझना। निष्कर्ष यह है कि "अवगाहना के दोनों प्रकार (तीन भेद या दो भेद) आगमों में बताये हुए होने से अपेक्षा विशेष से दोनों प्रकारों से कहने में कोई बाधा नहीं है। दोनों प्रकार उचित ही है।" अतः 'दो भेदों' को सही कहना एवं 'तीन भेदों' को गलत कहना उचित नहीं है। किसी का भी आग्रह नहीं करते हुए आगमोक्त दोनों तरीकों से अवगाहना को बताना उचित ही लगता है।"

एगत्तेण साइया, अपज्जवसिया वि य।

पुहत्तेण अणाइया, अपज्जवसिया वि य॥६६॥

कठिन शब्दार्थ - एगत्तेण - एक (सिद्ध) की अपेक्षा, साइया अपज्जवसिया - सादि अपर्यवसित, पुहत्तेण - पृथक्त्व बहुत से, अणाइया अपज्जवसिया - अनादि अपर्यवसित।

भावार्थ - एक सिद्ध की अपेक्षा सिद्ध सादि (आदि सहित) और अपर्यवसित - अनन्त हैं, पृथक्त्व - बहुत जीवों की अपेक्षा अनादि और अपर्यवसित - अनन्त है।

अरूविणो जीवघणा, णाणदंसण-सण्णिया।

अउलं सुहं संपत्ता, उवमा जस्स णत्थि उ॥६७॥

कठिन शब्दार्थ - अरूविणो - अरूपी, जीवघणा - धनरूप (साधन) जीव, णाणदंसण-

सण्णिया - ज्ञान-दर्शन सहित, अउलं - अतुल, सुहं - सुख को, संपत्ता - प्राप्त, उवमा - उपमा, णत्थि - नहीं।

भावार्थ - वे सिद्ध कैसे हैं - सिद्ध जीव अरूपी, जीव प्रदेशों से सघन, ज्ञान-दर्शन सहित हैं और ऐसे अतुल सुख को प्राप्त हुए हैं, जिसकी उपमा नहीं दी जा सकती अर्थात् सिद्ध भगवान् ऐसे अनन्त आत्मिक सुख युक्त हैं कि जिसकी उपमा संसार के किसी भी पदार्थ से नहीं दी जा सकती।

लोगेगदेसे ते सब्बे, णाणदंसण-सण्णिया।

संसारपारणित्थिण्णा, सिद्धिं वरगइं गया ॥६८॥

कठिन शब्दार्थ - लोगेगदेसे - लोक के एक देश में, णाणदंसणसण्णिया - ज्ञान, दर्शन सञ्ज्ञिता - ज्ञान दर्शन सहित, संसारपारणित्थिण्णा - संसार के पार पहुँचे हुए।

भावार्थ - वे सभी सिद्ध लोक के एक देश (लोक के अग्रभाग) में स्थित हैं, ज्ञान-दर्शन सहित हैं, संसार के पार पहुँचे हुए हैं और सिद्धि रूप वरगति - श्रेष्ठ गति को प्राप्त हुए हैं।

विवेचन - प्रस्तुत गाथाओं (क्रं. ४९ से ६८ तक) में सिद्ध जीवों का स्वरूप दर्शाया गया है। गाथा क्रं. ५६ में सिद्ध विषयक पूछे गये चार प्रश्नों के उत्तरों का आशय क्रमशः इस प्रकार है -

१. कर्ममुक्त जीव धर्मास्तिकाय द्वारा मनुष्य लोक से ऊर्ध्व गमन करते हुए लोक के अन्त तक यानी अलोक के छोर पर जा कर रुक जाते हैं अर्थात् उनकी गति वहां तक ही होगी क्योंकि आगे अलोक में धर्मास्तिकायादि नहीं हैं।

२. वे लोक के अन्त भाग में जाकर प्रतिष्ठित (स्थिर) हो जाते हैं।

३. सिद्ध होने वाली आत्मा शरीर-त्याग इसी मनुष्य लोक में ही करती है।

४. लोक के अग्रभाग में सिद्धालय है, वही वे सिद्धि गति को प्राप्त होते हैं।

संसारी जीवों का स्वरूप

संसारत्था उ जे जीवा, दुविहा ते वियाहिया।

तसा य थावरा चेव, थावरा तिविहा तहिं ॥६९॥

कठिन शब्दार्थ - संसारत्था - संसारस्थ-संसारी, तसा - त्रस, थावरा - स्थावर।

भावार्थ - संसारस्थ-संसारी जो जीव हैं, वे दो प्रकार के कहे गये हैं - त्रस और स्थावर उनमें स्थावर जीव तीन प्रकार के हैं।

विवेचन - त्रस नाम कर्म के उदय से चलने फिरने वाले जीव को त्रस कहते हैं। बेइन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीव 'त्रस' कहलाते हैं। स्थावर नाम कर्म के उदय से तथा वे स्वयं हलन चलन नहीं कर सकते, उन्हें स्थावर कहते हैं। सभी एकेन्द्रिय जीव स्थावर हैं।

पुढवी आउ-जीवा य, तहेव य वणस्सई।

इच्चेए थावरा तिविहा, तेसिं भेए सुणेह मे ॥७०॥

कठिन शब्दार्थ - पुढवी - पृथ्वीकाय, आउ-जीवा - अप्काय के जीव, वणस्सई - वनस्पति के जीव, इच्चेए - इस प्रकार ये, तिविहा - तीन प्रकार के।

भावार्थ - पृथ्वीकाय, अप्काय के जीवों और वनस्पतिकाय इस प्रकार ये तीन प्रकार के स्थावर हैं। अब मुझ से उनके भेदों को सुनो।

विवेचन - यहाँ पर पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय को ही स्थावर बताया है। आगे १०८ वीं गाथा में अग्निकाय और वायु काय को त्रस बताया है। वह गति की अपेक्षा त्रस समझना चाहिए। वास्तविक में वे त्रस नहीं हैं, स्थावर हैं। पाँचों एकेन्द्रिय जीव स्थावर हैं।

दुविहा पुढवी जीवा य, सुहुमा बायरा तहा।

पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेए दुहा पुणो ॥७१॥

कठिन शब्दार्थ - सुहुमा - सूक्ष्म, बायरा - बादर, पज्जत्तमपज्जत्ता - पर्याप्त और अपर्याप्त।

भावार्थ - पृथ्वीकाय के जीव दो प्रकार के हैं, सूक्ष्म और बादर। इसी प्रकार ये पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से पुनः (फिर) दो प्रकार के हैं।

विवेचन - सूक्ष्म - सूक्ष्म नामकर्म के उदय से जिन जीवों का शरीर अत्यन्त सूक्ष्म होता है वह छद्मस्थों के इन्द्रिय गोचर (पाँचों इन्द्रियों में से किसी भी इन्द्रिय से ग्राह्य) नहीं होता है। उसका आयुष्य अन्तर्मुहूर्त का होता है। किसी के मारने से मरता नहीं है किन्तु आयुष्य समाप्त होने पर स्वयं मृत्यु को प्राप्त होता है। पाँचों स्थावर में सूक्ष्म जीव भी होते हैं। सूक्ष्म जीव सारे लोक में भरे पड़े हैं।

बादर - बादर नामकर्म के उदय से बादर अर्थात् स्थूल शरीर वाले जीव बादर कहलाते हैं। पाँच स्थावर बादर भी होते हैं।

पर्याप्तक - आहारादि के लिए पुद्गलों को ग्रहण करने तथा उन्हें आहार, शरीर आदि रूप परिणमाने की आत्मा की शक्ति विशेष को पर्याप्त कहते हैं। यह शक्ति पुद्गलों के उपचय

से होती है। इसके छह भेद हैं - १. आहार पर्याप्ति २. शरीर पर्याप्ति ३. इन्द्रिय पर्याप्ति ४. श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति ५. भाषा पर्याप्ति और ६. मनःपर्याप्ति।

जिस जीव में जितनी पर्याप्तियाँ संभव हैं। जब वह जीव अपनी उतनी पर्याप्तियों को पूरा कर लेता है तब उसे पर्याप्तक कहते हैं। एकेन्द्रिय जीव स्वयोग्य चार पर्याप्तियाँ (आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास) पूरी करने पर, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय उपर्युक्त चार और पांचवीं भाषा पर्याप्ति पूरी करने पर तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय उपर्युक्त पांच और छठी मनः पर्याप्ति पूरी करने पर पर्याप्तक कहे जाते हैं।

अपर्याप्तक - जिस जीव में जितनी पर्याप्तियाँ संभव हैं उतनी पर्याप्तियाँ पूरी न हों तो वह अपर्याप्तक कहा जाता है।

जीव तीन पर्याप्तियों को पूर्ण करके ही मरते हैं, पहले नहीं क्योंकि आगामी भव की आयु बांध कर ही मृत्यु प्राप्त करते हैं और आयु का बांध उन्हीं जीवों के होता है जिन्होंने आहार, शरीर और इन्द्रिय ये तीन पर्याप्तियाँ पूर्ण कर ली हैं। (ठाणाङ्क २ सूत्र ७६)

पृथ्वीकाय का निरूपण

बायरा जे उ पज्जत्ता, दुविहा ते विवाहिया।

सणहा खरा य बोधव्वा, सणहा सत्तविहा तहिं॥७२॥

कठिन शब्दार्थ - सणहा - श्लक्ष्ण (कोमल), खरा - खर-कठोर, बोधव्वा - जानने चाहिए, सत्तविहा - सात प्रकार के।

भावार्थ - जो बादर पर्याप्त पृथ्वीकाय के जीव हैं वे दो प्रकार के कहे गये हैं - श्लक्ष्ण (कोमल) और खर (कठोर), उन में श्लक्ष्ण-कोमल पृथ्वीकाय के सात भेद जानने चाहिए।

किण्हा णीला य रुहिया, हालिद्दा सुक्किला तहा।

पंडुपणग-मट्टिया, खरा छत्तीसई विहा॥७३॥

कठिन शब्दार्थ - पंडुपणग-मट्टिया - पाण्डुर पनक मृत्तिका, छत्तीसई विहा - छत्तीस प्रकार की।

भावार्थ - कृष्ण - काली, नीली, रुधिर - लाल, हरिद्रा - पीली, शुक्ल - श्वेत और पाण्डुर (चन्दन के समान श्वेत) तथा पनकमृत्तिका (अत्यन्त सूक्ष्म रज रूपी मिट्टी)। खर पृथ्वी छत्तीस प्रकार की है।

पुढ्वी य सक्करा वालुया य, उवले सिला य लोणूसे ।
 अयतंब तउय सीसग, रुपसुवण्णे य वडरे य ॥७४ ॥
 हरियाले हिंगुलुए, मणोसिला सासगंजण-पवाले ।
 अब्भपडलब्भवालुय, बायरकाए मणिविहाणा ॥७५ ॥
 गोमेज्जए य रुयगे, अंके फलिहे य लोहियक्खे य ।
 मरगय-मसारगल्ले, भुयमोयग-इंदणीले य ॥७६ ॥
 चंदणगेरुय-हंसगब्भे, पुलए सोगंधिए य बोधव्वे ।
 चंदप्पहवेरुलिए, जलकंते सूरकंते य ॥७७ ॥

कठिन शब्दार्थ - सक्करा - शर्करा, वालुया - बालुका, उवले - ऊपल, सिला - शिला, लोण - लवण, ऊसे - ऊस, अय - लोहा, तंब - ताम्बा, तउय - त्रपुक, सीसग-सीसा, रुप - रूपा, सुवण्णे - सुवर्ण, वडरे - वज्र, हरियाले - हरताल, हिंगुलुए - हिंगलू, मणोसिला - मनःशिला, सासग - सासग, अंजण - अंजन, पवाले - प्रवाल, अब्भपडल - अभ्रपटल, अब्भवालुय - अभ्रवालुका, बायरकाए - बादर पृथ्वीकाय के, मणिविहाणा - मणियों के भेद, गोमेज्जए - गोमेदक, रुयगे - रुचक, अंके - अंक, फलिहे - स्फटिक, लोहियक्खे - लोहिताक्ष, मरगय - मरकत, मसारगल्ले - मसारगल्ल, भुयमोयग - भुजमोचक, इंदणीले - इन्द्रनील, चंदणगेरुय-हंसगब्भे - चंदन रत्न, गेरु रत्न, हंसगर्भ रत्न, पुलए - पुलक, सोगंधिए - सौगंधिक, चंदप्पहवेरुलिए - चन्द्रप्रभ वैडूर्य, जलकंते - जलकांत, सूरकंते - सूर्यकांत।

भावार्थ - खर पृथ्वी के ३६ भेद इस प्रकार हैं - १. शुद्ध पृथ्वी (खान की मिट्टी) २. शर्करा (कंकरीली मिट्टी, मुरड़ आदि) ३. बालुका (नदी आदि की रेत) ४. उपल (पाषाण) ५. शिला ६. लवण ७. ऊस (खारी मिट्टी) ८. लोहा ९. ताम्बा १०. त्रपुक-कथीर अथवा रांगा ११. सीसा १२. रूपा (चांदी) १३. सुवर्ण-सोना १४. वज्र (हीरा) १५. हरताल १६. हिंगलू १७. मनःशिला (मेनसिल) १८. सासग (जस्त) १९. अंजन (सुरभा) २०. प्रवाल (मूंगा) २१. अभ्रपटल (भोडल) २२. अभ्रवालुका (भोडल सहित बालुका), ये भेद बादर पृथ्वीकाय के हैं।

अब मणियों के भेद कहे जाते हैं, वे भी पृथ्वीकाय के अन्तर्गत हैं - २३. गोमेदक २४. रुचक २५. अंक २६. स्फटिक २७. लोहिताक्ष २८. मरकत मणि २९. मसारगल्ल मणि ३०. भुजमोचक ३१. इन्द्रनील ३२. चन्दन रत्न, गेरु रत्न, हंसगर्भ रत्न ३३. पुलक रत्न,

सौगंधिक रत्न ३४. चन्द्रप्रभ रत्न, वैदूर्य रत्न ३५. जलकान्त मणि और ३६. सूर्यकान्त मणि। ये खर पृथ्वीकाय के ३६ भेद जानने चाहिए।

विवेचन - यद्यपि यहाँ मणियों के १८ भेद बताये हैं, किन्तु उनका एक-दूसरे में अन्तर्भाव करके यहाँ १४ भेद ही गिनना चाहिए। ऐसा करने से ही ३६ भेदों की संख्या ठीक हो सकती है, अन्यथा ४० भेद हो जाते हैं।

ए खरपुढवीए, भेया छत्तीसमाहिया।

एगविहमणाणत्ता, सुहुमा तत्थ वियाहिया ॥७८॥

कठिन शब्दार्थ - एगविहं - एक प्रकार की, अणाणत्ता - अनानात्व - भेद रहित।

भावार्थ - ये खर पृथ्वी के छत्तीस भेद कहे गये हैं, उनमें सूक्ष्म पृथ्वीकाय, भेद रहित एक प्रकार की कही गई है।

सुहुमा सव्वलोगम्मि, लोगदेसे य बायरा।

इत्तो कालविभागं तु, वुच्छं तेसिं चउव्विहं ॥७९॥

कठिन शब्दार्थ - सव्वलोगम्मि - सर्व लोक में।

भावार्थ - सूक्ष्म-पृथ्वीकाय के जीव सर्व लोक में व्याप्त हैं और बादर पृथ्वीकाय के जीव लोक के एक देश में व्याप्त हैं। यहां से आगे उनका चार प्रकार का कालविभाग कहूँगा।

संतइं पप्पणाइया, अपज्जवसिया वि य।

ठिइं पडुच्च साइया, सपज्जवसिया वि य ॥८०॥

भावार्थ - सन्तति (प्रवाह) की अपेक्षा पृथ्वीकाय अनादि और अपर्यवसित है। स्थिति की अपेक्षा से भी सादि (आदि सहित) और सपर्यवसित है।

बावीससहस्साइं, वासाणुक्कोसिया भवे।

आउठिईं पुढवीणं, अंतोमुहत्तं जहणिया ॥८१॥

कठिन शब्दार्थ - बावीससहस्साइं - बाईस हजार, वासाणं - वर्षों की, उक्कोसिया - उत्कृष्ट, आउठिईं - आयु स्थिति, अंतोमुहत्तं - अंतर्मुहूर्त, जहणिया - जघन्य।

भावार्थ - पृथ्वीकाय के जीवों की आयुस्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट बाईस हजार वर्ष की होती है।

विवेचन - तिर्यचों की और मनुष्यों की दो प्रकार की स्थिति होती है। भवस्थिति और कायस्थिति। उस भव में जितना आयुष्य बंधा है उतना भोग कर मृत्यु प्राप्त कर दूसरी गति एवं

दूसरी काया में चले जाना 'भवस्थिति' कहलाती है। एक भव की स्थिति पूरी करके फिर उसी गति और उसी काया में बार-बार जाना 'कायस्थिति' कहलाती है। देव गति और नरकगति में कायस्थिति नहीं बनती है क्योंकि नैरयिक मर कर दूसरे भव में नरक में नहीं जाता है इसी प्रकार देव मरकर दूसरे भव में देव नहीं बनता है। इसलिए नरकगति और देवगति में एक भवस्थिति ही पायी जाती है।

असंखकालमुक्कोसा, अंतोमुहुत्तं जहणिया।

कायठिई पुढवीणं, तं कायं तु अमुंचओ ॥८२॥

कठिन शब्दार्थ - असंखकालं - असंख्यातकाल की, उक्कोसा - उत्कृष्ट, कायठिई-कायस्थिति, अमुंचओ - न छोड़ने वाले।

भावार्थ - उस पृथ्वीकाय को न छोड़ने (पृथ्वीकाय से मर कर फिर पृथ्वीकाय में ही उत्पन्न होने) वाले पृथ्वीकाय के जीवों की कायस्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट असंख्यात काल की है।

विवेचन - लोकाकाश के जितने आकाश प्रदेश हैं उतना उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल बीते उतना असंख्यात काल यहाँ लेना चाहिए। यह पृथ्वीकाय का उत्कृष्ट कायस्थिति परिमाण है।

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहणयं।

विजढम्मि सए काए, पुढवी जीवाण अंतरं ॥८३॥

कठिन शब्दार्थ - विजढम्मि - छोड़ देने पर, सए काए - अपनी काया को, अंतरं - अंतर।

भावार्थ - अपनी काया को छोड़ देने पर पृथ्वीकाय के जीवों का अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट अनन्त काल का है।

विवेचन - अपनी गति और अपनी काया को छोड़ कर जीव दूसरी गति और दूसरी काया में चला जाय फिर वहाँ से वापिस उसी गति और उसी काया में जीव आवे, इस में जितना व्यवधान पड़ता है उसे 'अन्तर' कहते हैं। पृथ्वीकाय का अन्तर अनन्त पुद्गल परावर्तन बीते उतना अनन्तकाल समझना चाहिये। पृथ्वीकाय का जीव मर कर वनस्पति काय के अन्तर्गत निगोद में चला जाय तो इतना अन्तर पड़ सकता है।

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रस-फासओ।

संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्सओ ॥८४॥

कठिन शब्दार्थ - संठाणादेसओ - संस्थान की अपेक्षा, सहस्ससो - सहस्रश-हजारों, विहाणाइं - भेद।

भावार्थ - इन पृथ्वीकाय के जीवों के वर्ण से, गन्ध से, रस से, स्पर्श से और संस्थान की अपेक्षा सहस्रश हजारों भेद होते हैं।

विवेचन - वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा पृथ्वीकाय के हजारों भेद होते हैं। गाथा में 'सहस्ससो' शब्द दिया इसका अर्थ हजारों ही नहीं किन्तु बहुत भेद होते हैं। संख्यात और असंख्यात तक भेद हो सकते हैं।

अपूकाय का स्वरूप

दुविहा आउजीवा उ, सुहमा बायरा तहा।

पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेव दुहा पुणो ॥८५॥

भावार्थ - अपूकाय के जीव दो प्रकार के हैं, सूक्ष्म और बादर। इसी प्रकार ये अपूकाय के जीव पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से फिर दो प्रकार के हैं।

बायरा जे उ पज्जत्ता, पंचहा ते पक्कित्तिया।

सुद्धोदए य उस्से य, हरतणू महिया हिमे ॥८६॥

कठिन शब्दार्थ - पक्कित्तिया - कहे गये हैं, सुद्धोदए - शुद्धोदक, उस्से - ओस, हरतणू - हरतनु, महिया - महिका (धूंअर), हिमे - हिम - बर्फ का पानी।

भावार्थ - जो बादर पर्याप्त हैं, वे पांच प्रकार के कहे गये हैं। यथा - १. शुद्धोदक (मेघ का जल अर्थात् आकाश से गिरा हुआ पानी) २. ओस ३. हरतनु (प्रातःकाल तृण के ऊपर रही हुई जल की बूंद) ४. महिका-धूंअर ५. हिम-बर्फ का पानी।

एगविहमणाणत्ता, सुहमा तत्थ वियाहिया।

सुहमा सव्वलोगम्मि, लोगदेसे य बायरा ॥८७॥

भावार्थ - उनमें सूक्ष्म अपूकाय के जीव अनानात्व - भेद-रहित, एक ही प्रकार के कहे गये हैं और वे सूक्ष्म जीव सर्वलोक में व्याप्त हैं। बादर लोक के एक देश में व्याप्त हैं।

संतइं पप्पणाइया, अपज्जवसिया वि य।

ठिइं पडुच्च साइया, सपज्जवसिया वि य ॥८८॥

भावार्थ - सन्तति की अपेक्षा अपूकाय के जीव अनादि - जिसकी आदि (प्रारम्भ) नहीं

और अपर्यवसित - जिसका अन्त नहीं है और स्थिति की अपेक्षा सादि और सपर्यवसित हैं- जिसका अन्त है।

सत्तेव सहस्साइं, वासाणुक्कोसिया भवे।

आउठिई आऊणं, अंतोमुहुत्तं जहणिया ॥८६॥

कठिन शब्दार्थ - सत्तेव सहस्साइं - सात हजार, आउठिई - आयु स्थिति, आऊणं- अप्काय के जीवों की।

भावार्थ - अप्काय के जीवों की आयु स्थिति (भवस्थिति), जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट सात हजार वर्ष की है।

असंखकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहणयं।

कायठिई आऊणं, तं कायं तु अमुंचओ ॥८७॥

भावार्थ - उस अप्काय को न छोड़ने वाले अप्काय के जीवों की कायस्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट असंख्यात काल की है।

विवेचन - असंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी जितना काल समझना चाहिये, पृथ्वीकाय की तरह।

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहणयं।

विजढम्मि सए काए, आउजीवाण अंतरं ॥८९॥

भावार्थ - अपनी काया छोड़ कर अन्य काय में जाने और पुनः लौट कर अप्काय के जीवों में आने का अन्तर-व्यवधान, जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट अनन्त काल का है।

विवेचन - यहाँ असंख्यात पुद्गल परावर्तन जितने काल को अनन्त काल कहा है। अप्काय का जीव मर कर वनस्पति काय के अन्तर्गत निगोद में चला जाय तो इतना अन्तर पड़ सकता है।

एसिं वण्णओ चेव, गंधओ रस-फासओ।

संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥९२॥

भावार्थ - इन अप्काय के जीवों के वर्ण से, गंध से, रस से, स्पर्श से और संस्थान की अपेक्षा से भी सहस्रश - हजारों विधान - भेद हो सकते हैं।

वनस्पतिकाय का स्वरूप

दुविहा वणस्सई जीवा, सुहमा बायरा तहा।

पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेए दुहा पुणो ॥९३॥

भावाथ - वनस्पति काय के जीव दो प्रकार के हैं - सूक्ष्म और बादर। इसी प्रकार ये वनस्पति काय के जीव पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से फिर दो प्रकार के हैं।

बायरा जे उ पज्जत्ता, दुविहा ते वियाहिया।

साहारण-सरीरा य, पत्तेगा य तहेव य॥६४॥

कठिन शब्दार्थ - साहारण-सरीरा - साधारण शरीर, पत्तेगा - प्रत्येक।

भावाथ - जो बादर, पर्याप्त हैं, वे दो प्रकार के कहे गये हैं - १. साधारण शरीर और २. प्रत्येक शरीर।

विवेचन - प्रश्न - साधारण किसे कहते हैं?

उत्तर - साधारण नाम कर्म के उदय से एक ही शरीर को आश्रित करके जो अनन्त जीव रहते हैं वे निगोद कहलाते हैं। निगोद के जीव एक ही साथ आहार ग्रहण करते हैं, एक साथ श्वासोच्छ्वास लेते हैं और साथ ही आयु बांधते हैं और एक ही साथ शरीर छोड़ते हैं।

प्रश्न - प्रत्येक किसे कहते हैं?

उत्तर - जिन जीवों का अपना-अपना शरीर अलग-अलग हो। एक शरीर का एक जीव स्वामी हो, उसे प्रत्येक कहते हैं।

पत्तेग-सरीराओ, णेगहा ते पक्कित्तिया।

रुक्खा गुच्छा य गुम्मा य, लया वल्ली तणा तहा॥६५॥

कठिन शब्दार्थ - पत्तेग-सरीराओ - प्रत्येक शरीर, णेगहा - अनेकधा - अनेक प्रकार के, रुक्खा - वृक्ष, गुच्छा - गुच्छ, गुम्मा - गुल्म, लया - लता, वल्ली - बेल, तणा - तृण।

भावाथ - जो वनस्पति जीव प्रत्येक शरीर हैं, वे अनेकधा - अनेक प्रकार के कहे गए हैं। यथा: - वृक्ष, गुच्छ, गुल्म (नवमल्लिका आदि), लता (चम्पक लता आदि), बेल (ककड़ी आदि की बेल) और तृण (घास)।

वलया-पव्वगा कुहणा, जलरुहा ओसही तहा।

हरियकाया उ बोधव्वा, पत्तेगाइ वियाहिया॥६६॥

कठिन शब्दार्थ - वलया - वलय, पव्वगा - पर्वज-पर्वक, कुहणा - कुहणा, जलरुहा-जलरुह, ओसही - औषधि, हरियकाया - हरितकाय।

भावाथ - वलय (नारियल केल आदि), पर्वज-पर्वक (गांठ से उत्पन्न होने वाले ईख बांस आदि), कुहणा (पृथ्वी को फोड़ कर उत्पन्न होने वाली छत्राकार वनस्पति), जलरुह (जल

में उत्पन्न होने वाले कमल आदि), औषधि (धान्य आदि) और हरितकाय (हरे शाक आदि) जानने चाहिए। इस प्रकार प्रत्येक वनस्पति के भेद कहे गये हैं।

विवेचन - क्षुधा वेदनीय के उदय से भूख लगती है। इसलिए भूख भी एक प्रकार का रोग है। रोग की उपशान्ति के लिये दवा (औषधि) करनी पड़ती है, इसी प्रकार भूख रूपी रोग के लिए अनाज औषधि है। इसीलिए शास्त्रकार ने गेहूँ, जौ, मक्की, बाजरी आदि २४ प्रकार के अनाज (धान्य) को औषधि कहा है।

साहारणसरीराओ, णेगहा ते पकित्तिया।

आलुए मूलए चेव, सिंगबेरे तहेव य॥६७॥

हरिली सिरिली सिस्सरिली, जावई केयकंदली।

पलंडु-लसण कंदे य, कंदली य कुहुव्वए॥६८॥

लोहिणी हूयथी हूय, कुहगा य तहेव य।

कण्हे य वज्जकंदे य, कंदे सूरणए तहा॥६९॥

अस्सकण्णी य बोधव्वा, सीहकण्णी तहेव य।

मुसुंडी य हलिद्दा य, णेगहा एवमायओ॥१००॥

कठिन शब्दार्थ - साहारणसरीराओ - साधारण शरीर वाले, आलुए - आलू, मूलए-मूला, सिंगबेरे - श्रृंगबेर, हरिली - हरिली, सिस्सरिली - सिसरिली, जावई - जावंत्री कंद, केयकंदली - केत कन्दली, पलंडु - प्याज, लसणकंदे - लहसुन कन्द, कंदली - कन्दली, कुहुव्वए - कुहुव्रत, लोहिणी - लोहिणी, हूयथी - हुताशी, हूय - हुत, कुहगा - कुहक, कण्हे - कृष्णकंद, वज्जकंदे - वज्जकन्द, सूरणए कंदे - सूरण कन्द, अस्सकण्णी - अश्वकर्णी, सीहकण्णी - सिंहकर्णी, मुसुंडी - मुसुण्डी, हलिद्दा - हल्दी, एवमायओ - इत्यादि।

भावार्थ - जो वनस्पति जीव साधारण शरीर वाले हैं, वे अनेक प्रकार के कहे गये हैं। यथा - आलू, मूला, श्रृंगबेर (अदरख), हरिली, सिरिली, सिसरिली, जावंत्रीकन्द, केतकन्दली, प्याज (कांदा), लहसुन कन्द, कन्दली, कुहुव्रत, लोहिणी, हुताशी, हुत, कुहक, कृष्णकन्द, वज्जकन्द, सूरणकन्द, अश्वकर्णी, सिंहकर्णी, मुसुण्डी और हल्दी इत्यादि अनेक प्रकार के भेद जानने चाहिए।

विवेचन - उपरोक्त वनस्पति के नामों में कुछ नाम प्रसिद्ध हैं बाकी नाम अप्रसिद्ध हैं। भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न नाम प्रचलित हो सकते हैं।

एगविहमणाणत्ता, सुहमा तत्थ वियाहिया।

सुहमा सव्वलोगम्मि, लोगदेसे य बायरा ॥१०१॥

भावार्थ - उनमें सूक्ष्म वनस्पति काय के जीव अनानात्व - भेद-रहित एक ही प्रकार के कहे गये हैं। सूक्ष्म वनस्पतिकाय के जीव सर्व लोक में व्याप्त हैं और बादर जीव लोक के एक देश में व्याप्त हैं।

संतइं पप्पणाइया, अपज्जवसिया वि य।

ठिइं पडुच्च साइया, सपज्जवसिया वि य ॥१०२॥

भावार्थ - सन्तति (प्रवाह) की अपेक्षा वनस्पतिकाय के जीव अनादि और अपर्यवसित-अनन्त भी हैं और स्थिति की अपेक्षा सादि - आदि सहित और सपर्यवसित - सान्त भी हैं।

दस चेव सहस्साइं, वासाणुक्कोसिया भवे।

वणस्सईण आउं तु, अंतोमुहत्तं जहण्णयं ॥१०३॥

कठिन शब्दार्थ - दस सहस्साइं - दस हजार, वासाणं - वर्षों का, वणस्सईण - वनस्पतिकाय के जीवों की, आउं - आयु।

भावार्थ - वनस्पतिकाय के जीवों की उत्कृष्ट आयु दस हजार वर्ष और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की भवस्थिति होती है।

अणंतकालमुक्कोसा, अंतोमुहत्तं जहण्णिया।

कायठिईं पणगाणं, तं कायं तु अमुंचओ ॥१०४॥

भावार्थ - उस वनस्पतिकाय को न छोड़ते हुए पनक (लीलण-फूलण निगोद आदि) की उत्कृष्ट कायस्थिति अनन्तकाल की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की कायस्थिति है।

असंखकालमुक्कोसं, अंतोमुहत्तं जहण्णयं।

विजहम्मि सए काए, पणगजीवाण अंतरं ॥१०५॥

भावार्थ - अपनी काया को छोड़ देने पर पनक (लीलण फूलण निगोद आदि) जीवों का उत्कृष्ट अन्तर असंख्यात काल, जघन्य अन्तर्मुहूर्त है।

विवेचन - वनस्पतिकाय की कायस्थिति अनन्तकाल की है। इसके सिवाय किसी भी दण्डक की स्थिति अनन्तकाल की नहीं है किन्तु असंख्यात काल की है। वनस्पतिकाय का जीव मरकर दूसरे किसी भी दण्डक में चला जाय तो वहाँ असंख्यात काल ही रहेगा। इसके बाद उस

जीव को वापिस वनस्पतिकाय में आना ही पड़ेगा। इसलिए वनस्पतिकाय का अन्तर असंख्यात काल ही कहा है, अनन्तकाल नहीं।

एएसिं वण्णओ चव, गंधओ रस-फासओ।

संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो॥१०६॥

कठिन शब्दार्थ - सहस्ससो - सहस्र, विहाणाइं - भेद।

भावार्थ - इन वनस्पतिकाय के जीवों के वर्ण से, गंध से, रस से, स्पर्श से और संस्थान की अपेक्षा से भी सहस्रश-हजारों भेद होते हैं।

तीन प्रकार के त्रस

इच्चे थावरा तिविहा, समासेण वियाहिया।

इत्तो उ तसे तिविहे, वुच्छामि अणुपुव्वसो॥१०७॥

भावार्थ - इस प्रकार इन तीन प्रकार के स्थावर जीवों का संक्षेप से वर्णन किया गया है और अब इसके आगे तीन प्रकार के त्रस जीवों का अनुक्रम से वर्णन करूंगा।

तेऊ वाऊ य बोधव्वा, उराला य तसा तहा।

इच्चे तसा तिविहा, तेसिं भेए सुणेह मे॥१०८॥

भावार्थ - तेउकाय (अग्निकाय) वायुकाय और प्रधान त्रस, इस प्रकार ये तीन प्रकार के त्रस जीव हैं। उनके भेदों को मुझ से सुनो।

विवेचन - इस गाथा में त्रस के तीन भेद कहे हैं - १. अग्नि रूप त्रस २. वायु रूप त्रस ३. उदार त्रस। अग्निकाय और वायुकाय के स्थावर नाम कर्म का उदय होने से स्थावर है।

प्रश्न - फिर इस गाथा में उनको त्रस क्यों कहा गया है?

उत्तर - त्रस के दो भेद हैं - १. गति त्रस और २. लब्धि त्रस। अग्नि लकड़ियों को जलाती हुई अपने मूल औदारिक आदि तीन शरीरों के साथ जीवित अवस्था में स्वतः आगे बढ़ती जाती है, इसलिए गति की अपेक्षा उसे गतित्रस माना है। वायु भी अपने शरीरों के साथ जीवित अवस्था में पूर्वादि दिशाओं में स्वतः गति करती रहती है। इसलिए गति की अपेक्षा इसको भी गति त्रस माना है। पृथ्वीकाय, अपकाय एवं वनस्पतिकाय में जीवित अवस्था में अपने शरीरों के साथ अपने स्थान से दूसरे स्थान में जाने रूप गति नहीं होती है। थोड़ा-सा भी दूर जाना हो तो जीवों के काल करने पर ही दूसरे रूप में उत्पत्ति होती है, स्वप्रयोग से नहीं। वायु आदि पर प्रयोग से तो गति कर सकती है, उस गति की यहाँ विवक्षा नहीं की गयी है।

प्रश्न - पानी भी गति करता है उसे गति त्रस क्यों नहीं माना गया?

उत्तर - पानी स्वतः गति नहीं करता किन्तु ढालू जमीन होने से नीचे की तरफ ढलक जाता है। इसलिए वह स्वतः गति नहीं करता। अग्नि तो ऊंचा, नीचा, तिरछा जिधर भी लकड़ी आदि मिल जाय उनको जलाती हुई आगे बढ़ जाती है। अतः स्वतः गति करने से यह गति त्रस है।

जिन जीवों के त्रस नाम कर्म का उदय है ऐसे बेइन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक जीव गति एवं लब्धि की अपेक्षा त्रस है। इसलिए इन्हें उदार त्रस कहा है।

तेजस्काय का स्वरूप

दुविहा तेऊ जीवा उ, सुहुमा बायरा तहा।

पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेए दुहा पुणो ॥१०६॥

भावार्थ - अग्निकाय के जीव दो प्रकार के सूक्ष्म और बादर, पुनः (फिर) इसी प्रकार पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो प्रकार के कहे गये हैं।

बायरा जे उ पज्जत्ता, णेगहा ते वियाहिया।

इंगाले मुम्मुरे अगणी, अच्चिजाला तहेव य ॥११०॥

कठिन शब्दार्थ - इंगाले - अंगार, मुम्मुरे - मुर्मुर्, अगणी - अग्नि, अच्चि - अर्चि, जाला - ज्वाला।

भावार्थ - जो बादर पर्याप्त अग्निकाय के जीव हैं, वे अनेक प्रकार के कहे गये हैं। यथा - अंगार (धूम-रहित अग्नि), मुर्मुर् (अग्निकण-भोभर), अग्नि, अर्चि (अग्नि-शिखा) और ज्वाला।

उक्का विज्जू य बोधव्वा, णेगहा एवमायओ।

एगविहमणाणत्ता, सुहुमा ते वियाहिया ॥१११॥

कठिन शब्दार्थ - उक्का - उल्का, विज्जू - विद्युत्।

भावार्थ - उल्कापात की अग्नि और विद्युत् की अग्नि अर्थात् बिजली, इस प्रकार अग्नि के अनेक भेद जानने चाहिए। वे सूक्ष्म अग्निकाय के जीव अनानात्व - नाना भेद रहित एक ही प्रकार के कहे गये हैं।

विवेचन - यहाँ बादर अग्निकाय के भेदों में बिजली (विज्जू) को भी गिनाया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि - बिजली की अग्नि भी सचित है। लाउडस्पीकर में बिजली का प्रयोग

होता है इसलिए लाउडस्पीकर में बोलना मुनियों को नहीं कल्पता है। लाउडस्पीकर में बोलना मुनि मर्यादा को भंग करना है। अपने व्रतों में दोष लगा कर जनता के उपकार के लिए लाउडस्पीकर में बोलना भगवान् की आज्ञा नहीं है। दशवैकालिक सूत्र के चौथे अध्ययन में भी बिजली को सचित्त बताया है। पूज्य आचार्य श्री आत्मारामजी म. सा. ने भी अपने दशवैकालिक सूत्र में ऐसा ही लिखा है।

सुहमा सव्वलोगम्मि, लो गदेसे य बायरा।

इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं॥११२॥

भावार्थ - सूक्ष्म अग्निकाय के जीव सर्व लोक में व्याप्त हैं और बादर जीव लोक के एक देश में व्याप्त हैं। अब आगे उन जीवों का चार प्रकार का कालविभाग बताऊँगा।

संतइं पप्पणाइया, अपज्जवसिया वि य।

ठिइं पडुच्च साइया, सपज्जवसिया वि य॥११३॥

भावार्थ - अग्निकाय के जीव, परम्परा की अपेक्षा अनादि और अपर्यवसित - अनन्त भी हैं। स्थिति की अपेक्षा सादि और सपर्यवसित - सान्त भी हैं।

त्तिण्णेव अहोरत्ता, उक्कोसेण वियाहिया।

आउठिईं तेऊणं, अंतोमुहत्तं जहणिया॥११४॥

कठिन शब्दार्थ - तिण्णेव - तीन, अहोरत्ता - अहोरात्र, आउठिईं - आयु स्थिति, तेऊणं - अग्निकाय के जीवों की।

भावार्थ - अग्निकाय के जीवों की उत्कृष्ट आयु-स्थिति तीन अहोरात्र (दिन-रात) और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की कही गई हैं।

असंखकालमुक्कोसा, अंतोमुहत्तं जहणिया।

कायठिईं तेऊणं, तं कायं तु अमुंचओ॥११५॥

भावार्थ - उस अग्निकाय को न छोड़ते हुए अग्निकाय के जीवों की कायस्थिति उत्कृष्ट असंख्यात काल की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की है।

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहत्तं जहणयां।

विजढम्मि सए काए, तेऊ जीवाण अंतरं॥११६॥

भावार्थ - अपनी काया को छोड़ देने पर अग्निकाय के जीवों का, उत्कृष्ट अन्तर अनन्तकाल का और जघन्य अन्तर्मुहूर्त का है।

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रस-फासओ।

संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो॥११७॥

भावार्थ - इन अनिकाय के जीवों के वर्ण से, गन्ध से, रस से, स्पर्श से और संस्थान की अपेक्षा से भी हजारों, विधान-भेद होते हैं।

वायुकाय का स्वरूप

दुविहा वाउजीवा उ, सुहुमा बायरा तहा।

पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेव दुहा पुणो॥११८॥

भावार्थ - वायुकाय के जीव दो प्रकार के हैं - सूक्ष्म और बादर। पुनः इसी प्रकार पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से ये वायुकाय के जीव दो प्रकार के हैं।

बायरा जे उ पज्जत्ता, पंचहा ते पकित्तिया।

उक्कलिया मंडलिया, घणगुंजा सुद्धवाया य॥११९॥

कठिन शब्दार्थ - उक्कलिया - उत्कलिका वात, मंडलिया - मण्डलिका वात, घणगुंजा-घनवात, सुद्धवाया - शुद्धवात।

भावार्थ - जो बादर पर्याप्त वायुकाय के जीव हैं, वे पांच प्रकार के कहे गये हैं। यथा - उत्कलिका (ऐसी वायु जो रुक-रुक कर चले), घनवायु - ठोसवायु, गुंजा वायु (जो चलती हुई गुंजार शब्द करे) और शुद्ध वायु।

विवेचन - बादर पर्याप्त वायुकाय के जो भेद बताए हैं उनके विशेष अर्थ इस प्रकार हैं -

१. उत्कलिकायात - जो वायु ठहर ठहर कर चले या जो घूमती हुई ऊंची जाए।
२. मण्डलिकायात - धूल आदि के गोटे सहित गोलाकार घूमने वाली वायु अथवा पृथ्वी से लगकर चक्कर खाता हुआ चलने वाला पवन।
३. घनयात - घनोदधि वात, जो रत्नप्रभा आदि नरक पृथ्वियों के नीचे - अधोवर्ती बहता है अथवा विमानों के नीचे की घन रूप वायु।
४. गुंजायात - गुंजती हुई चलने वाली वायु।
५. शुद्धयात - उक्त दोषों से रहित मंद-मंद चलने वाली हवा।
६. संवर्तकयात - जो वायु तृण आदि को उड़ा कर ले जाए।

संवट्टगवाया य, णेगहा एवमायओ।

एगविहमणाणत्ता, सुहमा तत्थ वियाहिया॥१२०॥

कठिन शब्दार्थ - संवट्टगवाया - संवर्तक वात।

भावार्थ - संवर्तक वायु (जो तृणादि को उड़ा कर विवक्षित क्षेत्र में डाल देती है) इस प्रकार वायुकाय के आदिक - और भी अनेक भेद हैं। उनमें सूक्ष्म वायुकाय अनानात्व - नाना भेद रहित एक ही प्रकार की कही गई है।

सुहमा सव्वलोगम्मि, लोगदेसे य बायरा।

इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं॥१२१॥

भावार्थ - सूक्ष्म वायुकाय के जीव सर्वलोक में व्याप्त हैं और बादर लोक के एक देश में व्याप्त हैं। अब इसके आगे उन वायुकाय के जीवों के चार प्रकार के कालविभाग को बतलाऊंगा।

संतइं पप्पणाइया, अपज्जवसिया वि य।

ठिइं पडुच्च साइया, सपज्जवसिया वि य॥१२२॥

भावार्थ - संतति - परम्परा की अपेक्षा वायुकाय के जीव अनादि और अपर्यवसित - अनन्त हैं और स्थिति की अपेक्षा सादि और सान्त भी हैं।

तिण्णेव सहस्साइं, वासाणुक्कोसिया भवे।

आउठिईं वाऊणं, अंतोमुहत्तं जहण्णिया॥१२३॥

कठिन शब्दार्थ - तिण्णेव सहस्साइं - तीन हजार, वासाण - वर्षों की, वाऊणं - वायुकाय के जीवों की।

भावार्थ - वायुकाय के जीवों की उत्कृष्ट आयु स्थिति (भवनस्थिति) तीन हजार वर्ष और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की होती है।

असंखकालमुक्कोसा, अंतोमुहत्तं जहण्णिया।

कायठिईं वाऊणं, तं कायं तु अमुंचओ॥१२४॥

भावार्थ - उस वायुकाय को न छोड़ने वाले वायुकाय के जीवों की उत्कृष्ट कायस्थिति असंख्यात काल की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की है।

विवेचन - असंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी बीते, उतना असंख्यात काल लेना चाहिये।

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहण्णयं।

विजढम्मि सए काए, वाऊजीवाण अंतरं॥१२५॥

भावार्थ - अपनी काया छोड़ने पर वायुकाय के जीवों का उत्कृष्ट अन्तर - अनन्त काल का है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त का है।

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रस-फासओ।

संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो॥१२६॥

भावार्थ - इन वायुकाय के वर्ण से, गंध से, रस से, स्पर्श से और संस्थान की अपेक्षा से भी सहस्रश-हजारों विधान-भेद हो जाते हैं।

उदार त्रसकाय का स्वरूप

उराला य तसा जे उ, चउहा ते पकित्तिया।

बेइंदिया तेइंदिया, चउरो पंचिंदिया चेव॥१२७॥

कठिन शब्दार्थ - उराला - उदार, तसा - त्रस।

भावार्थ - जो उदार - प्रधान त्रस हैं, वे चार प्रकार के कहे गये हैं। यथा - बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय।

बेइन्द्रिय त्रस का स्वरूप

बेइंदिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिया।

पज्जत्तमपज्जत्ता, तेसिं भेए सुणेह मे॥१२८॥

भावार्थ - जो बेइन्द्रिय जीव हैं वे दो प्रकार के कहे गये हैं। यथा - पर्याप्त और अपर्याप्त। अब उनके भेद मुझ से सुनो।

किमिणो सोमंगला चेव, अलसा माइवाहया।

वासीमुहा य सिप्पीया, संखा संखणगा तहा॥१२९॥

पल्लोयाणुल्लया चेव, तहेव य वराडगा।

जलूगा जालगा चेव, चंदणा य तहेव य॥१३०॥

इइ बेइंदिया एए, णोगहा एवमायओ।

लोगेगदेसे ते सब्बे, ण सब्बत्थ वियाहिया॥१३१॥

कठिन शब्दार्थ - किमिणो - कृमि, सोमंगला - सुमंगल, अलसा - अलसिया, माइवाहया - मातृ-वाहक, वासीमुहा - वासीमुख, सिष्पीया - सीप, संखा - शंख, संखणगा - शंखनक, पल्लोया - पल्लक, अणुल्लया - अनुल्लक, वराडगा - वराटक (कौड़ी), जलूगा - जलौका-जोंक, जालगा - जालक, चंदणा - चंदनक।

भावार्थ - कृमि (विष्ठादि में उत्पन्न होने वाले कीड़े), सुमंगल, अलसिया (वर्षा के समय उत्पन्न होने वाला जीव), मातृवाहक (काष्ठादि में लगने वाला घुन), वासीमुख, सीप, शंख, शंखानक (शंख के आकार के छोटे जीव), पल्लक, अनुल्लक, वराटक (कौड़ी), जोंक, जालक और चंदनिया। इस प्रकार और भी द्वीन्द्रिय जीव अनेक प्रकार के हैं, वे सभी लोक के एक देश में कहे गये हैं, किन्तु सर्वत्र व्याप्त नहीं है।

विवेचन - उपरोक्त बेइन्द्रिय जीवों में जो नाम बताये हैं उनमें कितनेक प्रसिद्ध हैं और कितनेक अप्रसिद्ध हैं।

संतइं पप्पणाइया, अपज्जवसिया वि य।

ठिइं पडुच्च साइयां, सपज्जवसिया वि य॥१३२॥

भावार्थ - द्वीन्द्रिय जीव, संतति की अपेक्षा अनादि और अपर्यवसित - अनन्त हैं और स्थिति की अपेक्षा सादि और सपर्यवसित - सान्त हैं।

वासाइं बारसा चेव, उक्कोसेण वियाहिया।

बेइंदिय-आउठिई, अंतोमुहुत्तं जहणिया॥१३३॥

कठिन शब्दार्थ - वासाइं - वर्ष, बारसा - बारह, बेइंदिय आऊठिई - बेइन्द्रिय जीवों की आयु-स्थिति।

भावार्थ - द्वीन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट आयु स्थिति (भवस्थिति) बारह वर्ष है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त है।

संखिज्जकालमुक्कोसा, अंतोमुहुत्तं जहणिया।

बेइंदिय कायठिई, तं कायं तु अमुंचओ॥१३४॥

कठिन शब्दार्थ - संखिज्जकालं - संख्यातकाल की, उक्कोसा - उत्कृष्ट, कायठिई-कायस्थिति, अमुंचओ - न छोड़ने वाले।

भावार्थ - उस काय को न छोड़ने वाले अर्थात् द्वीन्द्रिय जीव यदि द्वीन्द्रिय जाति में ही जन्म-मरण करते रहे तो उन द्वीन्द्रिय जीवों की काय स्थिति, जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट संख्यात काल है।

विवेचन - बेइन्द्रिय जीवों की यह कायस्थिति है। मूल में 'संखिजकालं' दिया है, जिसका अर्थ संख्याता हजारों वर्ष समझना चाहिए। बेइन्द्रिय जीव की एक भव की जो उत्कृष्ट स्थिति (बारह वर्ष) होती है उसको आठ से गुणा करने पर जो काल मान होता है, उतने वर्षों की कायस्थिति "संखिजकालं" शब्द से समझनी चाहिए। इसी प्रकार तेइन्द्रिय और चउरिन्द्रिय जीवों की कायस्थिति भी अपनी-अपनी उत्कृष्ट भव स्थिति से आठ-आठ गुणी समझनी चाहिए।

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोर्मुहुत्तं जहण्णयं।

बेइंदिय-जीवाणं, अंतरं च वियाहियं॥१३५॥

भावार्थ - द्वीन्द्रिय जीवों का जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अनन्त काल का कहा गया है।

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रस-फासओ।

संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो॥१३६॥

भावार्थ - इन द्वीन्द्रिय जीवों के वर्ण की, गन्ध की, रस की, स्पर्श की और संस्थान की अपेक्षा सहस्रश - हजारों विधान - भेद होते हैं।

तेइन्द्रिय-त्रस का स्वरूप

तेइंदिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिया।

पज्जत्तमपज्जत्ता, तेसिं भेए सुणेह मे॥१३७॥

भावार्थ - तेइन्द्रिय जो जीव हैं, वे पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से दो प्रकार के कहे गये हैं। अब मुझ से उनके भेदों को सुनो।

कुंथुपिवीलिउडुंसा, उक्कलुहेहिया तहा।

तणहारा कडुहारा य, मालूगा पत्तहारगा॥१३८॥

कप्पासट्टिमिजाया, तिंदुगा तउसमिजगा।

सदावरी य गुम्मी य, बोधव्वा इंदगाइया॥१३९॥

इंदगोवगमाइया, जोगहा एवमायओ।

लोगेगदेसे ते सब्बे, ण सब्बत्थ वियाहिया॥१४०॥

कठिन शब्दार्थ - कुंथु - कुन्थुआ, पिवीलि - पिपीलिका-चींटी, उडुंसा - उडंस-

खटमल, उक्कल - मकड़ी, उद्देहिया - उदई, तणहारा - तृणहारक, कट्टहारा - काष्ठहारक, मालुगा - मालूक, पत्तहारगा - पत्रहारक, कप्पासट्टिमिजाया - कपास और उसकी अस्थि (कपासिया) में उत्पन्न होने वाले जीव, तिंदुगा - तिन्दुक, तउसमिजगा - त्रपुष मिंजक, सदावरी - शतावरी, गुम्मी - गुल्मी (कानखजूरा), इंदगाइया- इन्द्रकायिक, इंदगोवगं- इन्द्रगोपक (वीर बहूटी), आइया - इत्यादि।

भावार्थ - कुन्थुवा, पिपीलिका (कीड़ी), उदंस (चांचड़), उत्कलिक, उदई, तृणहारक, काष्ठहारक, मालूक, पत्रहारक, कपास के बीज में उत्पन्न होने वाले जीव, तिन्दुक, त्रपुष मिंजक, सदावरी, गुल्मी (कानखजूरा), इन्द्रकायिक और इन्द्रगोप आदि इस प्रकार और भी अनेक प्रकार के तेइन्द्रिय जीव जानने चाहिए। वे सब लोक के एक देश में कहे गये हैं, किन्तु सर्वत्र नहीं है।

विवेचन - उपरोक्त नामों में से कुछ नाम प्रसिद्ध हैं, कुछ नाम अप्रसिद्ध हैं।

संतइं पप्पणाइया, अप्पज्वसिया वि य।

ठिइं पडुच्च साइया, सप्पज्वसिया वि य॥१४१॥

भावार्थ - ये सभी तेइन्द्रिय जीव सन्तति की अपेक्षा अनादि - जिनकी आदि नहीं और अपर्यवसित - अनन्त हैं। स्थिति की अपेक्षा सादि - आदि सहित और सान्त - अन्त सहित हैं।

एगूणपण्णहोरत्ता, उक्कोसेण वियाहिया।

तेइंदिय-आउठिई, अंतोमुहुत्तं जहणिया॥१४२॥

कठिन शब्दार्थ - एगूणपण्णहोरत्ता - उनपचास अहोरात्र की, तेइंदिय आउठिई - तेइन्द्रिय जीवों की आयु स्थिति।

भावार्थ - तेइन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट आयु - स्थिति उनपचास अहोरात्र (रात्रि-दिन) है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की कही गई है।

संखिज्जकालमुक्कोसा, अंतोमुहुत्तं जहणिया।

तेइंदिय-कायठिई, तं कायं तु अमुंचओ॥१४३॥

भावार्थ - उस काया को न छोड़ने वाले तेइन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट कायस्थिति संख्यात काल (संख्याता हजारों वर्षों) की है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की है।

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहणयं।

तेइंदिय-जीवाणं, अंतरं तु वियाहियं॥१४४॥

भावार्थ - तेइन्द्रिय जीवों का उत्कृष्ट अन्तरकाल अनन्त काल का है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त का है।

विवेचन - यह अनन्तकाल वनस्पति के अन्तर्गत निगोद की अपेक्षा समझना चाहिये।

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रस-फासओ।

संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥१४५॥

भावार्थ - इन तेइन्द्रिय जीवों के वर्ण से, गन्ध से, रस से, स्पर्श से और संस्थान की अपेक्षा से भी सहस्रश-हजारों भेद होते हैं।

चतुरिन्द्रिय त्रस - स्वरूप

चउरिंदिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिया।

पज्जत्तमपज्जत्ता, तेसिं भेए सुणेह मे ॥१४६॥

भावार्थ - जो जीव चउरिन्द्रिय (शरीर, रसना, घ्राण और चक्षु इन चार इन्द्रियों वाले) हैं, वे दो प्रकार के कहे गये हैं। यथा - पर्याप्त और अपर्याप्त, अब मुझ से उनके भेद सुनो।

अंधिया पोत्तिया चेव, मच्छिया मसगा तहा।

भमरे कीडपयंगे य, ढिंकुणे कुंकणे तहा ॥१४७॥

कुक्कुडे सिंगरीडी य, णंदावत्ते य विच्छुए।

डोले भिंगरीडी य, विरिली अच्छिवेहए ॥१४८॥

अच्छिले माहले अच्छि, रोडए विचित्ते चित्तपत्तए।

ओहिंजलिया जलकारी य, णियया तंबगाइया ॥१४९॥

इय चउरिंदिया एए, णेगहा एवमायओ।

लोगेगदेसे ते सव्वे, ण सव्वत्थ वियाहिया ॥१५०॥

कठिन शब्दार्थ - अंधिया - अंधिका, पोत्तिया - पोत्तिका, मच्छिया - मक्षिका-मक्खी, मसगा - मशक-मच्छर, भमरे - भ्रमर, कीड - कीट, पयंगे - पतंगे, ढिंकुणे - ढिंकुण (पिस्सू), कुंकणे - कुंकण, कुक्कुडे - कुक्कुड, सिंगरीडी - सिंगरीटी, णंदावत्ते - नन्दावर्त, विच्छुए - वृश्चिक, डोले - डोल, भिंगरीडी - भृंगरीटी (झिगुर या भ्रमरी), विरिली - विरली, अच्छिवेहए - अक्षिवेधक, अच्छिले - अक्षिल, माहले - माहल,

अच्छिरोडए - अक्षिरोडक, विचित्ते - विचित्र, चित्तपत्तए - चित्रपत्रक, ओहिंजलिया - उपधिजलक, जलकारी - जलकारी, णियया - नीचक, तंबगाइया - ताम्रक या तम्बकायिक।

भावार्थ - चउरिन्द्रिय जीवों के भेद - अन्धिक, पोतिक, मक्षिका (मक्खी), मशक-मच्छर, भ्रमर, कीड़ा, पतंगिया, ढिकुण, कुंकण, कुक्कुट, सिंगरीटी, नन्दावर्त, बिच्छू, डोला, भृंगरीटी (झिगुर), विरली, अक्षिवेधक (आँख फोड़ा), अक्षिल, माहल, अक्षिरोडक, विचित्र, चित्रपत्रक (रंग बिरंगी तितलियाँ), उपधिजलक, जलकारी, नीनिक - नीचक और तंबक - ताम्रक आदि इस प्रकार और भी ये चतुरिन्द्रिय जीव अनेक प्रकार के हैं वे सब लोक के एक देश में व्याप्त हैं किन्तु सर्वत्र नहीं कहे गये हैं।

विवेचन - इन नामों में से कितनेक प्रसिद्ध नाम हैं, कितनेक अप्रसिद्ध नाम हैं।

संतइं पप्प णाइया, अपज्जवसिया वि य।

ठिइं पडुच्च साइया, सपज्जवसिया वि य॥१५१॥

भावार्थ - प्रवाह की अपेक्षा चतुरिन्द्रिय जीव अनादि और अपर्यवसित अनन्त भी हैं और स्थिति की अपेक्षा सावि और सपर्यवसित - सान्त भी हैं।

छच्चेव य मासा उ, उक्कोसेण वियाहिया।

चउरिंदिय आउठिई, अंतोमुहुत्तं जहणिया॥१५२॥

कठिन शब्दार्थ - छच्चेव - छह, मासा - महीने की।

भावार्थ - चतुरिन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट आयु - स्थिति छह महीने की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की कही गई है।

संखिज्जकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहणियं।

चउरिंदिय कायठिई, तं कायं तु अमुंचओ॥१५३॥

भावार्थ - उस काया को न छोड़ने वाले चतुरिन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट कायस्थिति संख्यात काल (संख्यात हजारों वर्ष) और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की है।

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहणियं।

विजढम्मि सए काए, अंतरं च वियाहियं॥१५४॥

भावार्थ - अपनी काया को छोड़ने पर चतुरिन्द्रिय जीवों का उत्कृष्ट अन्तर, अनन्त काल का है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त का है।

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रस-फासओ।

संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥१५५॥

भावार्थ - इन चतुरिन्द्रिय जीवों के वर्ण से, गन्ध से, रस से, स्पर्श से और संस्थान की अपेक्षा से भी सहस्रश - हजारों भेद होते हैं।

पंचेन्द्रिय त्रस जीवों का स्वरूप

पंचिंदिया उ जे जीवा, चउव्विहा ते वियाहिया।

णेरइया तिरिक्खा य, मणुया देवा य आहिया ॥१५६॥

भावार्थ - जो जीव पंचेन्द्रिय (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कान, इन पांच इन्द्रियों वाले) हैं वे चार प्रकार के कहे गये हैं। नैरयिक, तिर्यच, मनुज - मनुष्य और देव।

नैरयिकों का वर्णन

णेरइया सत्तविहा, पुढवीसु सत्तसु भवे।

रयणाभा सक्कराभा, वालुयाभा य आहिया ॥१५७॥

पंकाभा धूमाभा, तमा तमतमा तहा।

इइ णेरइया एए, सत्तहा परिकित्तिया ॥१५८॥

कठिन शब्दार्थ - णेरइया - नैरयिक, सत्तविहा - सात प्रकार के, पुढवीसु - पृथ्वियों में, सत्तसु - सात, रयणाभा - रत्नप्रभा, सक्कराभा - शर्कराप्रभा, वालुयाभा - बालुकाप्रभा, पंकाभा - पंकप्रभा, धूमाभा - धूमप्रभा, तमा - तमःप्रभा, तमतमा - तमस्तमा प्रभा।

भावार्थ - नैरयिक जीव सात प्रकार के कहे गये हैं, जो सात पृथ्वियों में होते हैं। उन सात पृथ्वियों के गोत्र इस प्रकार हैं -

रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और तमस्तमा प्रभा, इस प्रकार ये सात प्रकार के नैरयिक कहे गये हैं।

विवेचन - सात नरक पृथ्वियों के नाम इस प्रकार हैं -

१. रत्नप्रभा - रत्नों की प्रभा के समान प्रभा हैं, भवनपतियों के रत्नमय भवनों की प्रभा भी है।

२. शर्कराप्रभा - छोटे-छोटे चिकने पाषाण खण्डों या कंकरो की बहुलता।

३. बालुकाप्रभा - बालू रेत के समान भूमि की बहुलता।

४. पंक प्रभा - पंक (कीचड़) की बहुलता।

५. धूमप्रभा - धूँ की बहुलता।

६. तमःप्रभा - अंधकार की बहुलता।

७. तमस्तमप्रभा - प्रगाढ़ अंधकार की बहुलता।

दूसरी नरक से सातवीं नरक तक 'प्रभा' शब्द का अर्थ 'बहुलता' समझना चाहिए।

घम्मा वंसगा सिला, तहा अंजणा रिट्टगा।

मघा माघवई चेव, णारया य वियाहिया॥१५६॥

रयणाइगोत्तओ चेव, तहा घम्माइ णामओ।

इइ णेरइया एए, सत्तहा परिकित्तिया॥१६०॥*

कठिन शब्दार्थ - घम्मा - घम्मा, वंसगा - वंशा, सिला - शिला, अंजणा - अंजणा, रिट्टगा - रिष्ठा, मघा - मघा, माघवई - माघवती, रयणाइ - रत्नप्रभा आदि, गोत्तओ - गोत्र, घम्माइ - घम्मा आदि, णामओ - नाम।

भावार्थ - घम्मा, वंशा, शिला, अंजणा, रिष्ठा, मघा और माघवती, ये सात नरकों के नाम कहे गये हैं। रत्नप्रभा आदि तो नरकों के गोत्र हैं और घम्मा आदि नरकों के नाम हैं। इस प्रकार ये सात प्रकार के नैरयिक कहे गये हैं।

लोगस्स एगदेसम्मि, ते सव्वे उ वियाहिया।

इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं॥ १६१॥

भावार्थ - वे सब लोक के एक देश में कहे गये हैं, अब इसके आगे उनका चार प्रकार का कालविभाग कहूँगा।

संतइं पप्पणाइया, अपज्जवसिया वि य।

ठिइं पडुच्च साइया, सपज्जवसिया य॥ १६२॥

भावार्थ - प्रवाह की अपेक्षा नैरयिक जीव अनादि और अपर्यवसित - अनन्त हैं और स्थिति की अपेक्षा सादि और सपर्यवसित - सान्त हैं।

* ये दो गाथाएँ किन्हीं-किन्हीं प्रतियों में है इसलिए उपयोगी समझ कर यहाँ रख दी गयी है।

सागरोवममेगं तु, उक्कोसेण वियाहिया।

पढमाए जहण्णेणं, दसवाससहस्सिया ॥१६३॥

कठिन शब्दार्थ - सागरोवमं - सागरोपम, एगं - एक, दसवाससहस्सिया - दस हजार वर्ष की।

भावार्थ - पहली नरक में जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है और उत्कृष्ट एक सागरोपम की है।

तिण्णेव सागराऊ, उक्कोसेण वियाहिया।

दोच्चाए जहण्णेणं, एगं तु सागरोवमं ॥१६४॥

कठिन शब्दार्थ - तिण्णेव - तीन, सागराऊ - सागरोपम, दोच्चाए - दूसरी।

भावार्थ - दूसरी नरक में जघन्य-स्थिति एक सागरोपम की और उत्कृष्ट तीन सागरोपम की कही गई है।

सत्तेव सागराऊ, उक्कोसेण वियाहिया।

तइयाए जहण्णेणं, तिण्णेव सागरोवमा ॥१६५॥

भावार्थ - तीसरी नरक में जघन्य स्थिति तीन सागरोपम की है और उत्कृष्ट सात सागरोपम की कही गई है।

दस सागरोवमाऊ, उक्कोसेण वियाहिया।

चउत्थीए जहण्णेणं, सत्तेव सागरोवमा ॥१६६॥

भावार्थ - चौथी नरक में जघन्य-स्थिति सात सागरोपम की है और उत्कृष्ट दस सागरोपम की कही गई है।

सत्तरस सागराऊ, उक्कोसेण वियाहिया।

पंचमाए जहण्णेणं, दस चेव सागरोवमा ॥१६७॥

भावार्थ - पांचवीं नरक में जघन्य स्थिति दस सागरोपम की है और उत्कृष्ट सतरह सागरोपम की कही गई है।

बावीस सागराऊ, उक्कोसेण वियाहिया।

छट्ठीए जहण्णेणं, सत्तरस सागरोवमा ॥१६८॥

भावाथ - छठी नरक में जघन्य-स्थिति सतरह सागरोपम की है और उत्कृष्ट बाईस सागरोपम की कही गई है।

तेत्तीसं सागराऊ, उक्कोसेण वियाहिया।

सत्तमाए जहण्णेणं, बावीसं सागरोवमा ॥१६६॥

भावाथ - सातवीं नरक में जघन्य-स्थिति बाईस सागरोपम की है और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की कही गई।

जा चेव य आउठिई, णेरइयाणं वियाहिया।

सा तेसिं कायठिई, जहण्णुक्कोसिया भवे ॥१७०॥

कठिन शब्दार्थ - आउठिई - आयुस्थिति, कायठिई - कायस्थिति, जहण्णुक्कोसिया-जघन्य और उत्कृष्ट।

भावाथ - नैरयिक जीवों की जो जघन्य और उत्कृष्ट आयु स्थिति कही गई है वही उन जीवों की जघन्य और उत्कृष्ट कायस्थिति होती है।

विवेचन - नैरयिक की जो भवस्थिति है उसी को कायस्थिति बताया है। क्योंकि उनकी कायस्थिति बन नहीं सकती है। नैरयिक जीव मरकर फिर दूसरे भव में नैरयिक नहीं बन सकता है। इसलिए कायस्थिति नहीं बनती।

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहण्णयं।

विज्जदम्मि सए काए, णेरइयाणं तु अंतरं ॥१७१॥

भावाथ - अपनी काया को छोड़ देने पर नैरयिक जीवों का उत्कृष्ट अन्तर अनन्त काल का है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का है।

विवेचन - नैरयिक मर कर पुनः नैरयिक नहीं होता, अतः नैरयिकों की भवस्थिति और कायस्थिति दोनों समान होती है।

अतिक्लिष्ट अध्यवसाय वाला जीव गर्भज तिर्यच या मनुष्य में जन्म लेकर अंतर्मुहूर्त्त प्रमाण जघन्य आयु भोग कर पुनः नरक में उत्पन्न हो सकता है, इसलिये जघन्य अंतर अंतर्मुहूर्त्त का बताया है तथा वह जीव गर्भज मनुष्य या तिर्यच से काल करके वनस्पति के अन्तर्गत निगोट में चला जाए तो अनन्त काल का अंतर हो सकता है।

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रस-फासओ।

संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥१७२॥

भावाथ - इन नरक जीवों के वर्ण से, गन्ध से, रस से, स्पर्श से और संस्थान की अपेक्षा से भी सहस्रश - हजारों भेद हो जाते हैं।

तिर्यच पंचेन्द्रिय जीवों का स्वरूप

पंचिंदियतिरिक्खाओ, दुविहा ते वियाहिया।

सम्मूर्च्छिम-तिरिक्खाओ, गढभवक्कंतिया तथा॥१७३॥

कठिन शब्दार्थ - पंचिंदियतिरिक्खाओ - पंचेन्द्रिय तिर्यच, सम्मूर्च्छिम-तिरिक्खाओ-सम्मूर्च्छिम तिर्यच, गढभवक्कंतिया - गर्भव्युत्क्रान्तिक।

भावाथ - जो पंचेन्द्रिय तिर्यच हैं, वे दो प्रकार के कहे गये हैं - सम्मूर्च्छिम तिर्यच और गर्भव्युत्क्रान्तिक (गर्भज) तिर्यच।

दुविहा ते भवे तिविहा, जलयरा थलयरा तथा।

णहयरा य बोधव्वा, तेसिं भेए सुणेह मे॥१७४॥

कठिन शब्दार्थ - जलयरा - जलचर, थलयरा - स्थलचर, णहयरा - नभचर।

भावाथ - दो प्रकार के उन तिर्यचों के भी प्रत्येक के तीन-तीन भेद जानने चाहिये। यथा - जलचर, स्थलचर और नभचर (खेचर)। अब उनके भेदों को मुझ से सुनो।

जलचर वर्णन

मच्छा य कच्छभा य, गाहा य मगरा तथा।

सुंसुमारा य बोधव्वा, पंचहा जलयराहिया॥१७५॥

कठिन शब्दार्थ - मच्छा - मच्छ, कच्छभा - कच्छप, गाहा - ग्राह, मगरा - मकर, सुंसुमारा - सुंसुमार, जलयरा - जलचर, आहिया - कहे गये हैं।

भावाथ - जलचर जीव, पांच प्रकार के कहे गये हैं, वे इस प्रकार जानने चाहिए। यथा - मच्छ, कच्छप (कच्छुआ), ग्राह, मकर और सुंसुमार।

लोएगदेसे ते सव्वे, ण सव्वत्थ वियाहिया।

इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं॥१७६॥

भावाथ - वे सभी जलचर जीव लोक के एक देश में कहे गये हैं, वे सर्वत्र नहीं हैं। अब आगे उन जीवों के चार प्रकार के कालविभाग को कहूँगा।

संतंइं पप्पणाइया, अपज्जवसिया वि य।

ठिइं पडुच्च साइया, सपज्जवसिया वि य॥१७७॥

भावार्थ - संतति-प्रवाह की अपेक्षा वे जलचर जीव अनादि और अपर्यवसित - अनन्त भी हैं और स्थिति की अपेक्षा सादि और सपर्यवसित - सान्त भी हैं।

एगा य पुव्वकोडी उ, उक्कोसेण वियाहिया।

आउठिइं जलयराणं, अंतोमुहत्तं जहणिया॥१७८॥

कठिन शब्दार्थ - पुव्वकोडी - पूर्व-करोड़ वर्ष की।

भावार्थ - जलचर जीवों की जघन्य आयु - स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट एक पूर्व-करोड़ वर्ष की कही गई है।

विवेचन - ७० लाख ५६ हजार वर्ष को एक करोड़ से गुणा करने पर - ७०५६०००००००००००० सांत नील, पांच खरब, छह अरब वर्षों का एक पूर्व होता है।

पुव्वकोडिपुहत्तं तु, उक्कोसेण वियाहिया।

कायठिइं जलयराणं, अंतोमुहत्तं जहणिया॥१७९॥

कठिन शब्दार्थ - पुव्वकोडिपुहत्तं - पृथक्त्व पूर्व करोड़ (आठ करोड़ पूर्व वर्षों जितनी उत्कृष्ट कायस्थिति समझना)।

भावार्थ - जलचर जीवों की जघन्य काय-स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट पृथक्त्व पूर्व-करोड़ वर्ष की कही गई है।

विवेचन - पुहत्तं - 'पृथक्त्व' यह पारिभाषिक शब्द है। 'पुहत्तं' शब्द की संस्कृत छाया 'पृथक्त्व' होती है। उसका हिन्दी में अर्थ अनेक होता है अर्थात् 'पृथक्त्व' बहुवाची होता है। इसका प्रत्येक अर्थ नहीं करना। 'पुहत्तं' का अनेक अर्थ करने में आगम से कहीं बाधा नहीं आती है। सामान्यतया परंपरा से 'पुहत्तं' का अर्थ २ से ९ करते हैं वह प्रायिक है। आगम के अनेक सूत्र पाठों के द्वारा 'पुहत्तं' शब्द का अर्थ दो से अनन्त तक हो सकता है। कम से कम दो समझना अधिक में प्रसंगानुसार ९ एवं उनसे कम ज्यादा का भी ग्रहण हो सकता है। अतः 'पुहत्तं' शब्द का अर्थ 'अनेक' या 'बहुत' करना उचित एवं संगत लगता है। 'अनेक' अर्थ में शास्त्रकारों की इष्ट संख्या का ग्रहण हो जाता है। उत्कृष्ट संख्या ९ आदि निश्चित करने पर अनेक बाधाएं आती हैं। 'अनेक' अर्थ करने पर 'अपसिद्धान्त दोष परिहरण' हो जाता है।

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहत्तं जहण्णयं।

विजढम्मि सए काए, जलयराणं अंतरं॥१८०॥

भावार्थ - अपनी काया को छोड़ कर पुनः प्राप्त करने का जलचर जीवों का जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त का और उत्कृष्ट अनन्तकाल का है।

विवेचन - यहां असंख्यात पुद्गल परावर्तन को अनन्त काल कहा है।

एसंसिं वण्णओ चैव, गंधओ रस-फासओ।

संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो॥१८१॥

भावार्थ - इन जलचर जीवों के वर्ण से, गन्ध से, रस से, स्पर्श से और संस्थान की अपेक्षा से भी सहस्रश - हजारों विधान - भेद हो जाते हैं।

स्थलचर - वर्णन

चउप्पया य परिसप्पा, दुविहा थलयरा भवे।

चउप्पया चउव्विहा, ते मे कित्तयओ सुण॥१८२॥

कठिन शब्दार्थ - चउप्पया - चतुष्पद-चौपाये, परिसप्पा - परिसर्प, कित्तयओ - कीर्तन।

भावार्थ - स्थलचर जीव दो प्रकार के होते हैं। यथां - चतुष्पद और परिसर्प, इनमें चतुष्पद जीव चार प्रकार के हैं। अब मैं उनका कीर्तन-वर्णन करता हूँ, तुम ध्यान पूर्वक सुनो।

एगखुरा दुखुरा चैव, गंडीपया सणप्पया।

हयमाइ गोणमाइ, गयमाइ सीहमाइणो॥१८३॥

कठिन शब्दार्थ - एगखुरा - एक खुर वाले, दुखुरा - दो खुर वाले, गंडीपया - गंडीपद, सणप्पया - सनखपद वाले, हयमाइ - घोड़ा आदि, गोणमाइ - गाय आदि, गयमाइ - गज आदि, सीहमाइणो - सिंह आदि।

भावार्थ - एक खुर वाले जैसे - हय आदि - घोड़ा गदहा आदि। दो खुर वाले गो आदि - गाय, बैल आदि। गंडीपद (सुनार की एरण अथवा कमल की कर्णिका के समान गोल पांव वाले जीव) जैसे - गज आदि - हाथी आदि और सनखपदा (जिनके पांवों में नख हों) जैसे सिंह, कुत्ता, बिल्ली आदि।

विवेचन - चतुष्पदों के चार एवं परिसर्पों के दो भेद कहे हैं।

भुओरगपरिसप्पा य, परिसप्पा दुविहा भवे।

गोहाइ अहिमाइ य, एक्केक्का णेगहा भवे॥१८४॥

कठिन शब्दार्थ - भुअ - भुजपरिसर्प, उरगपरिसप्पा - उरःपरिसर्प, गोहाइ - गोंह आदि, अहिमाइ - अहि आदि।

भावार्थ - परिसर्प दो प्रकार के होते हैं - भुजपरिसर्प जैसे गोह, नकुल, चूहे आदि और उरःपरिसर्प जैसे - अहि आदि - सांप आदि और इन प्रत्येक के अनेकधा - अनेक भेद होते हैं।

लोएगदेसे ते सव्वे, ण सव्वत्थ वियाहिया।

इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं॥१८५॥

भावार्थ - वे सब स्थलचर जीव लोक के एक देश में व्याप्त हैं, सर्वत्र नहीं है, ऐसा कहा गया है। अब इसके आगे उन जीवों के चार प्रकार के काल विभाग को कहूँगा।

संतइं पप्पणाइया, अपज्जवसिया वि य।

ठिइं पडुच्च साइया, सपज्जवसिया वि य॥१८६॥

भावार्थ - प्रवाह की अपेक्षा स्थलचर जीव अनादि और अपर्यवसित - अनन्त भी हैं और स्थिति की अपेक्षा सादि और सपर्यवसित - सान्त भी है।

पलिओवमाइं तिण्णि उ, उक्कोसेण वियाहिया।

आउठिईं थलयराणं, अंतोमुहुत्तं जहणिया॥१८७॥

कठिन शब्दार्थ - पलिओवमाइं - पल्योपम, तिण्णि - तीन।

भावार्थ - स्थलचर जीवों की जघन्य आयुस्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की कही गई है।

विवेचन - तीन पल्योपम की स्थिति युगलिक की अपेक्षा समझनी चाहिए।

पलिओवमाइं तिण्णि उ, उक्कोसेण वियाहिया।

पुव्वकोडीपुहत्तेणं, अंतोमुहुत्तं जहणिया।

कायठिईं थलयराणं, अंतरं तेसिमं भवे॥१८८॥

भावार्थ - स्थलचर जीवों की उत्कृष्ट कायस्थिति तीन पल्योपम सहित पृथक्च कोटि-पूर्व की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की कही गई है। उनका अन्तर काल निम्नलिखित है।

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहण्णयं।

विजढम्मि सए काए, थलयराणं तु अंतरं॥१८६॥

भावार्थ - अपनी काया को छोड़ने पर स्थलचर जीवों का उत्कृष्ट अन्तर अनन्तकाल का और जघन्य अन्तर्मुहूर्त का है।

विवेचन - भगवती सूत्र के २४वें शतक में तथा उत्तराध्ययन सूत्र के १० वें अध्ययन की तेरहवीं गाथा में बताया गया है कि - तिर्यच पंचेन्द्रिय जीव, तिर्यच पंचेन्द्रिय के लगातार भव करे तो उत्कृष्ट ८ भव कर सकता है। यहाँ उत्कृष्ट स्थिति की अपेक्षा एक करोड़ पूर्व, एक करोड़ पूर्व के ७ भव और आठवाँ भव युगलिक का तीन पल्योपम की स्थिति वाला करे तो सात करोड़ पूर्व सहित तीन पल्योपम की स्थिति उत्कृष्ट कायस्थिति बन सकती है।

एसंसिं वण्णओ चेव, गंधओ रस-फासओ।

संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो॥१६०॥

भावार्थ - वर्ण से, गन्ध से, रस से, स्पर्श से और भी संस्थान की अपेक्षा इन स्थलचर जीवों के सहस्रश - हजारों भेद हो जाते हैं।

नभचर जीवों का स्वरूप

चम्मे य लोमपक्खी य, तइया समुग्गपक्खिया।

विययपक्खी य बोधव्वा, पक्खिणो य चउव्विहा॥१६१॥

कठिन शब्दार्थ - चम्मे - चर्मपक्षी, लोमपक्खी - लोम(रोम)पक्षी, समुग्गपक्खिया-समुद्रगक पक्षी, विययपक्खी - विततपक्षी।

भावार्थ - चर्मपक्षी (जिनके पंख चमड़े के हों, जैसे चमगादड़ आदि), रोमपक्षी (रोम के पंख वाले, जैसे राजहंस आदि), तीसरे समुद्रगकपक्षी (जिनके पंख सदैव बन्द रहते हैं) और विततपक्षी (जिनके पंख सदैव खुले रहते हैं) इस प्रकार चार प्रकार के पक्षी जानने चाहिए।

विवेचन - समुद्रगकपक्षी और विततपक्षी, ये दोनों प्रकार के पक्षी मनुष्य क्षेत्र के बाहर के द्वीपसमुद्रों में होते हैं, यहाँ नहीं होते अर्थात् ढाई द्वीप में चर्मपक्षी और रोमपक्षी ये दो तरह के ही पक्षी होते हैं। बाहर के द्वीप समुद्रों में चारों प्रकार के पक्षी होते हैं।

लोएगदेसे ते सव्वे, ण सव्वत्थ वियाहिया।

इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं॥१६२॥

भावार्थ - वे सभी पक्षी लोक के एक देश में कहे गये हैं, वे सर्वत्र नहीं हैं। अब इसके आगे उनका चार प्रकार का कालविभाग कहूँगा।

संतइं पप्पणाइया, अपज्वसिया वि य।

ठिइं पडुच्च साइया, सपज्वसिया वि य॥१६३॥

भावार्थ - संतति-प्रवाह की अपेक्षा से सभी पक्षी अनादि और अपर्यवसित - अनन्त भी हैं और स्थिति की अपेक्षा सादि और सपर्यवसित - सान्त भी हैं।

पलिओवमस्स भागो, असंखेज्जइमो भवे।

आउठिईं खहयराणं, अंतोमुहुत्तं जहण्णयं॥१६४॥

कठिन शब्दार्थ - पलिओवमस्स - पल्योपम का, भागो - भाग, असंखेज्जइमो - असंख्यातवां।

भावार्थ - खहचर - खेचर जीवों की उत्कृष्ट आयु स्थिति पल्योपम का असंख्यातवां भाग है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त है।

असंखभागो पलियस्स, उक्कोसेण उ साहिया।

पुव्वकोडि पुहत्तेणं, अंतोमुहुत्तं जहण्णिया॥१६५॥

कायठिईं खहयराणं, अंतरं तेसिमं भवे।

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहण्णयं॥१६६॥

भावार्थ - खहचर - खेचर जीवों की, उत्कृष्ट कायस्थिति पल्योपम का असंख्यातवां भाग अधिक पृथक्त्वं पूर्व कोटि है, जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त है। उनका उत्कृष्ट अन्तर अनन्त काल का है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का है।

विवेचन - तिर्यच पंचेन्द्रियों के पांच भेदों में से सिर्फ दो भेद वाले युगलिक भी होते हैं- स्थलचर और खेचर। खेचर की यह स्थिति युगलिक की अपेक्षा समझनी चाहिये। खेचर की कायस्थिति में पृथक्त्वं पूर्व कोटि में सात करोड़ पूर्व जितनी समझना। अर्थात् पल्योपम के असंख्यातवें भाग तथा सात करोड़ पूर्व जितनी उत्कृष्ट काय स्थिति होती है।

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रस-फासओ।

संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो॥१६७॥

भावार्थ - वर्ण से, गन्ध से, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से भी इन पक्षियों के सहस्रश - हजारों विधान - भेद हो जाते हैं।

मनुष्यों का स्वरूप

मणुया दुविह भेया उ, ते मे कित्तयओ सुण।

सम्मूच्छिमा य मणुया, गब्भवक्कंतिया तहा ॥१९८८॥

कठिन शब्दार्थ - मणुया - मनुज - मनुष्य, सम्मूच्छिमा - सम्मूच्छिम, गब्भवक्कंतिया - गर्भव्युत्क्रान्तिक (गर्भज)।

भावार्थ - मनुष्य दो प्रकार के हैं, यथा - सम्मूच्छिम मनुष्य और गर्भव्युत्क्रान्तिक (गर्भज)। मैं उनका कीर्तन-कथन करता हूँ अतः सावधान होकर सुनो।

गब्भवक्कंतिया जे उ, तिविहा ते वियाहिया।

कम्मअकम्मभूमा य, अंतरदीवया तहा ॥१९९९॥

कठिन शब्दार्थ - कम्मअकम्मभूमा - कर्मभूमिज अकर्मभूमिज, अंतरदीवया - अंतरद्वीपिक।

भावार्थ - जो गर्भव्युत्क्रान्तिक (गर्भज) मनुष्य हैं, वे तीन प्रकार के कहे गये हैं, कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज और अन्तरद्वीपिक।

पण्णरस-तीसइविहा, भेया दुअट्टवीसइं।

संखा उ कमसो तेसिं, इइ एसा वियाहिया ॥२००॥

कठिन शब्दार्थ - पण्णरस - पन्द्रह, तीसइविहा - तीस भेद, दुअट्टवीसइं भेया - छप्पन भेद, संखा - संख्या, कमसो - क्रमशः।

भावार्थ - कर्मभूमि के पन्द्रह, अकर्मभूमि के तीस और अन्तरद्वीप के छप्पन भेद इस प्रकार उनकी क्रमशः यह संख्या कही गई है।

विवेचन - चुल्लहिमवान् पर्वत के पूर्व और पश्चिम विदिशा में अट्टाईस अन्तरद्वीप हैं, इसी प्रकार शिखरी पर्वत के पूर्व और पश्चिम विदिशा में भी अट्टाईस अन्तरद्वीप हैं। सब मिला कर छप्पन अन्तरद्वीप हैं, इसलिए गाथा में 'दुअट्टवीसइं' शब्द दिया है। अर्थात् अट्टाईस को दो वक्त गिनना चाहिये। इससे ५६ की संख्या पूरी होती है। दूसरी प्रायः सब प्रतियों 'अट्टवीसइं' शब्द दिया है। इससे ज्ञात होता है कि वहाँ दूसरी तरफ के अन्तर द्वीपों को गौण कर दिया है।

सम्मूच्छिमाण एसेव, भेओ होइ वियाहिओ।

लोगस्स एगदेसम्मि, ते सव्वे वि वियाहिया ॥२०१॥

कठिन शब्दार्थ - सम्मूर्च्छिमाण - सम्मूर्च्छिम, भेओ - भेद, लोगस्स - लोक के, एगदेसम्मि - एक देश में।

भावार्थ - ये ही भेद सम्मूर्च्छिम मनुष्यों के होते हैं ऐसा कहा गया है। वे सभी मनुष्य लोक के एक देश में कहे गये हैं।

विवेचन - प्रश्न - सम्मूर्च्छिम मनुष्य किसे कहते हैं? उसके कितने भेद हैं और उनका उत्पत्ति स्थान कहाँ हैं?

उत्तर - बिना माता-पिता के उत्पन्न होने वाला अर्थात् स्त्री-पुरुष के समागम के बिना ही उत्पन्न होने वाला जीव सम्मूर्च्छिम मनुष्य कहलाता है। ४५ लाख योजन परिमाण मनुष्य क्षेत्र में अढ़ाई द्वीप और दो समुद्रों में, पन्द्रह कर्म भूमि, तीस अकर्मभूमि और छप्पन अनारद्वीपों में गर्भज मनुष्य रहते हैं। उनके मल मूत्र आदि में सम्मूर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न होते हैं। उनके उत्पत्ति के स्थान १४ हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं -

१. उच्चारसु - विंष्ठा में २. पासवणेसु - मूत्र में ३. खेलेसु - कफ में ४. सिंघाणेसु - नाक के मैल में ५. वंतेसु - वमन में ६. पित्तेसु - पित्त में ७. पूरसु - पीप, राघ और दुर्गन्ध युक्त बिगड़े घाव से निकले हुए खून में ८. सोणिएसु - शोणित - खून में ९. सुक्केसु - शुक्र - वीर्य में १०. सुक्कपुग्गल परिसाडेसु - वीर्य आदि के सूखे हुए पुद्गलों के गीले होने में ११. विगय (वन्नगय) जीव कलेवरेसु - जीव रहित शरीर में अर्थात् मरे हुए शरीर में १२. थीपुरिस संजोएसु - स्त्री-पुरुष के संयोग में अर्थात् मैथुन सेवन करने में १३. णगरणिद्धमणेसु - नगर की मोरियाँ (गटरों) में १४. सव्वेसु असुइद्धाणेसु - उपरोक्त तेरह बोल अथवा उससे कम बोल एक जगह इकट्ठे होने पर। जैसा कि अस्पतालों में खून, रस्सी, टट्टी, पेशाब आदि इकट्ठे हो जाते हैं। उनमें सम्मूर्च्छिम मनुष्य पैदा होते हैं।

मुंह में जो थूक है उसमें सम्मूर्च्छिम मनुष्य पैदा नहीं होते। थूक को तो अमी (अमृत) कहते हैं। इससे तो कई बीमारियाँ ठीक होती हैं इसलिए 'मुंहपत्ति बांधने में थूक लगता है और उसमें सम्मूर्च्छिम मनुष्य पैदा होते हैं' यह कहना आगम विरुद्ध है।

सम्मूर्च्छिम मनुष्य की अवगाहना अङ्गुल के असंख्यातवें भाग परिमाण होती है। ये असंज्ञी, एकान्त मिथ्यादृष्टि और अज्ञानी होते हैं। इनका आयुष्य अन्तर्मुहूर्त का होता है। ये अपर्याप्त अवस्था में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। (पणवणा पद १, अनुयोगद्वार)

संतइं पप्पणाइया, अपज्जवसिया वि य।

ठिइं पडुच्च साइया, सपज्जवसिया वि य॥२०२॥

भावार्थ - संतति - प्रवाह की अपेक्षा सभी मनुष्य अनादि और अपर्यवसित - अनन्त भी हैं, स्थिति की अपेक्षा सादि और सपर्यवसित - सान्त भी हैं।

पलिओवमाइं तिण्णि उ, उक्कोसेण वियाहिया।

आउठिई मणुयाणं, अंतोमुहुत्तं जहणिया ॥२०३॥

भावार्थ - मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु स्थिति तीन पत्योपम की है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की कही गई है।

विवेचन - मनुष्य का तीन पत्योपम का आयुष्य युगलिक मनुष्य की अपेक्षा समझना चाहिये।

पलिओवमाइं तिण्णि उ, उक्कोसेण वियाहिया।

पुक्वकोडिपुहत्तेणं, अंतोमुहुत्तं जहणिया ॥२०४॥

कायठिई मणुयाणं, अंतरं तेसिमं भवे।

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहणयं ॥२०५॥

भावार्थ - मनुष्यों की उत्कृष्ट कायस्थिति तीन पत्योपम सहित पृथक्त्व पूर्व-कोटि की है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की कही गई है। उनका उत्कृष्ट अन्तर अनन्त काल का है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त का है।

विवेचन - भगवती सूत्र के चौबीसवें शतक में बतलाया गया है कि - कर्मभूमिज मनुष्य, मनुष्य के लगातार आठ भव कर सकता है। यहाँ मनुष्य की उत्कृष्ट कायस्थिति चल रही है इसलिए करोड़ पूर्व-करोड़ पूर्व स्थिति के सात भव कर्मभूमिज मनुष्य के तथा तीन पत्योपम की स्थिति वाला युगलिक मनुष्य का भव करे तो सात करोड़ पूर्व सहित तीन पत्योपम की उत्कृष्ट मनुष्य की कायस्थिति बन सकती है।

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रस-फासओ।

संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥२०६॥

भावार्थ - वर्ण से, गन्ध से, रस से, स्पर्श से और संस्थान की अपेक्षा से भी इनके सहस्रश - हजारों विधान - भेद होते हैं।

देवों का वर्णन

देवा चउव्विहा वुत्ता, ते मे कित्तयओ सुण।

भोमिज्ज वाणमंतर, जोइस वेमाणिया तहा ॥२०७॥

कठिन शब्दार्थ - भोमिज्ज - भौमेयक-भवनपति, वाणमंतर - वाणव्यंतर, जोइस - ज्योतिषी, वेमाणिया - वैमानिक।

भावार्थ - देव चार प्रकार के कहे गये हैं, यथा - भौमेयक - भवनपति, वाणव्यंतर ज्योतिषी और वैमानिक। अब मैं उन देवों के भेदों का वर्णन करता हूँ सो सावधान होकर सुनो।

विवेचन - देव चार प्रकार के कहे गये हैं -

१. **भवनपति** - जो प्रायः भवनों में रहते हैं, वे भवनपति (भवनवासी) अथवा भौमेय कहलाते हैं। इनमें से केवल असुरकुमार विशेषतया भवनों में रहते हैं, शेष नागकुमार आदि नौ प्रकार के देव आवासों में रहते हैं। इनका निवास स्थान अधोलोक में है।

२. **वाणव्यंतर** - ये प्रायः वनों में, गुफाओं में, वृक्षों के विवरों में या प्राकृतिक सौन्दर्य वाले स्थानों में रहते हैं। ये तीनों लोकों में अपनी इच्छानुसार भ्रमण करते हुए पूर्वोक्त यथेष्ट स्थानों में निवास करते हैं, इसलिए वाणव्यंतर कहलाते हैं।

३. **ज्योतिषी** - जो देव तिर्यक् लोक को अपनी ज्योति से प्रकाशित करते हैं, वे ज्योतिषी देव कहलाते हैं। इनके विमान निरन्तर मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करते हैं। ये अढ़ाई द्वीप में गतिशील और अढ़ाई द्वीप के बाहर स्थिर हैं।

४. **वैमानिक** - जो विशेष रूप से माननीय है और किये हुए शुभ कर्मों का फल विमानों में उत्पन्न होकर यथेच्छ भोगते हैं और विमानों में ही निवास करते हैं, वे वैमानिक देव कहलाते हैं।

दसहा उ भवणवासी, अट्टहा वणचारिणो।

पंचविहा जोइसिया, दुविहा वेमाणिया तहा ॥२०८॥

कठिन शब्दार्थ - दसहा - दस प्रकार के, अट्टहा - आठ प्रकार के, वणचारिणो - वनचारी-वाणव्यंतर ।

भावार्थ - भवनवासी (भवनपति) दस प्रकार के, वाणव्यंतर आठ प्रकार के, ज्योतिषी पांच प्रकार के और वैमानिक दो प्रकार के कहे गये हैं।

१. भवनपति देव

असुरा णाग-सुवण्णा, विज्जू अग्गी य आहिया।

दीवोदहि-दिसा वाया, थणिया भवणवासिणो ॥२०६॥

कठिन शब्दार्थ - असुरा - असुरकुमार, णाग - नागकुमार, सुवण्णा - सुवर्णकुमार, विज्जू - विद्युतकुमार, अग्गी - अग्निकुमार, दीव - द्वीपकुमार, उदहि - उदधिकुमार, दिसा- दिशाकुमार, वाया - वायुकुमार, थणिया - स्तनितकुमार।

भावार्थ - असुरकुमार, नागकुमार, सुवर्णकुमार, विद्युतकुमार, अग्निकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिशाकुमार, वायुकुमार और स्तनितकुमार, ये दस प्रकार के भवनवासी देव कहे गये हैं।

विवेचन - ये देव प्रायः भवनों में रहते हैं। इसलिए इनको भवनवासी या भवनपति कहते हैं। इस प्रकार की व्युत्पत्ति असुरकुमारों की अपेक्षा समझनी चाहिए क्योंकि विशेष कर ये ही भवनों में रहते हैं। नागकुमार आदि देव तो आवासों में रहते हैं। भवन तो बाहर से गोल और अन्दर से चतुष्कोण होते हैं। उनके नीचे का भाग कमल की कर्णिका के आकार का होता है।

शरीर परिमाण बड़े और मणि अथवा रत्नों के दीपकों से चारों दिशाओं को प्रकाशित करने वाले मंडप 'आवास' कहलाते हैं। भवनवासी देव भवनों में तथा आवासों में दोनों में रहते हैं।

प्रश्न - भवनवासी देवों के भवन और आवास कहाँ आये हुए हैं?

उत्तर - भगवती सूत्र के दूसरे शतक के ८ वें उद्देशक में तथा तेरहवें शतक के छठे उद्देशक में बतलाया गया है कि - सम धरती से चालीस हजार योजन नीचे जाने पर चमरेन्द्रजी की चमरचंचा राजधानी आती है। रत्नप्रभा नरक में तेरह प्रस्तट - पाथड़े और बारह अंतर (आंतरा) हैं। इनमें से ऊपर के दो आंतरे तो खाली पड़े हैं तीसरे आंतरे में असुरकुमार जाति के भवनवासी देव रहते हैं। इस प्रकार क्रमशः चौथे आंतरे में नागकुमार, पांचवें में सुवर्णकुमार यावत् बारहवें आंतरे में स्तनित कुमार भवनवासी देव रहते हैं।

पुराने थोकड़े वाले इस प्रकार बोलते हैं कि - बारह आंतरों में से ऊपर का पहला और बारहवाँ अन्तिम आंतरा खाली हैं। बीच के दस आंतरों में दस भवनपति देव रहते हैं। यह कहना उपरोक्त मूल पाठ से मेल नहीं खाता है। अतः आगम सम्मत नहीं है।

२. वाणव्यंतर देव

पिसाय भूया जक्खा य, रक्खसा किण्णरा किंपुरिसा।

महोरगा य गंधव्वा, अट्टविहा वाणमंतरा ॥२१०॥

कठिन शब्दार्थ - पिसाय - पिशाच, भूया - भूत, जक्खा - यक्ष, रक्खसा - राक्षस, किण्णरा - किन्नर, किं पुरिसा - किंपुरुष, महोरगा - महोरग, गंधव्वा - गंधर्व।

भावार्थ - पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, महोरग और गन्धर्व ये आठ प्रकार के वाणव्यंतर देव कहे गये हैं।

विवेचन - पणवणा सूत्र और उववाइय सूत्र में वाणव्यंतरों के और भी आठ भेद दिये हैं। यथा - १. आणपण्णे २. पाणपण्णे ३. इसिवाई (ऋषिवादी) ४. भूयवाई (भूतवादी) ५. कन्दे ६. महाकन्दे ७. कुह्याण्ड (कूष्माण्ड) ८. पयदेव (प्रेतदेव) अथवा पयंगदेव (पतंगदेव)। ये अल्प ऋद्धि वाले हैं। इसलिए इनकी यहाँ पर अलग विवक्षा नहीं की गई है। इन्हीं में इनका अन्तर्भाव समझ लेना चाहिए।

प्रश्न - व्यंतर किसे कहते हैं?

उत्तर - वि - आकाश। जिनका अन्तर अर्थात् अवकाश (आश्रय) है उन्हें व्यन्तर कहते हैं अथवा विविध प्रकार के भवन, नगर तथा आवास रूप जिनका आश्रय है अथवा 'विगतमन्तरं मनुष्येभ्यो येषां तै व्यन्तराः' अर्थात् जिन देवों का मनुष्यों से अन्तर व्यवधान नहीं है उन्हें व्यन्तर कहते हैं। क्योंकि बहुत से व्यन्तर देव चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि की नौकर की तरह सेवा करते हैं। इसलिए मनुष्यों से उनका भेद नहीं है अथवा 'विविधमन्तरमाश्रय रूपं येषां ते व्यन्तराः' अर्थात् पर्वत गुफा वनखण्ड आदि जिनके विविध प्रकार के अन्तर अर्थात् आश्रय हैं वे व्यन्तर कहलाते हैं। सूत्रों में वाणमन्तर या वाणव्यन्तर पाठ भी आता है। 'वनानामन्तरेषु भवाः वानमन्तराः' अर्थात् वनों के अन्तर में (मध्य में) रहने वाले देव। इनके आठ भेद पिशाच आदि गाथा में बतला दिये हैं।

गंधर्व जाति के व्यन्तर संगीत से बहुत प्रीति करते हैं। वे भी आठ प्रकार के हैं। जो कि आणपन्निक आदि ऊपर बता दिये गये हैं। ये देव बहुत चपल, चंचल चित्त वाले तथा हास्य और क्रीड़ा को पसन्द करने वाले होते हैं। सदा विविध प्रकार के आभूषणों से अपने शरीर को सिंगारने में अथवा विविध क्रीड़ाओं में लगे रहते हैं।

प्रश्न - वाणव्यंतर कहाँ रहते हैं?

उत्तर - इस रत्नप्रभा पृथ्वी का पहला रत्नकाण्ड है। जो हजार योजन का है। उसमें से एक सौ योजन ऊपर और एक सौ योजन नीचे छोड़ कर बीच के ८०० योजन तिरछा लोक में वाणव्यंतर देवों के असंख्यात नगर और आवास हैं।

३. ज्योतिषी देव

चंदा सूरा य णक्खत्ता, गहा तारागणा तथा।

ठिया विचारिणो चेव, पंचहा जोइसालया ॥ २११ ॥

कठिन शब्दार्थ - चंदा - चन्द्र, सूरा - सूर्य, णक्खत्ता - नक्षत्र, गहा - ग्रह, तारागणा - तारागण, ठिया - स्थिर, विचारिणो - विचारी-चर, जोइसालया - ज्योतिषालय।

भावार्थ - चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र, ग्रह और तारागण, ये पांच प्रकार के ज्योतिषालय-ज्योतिषी देव हैं। ये स्थिर और विचारी - चर, दो प्रकार के हैं (ढाई द्वीप के बाहर के ज्योतिषी देव स्थिर हैं और ढाई द्वीप के अन्दर के ज्योतिषी देव चर हैं। वे सदैव मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करते हुए गति करते रहते हैं)।

विवेचन - प्रश्न - ज्योतिषी देव किसे कहते हैं?

उत्तर - ज्योति का अर्थ है प्रकाश, चमक। जिन देवों के विमान प्रकाश युक्त हैं, उन विमानों में रहने वाले देवों को ज्योतिषी देव कहते हैं। इनके दो भेद हैं - चर (चलने वाले) और अचर (स्थिर)।

दो समुद्र और अढ़ाई द्वीप के ज्योतिषी चर हैं। अढ़ाई द्वीप के बाहर असंख्य ज्योतिषी देव हैं, वे सब अचर हैं।

प्रश्न - ज्योतिषी देवों के कितने भेद हैं?

उत्तर - ज्योतिषी देवों के पांच भेद हैं - चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र एवं तारा।

जम्बूद्वीप में दो चन्द्र, दो सूर्य, छप्पन नक्षत्र, एक सौ छहत्तर ग्रह और एक लाख तेतीस हजार नौ सौ पचास कोड़ाकोड़ी तारे हैं। लवण समुद्र में चार, धातकी खण्ड द्वीप में बारह, कालोदधि में ४२ और अर्द्ध पुष्करद्वीप में ७२ चन्द्र हैं। इन क्षेत्रों में सूर्य की संख्या भी चन्द्र के समान है। इस प्रकार अढ़ाई द्वीप में १३२ चन्द्र और १३२ सूर्य हैं। एक चन्द्र का परिवार २८ नक्षत्र, ८८ ग्रह और ६६६७५ कोड़ाकोड़ी तारे हैं। इस प्रकार अढ़ाई द्वीप में इनसे १३२ गुणा ग्रह, नक्षत्र और तारा हैं। ये सब ज्योतिषी मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करते हुए चलते रहते हैं। इनको

‘गतिरतिक’ कहते हैं अर्थात् चलते रहने में आनंद मानने वाले। चन्द्र से सूर्य, सूर्य से ग्रह, ग्रह से नक्षत्र और नक्षत्र से तारा शीघ्र गति वाले हैं। ऋद्धि की अपेक्षा अल्पऋद्धि वाले हैं।

प्रश्न - ज्योतिषी देवों का स्थान कहाँ है?

उत्तर - मध्यलोक में मेरुपर्वत के समभूमि भाग से ऊपर ७६० योजन से लेकर ६०० योजन तक अर्थात् ११० योजन में ज्योतिषी देवों के विमान हैं। समभूमि से ८०० योजन ऊपर सूर्य का विमान है। ८८० योजन ऊपर चन्द्र का विमान है। उनसे ऊपर २० योजन में ग्रह, नक्षत्र और तारा है। वैसे तारा तो ७६० से लेकर ६०० योजन तक सर्वत्र फैले हुए हैं।

४. वैमानिक देव

वेमाणिया उ जे देवा, दुविहा ते वियाहिया।

कप्पोवगा य बोधव्वा, कप्पाईया तहेव य॥२१२॥

कठिन शब्दार्थ - कप्पोवगा - कल्पोपपन्नक, कप्पाईया - कल्पातीत।

भावार्थ - जो वैमानिक देव हैं, वे दो प्रकार के कहे गये हैं। वे इस प्रकार जानने चाहिए - कल्पोपपन्नक - कल्पोपपन्न और कल्पातीत।

विवेचन - प्रश्न - वैमानिक देव किसे कहते हैं?

उत्तर - जो देव विमानों में रहते हैं, उन्हें वैमानिक देव कहते हैं। सभी विमान रत्नों के बने हुए हैं, स्वच्छ, कोमल, स्निग्ध, घिसकर चिकने किये हुए, साफ किये हुए, रज रहित, निर्मल, निष्पंक, बिना आवरण की दीप्ति वाले, प्रभा सहित, शोभा सहित, उद्योत सहित, चित्त को प्रसन्न करने वाले, दर्शनीय (देखने योग्य), अभिरूप (जिनको देखते हुए आंखें थके नहीं) और प्रतिरूप अर्थात् जितनी बार देखे उतनी ही बार नये-नये दिखाई देने वाले।

(शास्त्रों में ‘अच्छा, सण्हा से लेकर प्रतिरूप’ तक १६ विशेषण शाश्वत वस्तुओं के दिये जाते हैं। अशाश्वत वस्तु के लिए ‘पासाईया, दरिसर्णिजा, अभिरूवा, पडिरूवा’ ये चार विशेषण दिये जाते हैं। जैसे कि - द्वारिका राजगृह के लिये दिये गये हैं।)

प्रश्न - वैमानिक देवों के कितने भेद हैं?

उत्तर - संक्षेप में वैमानिक देवों के दो भेद हैं - कल्पोपपन्न और कल्पातीत।

प्रश्न - कल्पोपपन्न किसे कहते हैं?

उत्तर - यहाँ कल्प का अर्थ है - मर्यादा अर्थात् जिन देवों में स्वामी, सेवक, छोटा, बड़ा, इन्द्र, सामानिक आदि की मर्यादा बन्धी हुई हो, उन्हें कल्पोपपन्न कहते हैं।

प्रश्न - कल्पातीत किसे कहते हैं?

उत्तर - जिन देवों में स्वामी, सेवक, छोटा, बड़ा, इन्द्र, सामानिक आदि की मर्यादा नहीं हैं किन्तु सभी देव अपने आपको अहमिन्द्र मानते हैं, उनको कल्पातीत कहते हैं।

प्रश्न - इन्द्र सामानिक आदि कितने भेद हैं?

उत्तर - तत्त्वार्थ सूत्र के चौथे अध्याय में देवों के दस प्रकार बतलाये हैं। यथा -

“इन्द्र सामानिक त्रायस्त्रिंशत्परिषदात्मरक्षलोकपालानीक-
प्रकीर्णकाभियोग्य कित्विषिकाश्चैकशः ॥४॥”

१. इन्द्र - स्वामी, अधिपति, ऐश्वर्यवान् आदि इन्द्र पदवी से अभिषेक किया हुआ यह देव अपने समूह के देवों का स्वामी होता है। इनका ऐश्वर्य सर्वाधिक होता है। इनकी आज्ञा सब देवों पर चलती है।

२. सामानिक - आयु आदि में जो इन्द्र के बराबर होते हैं। केवल इनमें इन्द्रपणा नहीं होता और देवों पर आज्ञा नहीं चलती है।

३. त्रायस्त्रिंश - ये देव इन्द्र के पुरोहित अथवा मंत्री तुल्य होते हैं। माता-पिता एवं गुरु के समान पूज्य होते हैं। इनका दूसरा नाम दोगुन्दक देव हैं। ये प्रत्येक इन्द्र के तेतीस होते हैं। इसलिए इनको त्रायस्त्रिंश कहते हैं।

४. परिषदा - इन्द्र के मित्र के समान तथा इन्द्र के सभा के सदस्य।

५. आत्मरक्षक - जो देव हाथ में शस्त्र लेकर इन्द्र के पीछे खड़े रहते हैं। यद्यपि इन्द्र को किसी प्रकार की तकलीफ या अनिष्ट होने की संभावना नहीं है तथापि आत्मरक्षक देव अपना कर्तव्य पालन करने के लिए हर समय हाथ में शस्त्र लेकर खड़े रहते हैं।

६. लोकपाल - सीमा (सरहद) की रक्षा करने वाले देव।

७. अनीक - 'अनीक' का अर्थ है सेना। यहाँ पर इस शब्द से सैनिक और सेनापति दोनों प्रकार के देव समझना चाहिए।

८. प्रकीर्णक - नगर निवासी, सामान्य प्रजाजन।

९. आभियोगिक - सेवा करने वाले सेवक, दास की श्रेणि के देव।

१०. कित्विषिक - अंत्यज (चाण्डाल के समान) इनका निवास विमान के बाह्य भागों में होता है।

प्रश्न - क्या चारों जाति के देवों में ये दस-दस भेद होते हैं?

उत्तर - 'त्रायस्त्रिंशलोकपालवज्यां व्यंतरज्योतिष्काः'

अर्थ - भवनपति और वैमानिकों में दस ही भेद होते हैं किन्तु वाणव्यंतर एवं ज्योतिषियों में त्रायस्त्रिंश तथा लोकपाल, ये दो भेद नहीं होते हैं। शेष आठ भेद होते हैं।

तात्पर्य यह है कि - भवनपति, वाणव्यंतर, ज्योतिषी देवों में भी कल्पोपपन्नकता है। इनमें कल्पातीत नहीं होते हैं। इसीलिए इनमें दो भेद नहीं किये। सिर्फ वैमानिक देवों में कल्पोपपन्न और कल्पातीत ऐसे दो भेद होते हैं।

कल्पोपपन्न के भेद

कप्पोवगा य बारसहा, सोहम्मीसाणगा तथा।

सणकुमारमाहिंदा, बंभलोगा य लंतगा॥२१३॥

महासुक्का सहस्सारा, आणया पाणया तथा।

आरणा अच्चुया चैव, इइ कप्पोवगा सुरा॥२१४॥

भावार्थ - कल्पोपपन्न देव द्वादशधा - बारह प्रकार के हैं, यथा - सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आणत, प्राणत, आरण और अच्चुत। ये कल्पोपपन्न देव हैं।

कल्पातीत के भेद

कप्पाईया उ जे देवा, दुविहा ते वियाहिया।

गेविज्जाणुत्तरा चैव, गेविज्जा णवविहा तहिं॥२१५॥

भावार्थ - जो कल्पातीत देव हैं, वे दो प्रकार के कहे गये हैं - ग्रैवेयक और अनुत्तर। इनमें ग्रैवेयक देव नौ प्रकार के हैं।

हेट्टिमा हेट्टिमा चैव, हेट्टिमा मज्झिमा तथा।

हेट्टिमा उवरिमा चैव, मज्झिमा हेट्टिमा तथा॥२१६॥

मज्झिमा मज्झिमा चैव, मज्झिमा उवरिमा तथा।

उवरिमा हेट्टिमा चैव, उवरिमा मज्झिमा तथा॥२१७॥

उवरिमा उवरिमा चैव, इय गेविज्जगा सुरा।

विजया वेजयंता य, जयंता अपराजिया॥२१८॥

सव्वट्टसिद्धगा चेव, पंचहाणुत्तरा सुरा।

इय वेमाणिया एए, णोगहा एवमायओ ॥२१६॥

कठिन शब्दार्थ - हेट्टिमा-हेट्टिमा - अधस्तन-अधस्तन, हेट्टिमा मज्झिमा - अधस्तन-मध्यम, हेट्टिमा उवरिमा - अधस्तन-उपरितन, मज्झिमा मज्झिमा - मध्यम-मध्यम, मज्झिमा-उवरिमा - मध्यम उपरितन, उवरिमा हेट्टिमा - उपरितन-अधस्तन, उवरिमा मज्झिमा - उपरितन-मध्यम, उवरिमा उवरिमा - उपरितन-उपरितन, गोविज्जा सुरा - ग्रैवेयक देव, विजया-विजय, वैजयंता - वैजयंत, जयंता - जयंत, अपराजिया - अपराजित, सव्वट्टसिद्धगा - सर्वार्थसिद्ध, अणुत्तरा सुरा - अनुत्तर देव।

भावार्थ - नौ ग्रैवेयक देवों की तीन त्रिक (श्रेणियाँ) हैं - १. ऊपर की २. मध्य की ३. नीचे की। प्रत्येक त्रिक में पुनः ऊपर, मध्य और नीचे, इस प्रकार तीन-तीन भेद हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं - १. अधस्तनाधस्तन (नीचे की त्रिक का नीचे वाला) २. अधस्तनमध्य (नीचे की त्रिक का मध्यम) ३. अधस्तनउपरितन (नीचे की त्रिक का ऊपर वाला) ४. मध्यम अधस्तन (बीच की त्रिक का नीचे वाला) ५. मध्यममध्यम (बीच की त्रिक का मध्यम) ६. मध्यम उपरितन (बीच की त्रिक का ऊपर वाला) ७. उपरितन अधस्तन (ऊपर की त्रिक का नीचे वाला) ८. उपरितन मध्यम (ऊपर की त्रिक का मध्यम) और ९. उपरितन-उपरितन (ऊपर की त्रिक का ऊपर वाला) इस प्रकार ये ग्रैवेयक देव हैं। इनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं - भद्र, सुभद्र, सुजात, सुमानस, सुदर्शन, प्रियदर्शन, अमोघ, प्रतिभद्र और यशोधर। लोक का आकार नाचते हुए भोपे (मनुष्य) की आकृति का है। इसमें गर्दन को ग्रीवा कहते हैं। ये नौ विमान घड़े की आकृति में स्थित हैं अथवा एक के ऊपर एक है। मनुष्य की ग्रीवा-गर्दन के स्थान पर आये हुए हैं। इसलिये इनको ग्रैवेयक कहते हैं।

अनुत्तर वैमानिक देवों के नाम - विजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध, ये पाँच प्रकार के अनुत्तर देव हैं। इस प्रकार ये सब वैमानिक देव हैं। इस प्रकार वैमानिक देवों के अनेक भेद हैं।

विवेचन - यहाँ उत्तर शब्द का अर्थ है प्रधान। जिनसे बढ़ कर दूसरा कोई श्रेष्ठ या प्रधान न हों, उसे 'अनुत्तर' कहते हैं। विजय आदि इन पाँच विमानों से बढ़ कर किसी देवलोक के विमान नहीं है। देवलोकों में ये पाँच सर्वश्रेष्ठ और प्रधान होने से इनको अनुत्तर विमान कहते हैं।

लोगस्स एगदेसम्मि, ते सब्बे वि वियाहिया।

इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं॥२२०॥

भावार्थ - वे सभी देव, लोक के एक देश में कहे गये हैं। अब इसके आगे उनका चार प्रकार का काल-विभाग कहूँगा।

संतइं पप्पणाइया, अपज्जवसिया वि य।

ठिइं पडुच्च साइया, सपज्जवसिया वि य॥२२१॥

भावार्थ - संतति-प्रवाह की अपेक्षा ये सब अनादि और अपर्यवसित - अनन्त भी हैं और स्थिति की अपेक्षा सादि और सपर्यवसित - सान्त भी हैं।

साहियं सागरं इक्कं, उक्कोसेण ठिइं भवे।

भोमेज्जाणं जहण्णेणं, दसवाससहस्सिया॥२२२॥

कठिन शब्दार्थ - साहियं - साधिक - कुछ अधिक, भोमेज्जाणं - भवनपति देवों की, दसवाससहस्सिया - दस हजार वर्ष।

भावार्थ - भौमेयक - भवनपति देवों की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट एक सागरोपम से साधिक - कुछ अधिक होती है।

विवेचन - इस गाथा में सामान्य रूप से स्थिति कह दी गई है किन्तु दक्षिणार्द्ध के अधिपति चमर नामक असुरेन्द्र की उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम की तथा उत्तरार्द्ध के अधिपति बलि नामक असुरेन्द्र की स्थिति एक सागरोपम से कुछ अधिक है। यहां जो जघन्य स्थिति १०००० वर्ष की कही है वह भवनपति जाति के किल्विषी देवों की समझनी चाहिये। किल्विषी देव चारों जाति के देवों में हैं। देवों में ये सबसे हल्की जाति के देव हैं।

पलिओवम दो ऊणा, उक्कोसेण वियाहिया।

असुरिंदवज्जेत्ताणं, जहण्णा दस सहस्सगा॥२२३॥

कठिन शब्दार्थ - पलिओवम दो ऊणा - देश ऊणा दो पत्योपम, असुरिंदवज्जेत्ताणं-असुरकुमारों के इन्द्रों को छोड़ कर।

भावार्थ - असुरकुमारों के इन्द्रों को छोड़ कर शेष भवनपति देवों की जघन्य आयु दस हजार वर्ष है और उत्कृष्ट देश ऊणा दो पत्योपम की कही गई है।

विवेचन - यह गाथा बहुत सी प्रतियों में नहीं है, किसी प्रति में है। इसलिए यहां दे दी गई है। गाथा नं० २२३ में 'असुरिंदवज्जेत्ताणं' शब्द दिया है जिसकी टीका करते हुए शान्त्याचार्य ने लिखा है कि - 'यहाँ जो उत्कृष्ट स्थिति बताई है वह एक सागरोपम की केवल चमरेन्द्र की ही है और एक सागरोपम से अधिक की स्थिति यह केवल बलीन्द्र की ही समझना चाहिए। क्योंकि उत्कृष्ट स्थिति इन्द्रों की होती है।' ऐसा ही अभिप्राय तत्त्वार्थ सूत्र में बताया गया है किन्तु पण्णवणा सूत्र के चौथे स्थिति पद को देखते हुए स्पष्ट होता है कि - इन्द्र की तरह सामानिक आदि देवों में भी उत्कृष्ट स्थिति इन्द्र के बराबर हो सकती है। निष्कर्ष यह है कि - सभी इन्द्रों की स्थिति उत्कृष्ट ही होती है। जघन्य या मध्यम स्थिति में इन्द्र उत्पन्न नहीं होते हैं। 'उत्कृष्ट स्थिति इन्द्रों की ही होती, दूसरों की नहीं' यह बात नहीं है। दूसरे देवों की भी इन्द्र के समान उत्कृष्ट स्थिति हो सकती है।

पलिओवममेगं तु, उक्कोसेण ठिई भवे।

वंतराणं जहण्णेणं, दस वाससहस्सिया ॥२२४॥

भावार्थ - व्यंतर देवों की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट एक पल्योपम की होती है।

पलिओवममेगं तु, वासलक्खेण साहियं।

पलिओवमट्ठभागो, जोइसेसु जहण्णिया ॥२२५॥

भावार्थ - ज्योतिषी देवों की जघन्य स्थिति पल्योपम के आठवें भाग की और उत्कृष्ट स्थिति वर्षलक्ष साधिक - लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम की है।

दो चेव सागराइं, उक्कोसेण वियाहिया।

सोहम्मम्मि जहण्णेणं, एगं च पलिओवमं ॥२२६॥

भावार्थ - सौधर्म नामक पहले देवलोक में देवों की जघन्य स्थिति एक पल्योपम है और उत्कृष्ट स्थिति दो सागरोपम की कही गई है।

सागरा साहिया दुण्णि, उक्कोसेण वियाहिया।

ईसाणम्मि जहण्णेणं, साहियं पलिओवमं ॥२२७॥

कठिन शब्दार्थ - साहिया दुण्णि सागरा - कुछ अधिक दो सागरोपम।

भावार्थ - ईशान नामक दूसरे देवलोक में देवों की जघन्य-स्थिति कुछ अधिक एक पत्योपम और उत्कृष्ट-स्थिति कुछ अधिक दो सागरोपम की कही गई है।

सागराणि य सत्तेव, उक्कोसेण ठिई भवे।

सणंकुमारे जहण्णेणं, दुण्णि उ सागरोवमा॥२२८॥

भावार्थ - सनत्कुमार नामक तीसरे देवलोक में देवों की जघन्य स्थिति दो सागरोपम की है और उत्कृष्ट सात सागरोपम की होती है।

साहिया सागरा सत्त, उक्कोसेण ठिई भवे।

माहिंदम्मि जहण्णेणं, साहिया दुण्णि सागरा॥२२९॥

भावार्थ - माहेन्द्र नामक चौथे देवलोक में देवों की जघन्य स्थिति कुछ अधिक दो सागरोपम की है और उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक सात सागरोपम की होती है।

दस चेव सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे।

बंभलोए जहण्णेणं, सत्त उ सागरोवमा॥२३०॥

भावार्थ - ब्रह्मलोक नामक पांचवें देवलोक में देवों की जघन्य स्थिति सात सागरोपम की है और उत्कृष्ट स्थिति दस सागरोपम की होती है।

विवेचन - नौ लोकान्तिक देवों की स्थिति आठ सागरोपम की (प्रमुख देव की अपेक्षा) स्थानांग सूत्र में बताई गई है। सामान्य देवों की अपेक्षा जघन्य स्थिति सात सागरोपम की समझी जाती है। ये देव ब्रह्मलोक के अंतर्गत गिने जाते हैं।

चउइस सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे।

लंतगम्मि जहण्णेणं, दस उ सागरोवमा॥२३१॥

भावार्थ - लान्तक नामक छठे देवलोक में देवों की जघन्य स्थिति दस सागरोपम है और उत्कृष्ट स्थिति चौदह सागरोपम की होती है।

सत्तरस सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे।

महासुक्के जहण्णेणं, चउइस सागरोवमा॥२३२॥

भावार्थ - महाशुक्र नामक सातवें देवलोक में देवों की जघन्य स्थिति चौदह सागरोपम की है और उत्कृष्ट स्थिति सतरह सागरोपम की होती है।

अट्टारस सागराडं, उक्कोसेण ठिई भवे।

सहस्सारम्मि जहण्णेणं, सत्तरस सागरोवमा ॥२३३॥

भावार्थ - सहस्रार नामक आठवें देवलोक में देवों की जघन्य स्थिति सत्तरह सागरोपम की है और उत्कृष्ट अठारह सागरोपम की होती है।

सागरा अउणवीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे।

आणयम्मि जहण्णेणं, अट्टारस सागरोवमा ॥२३४॥

भावार्थ - आणत नामक नववें देवलोक में देवों की जघन्य स्थिति अठारह सागरोपम की है और उत्कृष्ट उन्नीस सागरोपम की होती है।

वीसं तु सागराडं, उक्कोसेण ठिई भवे।

पाणयम्मि जहण्णेणं, सागरा अउणवीसई ॥२३५॥

भावार्थ - प्राणत नामक दसवें देवलोक में देवों की जघन्य स्थिति उन्नीस सागरोपम की है और उत्कृष्ट बीस सागरोपम की होती है।

सागरा इक्कवीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे।

आरणम्मि जहण्णेणं, वीसई सागरोवमा ॥२३६॥

भावार्थ - आरण नामक ग्यारहवें देवलोक में देवों की जघन्य स्थिति बीस सागरोपम की होती है और उत्कृष्ट इक्कीस सागरोपम की होती है।

बावीसं सागराडं, उक्कोसेण ठिई भवे।

अच्चुयम्मि जहण्णेणं, सागरा इक्कवीसई ॥२३७॥

भावार्थ - अच्चुत नामक बारहवें देवलोक में देवों की जघन्य स्थिति इक्कीस सागरोपम की होती है और उत्कृष्ट बाईस सागरोपम की होती है।

तेवीसं सागराडं, उक्कोसेण ठिई भवे।

पढम्मि जहण्णेणं, बावीसं सागरोवमा ॥२३८॥

भावार्थ - ग्रैवेयक देवों की आयु का वर्णन किया जाता है - प्रथम ग्रैवेयक में देवों की जघन्य स्थिति बाईस सागरोपम की है और उत्कृष्ट तेईस सागरोपम की होती है।

विवेचन - पुरुषाकार लोक की ग्रीवा (गर्दन) के स्थान पर आये हुए होने के कारण इनको 'त्रैवेयक' कहते हैं। इनकी संख्या नौ हैं। एक घड़े पर दूसरे घड़े की तरह ये ऊपरा ऊपरी आये हुए हैं।

चउवीसं सागराडं, उक्कोसेण ठिई भवे।

विइयम्मि जहण्णेणं, तेवीसं सागरोवमा ॥२३६॥

भावार्थ - दूसरे त्रैवेयक में देवों की जघन्य स्थिति तेईस सागरोपम की होती है और उत्कृष्ट स्थिति चौबीस सागरोपम की होती है।

पणवीसं सागराडं, उक्कोसेण ठिई भवे।

तइयम्मि जहण्णेणं, चउवीसं सागरोवमा ॥२४०॥

भावार्थ - तीसरे त्रैवेयक में देवों की जघन्य स्थिति चौबीस सागरोपम की है और उत्कृष्ट पच्चीस सागरोपम की होती है।

छव्वीसं सागराडं, उक्कोसेण ठिई भवे।

चउत्थम्मि जहण्णेणं, सागरा पणवीसई ॥२४१॥

भावार्थ - चौथे त्रैवेयक में देवों की जघन्य स्थिति पच्चीस सागरोपम की और उत्कृष्ट छब्बीस सागरोपम की होती है।

सागरा सत्तवीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे।

पंचमम्मि जहण्णेणं, सागरा उ छवीसई ॥२४२॥

भावार्थ - पांचवें त्रैवेयक में देवों की जघन्य स्थिति छब्बीस सागरोपम की और उत्कृष्ट स्थिति सत्ताईस सागरोपम की होती है।

सागरा अट्टवीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे।

छट्ठम्मि जहण्णेणं, सागरा सत्तवीसई ॥२४३॥

भावार्थ - छठे त्रैवेयक में देवों की जघन्य स्थिति सत्ताईस सागरोपम की और उत्कृष्ट स्थिति अट्ठाईस सागरोपम की होती है।

सागरा अउणतीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे।

सत्तमम्मि जहण्णेणं, सागरा अट्टवीसई ॥२४४॥

भावाथ - सातवें ग्रैवेयक में देवों की जघन्य स्थिति अट्ठाईस सागरोपम की और उत्कृष्ट उनतीस सागरोपम की होती है।

तीसं तु सागराईं, उक्कोसेण ठिई भवे।

अट्टमम्मि जहण्णेणं, सागरा अउणतीसई ॥२४५॥

भावाथ - आठवें ग्रैवेयक में देवों की जघन्य स्थिति उनतीस सागरोपम की और उत्कृष्ट स्थिति तीस सागरोपम की होती है।

सागरा इक्कतीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे।

णवमम्मि जहण्णेणं, तीसई सागरोवमा ॥२४६॥

भावाथ - नौवें ग्रैवेयक में देवों की जघन्य स्थिति तीस सागरोपम की और उत्कृष्ट स्थिति इक्कीस सागरोपम की होती है।

तेत्तीसं सागराईं, उक्कोसेण ठिई भवे।

चउसुं पि विजयाईसु, जहण्णेणेक्कतीसई ॥२४७॥

भावाथ - विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित, इन चारों अनुत्तर विमानवासी देवों की जघन्य स्थिति इक्कीस सागरोपम की और उत्कृष्ट स्थिति तेत्तीस सागरोपम की होती है।

अजहण्णमणुक्कोसा, तेत्तीसं सागरोवमा।

महाविमाणे सव्वट्ठे, ठिई एसा वियाहिया ॥२४८॥

कठिन शब्दार्थ - अजहण्णमणुक्कोसा - अजघन्य-अनुत्कृष्ट।

भावाथ - सर्वार्थसिद्ध महाविमान में देवों की अजघन्य-अनुत्कृष्ट स्थिति तेत्तीस सागरोपम की होती है, ऐसा कहा गया है।

विवेचन - सर्वार्थ सिद्ध विमान के सब देवों की स्थिति तेत्तीस सागरोपम की ही होती है। इसलिए वहाँ जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति नहीं बतलाई गई है। इसीलिए गाथा में 'अजहण्णमणुक्कोसा' यह शब्द दिया है इसका अर्थ होता है 'अजघन्य अनुत्कृष्ट'। एक ही स्थिति होने से जघन्य भी नहीं है और उत्कृष्ट भी नहीं है।

जा खेव उ आउठिई, देवाणं तु वियाहिया।

सा तेसिं कायठिई, जहण्णुक्कोसिया भवे ॥२४९॥

कठिन शब्दार्थ - जहण्णुक्कोसिया - जघन्य और उत्कृष्ट।

भावार्थ - देवों की जो जघन्य और उत्कृष्ट आयु-स्थिति कही गई है वही उनकी जघन्य और उत्कृष्ट कायस्थिति होती है।

विवेचन - एक जीव जिस गति और जिस काया में है उसमें मर कर उसी में वापिस उत्पन्न होता रहे उसे 'काय - स्थिति' कहते हैं। देव मर कर दूसरे भव में देव नहीं होता है। इसलिए देवों की कायस्थिति नहीं बनती है। इसी प्रकार नैरयिक जीवों में भी समझनी चाहिए। इसलिए शास्त्रकार ने नैरयिक और देवों की भवस्थिति को ही कायस्थिति कह दिया है।

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहत्तं जहण्णयं।

विजढम्मि सए काए, देवाणं हुज्ज अंतरं॥२५०॥

भावार्थ - अपनी काया को छोड़ देने पर देवों का पुनः उन्हीं में आगमन का जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अनन्त काल का होता है।

अणंतकालमुक्कोसं, वासपुहत्तं जहण्णयं।

आणयाईणं देवाणं, गेविज्जाणं तु अंतरं॥२५१॥

भावार्थ - आणत आदि (आणत, प्राणत, आरण और अच्युत) देवलोकों के देवों का और नव-त्रैवेयक देवों का जघन्य अन्तर पृथक्त्व वर्ष का है और उत्कृष्ट अनन्तकाल का है।

संखेज्जसागरुक्कोसं, वासपुहत्तं जहण्णयं।

अणुत्तराणं देवाणं, अंतरेयं वियाहियं॥२५२॥

कठिन शब्दार्थ - संखेज्ज सागर - संख्यात सागरोपम, वासपुहत्तं - पृथक्त्व वर्ष।

भावार्थ - विजय, वैयजंत, जयन्त और अपराजित, इन चार अनुत्तर-विमानों में उत्पन्न होने वाले देवों का जघन्य अन्तर पृथक्त्व वर्ष और उत्कृष्ट संख्यात सागरोपमों का कहा गया है।

विवेचन - सर्वार्थसिद्ध विमानवासी देव एक भवावतारी होते हैं, अतः उनका अन्तर नहीं होता। सर्वार्थ सिद्ध के देव 'लवसप्तम' कहलाते हैं। सात लव जितना आयुष्य यदि उनका मनुष्य भव में अधिक होता तो वे उसी भव में मोक्ष चले जाते किन्तु इतना आयुष्य कम होने के कारण वे सर्वार्थ सिद्ध में जाते हैं। वहाँ का आयुष्य पूरा करके मनुष्य भव में आते हैं और यहाँ से संयम लेकर मोक्ष चले जाते हैं। इसलिए वे एक भवावतारी हैं।

नोट - उपरोक्त दो गाथाएं कुछ प्रतियों में हैं कुछ में नहीं है।

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रस-फासओ।

संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥२५३॥

भावार्थ - वर्ण से, गन्ध से, रस से, स्पर्श से और संस्थान की अपेक्षा भी इनके हजारों भेद हो जाते हैं।

उपसंहार

संसारत्था य सिद्धा य, इय जीवा वियाहिया।

रूविणो चेवारूवी य, अजीवा दुविहा वि य ॥२५४॥

भावार्थ - संसारस्थ - संसारी और सिद्ध, इस प्रकार जीवों के दो भेद तथा अजीवों के रूपी और अरूपी, ये दो भेद कहे गये हैं।

श्रमण वर्ग का कर्त्तव्य

इय जीवमजीवे य, सोच्चा सदहिऊण य।

सव्वणयाणमणुमए, रमेज्ज संजमे मुणी ॥२५५॥

कठिन शब्दार्थ - सोच्चा - सुनकर, सदहिऊण - श्रद्धा करके, सव्वणयाणमणुमए - सर्व नयों से अनुमत, रमेज्ज - रमण करे।

भावार्थ - इस प्रकार जीव और अजीव के स्वरूप को सुन कर और उन पर दृढ़ श्रद्धा करके मुनि सर्व नयों से अनुमत (सम्यग्ज्ञान दर्शन युक्त) संयम में रमण करे।

विवेचन - प्रस्तुत गाथा में जीवाजीव विभक्ति का उपसंहार करते हुए आगमकार ने साधक को प्रेरणा दी है कि जीव और अजीव के विभाग को सम्यक् प्रकार से सुन कर, उस पर दृढ़ श्रद्धा करे यानी भगवान् ने जैसा कहा है वह सब सत्य है, निःशंक है। तत्पश्चात् ज्ञान नय और क्रिया नय के अंतर्गत रहे हुए नैगम आदि सर्व नय अनुमत संयम - चारित्र में रमण करे।

अंतिम साधना - संलेखना

तओ बहूणि वासाणि, सामण्णमणुपालिया।

इमेण कम्मजोगेण, अप्पाणं संलिहे मुणी ॥२५६॥

कठिन शब्दार्थ - बहूणि वासाणि - बहुत वर्षों तक, सामण्यं - श्रमण पर्याय का, अणुपालिया - पालन करके, कम्मजोगेण - क्रम योग से, अप्पाणं - अपनी आत्मा को, संलिहे - संलिखित करे।

भावार्थ - इसके बाद बहुत वर्षों तक श्रमण-पर्याय का (साधुता का) पालन करके मुनि इस आगे कहे जाने वाले क्रमयोग से - तप से अपनी आत्मा को संलिखित करे (द्रव्य से शरीर को और भाव से क्रोधादि कषाय को पतला करे)।

विवेचन - द्रव्य से शरीर को तपस्या द्वारा और भाव से कषायों को कृश - पतले करना संलेखना है। संलेखना तभी अंगीकार की जाती है जब साधक का शरीर अत्यंत अशक्त, दुर्बल और रुग्ण हो गया हो कि अब यह शरीर दीर्घकाल तक नहीं टिकेगा या कोई मारणांतिक उपसर्ग हो गया हो। इसी दृष्टि से शास्त्रकार ने कहा है - तओ बहूणि।

बारसेव उ वासाइं, संलेहुक्कोसिया भवे।

संवच्छरं मज्झिमिया, छम्मासा य जहण्णिया ॥२५७॥

कठिन शब्दार्थ - बारसेव - बारह, वासाइं - वर्षों की, संलेहा- संलेखना, उक्कोसिया- उत्कृष्ट, संवच्छरं- संवत्सर-वर्ष, मज्झिमिया - मध्यम, छम्मासा - छह माह की, जहण्णिया- जघन्य।

भावार्थ - उत्कृष्ट संलेखना बारह वर्षों की, मध्यम संवत्सर - एक वर्ष की और जघन्य छह महीने की होती है।

विवेचन - संलेखना तीन प्रकार की कही गयी है - १. जघन्य २. मध्यम और ३. उत्कृष्ट। जघन्य संलेखना छह माह की है, मध्यम संलेखना एक वर्ष की और उत्कृष्ट संलेखना बारह वर्ष की है।

पढमे वासचउक्कम्मि, विगइ णिज्जूहणं करे।

बिइए वासचउक्कम्मि, विचित्तं तु तवं चरे ॥२५८॥

कठिन शब्दार्थ - पढमे - प्रथम, वासचउक्कम्मि - चार वर्षों में, विगइ णिज्जूहणं- विगयों का त्याग, बिइए - दूसरे, विचित्तं - विचित्र, तवं - तप का, चरे - आचरण करे।

भावार्थ - पहले के चार वर्षों में घी, दूध आदि विगयों का त्याग करे और दूसरे चार वर्षों में विचित्र तप का आचरण करे।

एगंतरमायामं, कट्टु संवच्छरे दुवे।

तओ संवच्छरद्धं तु, णाइविगिट्ठं तवं चरे ॥२५६॥

कठिन शब्दार्थ - एगंतरं - एकान्तर, आयामं - आचाम्ल-आयम्बिल, संवच्छरद्धं - अर्द्ध संवत्सर-छह माह, अइविगिट्ठं - अति विकृष्ट-उग्र।

भावार्थ - इसके बाद दो संवत्सर-वर्ष तक एकान्तर उपवास और पारणे के दिन आचाम्ल-आयम्बिल करके पुनः अर्द्ध संवत्सर-छह महीने तक अतिविकृष्ट-अति उत्कृष्ट तप न करे (तेला, पचोला आदि न करे)।

विवेचन - बेले से आगे की तपस्याओं को लगातार करे, उसे शास्त्रकार विकृष्ट तप कहते हैं। जैसे कि तेले-तेले पारणा करना इस प्रकार चोले चोले, पंचोले पंचोले आदि विशेष तप करना विकृष्ट तप कहलाता है।

तओ संवच्छरद्धं तु, विगिट्ठं तु तवं चरे।

परिमियं चेव आयामं, तम्मि संवच्छरे करे ॥२६०॥

कठिन शब्दार्थ - परिमियं - परिमित।

भावार्थ - इसके बाद अर्द्ध संवत्सर-छह महीने तक विकृष्ट-उत्कृष्ट तप (तेला, चोला आदि) करे और फिर उस ग्यारहवें वर्ष में परिमित आचाम्ल-आयम्बिल तप करे।

कोडीसहियमायामं, कट्टु संवच्छरे मुणी।

मासद्धमासिएणं तु, आहारेणं तवं चरे ॥२६१॥

कठिन शब्दार्थ - कोडीसहियं - कोटी सहित, मासद्धमासिएणं - एक मास या आधा मास, आहारेणं - आहार का।

भावार्थ - संवत्सर - बारहवें वर्ष में मुनि कोटी सहित, आयम्बिल तप करके फिर एक मास या आधा मास तक, आहार का त्याग करके अनशन तप करे।

विवेचन - प्रश्न - इस गाथा में 'कोटी सहित' शब्द दिया है इसका क्या अर्थ है?

उत्तर - पहले प्रत्याख्यान का अन्त और दूसरे प्रत्याख्यान का प्रारम्भ, इस प्रकार दोनों तपों की दोनों कोटी (आदि और अन्त के कोण) मिले उस तप को कोटी सहित तप कहते हैं। जैसे कि निरन्तर आयम्बिल तप करते रहना। क्योंकि पहले दिन प्रत्याख्यान किया हुआ आयम्बिल दूसरे दिन प्रातःकाल पूर्ण हो जाता है। दूसरे दिन दूसरे आयम्बिल का पचवखाण कर लिया जाय तो यह कोटी

सहित तप कहलाता है। क्योंकि पहले आयंबिल का अन्तिम कोण और दूसरे आयंबिल का प्रारम्भ कोण (कोटी) मिल जाते हैं इसलिए यह तप कोटी सहित तप कहलाता है।

कोटी सहित तप की दूसरी तरह से भी व्याख्या मिलती है - जैसे कि - पहले दिन आयम्बिल करके दूसरे दिन कोई दूसरा तप करे फिर तीसरे दिन फिर आयम्बिल करे। यह कोटी सहित तप कहलाता है। उपरोक्त दोनों अर्थों को बतलाने वाली गाथा इस प्रकार है

‘पट्टवणओ य दिवसो पच्चक्खाणस्स णिट्टवणओ य।

जहियं समिति दुण्णि उ तं भण्णइ कोडिसहियं तु ॥१॥

(प्रस्थापको दिवसः प्रत्याख्यानस्थ निष्ठापकश्च।

यत्र समितः द्वौ तु तद्भण्यते कोटीसहित मेव ॥१॥)

संलेखना - संथारा की विधि - उत्कृष्ट संलेखना बारह वर्ष की है उसके तीन विभाग करने हैं - प्रत्येक विभाग ४-४ वर्ष का हो। प्रथम चार वर्ष में विग्यों का त्याग करे, दूसरे चार वर्षों में उपवास, बेला, तेला, चोला आदि तप करे, पारणे के दिन कल्पनीय वस्तुएं ले। तीसरे चार वर्ष में दो वर्ष तक लगातार एकान्तर तप करे, पारणा में आयम्बिल करे। तत्पश्चात् ११वें वर्ष में ६ माह तक तेला, चोला आदि कठोर तप न करे, फिर दूसरे ६ माह में नियम से बेला, तेला, चोला आदि उत्कृष्ट तप करे। इस ग्यारहवें वर्ष में थोड़े ही (परिमित) आयंबिल करे, फिर बारहवें वर्ष में लगातार ही आयंबिल करे जो कि कोटीसहित हो। बाद में एक माह या पन्द्रह दिन (एक पक्ष) पहले से ही विधि सहित भक्त प्रत्याख्यान करे यानी चारों आहार का त्याग कर संथारा करे और अंत में क्षमायाचना करके अंतिम आराधना करे। यह संलेखना-संथारा की विधि है।

समाधिमरण में बाधक तत्त्व

कंदप्पमाभिओगं, किव्विसियं मोहमासुरत्तं च।

एयाओ दुग्गईओ, मरणम्मि विराहिया होंति ॥२६२॥

कठिन शब्दार्थ - कंदप्पं - कान्दर्पी, आभिओगं - आभियोगी, किव्विसियं - किल्विषिकी, मोहं - मोह, आसुरत्तं - आसुरी, दुग्गईओ - दुर्गति रूप, विराहिया - विराधक, होंति - होती है।

भावार्थ - कन्दर्पभावना, आभियोगिकी भावना, किल्विषी भावना, मोहभावना और आसुरी

भावना, ये भावनाएं दुर्गति की हेतुभूत और मरण के समय इन भावनाओं से जीव विराधक हो जाते हैं।

बोधि दुर्लभता-सुलभता

मिच्छादंसणरत्ता, सणियाणा हु हिंसगा।

इय जे मरंति जीवा, तेसिं पुण दुल्लहा बोही ॥२६३॥

कठिन शब्दार्थ - मिच्छादंसणरत्ता - मिथ्यादर्शन में अनुरक्त, सणियाणा - निदान सहित, हिंसगा - हिंसक, मरंति - मरते हैं, दुल्लहा - दुर्लभ, बोही - बोधि।

भावार्थ - जो जीव मिथ्यादर्शन में अनुरक्त हैं, निदान सहित क्रियानुष्ठान करते हैं और जो हिंसा में प्रवृत्त हैं, इस प्रकार जो जीव मरते हैं उनको पुनः फिर बोधि (सम्यक्त्व) की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है।

सम्महंसणरत्ता, अणियाणा सुक्कलेसमोगाढा।

इय जे मरंति जीवा, तेसिं सुलहा भवे बोही ॥२६४॥

कठिन शब्दार्थ - सम्महंसणरत्ता - सम्यग्दर्शन में अनुरक्त, अणियाणा - अनिदान-निदान रहित, सुक्कलेसमोगाढा - शुक्ललेश्या में अवगाढ (निम्न), सुलहा - सुलभ।

भावार्थ - सम्यग्दर्शन में अनुरक्त, निदान-रहित क्रियानुष्ठान करने वाले, शुक्ललेश्या को प्राप्त, इस प्रकार जो जीव मरते हैं उनको परलोक में बोधि (सम्यक्त्व) की प्राप्ति सुलभ होती है।

मिच्छादंसणरत्ता, सणियाणा कणहलेसमोगाढा।

इय जे मरंति जीवा, तेसिं पुण दुल्लहा बोही ॥२६५॥

कठिन शब्दार्थ - कणहलेसमोगाढा - कृष्णलेश्या को प्राप्त हुए।

भावार्थ - मिथ्यादर्शन में अनुरक्त, निदान-सहित क्रियानुष्ठान करने वाले, कृष्ण-लेश्या को प्राप्त हुए, इस प्रकार जो जीव मरते हैं, उनको पुनः फिर परलोक में बोधि (सम्यक्त्व) की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ हो जाती है।

विवेचन - कान्दर्पी, आभियोगी, किल्बिषिकी, मोही और आसुरी, ये पांच भावनाएं अप्रशस्त हैं, दुर्गति में ले जाने वाली हैं। अतः मरणकाल में साधक द्वारा इन भावनाओं का त्याग करना आवश्यक है। इसके अलावा भी समाधिमरण में जो ४ दोष बाधक हैं, वे इस प्रकार

हैं - १. मिथ्यादर्शन २. निदान ३. हिंसा परायणता ४. कृष्णलेश्या में लीनता। इन दोषों के कारण जीव बार-बार बालमरण से मरता है और उसके लिये सम्यक्त्व प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है।

इससे विपरीत जो १. सम्यग्दर्शन में दृढ़ २. अनिदान से युक्त ३. शुक्ललेश्या में लीन हैं वे समाधिमरण से मरते हैं और उनके लिये सम्यक्त्व प्राप्ति सुलभ हो जाती है।

परित्त-संसारी

जिणवयणे अणुरत्ता, जिणवयणं जे करेति भावेण।

अमला असंकिलिद्धा, ते होंति परित्त-संसारी ॥२६६॥

कठिन शब्दार्थ - जिणवयणे - जिनेन्द्र भगवान् के वचनों में, अणुरत्ता - अनुरक्त, जिणवयणं - जिन वचनों को, भावेण - भावपूर्वक, करेति - आचरण करते हैं, अमला - अमल - मल से रहित-निर्मल, असंकिलिद्धा - असंकलिष्ट, परित्तसंसारी - परित्त संसारी-परिमित संसार वाले।

भावार्थ - जो जीव जिनेन्द्र भगवान् के वचनों में अनुरक्त हैं, जो जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कथित क्रियानुष्ठानों को भावपूर्वक (श्रद्धापूर्वक) करते हैं, जो मिथ्यात्वादि भावमल से रहित हैं और रागद्वेषादि संक्लेश से रहित हैं, वे परित्तसंसारी होते हैं।

विवेचन - संसार को परिमित (मर्यादित) करने वाले जीव परित्त संसारी कहलाते हैं। वे थोड़े ही भव करके मोक्ष में चले जाते हैं।

जिनवचनों में अनुरक्ति एवं जिनवचनों की भावपूर्वक जीवन में क्रियान्विती से साधक मिथ्यात्व आदि भाव मल तथा रागद्वेष आदि संक्लेशों से रहित हो जाता है फलस्वरूप वह परित्त संसारी बन जाता है और मोक्ष की ओर तीव्रता से गति - प्रगति करता है।

बालमरणाणि बहुसो, अकाममरणाणि चेव य बहूणि।

मरिहंति ते वराया, जिणवयणं जे ण जाणंति ॥२६७॥

कठिन शब्दार्थ - बालमरणाणि - बाल मरण, बहुसो - बहुत बार, अकाममरणाणि - अकाम मरण, वराया - बेचारे, ण जाणंति - नहीं जानते हैं।

भावार्थ - जो जिन वचनों को नहीं जानते हैं वे बिचारे बहुत - अनेक बार बाल मरण और बहुत बार अकाम मरण से मृत्यु को प्राप्त होते रहेंगे।

विवेचन - गाथा में 'वराया' शब्द दिया है जिसका अर्थ है 'बिचारे' (गरीब)। जिनवचन से अनभिज्ञ जीव मिथ्यात्वी होते हैं, वे 'बिचारे' हैं। अनुकम्पा दया करने के योग्य हैं। जब तक उनका मिथ्यात्व नहीं छूटता तब तक वे संसार में परिभ्रमण करते रहेंगे।

आलोचना श्रवण के योग्य

बहुआगम-विण्णाणा, समाहिउप्पायगा य गुणगाही।

एणं कारणेणं, अरिहा आलोयणं सोउं ॥२६८॥

कठिन शब्दार्थ - बहुआगम-विण्णाणा - बहुत से आगमों के विज्ञाता, समाहिउप्पायगा-समाधि - चित्त में स्वस्थता उत्पन्न करने वाले, गुणगाही - गुणग्राही, अरिहा - योग्य, आलोयणं- आलोचना, सोउं - सुनने के।

भावार्थ - अपने दोषों की आलोचना कैसे ज्ञानी पुरुषों के पास करनी चाहिए, उनके गुण बतलाये जाते हैं - जो बहुत से शास्त्रों के एवं उनके रहस्यों के जानकार हों, जो देश-कालादि की अपेक्षा मधुर वचनों से समाधि उत्पन्न करने वाले हों और जो गुणग्राही हों, इन कारणों से उपरोक्त गुणों को धारण करने वाले आचार्य आदि ही आलोचना सुनने के योग्य हैं।

विवेचन - प्रस्तुत गाथा में बताया गया है कि तीन मुख्य गुणों का धारक ही आलोचना श्रवण के योग्य गुरु हो सकता है - १. जो अंग-उपांग आदि आगमों का विशिष्ट ज्ञाता हो २. जो देश, काल पात्र, आशय आदि के विशेष ज्ञान से आलोचनाकर्ता के चित्त में मधुर भाषण आदि द्वारा समाधि उत्पन्न करने वाला हो और ३. जो गुणग्राही गंभीर आशय साधक हो।

कान्दर्पी भावना

कंदप्पकुक्कुयाइं, तह सीलसहावहासविगहाहिं।

विम्हावेतो य परं, कंदप्पं भावणं कुणइ ॥२६९॥

कठिन शब्दार्थ - कंदप्पं - कन्दर्प - कामप्रधान चर्चा, कुक्कुयाइं - कौत्कुच्य-हास्योत्पादक कुचेष्टाएं, सीलसहावहासविगहाहिं - शील, स्वभाव, हास्य और विकथाओं से, परं - दूसरों को, विम्हावेतो - विस्मित करता हुआ, कंदप्पं भावणं - कान्दर्पी भावना।

भावार्थ - कन्दर्प - हास्य और विषय-विकार उत्पन्न करने वाली बातें कहना, कौत्कुच्य (कौत्कुच्य) - भांड के समान दूसरों को हंसाने वाले वचन बोलना एवं मुख-नेत्रादि द्वारा विकार

भाव प्रकट करने की चेष्टा करना और शील, स्वभाव, हास्य, विकथा आदि करना, इत्यादि चेष्टाओं से दूसरों को विस्मित करता हुआ जीव कन्दर्प भावना (कन्दर्प जाति के देवों में उत्पन्न होने की भावना) करता है।

विवेचन - गाथा में आये हुए 'सीलसहावहासविगहाहिं' शब्दों का यहाँ पर इस प्रकार अर्थ है - शील (फल-रहित प्रवृत्ति अर्थात् हास्य को उत्पन्न करने वाली चेष्टा करने की आदत)। स्वभाव - दूसरों को विस्मय उत्पन्न करने के अभिप्राय से मुखविकारादि करना। हास्य-खिलखिला कर जोर से हंसना या अट्टहास करना। विकथा - दूसरों को विस्मय उत्पन्न करने वाले विविध प्रकार के वचन बोलना एवं ऐसी कथा कहना।

बृहदवृत्तिकार ने कन्दर्प के पांच लक्षण बताए हैं - १. अट्टहासपूर्वक हंसना २. गुरु आदि के साथ वक्रोक्ति या व्यंगपूर्वक खुल्लमखुल्ला बोलना, मुंहफट होना ३. कामकथा करना ४. काम का उपदेश देना और ५. काम की प्रशंसा करना। कन्दर्प से जनित भावना कान्दर्पी कहलाती है।

आभियोगी भावना

मंता जोगं काउं, भूइकम्मं च जे पउंजंति।

सायरसइट्टिहेउं, अभिओगं भावणं कुणइ॥२७०॥

कठिन शब्दार्थ - मंता - मन्त्र, जोगं - योग, काउं - करके, भूइकम्मं - भूतिकर्म-विभूति आदि मंत्रित करके देने का, पउंजंति - प्रयोग करते हैं, सायरस-इट्टि-हेउं - साता (वैषयिक सुख सुविधा), रस (स्वादिष्ट रस), समृद्धि (सिद्धि-प्रसिद्धि) के लिए, अभिओगं - आभियोगिकी।

भावार्थ - जो जीव साता, रस और समृद्धि के लिए मंत्र और योग कर के भूतिकर्म का प्रयोग करते हैं, वे आभियोगिकी भावना करते हैं (आभियोगी भावना का सम्पादन करने वाला पुरुष आभियोगी देवों - सेवक जाति के देवों में उत्पन्न होता है)।

विवेचन - मंत्र, तंत्र, चूर्ण, भस्म आदि का प्रयोग आभियोगी भावना का कारण है। कई आचार्य कौतुक बताना, खेल तमाशे दिखाना, जादूगरी करना, लाभालाभ संबंधी निमित्त बताना, प्रश्नाप्रश्न - स्वप्न विद्या द्वारा शुभाशुभ बताना आदि को भी आभियोगी भावना का कारण बताते हैं।

किल्बिषी भावना

णाणस्स केवलीणं, धम्मायरियस्स संघसाहूणं।

माई अवण्णवाई, किल्बिसियं भावणं कुणइ॥२७१॥

कठिन शब्दार्थ - णाणस्स - ज्ञान का, केवलीणं - केवली भगवान् का, धम्मायरियस्स-धर्माचार्य का, संघसाहूणं - संघ तथा साधुओं का, माई - मायावी, अवण्णवाई - अवर्णवादी, किल्बिसियं - किल्बिषिक, भावणं - भावना।

भावार्थ - ज्ञान का, केवली भगवान् का, धर्माचार्य का, साधु-साध्वी श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ का अवर्णवाद करने वाला मायावी (माया कपट करने वाला) पुरुष किल्बिषी भावना करता है। उपरोक्त किल्बिषी भावना का सम्पादन करने वाला पुरुष किल्बिषी जाति के देवों में उत्पन्न होता है।

विवेचन - केवली, श्रुतज्ञान, संघ, धर्म, अरहंत, धर्माचार्य, साधु आदि की निन्दा, चुगली करना उन्हें बदनाम करना, उनके अवगुण देखना, उनकी छोटी से छोटी त्रुटि का ढिंढोरा पीटना, वंचना या ठगी करना, ये सब किल्बिषी भावना के रूप हैं।

आसुरी भावना

अणुबद्धरोसपसरो, तह य णिमित्तम्मि होइ पडिसेवी।

एएहिं कारणेहिं, आसुरियं भावणं कुणइ॥२७२॥

कठिन शब्दार्थ - अणुबद्धरोसपसरो - अनुबद्धरोष प्रसर - सतत रोष की परम्परा को फैलाता रहता है, णिमित्तम्मि - निमित्त में, पडिसेवी - प्रतिसेवी, एएहिं कारणेहिं - इन कारणों से, आसुरियं - आसुरी।

भावार्थ - जो निरन्तर क्रोध का विस्तार करता है और जो निमित्त में प्रतिसेवी-प्रवृत्ति करने वाला होता है (जो सदा क्रोधयुक्त रहता है और ज्योतिषशास्त्र द्वारा अथवा भूकम्पादि निमित्तों के द्वारा शुभाशुभ फल का कथन करता है) वह जीव इन उपरोक्त कारणों से आसुरी भावना करता है। इस भावना से भावित पुरुष असुरकुमारों में उत्पन्न होता है। ये देव वैमानिक देवों की अपेक्षा बहुत कम सुख और समृद्धि वाले होते हैं तथा परमाधार्मिक देव भी इन्हीं की जाति में से होते हैं।

विवेचन - असुरों - परमाधार्मिक देवों की तरह क्रूरता, उग्र क्रोध, कलह, हिंसा, दूसरों को क्रूरता पूर्वक यातना दे कर प्रसन्न होना आदि दुर्गुणों से ओतप्रोत होना आसुरी भावना का रूप है।

संक्षेप में चार भावनाओं का स्वरूप इस प्रकार हैं -

कंदर्प भावना - कन्दर्प करना अर्थात् अट्टहास करना, जोर से बातचीत करना, काम-कथा करना, काम का उपदेश देना और उसकी प्रशंसा करना, कौत्कुच्य करना (शरीर और वचन से दूसरे को हंसाने की चेष्टा करना), विस्मयोत्पादक शील स्वभाव रखना, हास्य तथा विविध विकथाओं से दूसरों को विस्मित करना कंदर्प भावना है।

आभियोगिकी भावना - सुख, मधुरादि रस और उपकरण आदि की ऋद्धि के लिए वशीकरणादि मंत्र अथवा यंत्र-मंत्र (गंडा, ताबीज) करना, रक्षा के लिए भस्म, मिट्टी अथवा सूत्र से वसति आदि का परिवेष्टन रूप भूति कर्म करना आभियोगिनी भावना है।

किल्बिषिकी भावना - ज्ञान, केवल ज्ञानी पुरुष, धर्माचार्य संघ और साधुओं का अवर्णवाद बोलना तथा माया करना किल्बिषिकी भावना है।

आसुरी भावना - निरंतर क्रोध में भरे रहना, पुष्ट कारण के बिना भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालीन निमित्त बताना आसुरी भावना है।

इन चार भावनाओं से जीव उस-उस प्रकार के देवों में उत्पन्न कराने वाले कर्म बांधता है। अर्थात् इन भावनाओं वाला जीव यदि कदाचित् देवगति प्राप्त करे तो हीन कोटि का देव होता है।

बाल मरण और उसका फल

सत्थग्रहणं विसभक्खणं च, जलणं च जलपवेसो य।

अणायारभंडसेवी, जम्मणमरणाणि बंधंति॥२७३॥

कठिन शब्दार्थ - सत्थग्रहणं - शस्त्रग्रहण, विसभक्खणं - विष-भक्षण, जलणं - अग्नि प्रवेश, जलपवेसो - जलप्रवेश, अणायारभंडसेवी - अनाचार का सेवन और भाण्ड कुचेष्टा, जम्मण मरणाणि - जन्म मरणों का, बंधंति - बंध करते हैं।

भावार्थ - शस्त्रग्रहण करना (शस्त्र द्वारा आत्मघात करना), विषभक्षण करना, ज्वलन प्रवेश - अग्नि में प्रवेश करना, जल प्रवेश - जल में डूब कर मरना और अनाचार का सेवन करने वाला (ग्रहण न करने योग्य भण्डोपकरणों का सेवन करने वाले पुरुष) अनेक जन्म-मरण

के निमित्तभूत कर्मों को बांधते हैं (बालमरण से मरने वाले पुरुष अनेक जन्म-मरण की वृद्धि करते हैं और चिरकाल तक संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं)।

विवेचन - शस्त्रग्रहण, विषभक्षण आदि से आत्महत्या करना बालमरण है। इससे मरने वाला पुरुष दीर्घकाल तक जन्म मरण करता है।

उपसंहार

इइ पाउकरे बुद्धे, णायए परिणिव्वुए।

छत्तीसं उत्तरज्झाए, भवसिद्धिय संमए ॥२७४॥ ॥ त्तिबेमि॥

कठिन शब्दार्थ - इइ - इस प्रकार, पाउकरे - प्रकट करने वाले, बुद्धे - बुद्ध-समस्त पदार्थों का ज्ञाता, णायए - ज्ञातपुत्र, परिणिव्वुए - परिनिर्वृत, छत्तीसं उत्तरज्झाए - उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययनों को, भवसिद्धिय - भवसिद्धिक, संमए - सम्मत (अभिप्रेत)।

भावार्थ - इस प्रकार भवसिद्धिक संमत - भव्य जीवों के सम्मत (मान्य है) ऐसे उत्तराध्ययन सूत्र के छत्तीस अध्ययनों को प्रकट कर के बुद्ध - तत्त्वज्ञ केवलज्ञानी, ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान् महावीर स्वामी, परिनिर्वृत - निर्वाण को प्राप्त हो गये।

विवेचन - किसी किसी प्रति में 'भवसिद्धिय संमए' के स्थान पर 'भवसिद्धिय संवुडे' ऐसा पाठ है। जिसका अर्थ इस प्रकार है - भवसिद्धिक - उसी भव में मोक्ष जाने वाले संवृत - संवर वाले भगवान् महावीर स्वामी इस उत्तराध्ययन सूत्र के छत्तीस अध्ययनों को प्रकट करके निर्वाण को प्राप्त हो गये।

श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन् जम्बू! मैंने जैसा श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से सुना है, वैसा ही मैंने तुम से कहा है।

॥ इति जीवाजीवविभक्ति नामक छत्तीसवां अध्ययन समाप्त ॥

॥ उत्तराध्ययन सूत्र समाप्त ॥

